ॐ नमो भगवते [illegible]

श्री। महाभारतम्

पर्व ते

पूर्वभाग

सटीक

श्रीमन्महर्षि कृष्ण द्वैपायन व्यास प्रणीत

महाभारत

वनपर्व पांचवा भाग

(अध्याय १३२ से २३१ तक)

अनुवादकः—

पण्डित गङ्गाप्रसादजी शास्त्री

प्रकाशकः—
महाभारत प्रकाशक मण्डल
चांदनी चौक दिल्ली

प्रथम वार } सर्वाधिकार सुरक्षित { मूल्य

चतुरसेन गुप्त
प्रबन्धक
महाभारत प्रकाशक मण्डल
चाँदनी, चौक दिल्ली।

मुद्रक—
मुरारिलाल गार्ग्य
गार्ग्या प्रिन्टिग वर्क्स
७८ दर्यागंज
(दिल्ली)

माननीय पाठक महोदय !

महाभारत का पांचवां भाग आपकी सेवा में प्रस्तुत है। छठा भाग आज ही प्रेस में दे दिया है लगभग एक मास में ही वह भी सेवा में पहुंच जावेगा। इसी प्रकार समस्त ग्रन्थ शीघ्र ही प्रकाशित करने का प्रबन्ध करलिया है। प्रारम्भ में हमें इसकी सफलता पर भारी संदेह था, परन्तु ईश्वर की महान् कृपा और आप की गुणग्राहकता के कारण हम अपने उद्देश्य में पूर्ण सफल हुये हैं। लगातार ३ वर्ष के घोर परिश्रम के बाद हम इस परिणाम पर पहुंचे कि कितना भी कठिन कार्य क्यों न हो यदि सचाई सादगी और परिश्रम के साथ मनुष्य कार्य में जुटा रहे तो फिर सफलता में सन्देह नहीं है। जिस समय हमने प्रथम भाग प्रकाशित किया था, उस समय एक भी ग्राहक नहीं था। परन्तु पांचवे भागके प्रकाशित होनेसे पूर्व ही १५००से ऊपर ग्राहक बन गये। यह सचाई सादगी और परिश्रम तथा आपकी गुणग्राहकता का ही परिणाम है। हमें यह भी प्रसन्नता है कि इस सुन्दर ग्रन्थ को जहां भारत के विद्वानों, सार्वजनिक संस्थाओं एवं धनी मानी पुरुषों ने अपनाया—वहां भारतीय नरेशों ने भी इस ग्रन्थ को अपना कर महान् धर्म प्रेम का परिचय दिया हैं। अतः आप सब महानुभावों का "मण्डल" बड़ा ही कृतज्ञ है।

ऐसी शानदार सफलता प्राप्त करते हुये भी इस समय एक कठिनाई "मण्डल" के सन्मुख उपस्थित है। उस कठिनाई को आपके सन्मुख रखना हमारा कर्तव्य है क्योंकि "मण्डल" की सफलता का सारा श्रेय आप ही को है, आपकी सहायता अथवा

गुणग्राहकता के कारण ही "मण्डल" सफल है। इसलिये यदि हम अपनी कठिनाईयों को आप से न कहें तो और किस से कहें।

कठिनाई केवल यह है कि अब कागज़ का भाव पहले से तेज हो गया है। इस से "मण्डल" को नुकसान होने का भय है। इस नुकसान से बचने का केवल यही उपाय है कि हम पहले से अधिक संख्या में पुस्तक प्रकाशित करें। परन्तु यह तभी हो सकता है जब आप हमारी पूर्ण सहायता करें। सहायता का सरल साधन यह है कि आप अपने कुछ मित्रों को महाभारत के ग्राहक बनने की प्रेरणा करें। आपकी इस प्रेरणा से ही हमारा कार्य्य सफल हो जावेगा और हम "नुकसान के भय" से बच कर आपकी सेवा में—समय-समय पर सुन्दर और सस्ते धार्मिक ग्रन्थ भेंट करते रहेंगे।

आशा है आप हमारी इस प्रार्थना को अवश्य स्वीकार करेंगे।

विनीत—चतुरसेन गुप्त,

प्रबन्धक।

धन्यवाद

हमें यह सूचित करते हुये बड़ा ही हर्ष होता है कि "महाभारत" के प्रचार में बहुत से श्रीमानों ने "मण्डल को समय २ पर (अपने मित्रों को ग्राहक बनाकर) भारी सहायता प्रदान की है। उन सब महानुभावों का "मण्डल" बड़ा ही कृतज्ञ है। इस समय तक जितने भी सज्जनों ने महाभारत को अपनाया है। वे सज्जन तो धन्यवाद के पात्र हैं ही, पर जिन सज्जनों ने अपने मित्रों को भी महाभारतके ग्राहक बनने को प्रेरित किया वो विशेष धन्यवाद के पात्र हैं उन श्रीमानोंमें सर्व श्री० पं० श्यामसिंहजी पाठक डिप्टी कलक्टर साहब बहादुर बुलन्दशहर, श्री० बा० हरबत्त रायजी साहब डिस्ट्रिक्ट जज--मजिस्ट्रेट सीतामऊ, ठाकुर किशोरसिंहजी साहब स्टेट हिस्टोरियन पटियाला, श्री० महन्त रघुबरदास जी पारमार्थी बड़नगर, श्री० जोशी मेघराज जी पेशकार रायसिंह नगर, श्री० पं० भैरव शंकर जी शर्मा वकील मंदसौर आदि २ महानुभावों का मण्डल बड़ा ही अनुगृहीत है :--

आप सब महानुभाव मण्डल पर बड़ी ही कृपा रखते हैं।

चतुरसेन गुप्त

प्रबन्धक

विषयानुक्रमणिका

(वन पर्व अ० १३२ से २३१ तक भाग ५)

तीर्थ यात्रापर्व

राजा जनक की सभा में अष्टावक्र और
बन्दी का शास्त्रार्थ १—३४
यवक्रीतोपाख्यान ३५—६६
राजा युधिष्ठिर की चिन्ता ६७—१२३
गन्धमादन पर्वत पर प्रवेश
भीम का कदली वन में जाना १२४—१८५
और वहां हनुमानजी से समागम होना
भीमसेनका द्रौपदी के लिए कमलपुष्प लाने को
सौगन्धिक बन में प्रवेश और वहां राक्षसों से युद्ध १८६—२१२

जटासुरबधपर्व

जटासुर के साथ भीम का युद्ध और उसका बध २१३—२२८

यक्ष युद्धपर्व

गन्धमादन की शोभा का वर्णन, २२९—३११
राजा युधिष्ठिर और आर्ष्टिषेण का सम्बाद,
भीम और यक्षों का युद्ध, तथा
युधिष्ठिर कुबेर सम्वाद,
मेरु और महर्षियों के दर्शन,

निवात कवचयुद्धपर्व

अर्जुन और पाण्डवों का समागम तथा अर्जुन ३
द्वारा निवात कवच दैत्यों के साथ युद्ध का वर्णन ३१२—४०

आजगरपर्व

राजा युधिष्ठिर और आजगर के प्रश्नोत्तर ४०४—४५८

मार्कण्डेय समास्यापर्व

श्रीकृष्ण और पाण्डवों का समागम ४५९—५६५
मनु और मत्स्यकी दशा,
चारों युगों का प्रमाण
मार्कण्डेय द्वारा भगवान विष्णु के रूप तथा
कलियुग का वर्णन और कल्की अवतार का चरित
अयोध्या के राजा परीक्षित् की कथा ५६६—६५६
वामदेव ब्राह्मण और प्रतर्दन,
वसुमना तथा शिवि के महत्व का वर्णन
इन्द्रद्युम्न का उपाख्यान और दान महात्म्य, ६५७—६८७
धुन्धुमार का उपाख्यान ६८८—७२०
पतिव्रतोपाख्यान ७२१—८३२
कुशिक ब्राह्मण और धर्मव्याध का सम्वाद
धर्मव्याध द्वारा कर्तव्यकर्म और धर्म के रहस्य का वर्णन
अग्निवंश का वर्णन ८३३—९६०
स्कन्द की उत्पत्ति,
स्कन्दापस्मार ग्रहों का वर्णन,
इन्द्र,स्कन्द युद्ध
शिवजी की श्वेत सिंह के रथ से यात्रा,
स्कन्द द्वारा राक्षस वध
स्कन्द का महत्व और नाम कीर्तन

लोक धर्म

श्री हनूमान वाक्यः—

धार्मिकान् धर्म कार्येषु अर्थ कार्येषु पण्डितान् ।
स्त्रीषु क्लीबान्नियुञ्जीत क्रूरान् क्रूरेषु कर्मसु ॥
महा० वनपर्व अ० १५० । ४५ पृष्ठ १७६

अर्थः—धर्म कार्य्यों में धर्मात्मा, धन कार्य्य में नीति-मान, स्त्रियों में नपुंसक और क्रूर कर्मों में क्रूर मनुष्यों को नियुक्त करे ।

महाभारत के महान् नेता

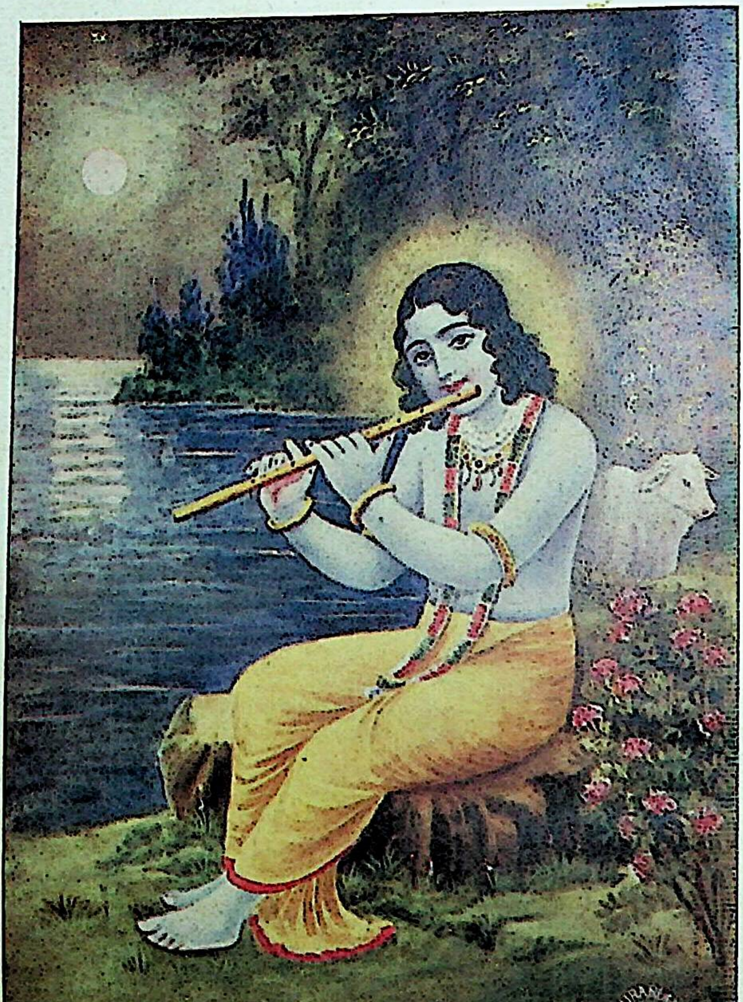
COPY RIGHT
DELHI

भगवान् श्री कृष्ण

POPULAR PRESS, DELHI.

महाभारत

वनपर्व

[अध्याय १३२ से प्रारम्भ]

पांचवां भाग

एक सौ बत्तीसवां अध्याय

लोमश उवाच —

यः कथ्यते मन्त्रविदग्धबुद्धिरौद्दालकिः श्वेतकेतुः पृथिव्याम्
तस्याश्रमं पश्य नरेन्द्र पुण्यं सदाफलैरुपपन्नं महीजैः ॥१॥

लोमश बोले—हे नरेन्द्र ! उद्दालक पुत्र, श्वेतकेतु, पृथ्वी पर वेद मन्त्रों का अच्छा ज्ञाता कहलाता था । यह उसी महर्षि का पवित्र आश्रम है, जो सदा पृथ्वी भर के फलों से लदा रहता है ॥१॥

साक्षादत्र श्वेतकेतुर्ददर्श सरस्वतीं मानुषदेहरूपाम् ।
वेत्स्यामि वाणीमिति संप्रवृत्तां सरस्वतीं श्वेतकेतुर्बभाषे ॥२॥

इस स्थान पर महर्षि श्वेतकेतु ने मनुष्य रूप धारण किये हुये, साक्षात् सरस्वती को देखा था। मैं श्वेतकेतु की वाणी का ज्ञान करना चाहती हूं—इस कारण से आई हुई सरस्वती से श्वेंतकेतु ने सम्भाषण किया ॥२॥

तस्मिन् युगे ब्रह्मविदां वरिष्ठावास्तां मुनी मातुलभागिनेयौ ।
अष्टावक्रश्चैव कहोडसूनुरौद्दालकिः श्वेतकेतुः पृथिव्याम् ॥३॥

उस युग में ब्रह्मज्ञानियों में दो मुनि सर्वोत्तम थे, जो सम्बन्ध में मातुल और भागिनेय (मामा भानजे) थे। इन में एक तो कहोड़ पुत्र अष्टावक्र तथा दूसरा उद्दालक पुत्र श्वेतकेतु था

विदेहराजस्य महीपतेस्तौ विप्रावुभौ मातुलभागिनेयौ ।
प्रविश्य यज्ञायतनं विवादे वन्दिं निजग्राहतुरप्रमेयौ ॥४॥

इन दोनों बुद्धिमान्, अद्वितीय, मातुल और भागिनेय, अष्टावक्र और श्वेतकेतु ने राजा विदेहाधिपति की यज्ञशाला में पहुंच कर विवाद करने के लिए उनके राज-पण्डित वन्दी को घेर लिया ॥४॥

उपास्व कौन्तेय सहानुजस्त्वं तस्याश्रमं पुण्यतमं प्रविश्य ।
अष्टावक्रं यस्य दौहित्रमाहुर्योऽसौ वन्दिं जनकस्याथ यज्ञे ।
बादोविप्राग्र्योबालएवाभिगम्यवादेभङ्क्त्वामज्जयामासनद्याम्

हे कौन्तेय ! तुम अपने भाइयों के साथ, उसी उद्दालक महर्षि के इस आश्रम में घुस कर निवास करो। अष्टावक्र इन्हीं उद्दालक मुनि के दौहित्र (धेवते) थे। इस वादी बालक महर्षि अष्टावक्र ने राजा जनक के यज्ञ में प्रवेश करके और शास्त्रार्थ में वन्दी को हरा कर नदी में डुबवा दिया था ॥५॥

युधिष्ठिर उवाच —

कथम्प्रभावः स बभूव विप्रस्तथाभूतं यो निजग्राह वन्दिम् ।
अष्टावक्रः केन चासौ बभूव तत्सर्वं मे लोमश शंस तत्त्वम् ॥६॥

युधिष्ठिर बोले—हे महर्षि ! लोमश ! यह अष्टावक्र कितना प्रतापी था, जिसने महा-विद्वान् वन्दी को भी निग्रह स्थान में ले लिया। यह मुनि अष्टावक्र क्यों कहलाया–यह सब कुछ ठीक २ बताइये ॥६॥

लोमश उवाच —

उद्दालकस्य नियतः शिष्य एको नाम्ना कहोड़ इति विश्रुतोऽभूत्
शुश्रूषुराचार्य्यवशानुवर्त्ती दीर्घं कालं सोऽध्ययनञ्चकार ।
तं वै विप्रः पर्य्यचरत् स शिष्यस्तोञ्च ज्ञात्वा परिचर्य्यां गुरुः सः

लोमश बोले ! उद्दालक ऋषि का एक प्रधान शिष्य था, जिसका नाम कहोड़ प्रसिद्ध होगया। यह गुरु की आज्ञा के अनुसार चलने वाला, सेवा में तत्पर, विद्यार्थी था। इसने बहुत काल तक अध्ययन किया था। इस ब्राह्मण वंशोत्पन्न

शिष्य कहोड़ ने अपने गुरु की बहुत दिन तक सेवा की। गुरु उद्दालक ने उसकी इस सेवा का बड़ा आदर किया ॥७॥

तस्मै प्रादात् सद्य एव श्रुतञ्च भार्य्याञ्च वै दुहितरं स्वां सुजाताम्।
तस्या गर्भः समभवदग्निकल्पः सोऽधीयानं पितरञ्चाप्युवाच॥८॥

इस महर्षि ने इससे सन्तुष्ट होकर इसको शीघ्र वेद पढ़ा दिया और अपनी कन्या सुजाता को भार्या रूपसे प्रदान कर दिया। इस कन्याने अग्नि के समान तेजस्वी गर्भ धारण किया। यह गर्भ वेद पढ़ते हुए अपने पिता से कहने लगा ॥८॥

सर्वां रात्रिमध्ययनं करोषि नेदं पितः सम्यगिवोपवर्त्तते।
वेदान् साङ्गान् सर्वशास्त्रैरुपेतानधीतवानस्मि तव प्रसादात्॥९॥
इहैव गर्भे तेन पितर्ब्रवीमि नेदं त्वत्तः सम्यगिवोपवर्त्तते।
उपालब्धः शिष्यमध्ये महर्षिः स तं कोपादुदरस्थं शशाप॥१०॥
यस्मात् कुक्षौ वर्त्तमानो ब्रवीषि तस्माद्वक्रो भवितास्यष्टकृत्वः।
स वै तथा वक्र एवाभ्यजायदष्टावक्रः प्रथितो वै महर्षिः॥११॥

हे पिता! तुम सारी रात अध्ययन करते रहते हो, परन्तु फिर भी तुम्हारा अध्ययन ठीक नहीं है। मैंने तुम्हारी कृपा से सारे शास्त्र और अङ्गों सहित वेद का अध्ययन यहीं गर्भ में कर लिया है। इससे कहता हूं, कि तुम ठीक नहीं पढ़ रहे हो। इसने इस महर्षि को शिष्यों के बीच में ही फटकार दिया, जिससे इस महर्षि ने गर्भ-गत बालक को ही शाप दे डाला कि तू गर्भ में रहता हुआ ही बोल रहा है, इससे तू आठ

जगह से बांका उत्पन्न होगा। वह बालक इस शाप के कारण आठ अङ्गों से बांका था। इससे यह अष्टावक्र नाम से प्रसिद्ध होगया ॥ ६—११ ॥

अस्यासीद्वै मातुलः श्वेतकेतुः स तेन तुल्यो वयसा संबभूव।
सम्पीड्यमाना तु तदा सुजाता सा वर्द्धमानेन सुतेन कुक्षौ।।१२

इसका मामा श्वेतकेतु इसकी आयु के तुल्य था। जब गर्भ कुक्षि में बढ़ने लगा, तो ऋषि-भार्या सुजाता दुःखित होने लगी ॥ १२ ॥

उवाच भर्त्तारमिदं रहोगता प्रसाद्य हीनं वसुना धनार्थिनी।
कथं करिष्याम्यधना महर्षे मासश्चायं दशमो वर्त्तते मे।
नैवास्ति ते वसु किञ्चित् प्रजाता येनाहमेतामापदं निस्तरेयम्

यह अपने दरिद्री भर्ता से एकान्त में धन की इच्छा से कहने लगी। हे महर्षे! अब मैं धन के बिना क्या करूं, मेरे तो गर्भ के लिये यह दशवाँ महीना जारहा है। हमारे पास तो कुछ भी धन नहीं है, जिससे इस प्रसव-काल की आपत्ति से छुटकारा पा सकूं ॥ १३ ॥

उक्तस्त्वेवं भार्य्यया वै कहोड़ो वित्तस्यार्थे जनकमथाभ्यगच्छत्।
स वै तदा वादविदा निगृह्य निमज्जितो वन्दिनेहाप्सु विप्रः

जब भार्या सुजाता ने इतना कहा—तो यह कहोड़ ऋषि

राजा जनक के पास पहुंचा । इस ऋषि को शास्त्रार्थ के दाव-पेच जानने वाले राज-पण्डित वन्दी ने निग्रह स्थान में लेकर प्रतिज्ञानुसार जल में डुबो दिया ॥ १४ ॥

उद्दालकस्तन्तु तदा निशम्य सूतेन वादेऽप्सु निमज्जितं तदा ।
उवाच तां तत्र ततः सुजातामष्टावक्रे गूहितव्योऽयमर्थः ॥१५॥

जब उद्दालक ने सुना, कि सूत (वन्दी) ने शास्त्रार्थ में हराकर महर्षि कहोड़ को जल में डुबो दिया है, तो उसने शीघ्र अपनी पुत्री सुजाता के पास जाकर कहा कि तुम्हारे पति इस तरह मारे गये, अब तुम इस कथा को अपने पुत्र से न कहना ॥ १५ ॥

ररक्ष सा चापि तमस्य मन्त्रं जातोऽप्यसौ नैव शुश्राव विप्रः ।
उद्दालकं पितृवच्चापि मेने तथाष्टावक्रो भ्रातृवच्छ्वेतकेतुम् ॥१६

इसने इस वृत्तान्त को छुपा रखा । अष्टावक्र ने उत्पन्न होने के बहुत काल पोछे तक भी इस कथा को नहीं सुना । यह अष्टावक्र, उद्दालक को अपना पिता और श्वेतकेतु को अपना भाई समझता था ॥ १६ ॥

ततो वर्षे द्वादशे श्वेतकेतुरष्टावक्रं पितुरङ्के निषण्णम् ।
अपाकर्षद् गृह्य पाणौ रुदन्तं नायं तवाङ्कः पितुरित्युक्तवांश्च ॥१७

जब अष्टावक्र बारह वर्ष का होगया तो एक दफा अपने नाना को पिता समझ कर उसकी गोदी में बैठ गया । श्वेतकेतु ने इसका हाथ पकड़ अपने पिता की गोदी से खैंच लिया और कहा—यह तेरे पिता की गोद नहीं है । बालक अष्टावक्र, यह सुन कर रोने लगा ॥ १७ ॥

यत्तेनोक्तं दुरुक्तं तत्तदानीं हृदि स्थितं तस्य सुदुःखमासीत् ।
गृहं गत्वा मातरं सोऽभिगम्य पप्रच्छेदं क्व नु तातो ममेति १८

इस समय इस श्वेतकेतु ने जो कटु—वचन कह डाला, जिसको सुनकर इसके हृदय में बड़ा ही दुःख हुआ । यह अपने निवास स्थान में गया और माता के पास जाकर पूछने लगा हे माता ! मेरा पिता कहां है ॥ १८ ॥

ततः सुजाता परमार्त्तरूपा शापाद्भीता सर्वमेवाचचक्षे ।
तद्वै तत्त्वं सर्वमाज्ञाय रात्रावित्यब्रवीत् श्वेतकेतुं स विप्रः १९

अब सुजाता बड़ी दुःखी हुई और इसने शाप से डर कर सब कुछ बता दिया । यह इस सारी घटना के तत्व को जान कर उसी रात श्वेतकेतु से बोला ॥ १९ ॥

गच्छाव यज्ञं जनकस्य राज्ञो बह्वाश्चर्य्यः श्रूयते तस्य यज्ञः ।
श्रोष्यावोऽत्र ब्राह्मणानां विवादमन्नञ्चाग्र्यं तत्र भोक्ष्यावहे च

हे मामा ! हम लोग राजा जनक के यज्ञ में चलें । उसका यज्ञ अनेक आचार्यों से युक्त होगा । हम भी उस यज्ञ में ब्राह्मणों के शास्त्रार्थ सुनेंगे और उत्तम २ भोजन का भक्षण करेंगे ॥ २० ॥

विचक्षणत्वञ्च भविष्यते नौ शिवश्च सौम्यश्च हि ब्रह्मघोषः
तौ जग्मतुर्मातुलभागिनेयौ यज्ञं समृद्धं जनकस्य राज्ञः ।

अष्टावक्रः पथि राज्ञा समेत्य प्रोत्सार्य्यमाणो वाक्यमिदं जगाद

इति श्रीमहाभारत आरण्यपर्वाणि तीर्थयात्रापर्वाण अष्टावक्रीये
द्वात्रिंशदधिकशतोऽध्यायः ॥ १३२॥

वेद-ध्वनि कल्याणकारी और रमणीक होती है, इसके सुनने से हमको पाण्डित्य प्राप्त होगा। ये दोनों मातुल और भागिनेय श्वेतकेतु और अष्टावक्र, समृद्धशाली राजा जनक के यज्ञ में पहुंचे। अष्टावक्र मार्ग में राजा की सवारी के आगे आ गया, जब इसको सिपाहियों ने हटाया तो यह इस प्रकार कहने लगा ॥ २१ ॥

इति श्री महाभारत वनपर्वान्तर्गत तीर्थयात्रा पर्व में अष्टावक्र के उपाख्यान का एक सौ बत्तीसवां अध्याय समाप्त हुआ।

एक सौ तेतीसवां अध्याय

अष्टावक्र उवाच—

अन्धस्य पन्था बधिरस्य पन्थाः स्त्रियः पन्था भारवाहस्यपन्थाः
राज्ञः पन्था ब्राह्मणेनासमेत्य समेत्य तु ब्राह्मणस्यैव पन्थाः॥१

अष्टावक्र बोला—हे राजन्! यद्यपि सब से प्रथम अन्धे, बहरे, स्त्री, बोझ ढोनेवाले और राजा को मार्ग देना चाहिये, परन्तु यह नियम तभी तक लागू है, जब तक कोई ब्राह्मण

सन्मुख नहीं आवे। यदि ब्राह्मण सामने आजावे, तो सर्वप्रथम ब्राह्मण को ही मार्ग देना चाहिये ॥ १ ॥

राजोवाच—

पन्था अयं तेऽद्य मया निर्दिष्टो येनेच्छसि तेन कामं व्रजस्व।
न पावको विद्यते वै लघीयानिन्द्रोऽपि नित्यं नमते ब्राह्मणानाम्

राजा ने कहा—हे ब्राह्मण! मैं आपको यह मार्ग छोड़ता हूं आपकी इच्छा हो, जिधर से निकल जाइये। अग्नि कितने ही छोटे रूप में हों, वह छोटा नहीं हो सकता। ब्राह्मणों को तो इन्द्र भी नित्य झुकता है ॥ २ ॥

अष्टावक्र उवाच—

प्राप्तौ स्व यज्ञं नृप सन्दिदृक्षू कौतूहलं नौ बलवान्नरेन्द्र।
प्राप्ताविहावामतिथीप्रवेशं कांक्षावहे द्वारपतेस्तवाज्ञाम् ॥३॥

अष्टावक्र बोले—हे नृप! हम तुम्हारे यज्ञ के देखने को आये हैं। हमको इसके देखने की बड़ी उत्कण्ठा है। हम दोनों अतिथियों के रूप में प्रवेश करना चाहते हैं केवल तुम्हारी और द्वारपाल की आज्ञा की प्रतीक्षा है ॥ ३ ॥

ऐन्द्रद्युम्ने यज्ञदृशाविहावां विवक्षू वै जनकेन्द्रं दिदृक्षू।
तौ वै क्रोधव्याधिना दह्यमाना वयश्च नौ द्वारपालो रुणद्धि॥४

हे इन्द्रद्युम्न के पुत्र! जनकराज! हम यज्ञ देखने और कुछ

भाषण करने के लिए आये हैं। हम दोनों क्रोध की अग्नि से जल रहे हैं, क्योंकि ये द्वारपाल, हमको रोक रहे हैं ॥४॥

द्वारपाल उवाच—

वन्देः समादेशकरा वयं स्म निबोध वाक्यञ्च मयेर्य्यमाणम्।
नवै बालाःप्रविशन्त्यत्रविप्रा बृद्धाविदग्धाः प्रविशन्त्यत्र विप्राः

द्वारपाल बोला—हम लोग राज-पँडित वन्दी की आज्ञा में रहते हैं, तुमको इस हमारे कहे हुये वाक्य पर विश्वास करना चाहिये। इस यज्ञ में बच्चे नहो घुस सकते हैं। इस में तो विद्वान्, वृद्ध, चतुर ब्राह्मण ही प्रवेश कर सकते हैं॥ ५ ॥

अष्टावक्र उवाच—

यद्यत्र वृद्धेषु कृतः प्रवेशो युक्तं प्रवेष्टुं मम द्वारपाल।
वयञ्च वृद्धाश्चरितव्रताश्च वेदप्रभावेन समन्विताश्च॥६॥

अष्टावक्र ने कहा—हे द्वारपाल ! यदि इस यज्ञ शाला में वृद्धों का ही प्रवेश हो सकता है,तो मेरा प्रवेश भी उचित है। हमको भी वृद्ध और वृद्धों के समान आचरण वाले समझो। हम भी वेद में परिश्रम किये हुए हैं ॥६॥

शुश्रूषवश्चापि जितेन्द्रियाश्च ज्ञानागमे चापि गताःस्म निष्ठाम्
न बाल इत्येवमन्तव्यमाहुर्बालोऽप्यग्निर्दहति स्पृश्यमानः॥७॥

हम शास्त्रों के सुनने की इच्छा वाले, जितेन्द्रिय और वेदान्त

शास्त्र के ज्ञाता हैं। हम को बच्चा नहीं समझना चाहिये। अग्नि तो थोड़ा भी छूते ही जला डालता है ॥ ७ ॥

द्वारपाल उवाच—

सरस्वतीमीरय वेदजुष्टामेकाक्षरां बहुरूपां विराजम् ।
अङ्गात्मानं समवेक्षस्व बालं किं श्लाघसे दुर्ल्लभो वै मनीषी॥८॥

द्वारपाल ने कहा—हे ब्राह्मण बालक! यदि तुम विद्वान् हो, तो ओंकार से युक्त ब्रह्म प्रतिपादक वेद-मयी मन्त्रार्थ वाद से युक्त, प्रकाशमान वाणी का उच्चारण करो। तुम अपने बचपन की ओर तो देखो। व्यर्थ प्रशंसा करने में क्या रक्खा है। संसार में सच्चा विद्वान् मिलना बड़ा दुर्लभ है ॥ ८ ॥

अष्टावक्र उवाच—

न ज्ञायते कायवृद्ध्या विवृद्धिर्यथाष्ठीलाः शाल्मलेःसंप्रवृद्धा;
ह्रस्वोऽल्पकायःफलितो विवृद्धो यश्चाफलस्तस्यनवृद्धभावः॥९॥

अष्टावक्र ने कहा हे—द्वारपाल! शरीर के बड़े होने से कुछ प्रयोजन नहीं है। शाल्मलि वृक्ष के फल की गांठ के बढ़ने से (रुई के सिवा) क्या लाभ है। जो फलों से लदा हुआ छोटा वृक्ष है, वही श्रेष्ठ है। फलों से रहित वृक्ष के बढ़ने से भी क्या प्रयोजन है ॥ ९ ॥

द्वारपाल उवाच—

वृद्धेभ्य एवेह मतिं स्म बाला गृह्णन्ति कालेन भवन्ति वृद्धाः
न हि ज्ञानमल्पकालेन शक्यं कस्माद्बालःस्थविर इव प्रभाषसे

द्वारपाल बोला:- बालक गण वृद्धों से ही ज्ञान ग्रहण करते हैं और फिर समय पर जाकर वृद्ध हो जात है। ज्ञान कोई दो चार दिन में प्राप्त नहीं हो जाता है, फिर तू बच्चा होकर भी वृद्धों की सी बातें कैसे बनाता है॥ १०॥

अष्टावक्र उवाच—

न तेन स्थविरो भवति येनास्य पलितं शिरः।
बालोऽपि यः प्रजानाति तं देवाः स्थविरं विदुः ॥११॥

अष्टावक्र ने कहा—कोई मस्तक के बाल सफेद होने से वृद्ध नहीं होता है। जो आयु में न्यून भी है, परन्तु उसका ज्ञान अधिक हैं, तो वही वृद्ध माना जाता है ॥११॥

न हायनैर्न पलितैर्न वित्तेन न बन्धुभिः।
ऋषयश्चक्रिरे धर्मं योऽनूचानः स नो महान् ॥१२॥

वर्षों की अधिकता, श्वेत बाल, धन या बन्धुओं से कोई बड़ा नहीं है। ऋषियों ने तो यह नियम बनाया है कि जो अङ्गों सहित वेदों का पढ़ने वाला है, वही बड़ा है॥ १२॥

दिदृक्षुरस्मि संप्राप्तो वन्दिनं राजसंसदि।
निवेदयस्व मां द्वाःस्थ राज्ञे पुष्करमालिने ॥१३॥

मैं तो राज—सभा में वन्दी की विद्या देखने हो आया हूं। हे द्वारपाल! तू स्वर्ण की माला पहिने हुए राजा को मेरे आने की सूचना करदे॥ १३॥

द्रष्टास्यद्य वदतोऽस्मान द्वारपाल मनीषिभिः ।
सह वादे विवृद्धे तु वन्दिनञ्चापि निर्जितम् ।।१४।।

हे द्वारपाल ! आज तू हमारा शास्त्रार्थ विद्वानों के साथ देखेगा । जब यह विवाद बहुत बढ़ जावेगा, तब तू अन्त में वन्दी को पराजित देख लेना ॥ १४ ॥

पश्यन्तु विप्राः परिपूर्णविद्याः सहैव राज्ञा सपुरोधमुख्याः ।
उताहो वाप्युच्चतां नीचतां वा तूष्णीम्भूतेष्वेवसर्वेष्वथाद्य ।।

आज सारे विद्वानों के विवाद में चुप हो जाने पर राजा और राज पुरोहित आदि के सन्मुख उत्तम २ विद्वान् हमारी श्रेष्ठता या अधमता का निर्णय कर सकेंगे ॥ १५ ॥

द्वारपाल उवाच—

कथं यज्ञं दशवर्षो विशेस्त्वं विनीतानां विदुषां संप्रवेशम् ।
उपायतः प्रयतिष्ये तवाहं प्रवेशने कुरु यत्नं यथावत् ।।१६।।

द्वारपाल बोला—हे बालक ! तू दश वर्ष का ही इस यज्ञ में कैसे जा सकता है, जिसमें बड़े २ शिक्षित विद्वानों का प्रवेश हो रहा है । मैं कुछ तेरे प्रवेश कराने का उपाय करूंगा । तू भी इसके लिये उचित प्रयत्न करना ॥ १६ ॥

अष्टावक्र उवाच—

भो भो राजन् जनकानां वरिष्ठ त्वं वै सम्राट् त्वयिसर्वं समृद्धम्
त्वं वा कर्त्ता कर्मणां यज्ञियानां ययातिरेको नृपतिर्वा पुरस्तात्

अष्टावक्र कहने लगा—हे जनक-वंश श्रेष्ठ ! राजन् ! तुम चक्रवर्ती राजा हो और तुम्हारे पास समृद्धशाली राज्य है। वर्तमान काल में केवल तुम ही उत्तम २ यज्ञों के करने वाले हो या पूर्व काल में एक ययाति राजा हो चुके हैं ॥१७॥

विद्वान् वन्दी वादविदो निग्रह्य वादे भग्नानप्रतिशङ्कमानः ।
त्वयाभिसृष्टैःपुरुषैराशु क्लिज ले सर्वान्‌ मज्जयतीति नः श्रुतम्

हे राजन् ! तुम्हारी राज सभा में शास्त्रार्थ की प्रक्रिया जानने वाला, कोई वन्दी नाम का विद्वान् हैं,जो शास्त्रार्थ में हारे हुए, विद्वानों को निःशङ्कता से तेरे पुरुषों के हाथ से बहुत शीघ्र पानी में डुबवा देता है—ऐसा हमने सुना है ॥१८॥

सोऽहं श्रुत्वा ब्राह्मणानां सकाशे ब्रह्माद्वैतं कथयितुमागतोऽस्मि
क्वासौ वन्दी यावदेनं समेत्य नक्षत्राणीव सविता नाशयामि

ब्राह्मणों के पास यह सुन कर मैं भी ब्रह्माद्वैत (अद्वैत-वाद) की पुष्टि के लिये तुम्हारे पास आया हूं। वह वन्दी कहां है। मैं उसके पास जाकर तारों को सूर्य की तरह उसको निस्तेज करूंगा ॥१९॥

राजोवाच—

आशंससे वन्दिनं वै विजेतुमविज्ञाय त्वं वाक्यबलं परस्य ।
विज्ञातवीर्य्यैःशक्यमेव प्रवक्तुंद्रष्टश्चासौ ब्राह्मणैर्वेदशीलैः

राजा बोला—हे अष्टावक्र ! तू अन्य के भाषण के बल को न जान कर ही यह बकवाद कर रहा है। यदि तू पदोकी शक्ति

को देख चुका होता, तो ऐसा कह सकता था। इसके बल को तो वेद के जानने वाले विद्वान् ही जानते हैं ॥२०॥

आशंससे त्वं वन्दिनं वै विजेतुमविज्ञात्वा तु बलं बन्दिनोऽस्य
समागता ब्राह्मणास्तेन पूर्वं न शोभन्ते भास्करेणेव ताराः

हे ब्रह्म-वटों ! तू वन्दी को जीतना चाहता है, परन्तु वन्दी के बल को नहीं जानता। पूर्व में भी अनेक ब्राह्मण आये, परन्तु इसके सन्मुख सूर्य के समक्ष तारोंके समान फीके पड़ गये ॥ २१ ॥

आशंसन्तो वन्दिनं जेतुकामास्तस्यान्तिकं प्राप्य विलुप्तशोभा
विज्ञानमत्ता निःसृताश्चैव तात कथं सदस्यैर्वचनं विस्तरेयुः२२

अनेक ब्राह्मण, वन्दी के जीतने की इच्छा से बड़ी आशा के साथ आए, परन्तु विज्ञान के अहङ्कारी भी उसके सामने आते ही कान्तिहीन हो गए और सभा से खसक गए। ये आने वाले विद्वान्, सभासदों के साथ अपनी विद्या का विस्तार कैसे कर सकते थे ॥२२॥

अष्टावक्र उवाच—

विवादितोऽसौ न हि मादृशैर्हि सिंहीकृतस्तेन वदत्यभीतः।
समेत्य मां निहतः शेष्यतेऽद्य मार्गे भग्नंशकटमिवाचलाक्षम्

अष्टावक्र ने कहा—इस वन्दी ने मुझ जैसे ब्राह्मणों से विवाद नहीं किया है, इससे ही यह निर्भय होकर सिंह बना हुआ है। आज यह मुझ से पराजित होकर दृढ़ धुरे वाले टूटे गाडे की तरह मार्ग में गिर जावेगा ॥२३॥

राजोवाच—

त्रिशंकद्वादशांशस्य चतुर्विंशतिपर्वणः ।
यस्त्रिषष्टिशतारस्य वेदार्थं स परः कविः ॥२४॥

राजा बोला—हे अष्टावक्र! जिस में तीस २ अवयव के बारह अंश (भाग) है और चौबीस पर्व (ग्रन्थि) तथा तीन सौ साठ आरे (गाड़ी के दांते) हैं, इस (चक्र) को जो जानता है। वही कवि अर्थात् विद्वान् है ॥२४॥

अष्टावक्रउवाच —

चतुर्विंशतिपर्वं त्वां षणाभि द्वादशप्रधि ।
तत्रिषष्टिशतारं वै चक्रं पातु सदागति ।॥२५॥

अष्टावक्र ने कहा—हे राजन्! जिसमें पक्ष २ में दो (अमावस्या और पूर्णिमा) पर्व (उत्सव) होने से बारह मास में चौबीस पर्व होते हैं। ऐसा एक तो चान्द्र सम्वत्सर होता है। बारह प्रति (मास) का प्रत्येक राशि पर सूर्य घूमने से सौर सम्वत्सर होता है। इसमें तीस २ दिन के अंश हैं। तीन सौ साठ दिन का एक सावन सम्वत्सर होता है, क्योंकि नक्षत्र, चक्र साठ घड़ी में एक वार और वर्ष भर में तीन सौ साठ वार घूमता है। इन सम्वत्सरों में छः नाभि अर्थात् छः ऋतुएँ हैं। इस प्रकार का सौर, चान्द्र और सावन सम्वत्सर रूप सदा घूमनेवाला चक्र तुम्हारी रक्षा करे ॥२५॥

राजोवाच—

बडवे इव संयुक्ते श्येनपाते दिवौकसाम् ।
कस्तयोर्गर्भमाधत्ते गर्भं सुषुवतुश्च कम् ॥२६॥

राजा ने फिर कहा—जो दो घोड़ियों की भांति जुड़ी हुई और श्येन (बाज) पक्षी की तरह वेग से उड़नेवाली है. उनमें देवों में से कौन गर्भ धारण करता है और वे किस गर्भ को उत्पन्न करती हैं ॥ २६ ॥

अष्टावक्र उवाच—

मा स्म ते ते गृहे राजन् शात्रवाणामपि ध्रुवम् ।
वातसारथिरागन्ता गर्भं सुषवतुश्च तम् ॥२७॥

अष्टावक्र बोले—हे राजन् ! ये जो दोनों चीजें तुमने पूछी हैं, ये तुम्हारे तो क्या, तुम्हारे शत्रु के घर पर भी न पड़े। इन दोनों वस्तु (विद्युत् और वज्र) जो आकाश में जुड़े हुये रहते हैं। जिसको वायु-सारथी (मेघ) उत्पन्न करता है और ये दोनों ही उसी वात-सारथि (मेघ) को उत्पन्न करते हैं। ये घातक वस्तु तुम्हारी नाशक न हों या घोड़ी की तरह जुडी हुई दुःख और मृत्यु जिनका वात-सारथि (मन) कारण है। वे ही इस मन को उत्पन्न करती हैं अर्थात् वासना के ये ही दुःख मृत्यु उत्पादक हैं। ये दोनों तुम्हारे विघातक न हों ॥२७॥

राजोवाच—

किंस्वित् सुप्तर्नानिमिषति कि स्विज्जातं न चोपति ।
कस्य स्विद्धृदयं नास्ति किं स्विद्वेगेन वर्द्धते ॥२८॥

राजा ने फिर पूछा-कौन है, जो सो जाने पर भी आंखें नहीं मीचता है और कौन जन्म लेकर भी नहीं चलता फिरता है।

किसके हृदय नहीं है और क्या वेग के साथ बढ़ता है ॥ २८ ॥

अष्टावक्र उवाच—

मत्स्यः सुप्तो न निमिषत्यण्डं जातं न चोपति ।
अश्मनो हृदयं नास्ति नदी वेगेन वर्द्धते ॥२६॥

अष्टावक्र ने उत्तर दिया—कि मछली सो कर भी आंख नहीं मीचती है, अण्डा उत्पन्न होकर भी नहीं चलता है, पत्थर के हृदय नहीं है और नदी वेग के साथ बढ़ती है अथवा प्रलय काल में एक सारी माया को अपने में लीन करके भी परमात्मा आंख नहीं मोचता है। यह ब्रह्माण्ड बिना चैतन्य परमात्मा के गति नहीं कर सकता है। जीवन्मुक्त देहाध्यास उठ जाने से उसके हृदय भी नहीं रहता है,यह मन ही नदी के वेग के समान प्रपञ्च (जगत्) की वेग से रचना करता है ॥२६॥

राजोवाच—

न त्वां मन्ये मानुषं देवसत्त्व न त्वं बालः स्थविरः सम्मतो मे
न ते तुल्यो विद्यते वाक्प्रलापे तस्माद्द्वारं वितराम्येष वन्दी

इति श्रीमहाभारत आरण्यपर्वणि तीर्थयात्रापर्वणि अष्टावक्रीये त्रयस्त्रिंशदधिकशततमोऽध्यायः ॥१३३॥

हे देव-तेज—धारी ! मैं तुमको मनुष्य नहीं मानता हूं। तुम बालक नहीं हो। वाणी के व्यवहार में तुम्हारे समान कोई नहीं है। इससे मैं तुमको द्वार खोलता हूं। आवो, यह पण्डित-राज वन्दी बैठे हैं ॥ ३० ॥

इति श्रीमहाभारत वनपर्वान्तर्गत तीर्थयात्रापर्व में
अष्टावक्र के उपाख्यान का एक सौ तेतीसवां
अध्याय समाप्त हुआ।

एक सौ चौतीसवां अध्याय

अष्टावक्र उवाच--

अत्रोग्रसेन समितेषु राजन् समागतेष्वप्रतिमेषु राजसु ।
नावैमि बन्दिं वरमत्र वादिनां महाजले हंसमिवाददामि ॥१॥

अष्टावक्र कहने लगा-हे वीर-सेना- वाले, राजन्! इस सभा में इकट्ठे हुए अद्भुत राजाओं में वादियों में श्रेष्ठ, बन्दी को मैं देख नहीं रहा हूं। यह तो गम्भीर जल में डुबकी लगाये हुए हंस के समान दृष्टि से ओझल हो रहा है ॥१॥

न मेऽद्य वक्ष्यस्यतिवादिमानिन ग्लहं प्रपन्नः सरितामिवागमः
हुताशनस्येव समिद्धतेजसः स्थिरो भवस्वेह ममाद्य बन्दिन्

हे बोलने के अभिमानी, बन्दी! आज तू मेरे सन्मुख नहीं बोल सकेगा। तूने परास्त हुए वादी के पानी में डुबो देने का प्रण (दाव) निश्चित कर रक्खा है. परन्तु प्रलय कालिक, जलती हुई आग के सामने नदी के वेग की तरह होगा। अब तू सावधान हो जा ॥२॥

व्याघ्रं शयानं प्रति मा प्रबोध आशीविष सृक्कणी संलिहानम्
पदाहतस्येह शिरोऽभिहत्य नादष्टो वै मोच्यसे तन्निबोध ॥३॥

अब तक मैं सिंह के सदृश सो रहा था, तुझे यह जान लेना चाहिए। मुझे तुम इधर उधर मुख भाग को जिह्वा से चाटता हुआ सर्प समझो। तुमने पैर से मेरा शिर कुचल दिया है। अब मैं तुमको बिना काटे नहीं छोड़ूंगा-यह समझ लो॥३॥

यो वै दर्पात् संहननोपपन्नः सुदुर्बलः पर्वतमाविहन्ति ।
तस्येव पाणिः स नखीविदीर्य्यते नचैव शैलस्यहिदृश्यते व्रण

जो मनुष्य अभिमान में भर कर, कवच-धारण करके और दुर्बल होकर पर्वत से टक्कर मारता है, उसी के नख और हाथ टूट जाते हैं, इस से पर्वत में कोई घाव नहीं होता है ॥४॥

सर्वे राज्ञो मैथिलस्य मैनाकस्येव पर्वताः ।
निकृष्टभूता राजानो वत्सा ह्यनडुहो यथा ॥५॥

मैनाक पर्वत के सामने सारे पर्वत, वृषभ के सामने बछड़े जितने छोटे माने गए हैं, उतने ही ये राजा, इस जनकराज के सन्मुख छोटे माने गए हैं ॥५॥

यथा महेन्द्रः प्रवरः सुराणां नदीषु गङ्गा प्रवरा यथैव ।
तथा नृपाणां प्रवरस्त्वमेको वन्दिं समाभ्यानय मत्सकाशम्

हे जनकराज ! देवों में इन्द्र, नदियों में गङ्गा, जिस तरह श्रेष्ठ हैं, वैसे ही तुम भी राजाओं में श्रेष्ठ माने जाते हो। अब तुम इस पण्डितम्मन्य वन्दी को मेरे सामने लाओ ॥६॥

लोमश उवाच—

एवमष्टावक्रः समितौ हि गर्ज्जन् जातक्रोधो वन्दिनमाह राजन्
उक्ते वाक्ये चोत्तरं मे ब्रवीहि वाक्यस्य चाप्युत्तरे ते ब्रवीमि

वन्द्युवाच—

लोमश बोले-हे राजन् ! इस प्रकार अष्टावक्र उस राज-सभा में गर्जकर क्रोध-पूर्वक बन्दी से बोला-अरे पण्डित ! मैं जो प्रश्न करता हूं उसका तू उत्तर दे और तू जो प्रश्न करेगा उसका मैं उत्तर दूंगा, ॥ ७ ॥

एक एवाग्निर्बहुधा समिध्यते एकः सूर्यः सर्वमिदं विभाति।
एको वीरो देवराजोऽरिहन्ता यमः पितृणामीश्वरश्चैक एव॥

बन्दी बोला—"हे अष्टावक्र! जैसे एक अग्नि अनेक रूप से प्रकाश करता है तथा एक सूर्य अनेक रूप से जगत् को प्रकाशित करता है, इसी तरह इन्द्रियों का राजा बुद्धि-तत्व में और यह इस व्यवहार से भिन्न २ रूप में प्रकाश कर रहा है, यह बुद्धिवाद अपने सन्मुख अन्य किसी भी सिद्धान्त को नहीं ठहरने देता है। यही वाद वीर के तुल्य डटा रहता है। सब इन्द्रियों का नियन्ता भी यही बुद्धि (विज्ञान) तत्व है। यह विषयों के भोगों से पालन करने वाली इन्द्रियों का ईश्वर (नियन्ता) है। यही एक तत्व है। जैसे स्वप्न में सारी सृष्टि एक बुद्धि के आधीन है, उसी तरह इस जगत् का व्यवहार है ८

अष्टावक्र उवाच—

द्वाविन्द्राग्नी चरतो वै सखायौ द्वौ देवर्षी नारदपर्वतौ च।
द्वावश्विनौ द्वे रथस्यापि चक्रे भार्यापती द्वौ विहितौ विधात्रा

अष्टावक्र ने उत्तर दिया—इन्द्र और अग्नि, देवर्षि नारद और पर्वत, दो अश्विनी कुमार, दो रथ के पहिए, दो भार्या और पति विधाता ने जैसे सहचर बनाये हैं उसी तरह केवल एक बुद्धि (विज्ञान) ही तत्व नहीं है, किन्तु आत्मा और बुद्धि साथ रहने वाले दो भिन्न २ तत्व है, आत्म तत्व अग्नि, सूर्यवत् प्रकाशक और बुद्धि प्रकाश्य है ॥९॥

वन्द्युवाच—

त्रिः सूयते कर्म्मणा वै प्रजेयं त्रयो युक्ता वाजपेयं वहन्ति ।
अध्वर्य्यवस्त्रिसवनानितन्वतेत्रयो लोकास्त्रीणिज्योतींषिचाहुः

बन्दी कहने लगा-यह सारी प्रजा, तोन तरह से अर्थात् मनुष्य, पशु और पक्षी के रूप में कर्म के द्वारा उत्पन्न होती है इसीं तरह तीनों वेद वाजपेय आदि यज्ञों के प्रति पादक हैं अध्वर्यु भा तीन सवन अर्थात् तीन काल में यज्ञ प्रक्रिया करते रहते हैं । तोन लोक (स्वर्ग, नरक, भू लोक) कर्मों के आधोन ही हैं तथा तोन ज्योति सुख, मार्ग और प्रकाशक तथा जाग्रत् स्वप्न, सुषुप्ति तीन अवस्थायें कर्म से ही अनुबद्ध हैं । इससे सारा जगत् कर्म मय है । कर्म के सिवा अन्य तत्व कुछ भी नहीं है ।।१०।।

अष्टावक्र उवाच—

चतुष्टयं ब्राह्मणानां निकेतंचत्वारो वर्णा यज्ञमिमं वहन्ति ।
दिशश्चतस्रो वर्णचतुष्टयश्च चतुष्पदा गैरपि शश्वदुक्ता ।। ११

अष्टावक्र ने कहा—इस कर्म मार्ग से भो आगे ब्रह्मज्ञानियों का एक चतुर्थ स्थान (संन्यासाश्रम) है । तुम्हारे इस यज्ञ को चारों वर्ण के सामान्य जन भी कर सकते हैं विराट्, सूत्रात्मा अन्तर्यामी और तुरीय ये चार अवस्थाएं हैं । चतुर्थ तुरीय में ब्रह्म का साक्षात्कार होता है । वर्ण चार प्रकार के हैं ह्रस्व, दीर्घ, प्लुत और हल् इनसे ही सारे ज्ञान का निर्णय है या अकार. उकार, मकार और अर्ध मात्रारूप ओंकरा

से ब्रह्म ज्ञान होता है। एवं परा, पश्यन्ति मध्यमा और वैखरी इस तरह चार प्रकार की वाणी मानी गई है। ११।

वन्दुवाच—

पञ्चाग्नयः पञ्चपदा च पङ्क्तिर्यज्ञाः तञ्चैवाप्यथ पञ्चेन्द्रियाणि
दृष्टा वेदे पञ्चचूडाप्सराश्च लोके ख्यातं पञ्चनदञ्च पुण्यम्

बन्दी बोला- गार्हपत्य, दक्षिणाग्नि, आहवनीय सम्भ और आवसथ्य ये पांच यज्ञ की अग्नि हैं। पांच पाद वाला यज्ञ का पंक्ति छन्द है। अग्नि-होत्र, दश. पौर्णमास. चातुर्मास्य और सोम याग. ये पाँच यज्ञ हैं। पांच इन्द्रियां हैं, इन यज्ञों के फल रूप पांचा इन्द्रिय के भोगों को स्वर्ग में प्राप्त करना वेद में कहा गया है, क्योंकि लोक में इन्हीं पांच इन्द्रियों के विषय भोगों के स्वर्ग में भोगने को पवित्र पञ्चनद या मोक्ष स्थान माना है। स्वर्ग से अधिक अन्य कोई मोक्ष स्थान नहीं है ॥१२॥

अष्टावक्र उवाच —

षडाधाने दक्षिणामाहुरेके षट् चैवेमे ऋतवः कालचक्रम्।
षडिन्द्रियाणीत्युतषट्कृत्तिकाश्चषट्साद्यस्काःसर्ववेदेषु दृष्टाः

अष्टावक्र बोले—अग्नि के आधीन अर्थात् यज्ञ से पांच इन्द्रियों के भोग रूप स्वर्ग की ही प्राप्ति नहीं है, अपितु निष्काम यज्ञ से चित्त की शुद्धि रूप छटी दक्षिणा भी यज्ञ में छः गायों की दक्षिणा के समान प्राप्त होती है। वसन्त आदि छः ऋतुओं का काल चक्र (संवत्सर) के समान विवेक विराग आदि छः सम्पत्तियों से युक्त ज्ञान चक्र चलता है।

इन्द्रियां भी पांच नहीं छः हैं, अर्थात् अन्तः करण भी छटा इन्द्रिय है, जो ब्रह्म के साक्षात्कार का साधन है। छः कृत्तिका के तारों के तुल्य ये षट् सम्पत्ति, अज्ञान को काटने वाली होने से कृत्तिका हैं। सारे वेदों में साद्यस्क यज्ञों के तुल्य ये शम दमादि छः साधन हैं ।। १३ ।।

वन्द्युवाच—

सप्तग्राम्याःपशवःसप्त वन्याःसप्तच्छन्दांसिक्रतुमेकं वहन्ति
सप्तर्षयः सप्त चाप्यर्हणानि सप्ततन्त्री प्रथिता चैव वीणा ।१४।

वन्दी बोला—पाँच ज्ञानेन्द्रिय छटा मन और सातवीं बुद्धि इन सातों में बन्धा हुआ पुरुष ग्राम्य पशु कहाता है और स्वर्ग के भोगों में बंधा हुआ पुरुष वन्य पशु के तुल्य है। ये दोनों प्रकार के सुखों में लिप्त पुरुष, प्रत्येक इन्द्रिय के विषयों को अर्पण करता है। ये सातों मन आदि सात ऋषि हैं, इन के विषय ही सात पूजा की सामग्री हैं। सात तारों से बजने वाली वीणा के सदृश ही इन सातों के विषयों से पुरुष आत्मा को सुखी बनाता है अर्थात् इस लोक और स्वर्ग लोक के अतिरिक्त अन्य कोई सुख दायी मोक्ष नहीं है ।। १४ ।।

अष्टावक्र उवाच—

अष्टौ शाणाः शतमानं वहन्ति तथाष्टपादः शरभः सिंहघाती
अष्टौ वसूनश्शुश्रुम देवतासु यूपश्चाष्टास्रिर्विहितः सर्वयज्ञे ।१५।।

अष्टावक्र ने कहा--शण को बनी हुई गूण के तुल्य इन्द्रियों में भरे जाने वाले विषय आठ हैं, अर्थात् पांच इन्द्रिय मन, बुद्धि

तथा अहङ्कार के मिलने से इनके आठ विषय हुए ; जो अनन्त रूप धारण कर लेते हैं। आठ पाद वाला शरभ, जिस तरह सिंह का घाती है, उसी तरह पांच इन्द्रियां और तीन मन आदि तत्व सुखों के साधन हैं। इस सुख से आगे प्राप्त हुआ परमानन्द द्वैत का घातक है। आठ वासनाओं को भी हम इन्द्रियों में उत्पन्न होने वाली ही सुनते आए हैं। अज्ञान भी आठ तत्व और उनके विषयों के संयोग में विद्यमान रहता है ॥ १५ ॥

वन्द्युवाच

नवैवोक्ताः सामिधेन्यः पितॄणां तथा प्राहुर्नवयोगं विसर्गम् ।
नवाक्षरा बृहती सम्प्रदिष्टा नवैव योगो गणनामेति शश्वत्

बन्दो ने कहा—जैसे पितृ यज्ञ में एक मंत्र के तीन २ बार बोलने और उसके साथ तीन २ समिधा यज्ञ वेदी में डालने से नो सामधेनो (समिधा) होती हैं, उसी तरह एक प्रकृति के तीन गुण और उनके एक २ गुण की प्रधानता से नो भेद होकर अनन्त सृष्टि की रचना होती है, इससे प्रकृति को ही सत्य और स्वतन्त्र माननी चाहिये। नव अक्षरों के चार पादों से जैसी बृहती जाति के छंद बनते हैं तथा नो अङ्कों से सारी संख्याएँ बन जाती हैं, ऐसे प्रकृति के तीन गुणों के प्रधान अंश को लेकर नो भेदों से सारी सृष्टि बनी है इससे द्वैत को ही सत्य मानना चाहिये ॥१६॥

अष्टावक्र उवाच—

दिशो दशोक्ताः पुरुषस्य लोके सहस्रमाहुर्दशपूर्णं शतानि।
दशैव मासान् बिभ्रति गर्भवत्यो दशेरका दशदासदशार्हाः

अष्टावक्र बोले—लोक में पुरुष के शरीर में विषय और कर्मों के दिखाने वाली वाणी आदि दस इन्द्रियां हैं। परन्तु उस पर ब्रह्म के सहस्रों अक्षि आदि इन्द्रियों की कल्पना की जाती है। इन दस इन्द्रियों के दस परिमाण (संख्या) में. विषय हैं जिन को गर्भवती स्त्री के समान ये धारण करती है। ये ही दस इन्द्रियां तत्व की ग्राहक, अतत्व (अज्ञान) को छोड़ने वाली है ये ही दश इन्द्रियां ब्रह्म प्राप्ति में साधन होने से आदरणीय हैं॥ १७॥

वन्धुवाच—

एकादशैकादशिनः पशूनामेकादशैवात्र भवन्ति यूपाः।
एकादश प्राणभृतां विकारा एकादशोक्ता दिवि देवेषु रुद्राः

बन्दी ने कहा— मनुष्य मात्र के मन को मिला कर एकादश इन्द्रिय और इनके एकादश ही विषय होते हैं। यूप जिस तरह पशु बन्धन का साधन है, ऐसे ही इन एकादश इन्द्रियों ने पशु के तुल्य इस प्राणी को बांध रक्खा है। प्राणियों के विषय रूप इन इन्द्रियों के एकादश विकार हैं इन्हीं एकादश विकारों ने स्वर्ग में देवों तक को बांध रक्खा है अर्थात् कान्तालिङ्गनादि के अतिरिक्त अन्य न कोई दिव्य सुख द्वारा मोक्ष है और न कोई देहातिरिक्त आत्मा है ॥ १८॥

अष्टावक्र उवाच—

सम्वत्सरं द्वादशमासमाहुर्जगत्याः पादो द्वादशैवाक्षराणि ।
द्वादशाहःप्राकृतो यज्ञ उक्तो द्वादशादित्यान् कथयन्तीह धीराः

अष्टावक्र ने कहा—हे वन्दिन्! तूने बारह मास के संघात रूप सम्वत्सर की तरह तथा द्वादशाक्षर के संघात रूप जगती छन्द की भांति देह से अभिन्न आत्मा का प्रतिपादन किया है अथवा तू केवल पृथिव्यादि चार तत्व और तीन गुणों के सम्मिश्रण रूप बारह भेदों से जगत् को उत्पत्ति मानता है, यह ठीक नहीं। जिस भांति द्वादशाहयज्ञ अहर्गण का कारण है, उसी तरह सच्चिदानन्द परमात्मा ही इस जगत् का अभिन्न निमित्तापादान कारण है। उस परमात्मा की प्राप्ति के ये धर्म, सत्य, दम, तप, अमात्सर्य, लज्जा, तितिक्षा, अनसूया, यज्ञ, दान, धैर्य और महायज्ञ ये बारह आदित्य के समान प्रकाशक या प्राप्त करने वाले विद्वानों ने माने हैं॥ १६ ॥

वन्द्युवाच—

त्रयोदशी तिथिरुक्ता प्रशस्या त्रयोदशद्वीपवती मही च ।

लोमश उवाच—

एतावदुक्त्वा विरराम वन्दी श्लोकस्यार्द्धं व्याजहाराष्टवक्रः

अष्टावक्र उवाच—

त्रयोदशाहानि ममारकेशीत्रयोदशादीन्यतिच्छन्दासि चाहुः

वन्दी बोला—तुमने चित्त शुद्धि के ये बारह साधन ही कैसे कहे। तेरहवां तिथि अर्थात् काल सब में श्रेष्ठ माना गया

है अथवा तेरह द्वीपों वाली पृथ्वी के तुल्य काल भी चित्तशुद्धि का श्रेष्ठ साधन विद्वानों ने माना है इससे तेरह साधन हैं, बारह नहीं। इस प्रकार आधा श्लोक ही कहकर बन्दी रुक गया। तब अष्टावक्र इस श्लोकको पूर्ण करता हुआ कहने लगा—दश इन्द्रिय, मन, बुद्धि और अहङ्कार इन तेरह तत्व और विषयों के साथ सम्बन्ध रूप यज्ञ में यह आत्मा (केशी) बन्धन में आया हुआ सा प्रतीत होता है। ये ही तेरह तत्व आत्मा के आच्छादक हैं। इनकी निवृत्ति से ही शुद्ध ब्रह्म का साक्षात्कार होजाता है, अन्य किसी देशकाल की अपेक्षा नहीं है ॥ २०—२१ ॥

ततो महानुदतिष्ठन्निनादस्तूष्णीम्भूतं सूतपुत्रं निशम्य ।
अधोमुखं ध्यानपरं तदानींमष्टावक्रञ्चाप्युदीर्य्यन्तमेव ॥२२॥

लोमश बोले—हे राजन्! इस प्रकार सूत-पुत्र वन्दी, को चुप देखकर सभा में बड़ा कोलाहल हुआ। इस समय वंदी नीचे को मुख करके कुछ सोचने लगा और अष्टावक्र बोल रहा था ॥ २२ ॥

तस्मिंस्तथा संकुले वर्त्तमाने स्फीते यज्ञे जनकस्योत राज्ञः ।
अष्टावक्रं पूजयन्तोऽभ्युपेयुर्विप्राः सर्वे प्राञ्जलयः प्रतीताः

अष्टावक्र उवाच—

अनेनैवब्राह्मणाःशुश्रुवांसो वादे जित्वा सलिलेमज्जिताःप्राक्
तानेव धर्मानयमद्य वन्दी प्राप्नोतु गृह्याप्सु निमज्जयैनम् ॥

इस प्रकार राजा जनक के यज्ञ में महान् कोलाहल होने पर सारे ब्राह्मण अष्टावक्र की प्रतिष्ठा करते हुए उसके पास पहुंचे और हाथ जोड़कर खड़े होगये। अष्टावक्र बोले—इस बंदी ने अनेक विद्वान् ब्राह्मणों को शास्त्रार्थ में जीतकर पूर्वकाल पानी में डुबवा दिया है। अब आज यह बन्दी भी उन्हीं नियमों के प्राप्त होने के योग्य है। इसको भी पकड़कर पानी में डुबो देना चाहिये ॥ २३-ऽ२४ ॥

वन्द्युवाच—

अहं पुत्रो वरुणस्योत राज्ञस्तत्रास सत्रं द्वादश वार्षिकं वै
सत्रेण ते जनकतुल्यकालं तदर्थं ते प्रहिता मे द्विजाग्र्याः

बन्दी बोला—हे जनक राज! मैं राजा वरुण का पुत्र हूं। मेरे पिता के भी बारह वर्ष पर्यन्त तक होने वाला यज्ञ होरहा है। तेरे इस यज्ञ और उस यज्ञ का एक ही समय है। मैंने तो उसी के निमित्त यहां से उत्तम २ ब्राह्मणों को भेजा है ॥ २५ ॥

ते तु सर्वे वरुणस्योत यज्ञं द्रष्टुं गता इम आयान्ति भूयः।
अष्टावक्रं पूजयध्वे पूजनीयं यस्य हेतोर्जनितारं समेष्ये ॥२६॥

ये सारे विद्वान् राजा वरुण के यज्ञ को देखनेको गये हैं। ये फिर लौटकर आजावेंगे। अब तुम इस पूजा के योग्य अष्टावक्र की पूजा करो, जिसके कारण मैं अपने पिता से मिल जाऊंगा ॥ २६ ॥

अष्टावक्र उवाच—

विप्राः समुद्राम्भसि मज्जिता ये वाचा जिता मेधया चाविदाना
तां मेधया वाचमथोज्जहार यथा वाचमवचिन्वन्ति सन्तः।

अष्टावक्र ने कहा—इस बन्दी ने बड़े बड़े विद्वान् ब्राह्मणों को अपनी वाणी बुद्धि के बल से जीत लिया। उसी वाणी को मैंने अपनी बुद्धि से तोड़ मरोड़ दिया है। इस वाणी के कौशल की विद्वान् लोग ही परीक्षा कर सकते हैं॥ २७॥

अग्निर्दहन्जातवेदाः सतांगृहान्विसर्ज्जयंस्तेजसा नस्मधाक्षीत्
बालेषु पुत्रेषु कृपणं वदत्सु तथा वाचमवचिन्वन्ति सन्तः

सज्जन और असज्जनों के चरितों को जाननेवाला अग्नि सज्जनों के गृहों (शरीरों) को अपने तेज से नहीं जलाता है। इस अग्नि की तरह ही थोड़ा बोलने वाले बालकों की बोली में विद्वान् लोग सच्चाई को खोज लेते हैं॥ २८॥

श्लेष्मातकी क्षीणवर्चाः शृणोषि उताहो त्वां स्तुतयो मोदयन्ति
हस्तीव त्वं जनक वितुद्यमानो न मामिका वाचमिमां शृणोषि

हे जनक राज ! लिसोड़े के पत्ते में खाने से तेरा तेज क्षीण होचुका है, इसी से तू इस बन्दी की बात सुनता रहा है या इसने प्रशंसा करके तुझे प्रसन्न किया है। अंकुश से पीड़ित करने पर भी तू मदोन्मत्त हाथी की भांति मेरी वाणी को नहीं सुनता है॥ २९॥

जनक उवाच—

शृणोमि वाचं तव दिव्यरूपाममानुषीं दिव्यरूपोऽसि साक्षात्।
अजैषीर्यद्बन्दिनं त्वं विवादे निसृष्ट एष तव कामोऽद्य बन्दी

जानक ने कहा—हे ब्रह्मन्! मैं तुम्हारी देवों के सदृश दिव्य वाणी को सुन कर समझ रहा हूं। तुम तो साक्षात् कोई देवता हो। तुमने चूंकि बन्दी को जीत लिया इससे मैं इसको यहां से चले जाने की आज्ञा देता हूं॥ ३०॥

अष्टावक्र उवाच—

नानेन जीवता कश्चिदर्थो मे वन्दिना नृप।
पिता यद्यस्य वरुणो मज्जयैनं जलाशये॥३१॥

अष्टावक्र बोले—हे नृप! इस बन्दी के जीवित रखने से मेरा कोई प्रयोजन सिद्ध नहीं होता है। यदि इसका पिता वरुण है, तो इसको जलाशय में डुबोकर उसके पास भेज देना चाहिए॥ ३१॥

वन्द्युवाच—

अहं पुत्रो वरुणस्योत राज्ञो न मे भयं विद्यते मज्जितस्य।
इमं मुहूर्त्तं पितरं द्रक्ष्यतेऽयमष्टावक्रश्चिरनष्टं कहोडम्॥३२॥

बन्दी ने कहा—मै राजा वरुण का पुत्र हूं, मुझे जल में डूबने से कोई भय नहीं है। यह अष्टावक्र थोड़ी ही देर में बहुत काल से नष्ट हुए अपने पिता कहोड़ को देख सकेगा॥३२॥

लोमश उवाच—

ततस्ते पूजिता विप्रा वरुणेन महात्मना।
उदतिष्ठंस्ततः सर्वे जनकस्य समीपतः॥३३॥

लोमश बोले—हे राजन्! महात्मा वरुण से सत्कार प्राप्त करके सारे ब्राह्मण राजा जनक के सन्मुख ही जलाशय से बाहर निकल आए ॥ ३३ ॥

कहोड उवाच—

इत्यर्थमिच्छन्ति सुतान् जना जनक कर्म्मणा ।
यदहं नाशकं कर्त्तुं तत् पुत्रः कृतवान् मम ॥३४॥

कहोड़ कहने लगे—हे जनक! अच्छे २ कर्म करके मनुष्य इसी लिए पुत्रों की इच्छा करते हैं कि जो मैं नहीं कर सका उसको यह मेरा पुत्र कर देगा ॥ ३४ ॥

उताबलस्य बलवानुत बालस्य पण्डितः ।
उत वाविदुषो विद्वान् पुत्रो जनक जायते ॥३५॥

बहुधा निर्बल के बलवान, मूर्ख के बुद्धिमान्, अविद्वान के विद्वान पुत्र उत्पन्न हो जाया करते हैं ॥ ३५ ॥

शितेन ते परशुना स्वयमेवान्तको नृप ।
शिरांस्यपहरन्नाजौ रिपूणां भद्रमस्तु ते ॥३६॥

हे नृप! तीक्ष्ण परशु से स्वयं यमराज आपके शत्रुओं के शिरों का युद्ध में छेदन करे। इस प्रकार आपको और भी कल्याण प्राप्त हो ॥ ३६ ॥

महदौक्थ्यं गीयते साम चौग्रयं सम्यक्सोमः पीयते चात्र सत्रे
शुचीन् भागान् प्रतिजगृहुश्च हृष्टाःसाक्षादेवाजनकस्योतराज्ञः

महदौक्थ्यं गीयते साम चोग्र्यं सोमः पीयते चात्र सत्रे ।
शुचीन् भागान् प्रतिजगृहुश्च हृष्टाःसाक्षाद्देवा जनकस्योत राज्ञः

हे राजन् ! औक्थ्य संज्ञक साम तुम्हारे यज्ञ में बड़ी उत्तमता से गाया जा रहा है और सोमरस भी अच्छी तरह पीया जा रहा है। अब देवता प्रत्यक्ष होकर अपने २ उत्तम भागों को आज जनकराज के यज्ञ में प्रसन्नता-पूर्वक ग्रहण करेंगे ।। ३७ ।।

लोमश उवाच —

समुत्थितेष्वथ सर्वेषु राजन् विप्रेषु तेष्वधिकं सुप्रभेषु ।
अनुज्ञातो जनकेनाथ राज्ञा विवेश तोयं सागरस्योत वन्दी

लोमश बोले—हे राजन् । इस समय जल से वाहर आये हुए सारे ब्राह्मणों का तेज देदीप्यमान हो रहा था । अब जनक ने आज्ञा दी जिस से बन्दी समुद्र के जल में प्रवेश कर गया ।।३८।।

अष्टावक्रः पितरं पूजयित्वा सम्पूजितो ब्राह्मणैस्तैर्यथावत् ।
प्रत्याजगामाश्रममेव चाग्र्यं जित्वा सौतिं सहितो मातुलेन

अष्टावक्र ने पिता की पूजा की और इन सारे ब्राह्मणों ने अष्टाबक्रकी पूजा की। यह अष्टाबक्र, सूत पुत्र बन्दी को जीत कर अपने मामा श्वेतकेतु के साथ अपने सर्वोत्तम आश्रम में चला आया ।। ३९ ।।

ततोऽष्टावक्रंमातुरथान्तिकेपिता नदीं समङ्गां शीघ्रमिमांविशस्व
प्रोवाच चैनं स तथा विवेश समैरङ्गैश्चापि बभूव सद्यः ।।

अब माता के समीप पिता ने अष्टाबक्र से कहा—तुम शीघ्र ही इस समङ्गा नदी में प्रवेश करो। इसने ऐसा ही किया, जिससे इसके सारे अङ्ग सीधे हो गए ।। ४० ।।

नदी समङ्गा च बभूव पुण्यायस्यां स्नातो मुच्यते किल्बिषाद्धि
त्वमप्येनां स्नानपानावगाहैःसभ्रातृकःसहभार्यो विशस्व ॥

यह समङ्गा नदी भी उस समय मे पवित्र मानी जाने लगी, जिसमें स्नान करने से मनुष्य पापों से छुट जाता है। हे युधिष्ठिर, तुम भी अपने भाई और भार्या के साथ इस में स्नान करो ॥ ४१ ॥

अत्र कौन्तेय सहितो भ्रातृभिस्त्वं सुखोषितः सहविप्रैः प्रतीतः
पुण्यान्यन्यानि शुचिकर्मैकभक्तिर्मयासार्द्धं चरितास्याजमीढ़

इति श्रीमहाभारत आरण्यपर्वणि तीर्थयात्रापर्वणि
अष्टावक्रीये चतुस्त्रिंशदधिकशततमोऽध्यायः ॥१३४॥

हे कौन्तेय, तुम प्रसन्नता-पूर्वक अपने भाइयों और ब्राह्मणों के साथ यहाँ सुख से निवास करो। हे अजमीढ़-वंशोत्पन्न, तुम्हारे कर्म और श्रद्धा पवित्र है, इस से तुम मेरे साथ अन्य तीर्थों की यात्रा भी करना ॥ ४२ ॥

इति श्रीमहाभारत वनपर्वान्तर्गत तीर्थयात्रापर्व में अष्टावक्र के
उपाख्यान का एक सौ चौंतीसवां अध्याय पूरा हुआ।

एक सौ पैंतीसवां अध्याय

एषा मधुबिला राजन् समङ्गा संप्रकाशते ।
एतत् कर्दमिलं नाम भरतस्याभिषेचनम् ॥ १ ॥

लोमश बोले—हे राजन् । यह मधुविला नामक नदी है; जो अष्टावक्र के अङ्गों के सीधा कर देने से समङ्गा कहलाई है । यह कर्दमिल नामक क्षेत्र है, जहां पूर्वकाल में राजा भरत का राज्याभिषेक किया गया था ॥ १ ॥

अलक्ष्म्या किल संयुक्तो वृत्रं हत्वा शचीपतिः ।
आप्लुतः सर्वपापेभ्यः समङ्गायां व्यमुच्यत ॥ २ ॥

इन्द्र. वृत्रासुर को मारकर सब पापों में लिप्त हो गया था और इस की सारी लक्ष्मी का ह्रास होचुका था, परन्तु इसी समङ्गा नदी में स्नान करने से वह फिर पापों से मुक्त हुआ और उसने अपनी राज्य-लक्ष्मी प्राप्त की ॥ २ ॥

एतद्विनशनं कुक्षौ मैनाकस्य नरर्षभ ।
अदितिर्यत्र पुत्रार्थं तदन्नमपचत् पुरा ॥ ३ ॥

हे नरर्षभ, मैनाक पर्वत की कुक्षि में यह विनशन नाम तीर्थ है । यहीं पर अदिति ने पुत्र प्राप्ति के लिए साध्य देवों के निमित्त ब्रह्मौदन पकाया था ॥ ३ ॥

एनं पर्वतराजानमारुह्य भरतर्षभाः ।
अयशस्यामसंशब्द्यामलक्ष्मीं व्यपनोत्स्यथ ॥ ४ ॥

हे भरतषर्भ, आप लोग भी इस पर्वतराज पर आरोहण करो, जिस से यश का नाश करने वाली, कथन के भी अयोग्य, दूर्लक्ष्मी को दूर कर सकोगे ॥ ४ ॥

एते कनखला राजन्नृषीणां दयिता नगाः ।
एषा प्रकाशते गङ्गा युधिष्ठिर महानदी ॥ ५ ॥

हे राजन्, । ये कनखल पर्वत हैं, जो ऋषियों को बड़े प्रिय हैं । हे युधिष्ठिर, यह महानदी गङ्गा बड़ी उत्तमता से बहरही है ॥५॥

सनत्कुमारो भगवानत्र सिद्धिमगात् पुरा ।
आजमीढावगाह्यैनां सर्वपापैः प्रमोच्यसे ॥ ६ ॥

इस स्थान पर तप करके ही भगवान् सनत्कुमार ने पूर्व-काल में सिद्धि पाई है। हे अजमीढ़-वंशोत्पन्न युधिष्ठिर तुमभी इस महा-नदी में स्नान करो, जिस से सारे पापों से छुटकारा पा जावोगे ॥ ६ ॥

अपां ह्रदश्च पुण्याख्यं भृगुतुङ्गश्च पर्वतम् ।
उष्णीगङ्गे च कौन्तेय सामात्यः समुपस्पृश ॥ ७ ॥

हे कौन्तेय, यह पुण्य नामक जलाशय है और भृगुतुङ्ग-पर्वत है । अब तुम इस उष्णी-गङ्गा नामक तीर्थ में अपने मन्त्रियों के साथ स्नान करो ॥ ७ ॥

आश्रमः स्थूलशिरसो रमणीयः प्रकाशते ।
अत्र मानञ्च कौन्तेय क्रोधञ्चैव विवर्ज्जय ॥ ८ ॥

यह सामने ही स्थूल-शिरा महर्षि का सुन्दर आश्रम है। हे कौन्तेय, यहाँ तुमको किसी प्रकार का अभिमान या क्रोध की भावना नहीं करनी चाहिए ॥ ८॥

एष रैभ्याश्रमः श्रीमान् पाण्डवेय प्रकाशते ।
भारद्वाजो यत्र कविर्यवक्रीतो व्यनश्यत् ॥ ९ ॥

हे पाण्डव । यह शोभा-शील रैभ्य मुनि का आश्रम सुशोभित हो रहा है । यहां भरद्वाज पुत्र, विद्वान् यवक्रीत नष्ट हुआ था ॥९

युधिष्ठिर उवाच—

कथं युक्तो भवद्दषिर्भारद्वाजः प्रतापवान् ।
किमर्थञ्च यवक्रीतःपुत्रोनश्यत् वै मुनेः॥१०॥

युधिष्ठिर बोले—हे ब्रह्मन् । यह प्रतापी भरद्वाज किस प्रकार योगी हुए और उनके-पुत्र यवक्रीत ने कैसे मृत्यु पाई ॥ १० ॥

एतत् सर्वं यथावृत्तं श्रोतुमिच्छामि तत्वतः ।
कर्म्मभिर्देवकल्पानाँ कीर्त्यमानैर्भृशं रमे ॥११॥

इन सब वृतान्तों को मैं ठीक २ सुनना चाहता हूँ। इन देवों के तुल्य महात्माओं के कहे हुए कर्मों से मेरी बड़ी सन्तुष्टि होती है ॥ ११ ॥

लोमश उवाच

भरद्वाजश्च रैभ्यश्च सखायौ सम्बभूवतुः ।
तावूषतुरिहात्यन्तं प्रीयमानावनन्तरम् ॥१२॥

लोमश बोले— हे राजन्, भरद्वाज और रैभ्य ये दोनों मित्र थे। ये दोनों आपस में एक दूसरे में बड़ी प्रीति रखते हुए यहाँ निवास करते थे ॥ १२॥

रैभ्यस्य तु सुतावास्तामर्वावसुपरावसू ।
आसीद्यवक्रीः पुत्रस्तु भरद्वाजस्य भारत ॥१३॥

हे भारत। रैभ्य मुनि के अर्वावसु और परावसु दो पुत्र थे। इसी तरह भरद्वाज के यवक्रीत नामक पुत्र था॥ १३॥

रैभ्यो विद्वान् सहापत्यस्तपस्वी चेतरो भवत् ।
तयोश्चाप्यतुला कीर्ति र्बाल्यात् प्रभृति भारत॥१४

हे भारत। यह रैभ्य मुनि, अपने पुत्रों के साथ बड़ा विद्वान् था और भरद्वाज तपस्वी था। उन दोनों पिता पुत्रों की बचपन से ही वडी कीर्ति फैल गई॥ १४॥

यवक्रीः पितरं दृष्ट्वा तपस्विनमसत्कृतम् ।
दृष्ट्वा च सत्कृतं विप्रैरैभ्यं पुत्रैःसहानघ ॥१५॥

जब यवक्रीत ने देखा, कि मेरा पिता यद्यपि तपस्वी है, परन्तु उसकी कोई प्रतिष्ठा नहीं करता है और अपने पुत्रों के साथ रैभ्य मुनि का ब्राह्मण लोग बड़ा सत्कार करते हैं॥१५॥

पर्यतप्यत तेजस्वी मन्युनाभिपरिप्लुतः ।
तपस्तेपे ततो घोरं वेदज्ञानाय पाण्डव ॥१६॥

हे पाण्डव, यह देखकर तेजस्वी यवक्रीत बड़ा सन्तप्त हुआ और शोक में डूब गया। इसने भी वेद के ज्ञान के लिए घोर तप करना आरम्भ किया॥ १६॥

स समिद्धे महत्यग्नौ शरीरमुपतापयन् ।
जनयामास संतापमिन्द्रस्य सु महातपाः॥१७॥

इस महा-तपस्वी यवक्रीत ने प्रज्वलित तीव्र अग्नि में अपना शरीर तपाने लगा जिससे इन्द्र को बड़ा सन्ताप हुआ ॥१७॥

तत इन्द्रो यवक्रीतमुपगम्य युधिष्ठिर ।
अब्रवीत् कस्य हेतोस्त्वमास्थितस्तप उत्तमम् ॥१८॥

हे युधिष्ठिर, इन्द्र यवक्रीत के पास पहुंचा और कहने लगा—हे यवक्रीत, तुम इतना कठिन तप क्यों कर रहे हो ॥१७॥

यवक्रीत उवाच—

द्विजानामनधीता वै वेदाः सुरगणार्चित ।
प्रतिभान्त्विति तप्येह मिदं परमकं तपः ॥१९॥

यवक्रीत ने कहा—हे देवराज ! ब्राह्मणों से बिना पढ़े ही मुझे सारे वेदों का स्फुरण होजावे । मैं इसीलिए यह महातप कर रहा हूँ ॥ १९ ॥

स्वाध्यायार्थं समारम्भो ममायं पाकशासन ।
तपसा ज्ञातुमिच्छामि सर्वज्ञानानि कौशिक ॥२०॥

हे इन्द्रदेव । यह मेरा उद्योग वेदों के स्वाध्याय के लिए है। मैं तो सब ज्ञान के प्रतिपादक वेदों को तप से ही जानना चाहताहूँ॥२०

कालेन महता वेदाः शक्या गुरु मुखाद्विभो ।
प्राप्तुं तस्मादयं यत्नः परमो मे समास्थितः॥२१॥

यदि गुरु-मुख से वेद पढ़ूँगा तो वेदों के अध्ययन में बड़ा काल लगेगा, इसलिए मैंनें यह परम प्रयत्न करना प्रारम्भ किया है २१

इन्द्र उवाच—

अमार्ग एष विप्रर्षे येन त्वं यातुमिच्छसि ।
किं विघातेन ते विप्र गच्छाधीहि गुरोर्मुखात् ॥२२॥

इन्द्र बोले—हे ब्रह्मर्षे, जिस मार्ग से तू चल रहा है। यह तो उलटा मार्ग है। अपने शरीर के क्षीण करने से क्या लाभ है जा और गुरु के मुख से वेदाध्ययन कर॥ २२ ॥

लोमश उवाच —

एवमुक्त्वा गतः शक्रो यवक्रीरपि भारत ।
भूय एवाकरोद्यत्नं तपस्यमितविक्रमः ॥२३॥

लोमश बोले—हे भारत, इन्द्र तो इतना कहकर चला गया, परन्तु अत्यन्त परिश्रमी यवक्रीत, फिर तप करने के प्रयत्न में ही लगा रहा ॥ २३ ॥

घोरेण तपसा राजंस्तप्यमानो महत्तपः ।
सन्तापयामास भृशं देवेन्द्रमिति नः श्रुतम् ॥२४॥

हे राजन्. यह घोर तप से बड़ा प्रयत्न करने लगा, इससे इसने देवराज इन्द्र को सन्तापित कर दिया॥ २४ ॥

तं तथा तप्यमानन्तु तपस्तीव्रं महामुनिम् ।
उपेत्य बलभिद्देवो वारयामास वै पुनः ॥ २५ ॥

इस प्रकार तीव्र तप करते हुए महा-मुनि के पास जाकर इन्द्र ने फिर उसको रोका ॥ २५ ॥

अशक्योऽर्थः समारब्धो नैतद्बुद्धिकृतं तव ।
प्रतिभास्यन्ति वै वेदास्तव चैव पितुश्च ते ॥२६॥

हे ब्रह्मर्षे, तूने यह अशक्य कार्य करने का प्रयत्न आरम्भ किया है जो बुद्धि के अनुसार नहीं है । इस तरह तो तेरे या तेरे पिता दोनों के हृदय में वेद नहीं चमकेंगे ॥ २६ ॥

यवक्रीत उवाच—

न चैतदेवं क्रियते देवराज ममेप्सितम् ।
महता नियमेनाहं तप्स्ये घोरतरं तपः ॥ २७ ॥

यवक्रीत ने कहा—हे देवराज । यदि यह मेरा मनोरथ पूरा नहीं होगा तो मैं बड़े भारी नियम से घोर तप करूँगा ॥ २७ ॥

समिद्धेऽग्नावुपाकृत्याङ्गमङ्गं होष्यामि वा मघवंस्तन्निबोध
यद्येतदेवं न करोषि कामं ममेप्सितं देवराजेह सर्वम् ॥ २८

हे मघवन् । यदि तुम मेरी इस कामना को पूरी नहीं करोगे, तो मैं प्रदीप्त अग्नि में अपने अङ्ग-अङ्ग को काटकर होम दूंगा-यह तुमको ज्ञात होना चाहिये ॥ २८ ॥

लोमश उवाच—

निश्चयं तमभिज्ञाय मुनेस्तस्य महात्मनः ।
प्रतिवारणहेत्वर्थं बुद्ध्या सञ्चिन्त्य बुद्धिमान् ॥२९॥
तत इन्द्रो करोद्रूपं ब्राह्मणस्य तपस्विनः ।
अनेकशतवर्षस्य दुर्बलस्य सयक्ष्मणः ॥ ३० ॥

लोमश बोले—हे राजन्। इन्द्र ने जब इस महात्मा मुनि का यह दृढ़ निश्चय देखा, तो इसके रोकने के लिए बुद्धिमान् इन्द्र ने अपनी बुद्धि से सोचकर सैकड़ों वर्ष की आयु धारी राज-यक्ष्मा के रोग से व्याकुल दुर्बल ब्राह्मण का रूप धारण किया ॥ २६--३० ॥

यवक्रीतस्य यत्तीर्थमुचितं शौचकर्म्मणि ।
भागीरथ्यां तत्र सेतुं वालुकाभिश्चकार सः ॥ ३१
यदास्य वदतो वाक्यं न स चक्रे द्विजोत्तमः ।

यह रोगी ब्राह्मण, यवक्रीत के गंगा को उतर कर शौच क्रिया के लिये पार जाने के स्थान पर गंगा जी की वालु से पुल बनाने लगा, क्योंकि यवक्रीतने इन्द्रके रोकने पर ध्यान नहीं दिया था॥३१

वालुकाभिस्ततः शक्रो गङ्गां समभिपूरयन् ॥ ३२ ॥
वालुकामुष्टिमनिशं भागीरथ्यां व्यसर्ज्जयत् ।
सेतुमभ्यारभच्छक्रो यवक्रीतं निदर्शयन् ॥ ३३ ॥

वृद्ध रूप धारी इन्द्र ने गंगा का भरना आरम्भ किया। यह बालू की मुट्ठी भर भर कर गंगा में डालने लगा। इन्द्र, यवक्रीत को दिखा दिखा कर सेतु बनाने लगा ॥ ३२-३३ ॥

तं ददर्श यवक्रीतो यत्नवन्तं निबन्धने ।
प्रहसंश्चाब्रवीद्वाक्यमिदं स मुनिपुङ्गवः ॥ ३४ ॥

जब यवक्रीत ने इस निरर्थक प्रयत्न में लगे हुए, वृद्ध ब्राह्मण को देखा, तो यह मुनि, हंस कर यह वाक्य बोला ॥३४॥

किमिदं वर्त्तते ब्रह्मन् किञ्च ते ह चिकीर्षितम् ।
अतीव हीं महदन् यत्नः क्रियते यं निरर्थकः ॥३५॥

हे ब्रह्मन. यह क्या हो रहा है, तुम क्या करना चाह रहे हो? तुम तो यह बहुत बड़ा प्रयत्न कर रहे हो जो बिलकुल निरर्थक है३५

इन्द्र उवाच —

बन्धिष्ये सेतुना गङ्गाँ सुखः पन्था भविष्यति ।
क्लिश्यते हि जनस्तात तरमाणः पुनः पुनः ॥३६॥

इन्द्रने कहा—हे तात मैं सेतु बना कर गंगा को बांधना चाहता हूं, जिससे सुखकारी मार्ग बन जावे। लोग गंगा के तरने में बड़ा क्लेश मानते हैं ॥ ३६ ॥

यवक्रीत उवाच —

नायं शक्यस्त्वया बद्धु ं महान्नोघस्तपोधन ।
अशक्याद्विनिवर्त्तस्व शक्यमर्थं समारभ ॥३७॥

यवक्रीत बोला—हे तपोधन, तुम इस पुल को बना नहीं सकते हो, क्योंकि गंगा का प्रवाह बड़ा तीव्र है। तुम इस अशक्य कार्य से हाथ खेंच लो कोई होने वाला कार्य आरम्भ करो॥३७॥

इन्द्र उवाच—

यथैव भवता चेदं तपो वेदार्थमुद्यतम् ।
अशक्यं तद्वदस्माभिरयं भारः समाहितः ॥३८॥

इन्द्र ने कहा—हे महर्षे, जैसे तुमने वेद-प्राप्ति के लिये यह महान् प्रयत्न आरम्भ कर दिया है, उसी तरह हमने यह बोझा उठा रखा है॥ ३८॥

यवक्रीरुवाच—

यथा तव निरर्थो यमारम्भस्त्रिदशेश्वर ।
तथा यदि ममापीदं मन्यसे पाकशासन ॥ ३९ ॥
क्रियतां यद्भवेच्छक्यं त्वया सुरगणेश्वर ।
वरांश्च मे प्रयच्छान्यान् यैरन्यान् भवितास्म्यति ॥४०॥

यवक्रीत कहने लगा—हे देवराज, जिस भांति तुम्हारा यह निरर्थक उद्योग है,यदि तुम मेरे भी इस उद्योग को वैसा ही बृथा मानते हो. तो जो कुछ हो सकता है वह कर दो। तुम मुझे अन्य वरदान दो, जिससे मैं प्रतिष्ठा प्राप्त कर सकूं ॥ ३९-४०॥

लोमश उवाच—

तस्मै प्रादाद्वरानिन्द्र उक्तवान् यान् महातपाः ।
प्रतिभास्यन्ति ते वेदाः पित्रा सह यथेत्सिताः ॥४१॥

लोमश बोले—हे राजन्, महातपस्वी यवक्रीत ने जो जो वरदान मांगे, इन्द्र ने उसके लिये वे सव दे दिये। इन्द्रने कहा—अच्छी वात है। जो तुम चाहते हो वे वेद भी अपने पिता के साथ तुमको प्राप्त हो जावेंगे ॥ ४१ ॥

यच्चान्यत् काङ्क्षसे कामं यवक्रिन् गम्यतामिति ।
स लब्धकामः पितरमभ्येत्याथेदमब्रवीत् ॥ ४२ ॥

हे यवक्रीत, इसके सिवा जो २ अन्य तेरी कामना हो वह भी तू पालेगा। यह अपने मनोरथको पाकर पिता के पास पहुंचा और कहने लगा ॥ ४२ ॥

यवक्रीत उवाच—

प्रतिभास्यन्ति वै वेदा मम तातस्य चोभयोः ।
अतीवान्यान् भविष्यावो वरा लब्धास्तथा मया ॥ ४३ ।

यवक्रीत ने कहा—हे पिता, मुझे और आप हम दोनों को वेद स्फुरित हो जावेंगे । इसके सिवा हम सब में श्रेष्ठ भी हो सकेंगे, मैंने वह वरदान पालिया है ॥ ४३ ॥

भरद्वाज उवाच—

दर्पस्ते भविता तात वरान् लब्ध्वा यथेप्सितान् ।
स दर्पपूर्णः कृपणः क्षिप्रमेव विनङ्क्ष्यसि ॥ ४४ ॥

भरद्वाज बोले—हे पुत्र, इससे तो ऐसा प्रतीत होता है, कि इन अभिलषित वरों को पाकर तुम्हें अभिमान हो जावेगा । जो अभिमान से भर जाता है, वह क्षुद्र, नष्ट भी जल्दी ही होता है ॥ ४४ ॥

तत्राप्युदाहरन्तीमा गाथा देवैरुदाहृताः ।
मुनिरासीत् पुरा पुत्र बालधिर्नाम वीर्यवान् ॥ ४५ ॥

स पुत्रशोकादुद्विग्नस्तपस्तेपे सुदुष्करम् ।
भवेन्मम सुतोऽमर्त्य इति तं लब्धवांश्च सः ॥४६ ॥

हे पुत्र, इस विषय में एक गाथा विद्वानों ने कही है, जो इस प्रकार है । एक शक्ति-शाली बालधि नाम के मुनि थे । इसका कोई पुत्र मर गया । यह पुत्र के शोक से व्याकुल होकर पुष्कल तप करने लगा । इसकी इच्छा थी, कि मेरे अमर पुत्र उत्पन्न होवे ।

तस्य प्रसादो वै देवः कृतो नत्वमरैः समः ।
नामर्त्यो विद्यते मर्त्यो निमित्तायुर्भविष्यति ॥४७॥

इन्द्र ने जब इसको वरदान दिया तो कहा था कि देवों के समान पुत्र नहीं हो सकता है। मनुष्य अमर नहीं हो सकता। हाँ ? यह निमित्तायु अर्थात् किसी खास कारण के होने पर ही मर सकेगा ॥ ४७ ॥

बालधि उवाच —

तथेमे पर्वताः शश्वत्तिष्ठन्ति सुरसत्तमाः ।
अक्षयास्तन्निमितं मे सुतस्यायुर्भविष्यति ॥४८॥

बालधि बोला—हे सुर-श्रेष्ठ, जैसे ये पर्वत सदा स्थित और अक्षय रहेंगे, वैसे ही मेरे पुत्र की आयु का भी विशेष कारण होना चाहिये ॥ ४८ ॥

भरद्वाज उवाच —

तस्य पुत्रस्तदा जज्ञे मेधावी क्रोधनस्तदा ।
स तच्छ्रुत्वाकरोद्दर्पमृषींश्चैवावमन्यत ॥४९॥

भरद्वाज बोले—इसके एक क्रोधी पुत्र उत्पन्न हुआ जिसका नाम मेधावी था। यह अपनी आयु पर्वतों के समान जानकर अभिमान में चूर होगया और ऋषियों का अपमान करने लगा।

विकुर्वाणो मुनीनांच व्यचरत् स महीमिमाम् ।
आससाद महावीर्यं धनुषाक्षं मनीषिणम् ॥५०॥

यह मुनि का अपकार करता हुआ पृथ्वी पर घूमने लगा। एक दिन यह मुनि पुत्र, मेधावी महा-शक्ति शाली धनुषाक्ष मुनि के पास पहुँचा ॥ ५० ॥

तस्यापचक्रे मेधावी तं शशाप स वीर्यवान्।
भव भस्मेति चोक्तः स न भस्म संपद्यत ॥५१॥

इसने इस मुनि का भी अपकार किया जिससे इस पराक्रमी ने शाप दिया कि तू भस्म हो जा। परन्तु यह भस्म नहीं हुआ॥ ५१ ॥

धनुशाक्षस्तु तं द्रष्ट्वा मेधाविनमनामयम्।
निमित्तस्म महिषैर्भेदयामास वीर्यवान् ॥५२

जब वीर्यवान् धनुषाक्ष ने मेधावी को ज्यों का त्यों सकुशल खड़ा देखा, तो इसके निमित्त पर्वत को जान लिया और भैंसों से उस पर्वत को तुड़वा डाला॥ ५२ ॥

स निमित्ते विनष्टे तु ममार सहसा शिशुः।
तं मृतं पुत्रमादाय विललाप ततः पिता ॥ ५३ ॥

जब यह निमित्त भूत पर्वत नष्ट होगया, तो यह मुनि-बालक, भी मर गया। अपने इस मृत पुत्र को लेकर पिता फिर विलाप करने लगा॥ ५३ ॥

लालप्यमानं तं दृष्ट्वा मुनयः परमार्त्तवत्।
ऊचुर्वेदविदः सर्वे गाथां यां तां निबोध मे ॥ ५४ ॥

बड़े दुःखी मुनि को विलाप करते देखकर वेद के ज्ञाता लोगों ने जो गाथा कही वह सुनो ॥५४ ॥

न दिष्टमर्थमत्येतुमीशो मर्त्यः कथञ्चन ।
महिषैर्भेदयामास धनुषाक्षो महीधरान् ॥ ५५ ॥

मनुष्य कभी भी दैव-निर्मित कार्य का अति-क्रमण नहीं कर सकता है। धनुषाक्ष मुनि ने भैंसों से पर्वत को तुड़वा ही दिया ॥ ५५ ॥

एवं लब्ध्वा वरान् बाला दर्पपूर्णास्तपस्विनः ।
क्षिप्रमेव विनाश्यन्ति यथा न स्यात्तथा भवान् ॥५६॥

इस प्रकार वरों को पाकर तो मूर्ख तपस्वी अभिमानी होकर झटपट नष्ट हो जाते हैं। हे पुत्र, तुम ऐसे न हो जाना ॥५६ ॥

एष रैभ्यो महावीर्यः पुत्रौ चास्य तथाविधौ ।
तं यथा पुत्र नाभ्येषि तथा कुर्यास्त्वतन्द्रितः ॥५७॥

यह रैभ्य मुनि, महा विद्वान् है और इसके ये दोनों पुत्र भी वैसे ही हैं। हे पुत्र। तेरा और इनका जिस तरह झगड़ा न हो वैसा करना ॥ ५७ ॥

स हि क्रुद्धःसमर्थश्च पुत्र पीड़यितुं रुषा ।
रैभ्यश्चापि तपस्वी च कोपनश्च महानृषिः ॥ ५८ ॥

हे पुत्र, यह रैभ्य महर्षि भी बड़ा तपस्वी, शक्तिशाली और क्रोधी है। यह भी क्रोध से पीड़ा पहुँचा सकता है ॥ ५८ ॥

यवक्रीत उवाच—

एवं करिष्ये मा तापं तात कार्षीः कथञ्चन ।
यथा हि मे भवान्मान्यस्तथा रैभ्यः पिता मम ॥५९॥

यवक्रीत ने कहा—हे तात, मैं ऐसा ही करूँगा। तुम चिंता न करो। जैसे मेरे तुम मान्य हो, वैसे ही पिता के सदृश यह मान्य हैं ॥ ५६ ॥

लोमश उवाच—

उक्त्वा स पितरं श्लक्ष्णं यवक्रीरकुतोभयः ।
विप्रकुर्वन्नृषीनन्यानतुष्यत् परया मुदा ॥ ६० ॥

इति श्रीमहाभारत आरण्यपर्वणि तीर्थयात्रापर्वणि
यवक्रीतोपाख्याने पञ्चत्रिंशदधिक-
शततमोऽध्यायः ॥१३५॥

लोमश ने कहा—हे राजन्, यवक्रीत अपने पिता से ऐसा कहकर भी रैभ्य को छोड़कर अन्य ऋषियों का अपकार करने लगा। इस तरह इसको बड़ा ही आनन्द आता था ॥ ६० ॥

इति श्रीमहाभारत वनपर्वान्तर्गत यवक्रीत के उपाख्यान
का एक सौ पैंतीसवाँ अध्याय समाप्त हुआ।

एक सौ छतीसवाँ अध्याय

लोमश उवाच—

चंक्रम्यमाणः स तदा यवक्रीरकुतोभयः ॥
जगाम माधवे मासि रैभ्याश्रमपदं प्रति ॥ १ ॥

लोमश बोले—हे राजन, सब प्रकार के भय से रहित होकर यमक्रीत घूमता हुआ, वैसाख के महीने में रैभ्य के आश्रम में पहुँचा ॥ १ ॥

स ददर्शाश्रमे रम्ये पुष्पितद्रुमभूषिते ।
विचरन्तीं स्नुषां तस्य किन्नरीमिव भारत ॥ २ ॥

हे भारत, इसने पुष्पों से लदे हुए वृक्षों से सुशोभित, सुन्दर आश्रम में किन्नरी के सदृश मनोहर रैभ्य मुनि की पुत्र-वधू को देखा ॥ २ ॥

यवक्रीस्तामुवाचेदमुपतिष्ठस्व मामिति ।
निर्लज्जो लज्जया युक्तां कामेन हृतचेतनः ॥ ३

कामदेव से अचेत से हुए, निर्लज्ज यवक्रीत ने उस लज्जाशील महिला से कहा—हे सुन्दरि, तुम मुझसे सम्भोग करो ॥३॥

सा तस्य शीलमाज्ञाय तस्माच्छापाच्च बिभ्यती ।
तेजस्वितांश्च रैभ्यस्य तथेत्युक्त्वा जगाम ह ॥४ ॥

यह सुन्दरी यवक्रीत की शक्ति जानती थी, इससे उसके शाप से डर गई । इधर रैभ्य मुनि की तेजस्विता को भी जानती थी, इसलिए यह इस से भी डरी, परन्तु तो भी यह यवक्रीत से हाँ करके उसके साथ चल दी ॥ ४ ॥

तत एकान्तमुन्नीय सज्जयामास भारत ।
आजगाम तदा रैभ्यः स्वमाश्रममरिन्दम ॥ ५ ॥

हे भारत, यह उस नारी को एकान्त में ले गया और उसके साथ सङ्गम किया । इस बीच में रैभ्य मुनि अपने आश्रम में चला आया ॥ ५ ॥

रुदन्तीश्च स्नुषां दृष्ट्वा भार्यामार्त्तां परावसोः ।
सान्त्वयन् श्लक्ष्णया वाचा पर्यपृच्छद्युधिष्ठिर ॥६॥

हे युधिष्ठिर, इस समय अपने पुत्र परावसु की भार्या को क्लेशित और रोती हुई देखकर मीठी वाणी से शान्ति देकर पूछने लगा ॥ ६ ॥

सा तस्मै सर्वमाचष्ट यवक्रीभाषितं शुभा ।
प्रत्युक्तश्च यवक्रीतं प्रेक्षापूर्वं तथात्मना ॥७॥

इस सदाचारिणी महिला ने यवक्रीत का कथन और बुद्धि-पूर्वक अपने निषेध करने का सारा वृत्तान्त रैभ्य मुनि को सुना दिया ॥ ७ ॥

शृण्वानस्यैव रैभ्यस्य यवक्रेस्तद्विचेष्टितम् ।
दहन्निव तदा चेतः क्रोधः समभवन्महान् ॥८॥

यवक्रीत की इस कुचेष्टा को सुनते ही रैभ्य मुनि का चित्त क्रोध से अग्नि के सदृश प्रज्वलित हो उठा ॥ ८ ॥

स तदा मन्युनाविष्टस्तपस्वी कोपनो भृशम् ।
अवलुञ्च्य जटामेकां जुहावाग्नौ सुसंस्कृते ॥१०॥

क्रोधी स्वभाव वाला रैभ्य मुनि इस समय क्रोध से जल रहा था, इसने अपनी एक जटा निकालकर उसका विधि-पूर्वक जलाई हुई अग्नि में मन्त्रों का उच्चारण करके हवन कर दिया ॥ १० ॥

ततः समभवन्नारी तस्या रूपेण सम्मिता ।
अवलुञ्च्य पराञ्चाथ जुहावाग्नौ जटां पुनः ॥११॥

इससे अपनी पुत्र-वधू के रूप के सदृश नारी उत्पन्न हुई । अब इसने फिर दूसरी जटा को काटकर मन्त्रोच्चारण के साथ उसी अग्नि में यज्ञ किया ॥ ११ ॥

ततः समभवद्रक्षो घोराक्षं भीमदर्शनम् ।
अब्रूतां तौ तदा रैभ्यं किङ्कार्यं करवावहे ॥१२॥

इस दूसरी जटा से भीषण नेत्रों का धारी भयानक राक्षस उत्पन्न हुआ। अब ये दोनों मुनि से कहने लगे। कहिये क्या कार्य करना है ? ॥१२॥

तावब्रवीदृषिः क्रुद्धो यवक्रीर्वध्यतामिति ।
जग्मतुस्तौ तथेत्युक्त्वा यवक्रीतजिघांसया ॥१३॥

मुनि ने कुपित होकर कहा, जावो और यवक्रीत का वध करो। ये दोनों स्वीकार करके यवक्रीत को मारने के लिये चल दिए ॥१३॥

ततः सा समुपस्थाय कृत्या सृष्टा महात्मना ।
कमण्डलुं जहारास्य मोहयित्वेव भारत ॥१४॥

हे भारत, महात्मा द्वारा क्रिया विशेष से रची हुई, स्त्री यवक्रीत के आश्रम में पहुंची और उसको भोजन के समय मोहित देखकर उसके कमण्डलु को ले भागी ॥१४॥

उच्छिष्टन्तु यवक्रीतमपकृष्टकमण्डलुम् ।
तत उद्यतशूलः सन्राक्षसः समुपाद्रवत् ॥१५॥

कमण्डलु से रहित हो जाने से यवक्रीत उच्छिष्ट मुंह ही रह गया। तब राक्षस अपने शूल को उठाकर उसके पीछे दौड़ा ॥१५॥

समाद्रवन्तं संप्रेक्ष्य शूलहस्तं जिघांसया ।
यवक्रीः सहसोत्थाय प्राद्रवद्येन वै सरः ॥१६॥

शूल हाथ में लिये हुए राक्षस को मारने के लिए आता हुआ देखकर यवक्रीत झट से उठा और सरोवर की ओर दौड़ पड़ा ॥१६

जलहीनं सरो दृष्ट्वा यवक्रीस्त्वरितः पुनः ।
जगाम सरितः सर्वास्ताश्चाप्यासन् विशोषिता ॥१७॥

जब यवक्रीत तालाब पर पहुंचा, तो उसने देखा, कि तालाब सूखा पड़ा है। यह शीघ्रता से नदियों की ओर दौड़ा, परन्तु उसके लिए सारी नदियां भी सूख चुकी थी ॥१७॥

स काल्यमानो घोरेण शूलहस्तेन रक्षसा ।
अग्निहोत्रे पितुर्भीत सहसा प्रविवेश ह ॥१८॥

शूल हाथ में लिये हुए भयानक राक्षस से खदेड़ा हुआ, यवक्रीत डरता २ पिता की अग्नि होत्र-शाला में घुसने लगा ॥१८॥

स वै प्रविशमानस्तु शुद्रेणान्धेन रक्षिणा ।
निगृहीतो बलाद्वारि सोऽत्रातिष्ठत पार्थिव ॥१९॥
निगृहीतन्तु शूद्रेण यवक्रीतं स राक्षसः ।
ताड़यामास शूलेन स भिन्नहृदयोऽपतत् ॥२०॥

हे राजन, यह होम-शाला में घुस ही रहा था, कि उसके द्वार पर किसी अन्य अन्धे शूद्र रक्षक ने यवक्रीत को पकड़ लिया। इस समय राक्षस ने यवक्रीत के भाला मारा, जिससे उसकी छाती फट गई ॥१९—२०॥

यवक्रीतं स हत्वा तु राक्षसो रैभ्यमागमत् ।
अनुज्ञातस्तु रैभ्येण तया नार्या सहावसत् ॥२१॥

इति श्रीमहाभारत आरण्यपर्वणि तीर्थयात्रापर्वणि
यवक्रीतोपाख्याने षट्त्रिंशदधिक-
शततमोऽध्यायः ॥१३६॥

यवक्रीत को मार कर राक्षस रैभ्य मुनि के पास आया रैभ्य ने उनको जाने की आज्ञा दे दी। यह राक्षस उस बनी हुई नारी के साथ रहने लगा ॥२१॥

इति श्रीमहाभारत बनपर्वान्तर्गत यवक्रीतोपाख्यान में
एक सौ छत्तीसवां अध्याय पूरा हुआ ।

एक सौ सैंतीसवां अध्याय

लोमश उवाच ।

भारद्वाजस्तु कौन्तेय कृत्वा स्वाध्यायमाह्निकम् ।
समित्कलापमादाय प्रविवेश स्वमाश्रमम् ॥१॥

लोमश बोले—हे कौन्तेय, इसके अनन्तर भारद्वाज मुनि नैत्थिक स्वाध्याय करके और समिधाओं को लेकर आश्रम में हवन के लिए प्रविष्ट हुए ॥१॥

तं स्म दृष्ट्वा पुरा सर्वे प्रत्युत्तिष्ठन्ति पावकाः ।
न त्वेनमुपतिष्ठन्ति हतपुत्रं तदाग्नयः ॥२॥

इस मुनि को देखकर सारे यज्ञ के अग्नि स्वयं प्रज्वलित हो जाते थे, परन्तु आज इसके आने पर भी अग्नि प्रज्वलित नहीं हुई ॥२

वै कृतं त्वग्निहोत्रे स लक्षयित्वा महातपाः ।
तमन्धं शूद्रमासीनं गृहपालमथाब्रवीत् ॥३॥

इस महा-तपस्वी भारद्वाज ने अग्नियों को इस प्रकार विपरीत देखकर बैठे हुए अपने अन्धे शूद्र गृहपाल से पूछा ॥३॥

किन्नु मे नाग्नयः शूद्र प्रतिनन्दन्ति दर्शनम् ।
त्वञ्चापि न यथापूर्वं कच्चित् क्षेममिहाश्रमे ॥४॥

हे रक्षक, क्या बात है ? अग्नि पूर्व के सदृश मेरे सन्मुख प्रज्वलित नहीं हुए और मेरे आने का स्वागत नहीं कर रहे हैं तथा उसी तरह तू भी पूर्व के समान स्वागत नहीं करता है, आश्रम में क्षेम कुशल तो हैं ॥४॥

कच्चिन्न रैभ्यं पुत्रो मे गतवानल्पचेतनः ।
एतदाचक्ष्व मे शीघ्रं न हि शुध्यति मे मनः ॥५॥

कहीं मेरा मूर्ख पुत्र, रैभ्य मुनि के आश्रम में तो नहीं चला गया । यह सब कुछ तुम शीघ्र बताओ, मेरा मन सन्देह कर रहा है ॥५॥

शूद्र उवाच ।

रैभ्यं यातो नूनमयं पुत्रस्ते मन्दचेतनः ।
तथा हि निहतः शेते राक्षसेन बलीयसा ॥६॥

शूद्र बोला—हे मुनिराज, तुम्हारा मूर्ख पुत्र निश्चय ही रैभ्य मुनि के आश्रम में चला गया प्रतीत होता है । यही कारण है, कि यह एक बलवान् राक्षस के मार देने से भूमि में पड़ा है ॥६

प्रकाल्यमानस्तेनायं शूलहस्तेन रक्षसु ।
अग्न्यागारं प्रति द्वारि मया दोर्भ्यां निवारितः ॥७॥

यह शूल-हस्त-धारी राक्षस से भगाया हुआ आ रहा था, कि मैंने अपनी भुजाओं में होम-शाला के द्वार पर पकड़ लिया॥७॥

ततः स निहताशोऽत्र जलकामोऽशुचिर्ध्रुवम् ।
निहतः सोऽतिवेगेन शूलहस्तेन रक्षसा ॥८॥

यवक्रीत अशुद्ध था और उसको जल नहीं मिला। यह जल की कामना से भाग रहा था। इस समय इसकी आशा टूट गई, इतनी ही देर में शूल हाथ में लिए राक्षस ने अत्यन्त वेग से आकर उसको मार गिराया ॥ ८ ॥

भारद्वाजस्तु तच्छ्रुत्वा शूद्रस्य विप्रियं महत् ।
गतासुं पुत्रमादाय विललाप सुदुःखितः ॥९॥

जब भारद्वाज मुनि ने शूद्र के मुख से यह बुरा समाचार सुना, तो बड़ा दुःखी हुआ। यह अपने मरे हुए पुत्र को लेकर विलाप करने लगा ॥ ९ ॥

भारद्वाज उवाच —

ब्राह्मणानां किलार्थाय ननु त्वं तप्तवांस्तपः।
द्विजानामनधीता वै वेदाः संप्रतिभान्त्विति ॥१०॥

भारद्वाज ने कहा—हे पुत्र, तूने इतना बड़ा तप ब्राह्मणों के लिये ही किया था, कि ब्राह्मणों को बिना पढ़े ही वेद आ जावें

तथा कल्याण शीलस्त्वं ब्राह्मणेषु महात्मसु ।
अनागाः सर्वभूतेषु कर्कशत्वमुपेयिवान् ॥११॥

तू तो महात्मा ब्राह्मणों की सेवा और कल्याण में लगा रहता था और किसी प्राणी का अपराध नहीं करता था। केवल यह कर्कशता (दुराचार की चाट) ही लग गई थी ॥११॥

प्रतिषिद्धो मया तात रैभ्यावसथदर्शनात् ।
गतवानेव तं द्रष्टुं कालान्तकयमोपमम् ॥१२॥

हे तात, मैंने तो तुझे रैभ्य के आश्रम के दर्शनों को भी रोक दिया था, परन्तु अन्त में तू, यम और काल के समान उस आश्रम में चला ही गया ॥ १२ ॥

यः स जानन्महातेजा वृद्धस्यैकं ममात्मजम् ।
गतवानेव कोपस्य वशं परमदुर्मतिः ॥१३॥

यह दुष्ट तेजस्वी रैभ्यमुनि भी यह जानता था, कि मुझ वृद्ध के यह एक ही पुत्र है, परन्तु उसने भी इस पर इतना कठोर कोप कर लिया ॥ १३ ॥

पुत्रशोकमनुप्राप्त एष रैभ्यस्य कर्मणा ।
त्यक्षामि त्वामृते पुत्र प्राणानिष्टतमान् भुवि ॥१४॥

मुझ वृद्ध ने रैभ्य के क्रोध से ही यह पुत्र-शोक पाया है। हे पुत्र, अब तेरे बिना मैं अपने प्यारे प्राणों का परित्याग कर दूंगा ॥ १४ ॥

यथाहं पुत्रशोकेन देहं त्यक्ष्यामि किल्विषी ।
तथा ज्येष्ठः सुतो रैभ्यं हिंस्याच्छीघ्रमनागसम् ॥१५॥

जिस भांति क्लेश से व्याप्त होकर मैं पुत्र-शोक से अपने प्राणों को छोड़ रहा हूँ, उसी तरह इस रैभ्य मुनि का ज्येष्ठ-पुत्र विना अपराध ही रैभ्यमुनि की मृत्यु का कारण होगा ॥ १५ ॥

सुखिनो वै नरा येषां जात्या पुत्रो न विद्यते ।
ये पुत्रशोकमप्राप्य विचरन्ति यथा सुखम् ॥१६॥

वे लोग संसार में सुखी हैं, जिनके जन्म से पुत्र उत्पन्न ही नहीं हुआ, क्योंकि वे उस पुत्र-शोक को न पाकर सुखसे विचरते हैं॥१६

ये तु पुत्रकृताच्छोकाद्भृशं व्याकुलचेतसः ।
शपन्तीष्टान् सखीनार्त्तास्तेभ्य पापतरो नु कः ॥१७॥

जो मनुष्य पुत्र के शोक से अत्यन्त व्याकुल हो उठते हैं, वे शोकातुर अपने प्रिय मित्रों को भी शाप दे देते हैं। इससे अधिक और कौन पापी हो सकता है ॥ १७ ॥

परासुश्च सुतो दृष्टः शप्तश्चेष्टः सखा मया ।
ईदृशीमापदं कोऽत्र द्वितीयोऽनुभविष्यति ॥ १८ ॥

मरे हुए पुत्र को देखा, इससे अपने प्रिय मित्र को भी शाप देना पड़ा। इस तरह को आपत्ति किस दूसरे ने देखी होगी १८

लोमश उवाच—

विलप्यैवं बहुविधं भारद्वाजोऽदहत् सुतम् ।
सुसमिद्धं ततः पश्चात् प्रविवेश हुताशनम् ॥ १९ ॥

इति श्रीमहाभारत आरण्यपर्वणि तीर्थयात्रापर्वणि
यवक्रीतो पाख्याने सप्तत्रिंशदधिक-
शततमोऽध्यायः ॥ १३७ ॥

लोमश बोले—हे राजन्.इस तरह अनेक भांति से विलाप करके भारद्वाज मुनि ने अपने पुत्र का दाह संस्कार किया और इसके पीछे स्वयं भी प्रज्वलित अग्नि में प्रविष्ट होगया ॥ १९ ॥

इति श्रीमहाभारत वनपर्वान्तर्गत तीर्थ-यात्रा-पर्व में यवक्रीत के उपाख्यान का एक सौ सैंतीसवाँ अध्याय पूरा हुआ।

एक सौ अड़तीसवां अध्याय

लोमश उवाच—

एतस्मिन्नेव काले तु बृहद्युम्नो महीपतिः ।
सत्रं तेने महाभागो रैभ्ययाज्यः प्रतापवान् ॥ १ ॥

लोमश बोले—हे राजन; इसी समय प्रतापी, महाभाग राजा बृहद्युम्न यज्ञ करने लगा। इसके पुरोहित रैभ्य मुनि थे ॥ १ ॥

तेन रैभ्यस्य वै पुत्रावर्वावसुपरावसू।
वृतौ सहायौ सत्रार्थे बृहद्युम्नेन धीमता ॥ २ ॥

इस बुद्धिमान् राजा बृहद्युम्न ने अपने यज्ञ की सहायता के लिए रैभ्यमुनि के पुत्र अर्वावसु और परावसु का वरण किया॥२॥

तत्र तौ समनुज्ञातौ पित्रा कौन्तेय जग्मतुः ।
आश्रमे त्वभवद्रैभ्यो भार्या चैव परावसोः ॥ ३ ॥

हे कौन्तेय, इन दोनों पुत्रों को यज्ञ में जाने की पिता ने आज्ञा दे दी। इस समय आश्रम में रैभ्य मुनि और परावसु की भार्या ही रह गए ॥३॥

तथावलोकको ऽगच्छद्गृहानेकः परावसुः ।
कृष्णाजिनेन संवीतं ददर्श पितरं वने ॥ ४ ॥

एक दिन अकेला परावसु अपने आश्रम की संभाल के लिए घर आया । इसने वन में मृगचर्म ओढ़े हुए अपने पिता को देखा ॥४॥

जघन्यरात्रे निद्रान्धः सावशेषे तमस्यभि ।
चरन्तं गहनेऽरण्ये मेने स पितरं मृगम् ॥ ५ ॥

इस समय रात व्यतीत हो रही थी, थोड़ा २ अन्धेरा शेष था । इसने इस गहन वन में मृगचर्म ओढ़े हुए अपने पिता को मृग समझ लिया ॥५॥

मृगन्तु मन्यमानेन पिता वै तेन हिंसितः ।
अकामयानेन तदा शरीरत्राणमिच्छता ॥ ६ ॥

इस मूर्ख पुत्र ने अपने शरीर की रक्षा के निमित्त मृगचर्म प्राप्त करने के ध्यान से इच्छा न होने पर भी अपने पिता को हरिन समझ कर मार दिया ॥६॥

तस्य स प्रेतकार्याणि कृत्वा सर्वाणि भारत ।
पुनरागत्य तत्सत्रमब्रवीद्भ्रातरं वचः ॥ ७ ॥

हे भारत, जब इसको पता लगा, तो इसने अपने पिता के प्रेत्य कृत्य किए । यह फिर लौटकर यज्ञ में पहुंचा और अपने भाई से बोला ॥७॥

इदं कर्म न शक्तस्त्वं वोढुमेकः कथञ्चन ।
मया च हिंसितस्तातो मन्यमानेन तं मृगम् ॥ ८ ॥

हे अर्वावसो, तुम अकेले ही इस कार्य को नहीं कर सकते हो और मैंने हरिन समझ कर पिताजी को मार डाला है ॥८॥

सोऽस्मदर्थे व्रतं तात चर त्वं ब्रह्महिंसनम् ।
समर्थोप्यहमेकाकी कर्म कर्त्तुमिदं मुने ॥ ९ ॥

हे तात, तुम तो मेरी ब्रह्म-हत्या के पाप को धोने का व्रत ग्रहण करो और मैं इस यज्ञ को पूरा कराऊँगा, क्योंकि मैं अकेला ही यज्ञ करा सकता हूं ॥९॥

अर्वावसुरुवाच—

करोतु वै भवान् सत्रं बृहद्युम्नस्य धीमतः ।
ब्रह्मवध्याञ्चरिष्येहं त्वदर्थं नियतेन्द्रियः ॥ १० ॥

अर्वावसु ने कहा—हे भ्राता, तुम तो बुद्धिमान् राजा बृहद्युम्न का यज्ञ पूरा कराओ, मैं तुम्हारे निमित्त जितेन्द्रिय रह कर ब्रह्म-हत्या के पाप के निवृत करने के लिए व्रत करूंगा ॥१०॥

लोमश उवाच—

स तस्य ब्रह्मवध्यायाः पारं गत्वा युधिष्ठिर ।
अर्वावसुस्तदा सत्रमाजगाम पुनर्मुनिः ॥ ११॥

लोमश बोले—हे युधिष्ठिर, यह अर्वावसु मुनि, ब्रह्म-हत्या के पाप से छुटकारा पाकर फिर बृहद्युम्न के यज्ञ में आने लगा ११

ततः परावसुर्दृष्ट्वा भ्रातरं समुपस्थितम् ।
बृहद्युम्नमुवाचेदं वचनं हर्षगद्गदम् ॥ १२ ।

यह परावसु अपने भाई अर्वावसु को देखकर हर्ष से गद्गद हुए राजा बृहद्युम्न से यह वचन बोला ॥१२॥

एष ते ब्रह्महा यज्ञं मा द्रष्टुं प्रविशेदिति ।
ब्रह्महा प्रेक्षितेनापि पीडयेत्त्वामसंशयम् ॥ १३ ॥

हे राजन्, यह ब्रह्म हत्यारा है। यह तुम्हारी यज्ञ-शाला में नहीं आना चाहिए। यह यज्ञ के दर्शन करने से भी तुम्हारे यज्ञ को हानि पहुंचा देगा ॥१३॥

लोमश उवाच—

तच्छ्रुत्वैव तदा राजा प्रेष्यानाह स विट्पतेः ।
प्रेष्यैरुत्सार्यमाणस्तु राजन्नर्वावसुस्तदा ॥ १४ ॥

न मया ब्रह्महत्येयं कृतेत्याह पुनः पुनः ।
उच्यमानोऽसकृत् प्रेष्यैर्ब्रह्महन्निति भारत ॥ १५ ॥

लोमश बोला—हे राजन्, यह सुन कर राजा ने अपने नौकरों को उसके निकालने की आज्ञा दी। जब नौकरों ने उसको धक्के देना आरम्भ किया, तो अर्वावसु बार २ कहने लगा, कि मैंने कोई ब्रह्म-हत्या नहीं की है, परन्तु वे भृत्यों तो यही कहते रहे, कि यह ब्रह्म-हत्यारा है ॥१४—१५॥

नैव स्म प्रतिजानाति ब्रह्मवध्यां स्वयं कृताम् ।
मम भ्रात्रा कृतमिदं मया स परिमोचितः ॥ १६ ॥

अर्वावसु कहता था, कि क्या परावसु यह नहीं जानता है, कि ब्रह्म-हत्या तो स्वयं उसी ने की है। हे राज-पुरुषो, वह ब्रह्म हत्या तो मेरे भाई परावसु ने की है। मैंने तो उलटा उसको ब्रह्म-हत्या से छुड़ाया है ॥१६॥

स तथा प्रवदन् क्रोधात्तैश्च प्रेष्यैः प्रभाषितः ।
तूष्णीं जगाम ब्रह्मर्षिर्वनमेव महातपाः ।। १७ ।।

यह इस तरह कह ही रहा था, कि उन भृत्यों ने क्रोध में भर कर उसको फटकार दिया । अब यह महा-तपस्वी ब्रह्मर्षि चुपचाप वन को चला गया ।।१७।।

उग्रं तपः समास्थाय दिवाकरमथाश्रितः ।
रहस्यवेदं कृतवान् सूर्यस्य द्विजसत्तमः ।
मूर्त्तिमांस्तं ददर्शाथ स्वयमग्रभुगव्ययः ।।१८ ।।

इस ब्रह्मर्षि ने उग्र तप का आश्रय लेकर सूर्य का आराधन करना आरम्भ किया । इस ब्राह्मण-श्रेष्ठ ने सूर्य के रहस्य के बताने वाले वेदों के मन्त्रों का जाप किया । अब किसी तरह क्षीण नहीं होने वाले सूर्य ने मूर्तिमान् होकर स्वयं इसको दर्शन दिया ।। १८ ।।

लोमश उवाच—

प्रीतास्तस्याभवन् देवाः कर्मणार्वावसोर्नृप ।
तन्ते प्रवरयामासुर्निरासुश्च परावसुम् ।
ततो देवा वरं तस्मैददुरग्निपुरोगमाः

लोमश ने कहा—हे नृप, अर्वावसु के कर्म से देवता प्रसन्न हो गये । इन्होंने अर्वावसु को यज्ञ में बुला लिया और परावसु को निकाल दिया । इसके सिवा अग्नि आदि देवों ने इसको वरदान भी दिया ।। १६ ।।

स चापि वरयामास पितुरुत्थानमात्मनः ।
अनागस्त्वं ततो भ्रातुः पितुश्चास्मरणं वधे ।। २० ।।

इस अर्वावसु ने अपने पिता के जीवित और अपने भाई के पाप से मुक्त होने और पिता को अपने पुत्र द्वारा मार देने की विस्मृति का वरदान माँगा ॥ २० ॥

भारद्वाजस्य चोत्थानं यवक्रीतस्य चोभयोः ।
प्रतिष्ठाश्चापि वेदस्य सौरस्य द्विजसत्तमः ॥ २१ ॥
एवमस्त्विति तं देवाः प्रोचुश्चापि वरान् ददुः ।
ततः प्रादुर्बभूवुस्ते सर्व एव युधिष्ठिर ॥ २२ ॥

इसके सिवा भारद्वाज मुनि और उसके पुत्र यवक्रीत का भी जीवित होकर उठ जाना तथा सूर्य सम्बन्धी वेद का जगत् में प्रतिष्ठित होने का वरदान इस ब्राह्मण-श्रेष्ठ ने माँग लिया। देवों ने इसको ये सारे वर प्रदान कर दिये। हे युधिष्ठिर, अब ये सारे मरे हुए मुनि खड़े हो गये ॥ २१--२२ ।

अथाब्रवीद्यवक्रीतो देवानग्निपुरोगमान् ।
समधीतं मया ब्रह्म व्रतानि चरितानि च ॥ २३ ॥
कथञ्च रैभ्यः शक्तो मामधीयानं तपस्विनम् ।
तथायुक्तेन विधिना निहन्तुममरोत्तमाः ॥ २४ ॥

अब यवक्रीत मुनि ने अग्नि आदि देवों से कहा—हे देवो, मैंने वेद पढ़ा था और वेद पढ़ने के सारे व्रतों का नियम-पूर्वक पालन किया था। फिर क्या बात थी? जो मुझ वेदपाठी को भी अपनी विधि से यह रैभ्य मुनि मारने में समर्थ हो सका २३-२४

देवा ऊचुः—

मैवं कृथा यवक्रीत यथा वदसि वै मुने ।
ऋते गुरुमधीता हि सुखं वेदास्त्वया पुरा ॥ २५ ॥

देवों ने कहा—हे यवक्रीत! यह ठीक हैं, कि तुमने वेद पढ़े हैं, परन्तु तुम ऐसे अभिमान का ध्यान भी मत करो कि तूने गुरुमुख के बिना ही पूर्वकाल में सारे वेद पढ़ डाले थे ॥२५॥

अनेन तु गुरून् दुःखात्तोषयित्वात्मकर्मणा ।
कालेन महता क्लेशाद् ब्रह्माधिगतमुत्तमम् ॥ २६ ॥

इस रैभ्यमुनि ने तो अपने कर्म से गुरु को प्रसन्न किया और दुःख से छुड़ाया था। इसने बहुत ही काल तक गुरु की सेवा करके वेद पढ़ा है ॥ २६ ॥

लोमश उवाच—

यवक्रीतमथोक्त्वैवं देवाः सेन्द्रपुरोगमाः ।
सञ्जीवयित्वा तान् सर्वान् पुनर्जग्मुस्त्रिविष्टपम्॥२७॥

लोमश बोले—यवक्रीत से इतना कहकर इन्द्र आदि देवता इन सब मृत मनुष्यों को जीवित करके, फिर स्वर्ग को चले गये।

आश्रमस्तस्य पुण्योऽयं सदापुष्पफलद्रुमः ।
अत्रोष्य राजशार्दूल सर्वं पापं प्रमोक्ष्यसि ॥२८॥

इति श्रीमहाभारत आरण्यपर्वणि तीर्थयात्रापर्वणि
यवक्रीतोपाख्याने अष्टत्रिंशदधिक-
शततमोऽध्यायः १३८॥

५

यह उसी रैभ्य ऋषि का पुष्प फलों से युक्त, वृक्षों वाला, पवित्र आश्रम है। हे राज-शार्दूल ! तुम यहाँ निवास करके सारे पापों से छूट जाओगे ॥ २८ ॥

इति श्रीमहाभारत वनपर्वान्तर्गत तीर्थ-यात्रा-पर्व में यवक्रीत के उपाख्यान का एक सौ अड़तीसवाँ अध्याय सम्पूर्ण हुआ।

—०—

एक सौ उनतालीसवां अध्याय

लोमश उवाच—

उशीरबीजं मैनाकं गिरिं श्वेतञ्च भारत ।
समतीतोऽसि कौन्तेय कालशैलञ्च पार्थिव ॥१॥

लोमश बोले—हे भारत ! तुम उशीरबीज, मैनाक, श्वेतगिरि तथा कालशैल पर्वत का उल्लङ्घन करके आगे आ गये हो॥१॥

एषा गङ्गा सप्तविधा राजते भरतर्षभ ।
स्थानं विरजसं पुण्यं यत्राग्निर्नित्यमिध्यते ॥२॥

हे भरतर्षभ ! यह सात धाराओं में बहने वाली गङ्गा सुशोभित होरही है, इसके तट पर यह रजो-गुण से शून्य पवित्र त्रियोगी नारायण नामक स्थान है, जहाँ सदा अग्नि जलता रहता है।

एतद्वै मानुषैस्माद्य न शक्यं द्रष्टुमद्भुतम् ।
समाधिं कुरुताव्यग्रास्तीर्थान्येतानि द्रक्ष्यथ ॥३॥

यह बड़ा अद्भुत तीर्थ है। इसको मनुष्य देख नहीं सकता है।

तुम सब व्याकुलता छोड़कर समाधि लगाओ, तब इस तीर्थ को देख सकोगे ॥ ३ ॥

एतत्द्दश्यति देवानामाक्रीडञ्चरणाङ्कितम् ।
अतिक्रान्तोऽसि कौन्तेय कालशैलञ्च पर्वतम् ॥४॥

इसके आगे देवों के चरण-चिह्नों से अङ्कित आक्रोड़ नामक स्थान के दर्शन करोगे। हे कौन्तेय! अब तुम कालशैल पर्वत को उलांघकर आगे आगये ॥ ४ ॥

श्वेतं गिरिं प्रवेच्यामो मन्दरञ्चैव पर्वतम् ।
यत्र मणिवरो यक्षः कुवेरश्चैव यक्षराट् ॥५॥

अब हम श्वेतगिरि (कैलाश) और मन्दराचल में प्रवेश करेंगे, जहाँ मणिवर यक्ष तथा कुवेर यक्षराज रहते हैं ॥ ५ ॥

अष्टाशीतिसहस्राणि गन्धर्वाः शीघ्रगामिनः ।
तथा किम्पुरुषा राजन् यक्षाश्चैव चतुर्गुणाः॥६॥

यहाँ वेग-शील अट्ठासी हजार गन्धर्व तथा किन्नर और इन से चतुर्गुण यक्ष निवास करते हैं ॥ ६ ॥

अनेकरूपसंस्थाना नानाप्रहरणाश्च ते ।
यक्षेन्द्रं मनुजश्रेष्ठ मणिभद्रमुपासते ॥७॥

हे मनुज-श्रेष्ठ! ये अनेक रूप और नाना प्रकार के शस्त्र धारण करके यक्षराज, मणिभद्र की उपासना करते हैं ॥ ७ ॥

तेषामृद्धिरतीवात्र गतौ वायुसमाश्च ते ।
स्थानात् प्रच्यावयेयुर्ये देवराजमपि ध्रुवम् ॥८॥

इन देवों की समृद्धि बहुत अधिक है और ये वायु के समान वेगशील है। ये सब मिलकर देवराज इन्द्र को भी अपने स्थान से च्युत कर सकते हैं॥ ८॥

तैस्तात बलिभिर्गुप्ता यातुधानैश्च रक्षिताः।
दुर्गमाः पर्वताः पार्थ समाधिं परमं कुरु ॥९॥

हे तात ! यह उन बलवान् यक्ष और यातुधानों से सुरक्षित है। हे पार्थ, यह पर्वत बड़ा दुर्गम है, इससे यहाँ तुम समाधि लगाओ ॥ ९॥

कुबेरसचिवाश्चान्ये रौद्रा मैत्राश्च राक्षसाः।
तैः समेष्याम कौन्तेय संयतो विक्रमेण च ॥१०॥

हे कौन्तेय ! अन्य कुबेर के सचिव, बड़े भीषण मैत्र संज्ञक राक्षसों से सामना पड़ेगा। अतः तुम अपने पराक्रम को सुदृढ़ बनाओ ॥ १० ॥

कैलासः पर्वतो राजन् षड्योजनसमुच्छ्रितः।
यत्र देवाः समायान्ति विशाला यत्र भारत ॥११॥

हे राजन् ! यहाँ छः योजन ऊँचा कैलास पर्वत है। यहाँ पर विशाल बदरी वृक्ष के समीप देवता आते रहते हैं ॥११॥

असङ्ख्येयास्तु कौन्तेय यक्षराक्षसकिन्नराः।
नागाः सुपर्णा गन्धर्वाः कुबेरसदनं प्रति ॥१२॥

हे कौन्तेय ! यहां कुबेर के भवन में अगणित, यक्ष, राक्षस, किन्नर, नाग, सुपर्ण, गन्धर्व विद्यमान रहते हैं। ॥१२॥

तान् विगाहस्व पार्थाद्य तपसा च दमेन च ।
रक्ष्यमाणो मया राजन् भीमसेनबलेन च ॥१३॥

हे पार्थ ! आज तुम तप और जितेन्द्रियता के साथ रह कर मुझ और भीम के बल से सुरक्षित होकर, इन तीर्थों में स्नान करो ॥१३॥

स्वस्ति ते वरुणो राजा यमश्च समितिञ्जयः ।
गङ्गा च यमुना चैव पर्वतश्च दधातु ते ॥१४॥

हे राजन् ! राजा वरुण, युद्ध विजेता यमराज, गङ्गा, यमुना तथा यह पर्वत तुम्हें कल्याण प्रदान करें ॥१४॥

मरुतश्च सहाश्विभ्यां सरितश्च सरांसि च ।
स्वस्ति देवासुरेभ्यश्च वसुभ्यश्च महाद्युते ॥१५॥

हे महा-द्युते ! मरुत अश्विन, सरित् सरोवर, देव, असुर और वसुओं से तुम को कल्याण की प्राप्ति होवे ॥१५॥

इन्द्रस्य जाम्बूनदपर्वताद्धै श्रृणोमि घोषं तव देवि गङ्गे
गोपाययेमं सुभगे गिरिभ्यः सर्वाजमीढापचितं नरेन्द्रम्

हे गङ्गे—देवि ! मैं इन्द्र के सुवर्ण मय (मेरु) पर्वत से तेरा कल कल नाद सुन रहा हूं । हे सुभगे ! तुम देवों द्वारा पर्वतों से इस अजमीढ़-वंश-श्रेष्ठ राजा युधिष्ठिर की रक्षा कराओ ॥१६॥

ददस्व शर्म प्रविविक्षतोऽस्य शैलानिमाञ्छैलसुते नृपस्य।
उक्त्वातथासागरगांसविप्रोयत्नोभवस्वेतिशशासपार्थम्

हे शैल-पुत्रि ! इन पर्वतों में प्रवेश करने के समय तुम इस राजा युधिष्ठिर को कल्याण प्रदान करना । महर्षि लोमश, इतना गङ्गा जी से कहकर युधिष्ठिर से बोला, कि तुम भी सावधान होजाओ ॥१७॥

युधिष्ठिर उवाच—

अपूर्वोऽयंसम्भ्रमोलोमशस्य कृष्णाञ्चसर्वेरक्षतमाप्रमादम् ।
देशोऽह्ययंदुर्गतमोमतोऽस्यतस्मात्परंशौचमिहाचरध्वम् ॥

युधिष्ठिर बोले—हे भाइयों ! आज लोमश मुनि को अपूर्व ही घबराहट खड़ी हो रही है । अब तुम सब द्रौपदी की रक्षा करो, प्रमाद न करना । ये इस स्थान को बड़ा दुर्गम मानते हैं । इस से यहां बड़ी पवित्रता से चलो ॥१८॥

वैशम्पायन उवाच—

ततोऽब्रवीद्भीममुदारवीर्य्यं कृष्णां यत्तः पालय भीमसेन ।
शून्येऽर्जुनेऽसन्निहिते च तात त्वामेव कृष्णा भजते भयेषु ॥

वैशम्पायन बोले—हे जनमेजय ! राजा युधिष्ठिर अत्यन्त बल-शाली भीम से बोले, हे भीमसेन ! तुम सावधान होकर द्रौपदी की रक्षा करो, क्योंकि यह स्थान शून्य है और अर्जुन समीप में नहीं है । ऐसी दशा में यह द्रौपदी भय के समय में तेरा ही आश्रय लेती है ॥१९॥

ततो महात्मा स यमौ समेत्य मूर्द्धन्युपाघ्राय विमृज्यगात्रे।
उवाच तौ वाष्पकलं स राजा माभैष्टमागच्छतमप्रमत्तौ ॥

इति श्रीमहाभारत आरण्यपर्वणि तीर्थयात्रापर्वणि युधिष्ठिर वाक्ये एकोनचत्वारिंशदधिकशततमोऽध्यायः। १३९॥

इसके अनन्तर महात्मा युधिष्ठिर, नकुल और सहदेव के पास पहुंचे। इसने इन दोनों के मस्तक को सूंघ और शरीर को पोंछ फटकार कर प्रेम के अश्रुओं के साथ कहा-हे तात! तुम डरो नहीं, सावधानी के साथ आगे बढ़े चले जावो ॥२०॥

इति श्रीमहाभारत वनपर्वान्तर्गत तीर्थ-यात्रा-पर्व में
युधिष्ठिर के वाक्य का एक सौ उनतालीसवां
अध्याय समाप्त हुआ।

एकसौ चालीसवां अध्याय

युधीष्ठिर उवाच—

अन्तर्हितानि भूतानि बलवन्ति महान्ति च।
अग्निना तपसा चैव शक्यं गन्तुं वृकोदर ॥१॥

युधिष्ठिर बोले—हे भीमसेन! इस पर्वत पर छुपे हुए महाबली राक्षस रहते हैं, तथापि हम लोग, अग्नि और तप के प्रभाव से आगे चल सकते हैं ॥१॥

सन्निवर्त्तय कौन्तेय क्षुत्पिपासे बलाश्रयात्।
ततो बलञ्च दाक्ष्यञ्च संश्रयस्व वृकोदर ॥२॥

हे भीम! अपने तपोबल के प्रभाव से भूख प्यास की परवा न कर तथा बल और कुशलताका आश्रय ग्रहण कर ॥२॥

ऋषेस्त्वया श्रुतं वाक्यं कैलासं पर्वतं प्रति।
बुद्ध्या प्रपश्य कौन्तेय कथं कृष्णा गमिष्यति ॥३॥

हे कौन्तेय! तूने ऋषि का वाक्य पर्वत के विषय में सुन लिया है। अब तू यह अपनी बुद्धि से देख, कि द्रौपदी इस समय आगे कैसे चल सकती है ॥३॥

अथ वा सहदेवेन धौम्येन च समं विभो।
सूतैः पौरोगवैश्चैव सर्वैश्च परिचारकैः ॥ ४ ॥
रथैरश्वैश्च ये चान्ये विप्राः क्लेशसहाः पथि।
सर्वैस्त्वं सहितो भीम निवर्त्तस्वायतेक्षण ॥ ५ ॥

हे विशाल-नेत्र! तुम, सारथि, सहदेव, धौम्य, पाकशाला के अध्यक्ष, सब सेवक, रथ, अश्व तथा मार्ग के परिश्रम के नहीं सह सकने वाले सारे ब्राह्मणों के साथ लौट जाओ ४-५

त्रयो वयं गमिष्यामो लघ्वाहारा यतव्रताः।
अहञ्च नकुलश्चैव लोमशश्च महातपाः ॥ ६ ॥

मैं, नकुल और महर्षि लोमश, व्रत और लघु आहार करते हुए हम तीनों ही आगे जाते हैं ॥ ६ ॥

ममागमनमाकाङ्क्षन् गङ्गाद्वारे समाहितः।
वसेह द्रौपदीं रक्षन् यावदागमनं मम ॥ ७ ॥

जब तक मैं लौटकर न आऊँ, तब तक तुम इस गङ्गा द्वार पर सावधानी से द्रौपदी की रक्षा करते रहना ॥ ७ ॥

भीम उवाच—

राजपुत्री श्रमेणार्त्ता दुःखार्त्ता चैव भारत ।
व्रजत्येव हि कल्याणी श्वेतवाहदिदृक्षया ॥ ८॥

भीम ने कहा—हे भारत ! यद्यपि यह राजपुत्री द्रौपदी श्रम से व्याकुल और दुःखी है, तो भी अर्जुन के देखने के लिए चलती रहेगी ॥ ८ ॥

तव चाप्यरतिस्तीव्रा वर्त्तते तमपश्यतः ।
गुड़ाकेशं महात्मानं संग्रामेष्वपलायिनम् ॥ ९ ॥
किं पुनः सहदेवश्च माश्च कृष्णाश्च भारत ।
द्विजाः कामं निवर्त्तन्तां सर्वे च परिचारकाः ॥ १० ॥
सूताः पौरोगवाश्चैव यश्च मन्येत नो भवान् ।
न ह्यहं हातुमिच्छामि भवन्तमिह कर्हिचित् ॥ ११ ॥

हे महाभाग ! आपको भी महा-पराक्रमी, युद्ध में पीठ नहीं दिखाने वाले, अर्जुन के बिना देखे बड़ी व्याकुलता होरही है। इस दशा में सहदेव, द्रौपदी और मेरे लौट जाने को चित्त नहीं चाहता है। हाँ ? सारे सेवक और ब्राह्मण, सारथि, पाकशाला के अध्यक्ष, जिनको आप उचित समझें, उनको लौट जाना चाहिए, परन्तु मैं आपको छोड़ना नहीं चाहता हूँ ॥ ९--११ ॥

शैलेऽस्मिन्राक्षसाकीर्णे दुर्गेषु विषमेषु च ।
इयञ्चापि महाभागा राजपुत्री पतिव्रता ॥ १२ ॥
त्वामृते पुरुषव्याघ्र नोत्सहेद्विनिवर्त्तितुम् ।

इस राक्षसों से भरे हुए दुर्गम ऊँचे-नीचे पर्वत में यह राजपुत्री महाभागा, पतिव्रता द्रौपदी, तुमको छोड़कर कैसे लौट सकती है ॥ १२ ॥

तथैव सहदेवोयं सततं त्वामनुव्रतः ॥ १३ ॥
न जातु विनिवर्त्तेत मनोज्ञो ह्यहमस्य वै ।
अपि चात्र महाराज सव्यसाचिदिदृक्षया ॥ १४ ॥
सर्वे लालसभूताः स्म तस्माद्यास्यामहे सह ।

हे महाराज ! इसी तरह यह सदाचारी सहदेव और मैं सदा आपके अनुचर हैं, इससे हम कभी नहीं लौट सकते हैं। इसके सिवा हम सबको अर्जुन के देखने की बड़ी लालसा है, इससे हम तो आपके साथ ही चलेंगे ॥१३-१४॥

यद्यशक्यो रथैर्गन्तु शैलोऽयं बहुकन्दरः ॥ १५ ॥
पद्भिरेव गमिष्यामो मा राजन् विमना भव ।

हे राजन् ! यदि इस पर्वत में बड़ी २ कन्दराऐं हैं, जिसके कारण रथ से नहीं चल सकते हैं, तो हम लोग पैदल ही चले चलेंगे, तुम चिंता न करो ॥१५॥

अहं वहिष्ये पाञ्चालीं यत्र यत्र न शक्ष्यति ॥ १६ ॥
इति मे वर्तते बुद्धिर्मा राजन् विमना भव ।
सुकुमारौ तथा वीरो माद्रीनन्दनकावुभौ ।
दुर्गे सन्तारयिष्यामि यत्राशक्तौ भविष्यतः ॥ १७ ॥

जहां २ द्रौपदी चल नहीं सकेगी, वहां मैं इनको अपने शिर पर उठा लूंगा, मेरा यही विचार है, तुम उदास न होवो, इसी तरह ये दोनों माद्री-पुत्र नकुल और सहदेव भी कुछ सुकुमार है, तो भी जहाँ २ ये अशक्त होंगे, मैं उन कठिन स्थानों में इनको उठा कर आगे ले चलूंगा ॥१६-१७॥

युधिष्ठिर उवाच—

एवं ते भाषमाणस्य बलं भीमाभिवर्द्धताम् ।
यत्त्वमुत्सहसे वोढुं पाञ्चालीञ्च यशस्विनीम् ॥ १८ ॥
यमजौ चापि भद्रन्ते नैतदन्यत्र विद्यते ।
बलं तव यशश्चैव धर्मः कीर्त्तिश्च वर्द्धताम् ॥ १९ ॥

युधिष्ठिर बोले—हे भीम ! जो तुम इस प्रकार उत्साह की बातें कर रहे हो, ईश्वर तुम्हारे बल की वृद्धि करे। जो तुम यशस्विनी द्रौपदी तथा नकुल सहदेव को शिर पर उठा कर ले चलने की कह रहे हो, यह तुम्हारी ही शक्ति है, अन्य की नहीं। तुम्हारा कल्याण हो और तुम्हारा बल, यश, कीर्ति, और धर्म बढ़ता रहे ॥१८-१९॥

यच्चमुत्सहसे नेतुं भ्रातरौ सह कृष्णया ।
मा ते ग्लानिर्महाबाहो मा च तेऽस्तु पराभवः॥२०॥

हे महा बाहो ! जो तुम अपने भाइयों को द्रौपदी के साथ ले चलना चाहते हो, इससे तुम्हारे चित्त में किसी प्रकार की ग्लानि और क्लेश न रहे ॥२०॥

वैशम्पायन उवाच—

ततः कृष्णाब्रवीद्वाक्यं प्रहसन्ती मनोरमा ।
गमिष्यामि न सन्तापः कार्य्यो मां प्रति भारत ॥२१॥

वैशम्पायन बोले—हे भारत ! सुन्दरी द्रौपदी यह सुन कर मुस्कराई और कहने लगी । हे महाराज ! आपको मेरे विषय में कोई चिन्ता नहीं करनी चाहिए ॥२१॥

लोमश उवाच—

तपसा शक्यते गन्तुं पर्वतं गन्धमादनम् ।
तपसा चैव कौन्तेय सर्वे योच्चयामहे वयम् ॥२२॥

लोमश बोले—हे पाण्डवों ! गन्धमादन पर्वत पर तप के विना कोई नहीं चढ़ सकता है । इसलिए हम सबको तप से युक्त हो जाना चाहिए ॥२२॥

नकुलः सहदेवश्च भीमसेनश्च पार्थिव ।
अहश्च त्वश्च कौन्तेय द्रच्यामः श्वेतवाहनम् ॥२३॥

हे राजन् ! नकुल, सहदेव, भीमसेन, आप और मैं इस पर्वत पर चढ़ कर अर्जुन के दर्शन करेंगे ॥२३॥

वैशम्पायन उवाच—

एवं सम्भाषमाणास्ते सुबाहुविषयं महत् ।
ददृशुर्मुदिता राजन् प्रभूतगजवाजिमत् ॥२४॥
किराततङ्गणाकीर्णं पुलिन्दशतसंकुलम् ।
हिमवत्यमरैर्जुष्टं बह्वाश्चर्य्यसमाकुलम् ॥२५॥

वैशम्पायन बोले—हे जनमेजय ! ये इस प्रकार बातें करते हुए, हाथी घोड़ों से भरे हुए, राजा सुबाहु के देश में पहुँचे। यह देश किरातों के गण से व्याप्त, पुलिन्दों से समन्वित, देवों से युक्त, अनेक आश्चर्य की वस्तुओं से सुशोभित, हिमालय पर्वत पर था। ये सब लोग, इस देश को देखकर बड़े प्रसन्न हुए ॥२४-२५॥

सुबाहुश्चापि तान् दृष्ट्वा पूजया प्रत्यगृह्णत ।
विषयान्ते कुलिन्दानामीश्वरः प्रीतिपूर्वकम् ॥१६॥

कुलिन्दों के अधिपति, राजा सुबाहु ने अपने देश में इनको देखकर प्रीति के साथ बड़ा स्वागत किया ॥ २६ ॥

ततस्ते पूजितास्तेन सर्व एव सुखोषिताः ।
प्रतस्थुर्विमले सूर्य्ये हिमवन्तं गिरिं प्रति ॥२७॥

राजा सुबाहु से सत्कार पाकर पाण्डव बड़े सन्तुष्ट हुए। जब सूर्य का अच्छी तरह उदय होगया, तो ये आगे हिमालय पर्वत पर चले ॥ २७ ॥

इन्द्रसेनमुखांश्चापि भृत्यान् पौरोगवांस्तथा ।
सूदांश्च पारिवार्हांश्च द्रौपद्याः सर्वशो नृप ॥२८॥
राज्ञः कुलिन्दाधिपतेः परिदाय महारथाः ।
पद्भिरेव महावीर्य्या ययुः कौरवनन्दनाः ॥२९॥

हे नृप ! इन महारथों ने इन्द्रसेन आदि सेवक, रसोई के अध्यक्ष, रसोइये तथा द्रौपदी के सारे सामान को राजा सुबाहु को सौंप कर, ये महा-पराक्रमी, कौरव-नन्दन पैदल ही चल दिए ॥ २८-२९ ॥

ते शनैः प्राद्रवन् सर्वे कृष्णया सह पाण्डवाः ।
तस्माद्देशात् सुसंहृष्टा द्रष्टुकामा धनञ्जयम् ॥३०॥

इति श्री महाभारत आरण्यपर्वणि तीर्थयात्रा-
पर्वणि गन्धमादनप्रवेशे चत्वारिंशदधि-
कशततमोऽध्यायः ॥१४०॥

हे राजन् ! ये सारे पाण्डव, द्रौपदी के साथ २ उस देश से प्रसन्नता-पूर्वक अर्जुन से मिलने के लिए आगे चल दिए ॥३०॥

इति श्रीमहाभारत वनपर्वान्तर्गत तीर्थयात्रापर्व में गन्धमादन पर्वत के प्रवेश का एक सौ चालीसवाँ अध्याय सम्पूर्ण हुआ ।

एक सौ इकतालीसवां अध्याय

युधिष्ठिर उवाच—

भीमसेन यमौ चोभौ पाञ्चालि च निबोधत ।
नाति भूतस्य नाशो वै पश्यतास्मान् वने चरान् ॥१॥

राजा युधिष्ठिर बोले—हे भीमसेन, नकुल, सहदेव और द्रौपदी ! तुम यह समझ लो, कि प्राणी के पूर्व कर्मों का कभी नाश नहीं होता है । इसी के कारण वन में हम भी घूमते फिरते है, इसको देख लो ॥१॥

दुर्बलाः क्लेशिताः स्मेति यद् ब्रवामेतरेतरम् ।
अशक्येऽपि व्रजानो यद्धनञ्जयदिदृक्षया ॥२॥

यद्यपि हम दुर्बल क्लेशित हो चुके हैं, तो भी एक दूसरे से वार्तालाप करते हुए असमर्थ होकर भी अर्जुन के देखने के लिए आगे बढ़े चले जा रहे हैं, तथा कर्मों के शेष रहने से जीवन धारण किये हुए हैं ॥२॥

तन्मे दहति गात्राणि तूलराशिमिवानलः ।
यच्च वीरं न पश्यामि धनञ्जयमुपान्तिकात् ॥३॥

अपने पास अर्जुन को जो नहीं देखता हूँ, यह बात मुझे रूई की राशि को आग के समान जला रही है॥ ३ ॥

तस्य दर्शनतृष्णं मां सानुजं वनमास्थितम् ।
याज्ञसेन्याः परामर्शः स च वीर दहत्युत ॥४॥

छोटे भाइयों के साथ २ अर्जुन के दर्शनों की लालसा से ही मैं इस वन में ही ठहरा हुआ हूँ । हे वीर! दुःशासन द्वारा किया हुआ, द्रौपदी का तिरस्कार मुझे जलाता रहता है ॥ ४ ॥

नकुलात् पूर्वजं पार्थं न पश्याम्यमितौजसम् ।
अजेयमुग्रधन्वानं तेन तप्ये वृकोदर ॥५॥

हे भीमसेन, मैं बड़े धनुर्धर दुर्जय, महाओजस्वी, नकुल से बड़े अर्जुन को यहां न देख कर बड़ा ही क्लेशित रहता हूं ॥५॥

तीर्थानि चैव रम्याणि वनानि च सरांसि च ।
चरामि सह युष्माभिस्तस्य दर्शनकाङ्क्षया ॥६॥

मैं केवल अर्जुन के दर्शनों की आशा से ही तुम्हारे साथ तीर्थ, सुन्दर २ वन और सरोवरों को देखता फिरता हूं ॥६॥

पञ्च वर्षाण्यहं वीरं सत्यसन्धं धनञ्जयम् ।
यन्न पश्यामि बीभत्सुं तेन तप्ये वृकोदर ॥७॥

हे वृकोदर ! सत्य-प्रतिज्ञा-धारी, धनञ्जय, अर्जुन को जो मैं पांच वर्ष से अपने साथ नहीं देख रहा हूं, इससे मैं बड़ा ही सन्तापित होता हूं ॥७॥

तं वै श्यामं गुडाकेशं सिंहविक्रान्तगामिनम् ।
न पश्यामि महाबाहुं तेन तप्ये वृकोदर ॥८॥

हे भीम ! सिंह के तुल्य पराक्रमी, श्यामवर्ण, महाबली अर्जुनः के बिना देखे, मैं बड़ा ही दुखी हूं ॥ ८॥

कृतास्त्रं निपुणं युद्धेऽप्रतिमानं धनुष्मताम् ।
न पश्यामि कुरुश्रेष्ठं तेन तप्ये वृकोदर ॥९॥
चरन्तमरिसङ्घेषु काले क्रुद्धमिवान्तकम् ।
प्रभिन्नमिव मातङ्गं सिंहस्कन्धं धनञ्जयम् ॥१०॥

यह अर्जुन युद्ध में बड़ा कुशल, धनुष-धारियों में अद्वितीय, शस्त्र विद्या का ज्ञाता है। आज मैं उसी कुरु-वंश-श्रेष्ठ अर्जुन के बिना जल रहा हूं। यह अर्जुन शत्रुओं के समूह के मध्य में मृत्यु के समय पर कुपित हुए यम के समान घूमता है। यह मद टपकाने वाले मस्त हाथी के तुल्य दिखाई देता है और इसके सिंह के समान कन्धे हैं ॥९-१०,।

यः स शक्रादनवरो वीर्य्येण द्रविणेन च ।
यमयोः पूर्वजः पार्थः श्वेताश्वोऽमितविक्रमः॥११॥

यह पराक्रम और तेज में इन्द्र से न्यून नहीं है। यह नकुल सहदेव का पूर्वज, अर्जुन, बड़ा विक्रमी और श्वेत अश्व का आरोही है ॥११॥

दुःखेन महताविष्टस्तन्न पश्यामि फाल्गुनम् ।
अजेयमुग्रधन्वान तेन तप्ये वृकोदर ॥१२॥

जीतने में न आने वाले, उग्र-धनुष-धारी, अर्जुन को न देख कर मुझे बड़ा ही दुःख हो रहा है और इससे मैं महा सन्तापित हूं ॥१२॥

सततं यः क्षमाशीलः क्षीप्यमाणोऽप्यणीयसा ।
ऋजुमार्गप्रपन्नस्य शर्मदाताभयस्य च ॥१३॥

अल्प शक्ति वाले, मनुष्य के अपराध कर लेने पर भी जो सदा क्षमा ही करता रहता है। जो मनुष्य सीधे मार्ग पर चलने वाला है, वह उसकी सहायता करके उसको निर्भय बनाता रहता है ॥१३॥

स तु जिह्मप्रवृत्तस्य माययाभिजिघांसतः ।
अपि वज्रधरस्यापि भवेत् कालविषोपमः ॥१४॥

जो कुटिल मार्ग से चलता है और कपट से अन्य के अधिकारों को छीनता है, वह इन्द्र के तुल्य ही क्यों न हो, उसके लिए अर्जुन, काल और विष के समान कटु हो जाता है ॥१४॥

शत्रोरपि प्रपन्नस्य सोऽनृशंसः प्रतापवान् ।
दाताभयस्य बीभत्सुरमितात्मा महाबलः ॥१५॥

यह उदार, प्रतापी मनस्वी, महाबली अर्जुन, शरण में आये हुए शुद्ध अन्तःकरण वाले शत्रु को भी अभय कर देता है ॥१५॥

सर्वेषामाश्रयोस्माकं रणेऽरीणां प्रमर्दिता ।
आहर्त्ता सर्वरत्नानां सर्वेषां नः सुखावहः ॥१६॥

युद्ध में शत्रुओं के मर्दन करने वाले, अर्जुन का ही हमको केवल सहारा है। इसी ने सब तरफ के रत्न इकट्ठे किए और यह हम सबको सुख दायी है ॥१६॥

रत्नानि यस्य वीर्य्येण दिव्यान्यासन् पुरा मम ।
बहूनि बहुजातीनि यानि प्राप्तः सुयोधनः॥१७॥

इस अर्जुन के पराक्रम से मेरे पास अनेक जाति के अनेक उत्तम २ रत्न थे, वे आज सारे दुर्योधन के अधिकार में हैं ॥१७॥

यस्य बाहुबलाद्वीर सभां चासीत् पुरा मम ।
सर्वरत्नमयी ख्याता त्रिषु लोकेषु पाण्डव ॥१८॥

हे वीर ! तीनों लोकों में प्रसिद्ध रत्नों से जड़ी हुई, मेरी राजसभा भी इसी के बाहुओं के बल से मुझे प्राप्त हुई थी ॥१८॥

वासुदेवसमं वीर्य्ये कार्त्तवीर्य्यसमं युधि ।
अजेयममितं युद्धे तन्न पश्यामि फाल्गुनम् ॥१९॥

यह पराक्रम में श्रीकृष्ण के समान और युद्ध करने में कार्त-वीर्य अर्जुन के तुल्य है। इसी अजेय, महाबली अर्जुन को आज न देख कर मुझे बड़ा सन्ताप हो रहा है ॥१९॥

सङ्कर्षणं महावीर्य्यं त्वाञ्च भीमापराजितम् ।
अनुयातः स्ववीर्य्येण वासुदेवश्च शत्रुहा ॥२०॥

हे भीम ! यह शत्रु विजयी अर्जुन, महाबली बलराम तथा श्रीकृष्ण और किसी से नहीं हारने वाले तुम्हारे समान ही अपना विक्रम प्रकट कर रहा है ॥२०॥

यस्य बाहुबले तुल्यः प्रभावे च पुरन्दरः ।
जवे वायुर्मुखे सोमः क्रोधे मृत्युः सनातनः ॥२१॥

इसका बाहुबल और प्रभाव इन्द्र के तुल्य है। यह वेग में वायु, मुख की सुन्दरता में चन्द्रमा तथा क्रोध के समय तो सनातन मृत्यु के तुल्य है ॥२१॥

ते वयं तं नरव्याघ्रं सर्वे वीरं दिदृक्षवः ।
प्रवेक्ष्यामि महाबाहो पर्वतं गन्धमादनम्॥२२॥

हे महा—बाहो ! अब हम सब लोग, उसी नर-श्रेष्ठ अर्जुन की खोज में उसके दर्शनों की लालसा से इस गन्धमादन पर्वत पर चलेंगे ॥२२॥

विशाला बदरी यत्र नरनारायणाश्रमः ।
तं सदाध्युषितं यक्षैर्द्रक्ष्यामो गिरिमुत्तमम् ॥२३॥

इसी पर्वत पर एक विशाल बदरी का वृक्ष है, जहां नर नारायण नामक ऋषियों का आश्रम है। इस पर्वत पर सदा यक्षों का निवास रहता है। हम लोग वहां चल कर इस पर्वत को देखेंगे ॥२३॥

कुबेरनलिनीं रम्यां राक्षसैरभिषेविताम् ।
पद्भिरेव गमिष्यामस्तप्यमाना महत्तपः ॥२४॥

हम लोग बड़े कठिन तप का अवलम्ब लेकर पैदल ही चलते हैं। वहां पर कुबेर के सरोवर में लगे हुए कमलों को देखेंगे, जिनकी रक्षा राक्षस कर रहे हैं ॥२४॥

न च यानवता शक्यो गन्तुं देशो वृकोदर ।
न नृशंसेन लुब्धेन नाप्रशान्तेन भारत ॥२५॥

हे भीम ! इस प्रदेश में सवारी पर यात्रा नहीं हो सकती है॥ हे भारत ! इस देश में लोभी, नीच और कामी मनुष्य का प्रवेश नहीं हो सकता है ॥२५॥

तत्र सर्वे गमिष्यामो भीमार्जुनगवेषिणः ।
सायुधा बद्धनिस्त्रिंशाः सार्द्धं विप्रैर्महाव्रतैः ॥२६॥

हे भीम ! हम सब लोग अर्जुन की खोज में तलवार तथा अन्य शस्त्रों को धारण करके व्रतशील ब्राह्मणों के साथ वहां चलते हैं ॥२६॥

मक्षिकादंशमशकान् सिंहान् व्याघ्रान् सरीसृपान् ।
प्राप्नोत्यनियतः पार्थः नियतस्तान् न पश्यति॥२७॥

मक्खी, डांस, मच्छर, सिंह, व्याघ्र, कीड़े, मकोड़े, अर्जुन को निश्चय क्लेशित करते होंगे, परन्तु वह अपने नियम की दृढ़ता से इनकी कुछ भी परवा नहीं करता होगा ॥२७॥

ते वयं नियतात्मानः पर्वतं गन्धमादनम् ।
प्रवेक्ष्यामो मिताहारा धनञ्जयदिदृक्षया ॥२८॥

इति श्रीमहाभारते आरण्यपर्वणि तीर्थयात्रापर्वणि गन्धमादनप्रवेशे एकचत्वारिंशदधिकशततमोऽध्यायः॥१४१॥

अब हम सब जितेन्द्रिय, और मिताहारी रह कर अर्जुन के दर्शनों की इच्छा से गन्धमादन पर्वत पर चलते हैं ॥२८॥

इति श्रीमहाभारत वनपर्वान्तर्गत तीर्थयात्रापर्व में गन्धमादन पर्वत के प्रवेश का एक सौ इकतालीसवां अध्याय पूरा हुआ ।

एक सौ बयालीसवां अध्याय

लोमश उवाच ।

दृष्टा वः पर्वता सर्वे नद्यः सपुरकाननाः ।
तीर्थानि चैव श्रीमन्ति स्पृष्टश्च सलिलं करे ॥१॥

लोमश बोले—हे पाण्डवों ! तुमने नदी-पुर और वन के साथ सारे पर्वतों के दर्शन कर लिए हैं। इसी तरह बड़े २ सुन्दर तीर्थों के दर्शन किए और उनके जल में स्नान करके आचमन किया है ॥१॥

पर्वतं मन्दरं दिव्यमेष पन्था प्रयास्यति ।
समाहिता निरुद्विग्नाः सर्वे भवत पाण्डवाः ॥२॥

हे महानुभावो ! अब तुम सब सावधान हो जाओ और घबराहट को छोड़ दो। यह सामने दिव्य मन्दराचल है और यह इसके लिए मार्ग जा रहा ॥ २ ॥

अयं देवनिवासो वै गन्तव्यो वो भविष्यति ।
ऋषीणाञ्चैव दिव्यानां निवासः पुण्यकर्मणाम् ॥३॥

इस पर्वत पर देव और दिव्य पुण्यात्मा ऋषियों का निवास है, इसी पर हम-तुमको चलना है ॥ ३ ॥

एषा शिवजला पुण्या याति सौम्य महानदी ।
बदरीप्रभवा राजन् देवर्षिगणसेविता ॥४॥

हे सोमवंशी राजन् ! यह उत्तम जल वाली गङ्गा (अलकनन्दा) महा-नदी है, जो बदरी वृक्ष के मूल से उत्पन्न हुई है और जिस पर देवर्षियों का गण निवास करता रहता है ॥४॥

एषा वैहायसैर्नित्यं बालखिल्यैर्महात्मभिः ।
अर्चिता चोपयाता च गन्धर्वैश्च महात्मभिः॥५॥

आकाश मार्ग से गमन करने वाले बालखिल्य ऋषि इसकी पूजा करते रहते हैं और महात्मा गन्धर्व इस पर आकर क्रीड़ा करते हैं ॥ ५ ॥

अत्र साम स्म गायन्ति सामगाः पुण्यनिःस्वनाः
मरीचिःपुलहश्चैव भृगुश्चैवाङ्गिरास्तथा ॥६॥

इस नदी के पवित्र तट पर मरीचि, पुलह, भृगु और अङ्गिरा आदि उत्तम-उत्तम स्वर वाले, साम-वेद-पाठी मुनि, सामगान करते रहते हैं ॥ ६ ॥

अत्राह्निकं सुरश्रेष्ठो जपते समरुद्‌गणः ।
साध्याश्चैवाश्विनौ चैव परिधावन्ति तं तदा ॥७॥

यहीं पर मरुद्‌गण के साथ में इन्द्र अपने जप को नियमपूर्वक करता रहता है।साध्य और अश्विनी देवता भी इस इन्द्रकी सेवा में उपस्थित रहते हैं ॥ ७ ॥

चन्द्रमाः सह सूर्य्येण ज्योतींषि च ग्रहैः सह ।
अहोरात्रविभागेन नदीमेनामनुव्रजन् ॥८॥

सूर्य के साथ चन्द्रमा और ग्रहों के साथ बड़े-बड़े प्रकाशमान तारे, दिन रात के विभाग से इस नदी के चारों ओर घूम जाते हैं ।

एतस्याः सलिलं मूर्द्ध्ना वृषाङ्कः पर्य्यधारयत् ।
गङ्गाद्वारे महाभाग येन लोकस्थितिर्भवेत् ॥९॥

हे महाभाग ! इस गङ्गा नदी के जल को भगवान् शङ्कर ने गङ्गाद्वार पर अपने मस्तक पर धारण किया था, जिससे इस जगत् की स्थिति हो सकी है ॥ ९ ॥

एतां भगवतीं देवीं भवन्तः सर्व एव हि ।
प्रयतेनात्मना ताताः प्रतिगम्याभिवादत ॥१०॥

हे भारत ! अब तुम सब नियम-पूर्वक इस भगवती गङ्गा नदी पर जाओ और वहाँ जाकर इसको प्रणाम करो ॥ १० ॥

तस्य तद्वचनं श्रुत्वा लोमशस्य महात्मनः ।
आकाशगङ्गां प्रयताः पाण्डवास्तेऽभ्यवादयन् ॥११

इस प्रकार महात्मा लोमश ऋषि के वचन सुनकर सारे पाण्डव, नियमानुसार आकाश गङ्गा पर पहुँचे और वहाँ उसको प्रणाम किया ॥ ११ ॥

अभिवाद्य च ते सर्वे पाण्डवा धर्मचारिणः ।
पुनः प्रयाताः संहृष्टा सर्वे ऋषिगणैः सह ॥१२॥

ये धर्मात्मा पाण्डव, आकाश गङ्गा को प्रणाम करके प्रसन्नतापूर्वक ऋषियों के साथ आगे को चल दिए ॥ १२ ॥

ततो दूरात् प्रकाशन्तं पाण्डुरं मेरुसन्निभम् ।
ददृशुस्ते नरश्रेष्ठा विकीर्णं सर्वतो दिशम् ॥१३॥

इसके बाद इन राजपुत्र पाण्डवों ने, मेरु पर्वत के समान आकार वाली चमकीली एक श्वेतराशि को देखा, जो चारों ओर बिखरी हुई सी थी ॥ १३ ॥

तान् प्रष्टुकामान् विज्ञाय पाण्डवान् स तु लोमशः ।
उवाच वाक्यं वाक्यज्ञः शृणुध्वं पाण्डुनन्दनाः ॥१४॥

जब महर्षि लोमश ने पाण्डवों को कुछ पूछते हुए देखा, तो विद्वान् लोमश ने स्वयं कहा—हे पाण्डवनन्दनों ! तुम सुनो ॥१४॥

एतद्विकीर्णं सुश्रीमत् कैलासशिखरोपमम् ।
यत् पश्यसि नरश्रेष्ठ पर्वतप्रतिमं स्थितम् ॥१५॥

एतान्यस्थीनि दैत्यस्य नरकस्य महात्मनः ।
पर्वतप्रतिमं भाति पर्वतप्रस्तराश्रितम् ॥१६॥

हे राजन् ! यह बिखरा हुआ, चमकदार, कैलास पर्वत की चोटी के समान महा-विशाल जो कुछ देख रहे हो, ये महाबली नरक दैत्य की अस्थियाँ हैं । ये ही पर्वत के समान दिखाई पड़ती हैं । ये अस्थियाँ पर्वत की शिलाओं के ऊपर ही बिखरी हुई हैं ।

पुरातनेन देवेन विष्णुना परमात्मना ।
दैत्यो विनिहतस्तात सुरराजहितैषिणा ॥१७॥

हे तात ! इन्द्र के हित-चाहने वाले, सनातन ब्रह्म, भगवान् विष्णु ने इस दैत्य को मारा है ॥ १७ ॥

दशवर्षसहस्राणि तपस्तप्य महामनाः ।
ऐन्द्रं प्रार्थयते स्थानं तपः स्वाध्यायविक्रमात् ॥१८

इस महामनस्वी नरकासुर ने दश हजार वर्ष तप करके उस तप और स्वाध्यायके बल से इन्द्र पद की प्राप्ति करनी चाही ॥१८

तपोबलेन महता बाहुवेगबलेन च ।
नित्यमेव दुराधर्षो धर्षयन् स दितेः सुतः ॥१९॥

यह नरकासुर, बड़े भारी तप और बाहुओं के बल से युक्त होकर दुराधर्ष (अजेय) होगया और नित्य ही अन्यों को पीड़ा पहुँचाने लगा ॥ १९ ॥

स तु तस्य बलं ज्ञात्वा धर्मे च चरितं व्रतम् ।
भयाभिभूतः सम्विग्नः शक्र आसीत्तदानघ ॥२०॥

हे महानुभाव ! इन्द्र, इस भौमासुर के बल और धर्मनिष्ठा को देखकर बड़ा भयभीत और व्याकुल हुआ ॥ २० ॥

तेन सञ्चिन्तितो देवो मनसा विष्णुरव्ययः ।
सर्वत्रगः प्रभुः श्रीमानागतश्च स्थितो बभौ ॥२१॥

इसने एक रस रहने वाले, सर्व व्यापक, भगवान् विष्णु का मन से ध्यान किया। श्रीमान् वहाँ प्रकट होकर सम्मुख सुशोभित हुए ॥ २१ ॥

ऋषयश्चापि तं सर्वे तुष्टुवुश्च दिवौकसः ।
तं दृष्ट्वा ज्वलमानश्रीर्भगवान् हव्यवाहनः ॥२२॥

सारे ऋषि, भगवान् विष्णु की स्तुति करने लगे। इन भगवान विष्णु को देखकर महा-तेजस्वी, देदीप्यमान अग्नि भी इनके तेज से फीका पड़ गया ॥ २२ ॥

नष्टतेजाः समभवत्तस्य तेजोऽभिभर्त्सितः ।
तं दृष्ट्वा वरदं देवं विष्णुं देवगणेश्वरम् ॥२३॥
प्राञ्जलिः प्रणतो भूत्वा नमस्कृत्य च वज्रभृत् ।
प्राह वाक्यं ततस्तत्त्वं यतस्तस्य भयं भवेत् ॥२४॥

इन्द्र ने वरदायी देवों के अधिपति भगवान् विष्णु को देखकर, दोनों हाथ जोड़े और झुककर प्रणाम किया। इसके अनन्तर वह तत्त्व की बात सुनाई, जिससे इन्द्र को भय होरहा था २३-२४।

विष्णुरुवाच—

जानामि ते भयं शक्र दैत्येन्द्रान्नरकात्ततः ।
ऐन्द्रं प्रार्थयते स्थानं तपःसिद्धेन कर्मणा ॥२५॥

विष्णु बोले—हे इन्द्र! जो तुझे नरकासुर से भय होगया है, उसको मैं जानता हूँ। यह अपने तपोबल से तेरी इन्द्र पदवी को छीनना चाहता है॥ २५॥

सोऽहमेनं तव प्रीत्या तपः सिद्धमपि ध्रुवम्।
वियुनज्मि देहाद्देवेन्द्र मुहूर्त्तं प्रतिपालय ॥२६॥

हे देवेन्द्र! मैं तेरे प्रेम से इस सिद्ध तपस्वी को भी अभी प्राणों से विमुक्त करता हूँ। तू थोड़ी देर और प्रतीक्षा कर॥२६॥

तस्य विष्णुर्महातेजाः पाणिना चेतनां हरत्।
स पपात ततो भूमौ गिरिराज इवाहतः ॥२७॥

महातेजस्वी भगवान् विष्णु ने एक ही चपेटे से उसके प्राणों का अपहरण कर लिया। अब यह छिन्न भिन्न होकर पर्वत के समान पृथ्वी पर गिर पड़ा॥२७॥

तस्यैतदस्थिसङ्घातं मायाविनिहतस्य वै।
इदं द्वितीयमपरं विष्णोः कर्म प्रकाशते ॥२८॥

माया से मारे हुए भौमासुर की ये हड्डियाँ हैं। अब मैं तुमको भगवान् विष्णु के द्वितीय अद्भुत कर्म को प्रकाशित करता हूँ॥२८॥

नष्टा वसुमती कृत्स्ना पाताले चैव मज्जिता।
पुनरुद्धरिता तेन वराहेणैकशृङ्गिणा ॥२९॥

एक बार सारी पृथिवी अलक्षित हो गई और पाताल में घुस गई। उस समय एक शृङ्ग धारी वराह रूप धारण करके भगवान् विष्णु ने ही इस पृथ्वी का फिर उद्धार किया है॥२९॥

युधिष्ठिर उवाच—

भगवन् विस्तरेणेमां कथां कथय तत्त्वतः ।
कथं तेन सुरेशेन नष्टा वसुमती तदा ॥३०॥
योजनानां शतं ब्रह्मन् पुनरुद्धरितां तदा ।
केन चैव प्रकारेण जगतो धारणी ध्रुवा ॥३१॥
शिवा देवी महाभागा सर्वशस्यप्ररोहिणी ।
कस्य चैव प्रभावाद्धि योजनानां शतं गता ॥३२॥

युधिष्ठिर बोले—हे भगवन् ! आप इस कथा को विस्तार से कहिए, कि पाताल में सैकड़ों योजन प्रविष्ट इस विस्तृत भूमि का भगवान् विष्णू ने कैसे पुनरुद्धार किया । यह जगत् के धारण करने वाली, दृढ़ तथा सब अन्नों की उत्पादक, भूमि, किसके प्रभाव से सैकड़ों योजन नीचे को चली गई ॥३०—३२॥

केनैतद्वीर्य्यसर्वस्वं दर्शितं परमात्मनः ।
एतत् सर्वं यथातत्त्वमिच्छामि द्विजसत्तम ।
श्रोतुं विस्तरशः सर्वं त्वं हि तस्य प्रतिश्रयः ॥३३

हे द्विज--सत्तम ! किसने यह पराक्रम से भरा हुआ, भगवान् विष्णु का प्रभाव प्रकट कराया । मैं इस सब कथा को ठीक २ विस्तार के साथ सुनना चाहता हूं क्योंकि आप इस कथा के आधार हैं॥३३॥

लोमश उवाच--

यत्तेऽहं परिपृष्टोऽस्मि कथामेतां युधिष्ठिर ।
तत् सर्वमखिलेनेह श्रूयतां मम भाषतः ॥३४॥

लोमश बोले—हे युधिष्ठिर ! जो तुमने वाराह की कथा मुझसे पूछी है, यह मैं तुमको सारी सुनाता हूँ, तुम ध्यान से सुनो ॥३४॥

पुरा कृतयुगे तात वर्त्तमाने भयङ्करे ।
यमत्वं कारयामास आदिदेवः पुरातनः ॥३५॥

हे तात ! पूर्व काल में सत्युग में भयङ्कर समय उपथित हुआ। उस समय आदि देव भगवान् विष्णु यमराज का कार्य करते थे ॥३५॥

यमत्वं कुर्वतस्तस्य देवदेवस्य धीमतः ।
न तत्र म्रियते कश्चिज्जायते वा तथाच्युत ॥३६॥

देवों के देव, महा बुद्धिमान् भगवान विष्णु के यम का कार्य करने पर न तो कोई मरता था और न कोई उत्पन्न ही होता था ॥३६॥

वर्द्धन्ते पक्षिसङ्घाश्च तथा पशुगवेड़कम् ।
गजाश्वश्च मृगाश्चैव सर्वे ते पिशिताशनाः ॥३७॥

उस समय पक्षियों के समूह, गाय, भेड़ आदि पशु, हाथी घोड़े, मृग, और मांसाहारी जन्तु बढ़ने लगे ॥२७॥

तथा पुरुषशार्दूल मानुषाश्च परन्तप ।
सहस्रशो ह्ययुतशो वर्द्धन्ते सलिलं यथा ॥३८॥

हे परन्तप ! राजन् ! उस समय मनुष्य, हजार, दश हजार की संख्या में पानी के प्रवाह की तरह बढ़ते जा रहे थे ॥३८॥

एतस्मिन् सङ्कुले तात वर्तमाने भयङ्करे ।
अतिभाराद्वसुमति योजनानां शतङ्गता ॥३६॥

हे तात ! इस प्रकार जब पृथिवी पर बड़ा भारी भीड़ भड़क्का हो गया, और भयानक समय उपस्थित हुआ, तो पृथिवी अत्यन्त बोझे के भार से सौ योजन नीचे चली गई ॥३६॥

सा वै व्यथितसर्वाङ्गी भारेणाक्रान्तचेतना ।
नारायणं वरं देवं प्रपन्ना शरणं गता ॥४०॥

इस भार से इस भूमि का सारा अङ्ग पीड़ित हो गया था और चेतना चली सी गई थी । इस समय यह बड़े नम्र भावसे भगवान् विष्णु की शरण में पहुंची ॥४०॥

पृथिव्युवाच ।

भगवस्तत्प्रसादाद्धितिष्ठेयं सुचिरन्त्विह ।
भारेणास्मि समाक्रान्ता न शक्नोमि स्म वर्तितुम्॥४१।

पृथिवी कहने लगी—हे भगवन् ! मैं आपके अनुग्रह से ही बहुत काल से ठहरी हुई हूं। अब मैं भार से दबी जा रही हूं और ठहर नहीं सकती हूं ॥४१॥

ममेमं भगवन् भारं व्यपनेतुं त्वमर्हसि ।
शरणा गतास्मि त्व देव प्रसादं कुरु मे विभो॥४२॥

हे भगवन् ! आप मेरे इस भार को दूर कीजिए, मैं तुम्हारी शरण में हूं, आप कृपा करें ॥४२॥

तस्यास्तद्वचनं श्रुत्वा भगवानक्षरः प्रभुः ॥
प्रोवाच वचनं हृष्टः श्रव्याक्षरसमीरितम् ॥४३॥

पृथिवी के वचनों को सुन कर वेदात्मा, भगवान् विष्णु प्रसन्न होकर सुनने योग्य वचन बोले ॥४३॥

विष्णुरुवाच ।

न ते मद्धि भयं कार्य्यं भारार्त्ते वसुधारिणि ।
अहमेवं तथा कुर्मि यथा लघ्वी भविष्यसि ॥४४॥

हे भार से व्याकुल, वसुन्धरे ! तुमको मुझसे भय नहीं मानना चाहिए । अब मैं वैसा ही करूंगा, जिससे तुम्हारा भार हल्का हो जावेगा ॥४४॥

लोमश उवाच —

स तां विसर्ज्जयित्वा तु वसुधाँ शैलकुण्डलाम्
ततो वराहः संवृत्त एकश्रृङ्गो महाद्युतिः ।
रक्ताभ्यां नयनाभ्यां तु भयमुत्पादयन्निव ॥४५॥
धूमञ्च ज्वलयन् लक्ष्म्या तत्र देशे व्यवर्द्धत ।

लोमश ने कहा—भगवान् विष्णु, पर्वतों से व्याप्त पृथिवी को छोड़कर एक सींग धारी, बड़े कान्तिमान् वराह बन गए, जो अपने लाल २ नेत्रों से जगत् को भयभीत बना रहे थे और अपने चमकीले शरीर से तेज का धुंआ सा छोड़ रहे थे ॥४५॥

स गृहीत्वा वसुमतीं श्रृङ्गेणैकेन भास्वता ॥४६॥
योजननां शतं वीर समुद्धरति सोऽच्चरः ।
तस्याश्चोद्धार्य्यमाणायां संक्षोभः समजायत॥४७॥

हे वीर ! भगवान् वराह अपने चमकीले एक सींग पर पृथिवी को धारण करके सौ योजन नीचे से ऊपर उठा लाए । इसके ऊपर उठाने के समय बड़ी हलचल मच गई ॥४६-४७॥

देवाः सङ्क्षुभिता : सर्वे ऋषयश्चतपोधनाः ।
हाहा भूतमभूत सर्वं त्रिदिवं व्योम भूस्तथा ॥४८॥
न पर्यवस्थितः कश्चिद्देवो वा मानुषोऽपि वा ।

सारे देवता और तपोधन महर्षि, व्याकुल होगए तथा स्वर्ग, अन्तरिक्ष और भूलोक में हा हा कार मचगया। उस समय कोई भी देव या मनुष्य ऐसा नहीं था, जो कम्पायमान न हुआ हो ॥४८॥

ततो ब्रह्माणमासीनं ज्वलमानमिव श्रिया ॥४९॥
देवाः सर्षिगणाश्चैव उपतस्थुरनेकशः ।

अपने दिव्य तेज से देदीप्यमान ब्रह्मा जी के पास ऋषि गणों के साथ बहुत से देवता पहुंचे ॥४९॥

उपसर्प्य च देवेशं ब्रह्माणं लोकसाक्षिकम् ॥५०॥
भूत्वा प्राञ्जलय सर्वे वाक्यनुच्चारयंस्तदा ।

ये सारे देव लोक के रचने वाले, देवों के स्वामी, ब्रह्माजी के पास पहुंच कर हाथ जोड़ते हुए, ये वचन, कहने लगे ॥५०॥

लोकाः संक्षुभिताः सर्वे व्याकुलश्चः चराचरम् ॥५१॥
समुद्राणाञ्च सङ्क्षोभस्त्रिदशेश प्रकाशते ।
सैषा वसुमती कृत्स्ना योजनानां शतं गता ॥५२॥

हे देवेश्वर! सारे लोक व्याकुल हो उठे हैं और स्थावर, जंगम सारी सृष्टि व्याकुल है तथा समुद्र में भी उथल पथल मच गई है और यह सारी पृथिवी सौ योजन नीचे घुस चुकी है ॥५१-५२॥

महाभारत चित्र संख्या ३७

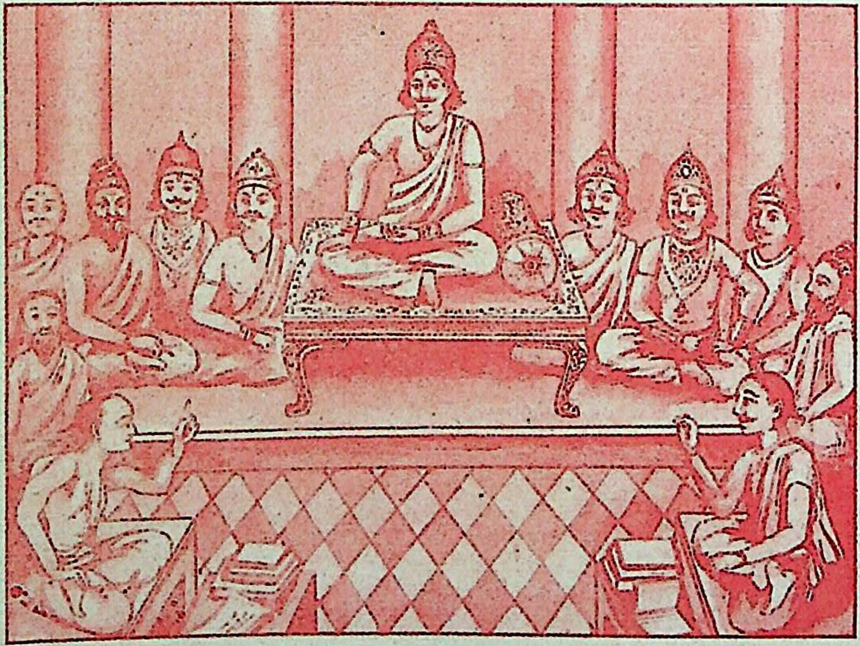

राजर्षि जनक की राज सभा में राज-पंडित वंदी और अष्टावक्र का शास्त्रार्थ
महाभारत वनपर्व अध्याय १३४--७ पृष्ठ २०

किमेतत् किं प्रभावेन येनेदं व्याकुलं जगत् ।
आख्यातु नो भवान् शीघ्रं विसंज्ञाः स्मेह सर्वशः ॥५३

यह क्या बात है और किस के प्रभाव से यह जगत् व्याकुल हो रहा है ? आप मुझे शीघ्र बताइये, मैं इस समय अचेतन सा हो रहा हूं ॥५३॥

ब्रह्मोवाच—

असुरेभ्यो भयं नास्ति युष्माकं कुत्रचित् क्वचित् ।
श्रूयत यतां कृते त्वेष सङ्क्षोभो जायतेऽमराः ॥५४॥

ब्रह्मा जो बोले—हे देवो ! इस समय तुमको असुरों से भय नहीं है। जिस कारण से हलचल खड़ी हो गई है, वह मैं तुमको सुनाता हूं ॥५४॥

योऽसौ सर्वत्रगः श्रीमानक्षरात्मा व्यवस्थितः ।
तस्य प्रभावात् सङ्क्षोभस्त्रिदिवस्य प्रकाशते ॥५५॥

अविनाशी, सर्वव्यापी, भगवान् विष्णु के ही प्रभाव से स्वर्ग में यह हलचल मच रही है ॥५५॥

यैषा वसुमती कृत्स्ना योजनानां शतं गता ।
समुद्धृता पुनस्तेन विष्णुना परमात्मना ॥५६॥

जो यह पृथिवी सौ योजन नीचे को धस गई थी, आज उसका परमात्म स्वरूप भगवान् विष्णुने फिर उद्धार किया है॥५६॥

तस्यामुद्धार्य्यमाणायां संक्षोभः समजायत ।
एवं भवन्तो जानन्तु छिद्यतां संशयश्च वः ॥५७॥

उसके उद्धार के कारण ही यह सारी व्याकुलता बढ़ी है। अब तुम इस रहस्य को जान चुके, इससे तुम्हारा संशय नष्ट हो जाना चाहिए ॥५७॥

देवाऊचुः—

क्व तद्भूतं वसुमतीं समुद्धरति हृष्टवत् ।
तं देशं भगवन् ब्रूहि तत्र यास्यामहे वयम् ॥५७॥

देवता बोले—वह प्राणी या रूप कहां है, जिसने प्रसन्नतापूर्वक इस पृथिवी का उद्धार किया है। हमको आप उस प्रदेश का पता बताइये, हम लोग वहां जावेंगे ॥५८॥

ब्रह्मोवाच—

हन्त गच्छत भद्रं वो नन्दने पश्यत स्थितम् ।
एषोऽत्र भगवान् श्रीमान् सुपर्णः सम्प्रकाशते ॥५९॥

ब्रह्माजी कहने लगे—बड़ी अच्छी बात है, आप लोग जावो और नन्दन वन में भगवान् के इस रूप को देखो। उस जगह भगवान् कान्ति युक्त, बड़े वेग-शाली वराह रूप को धारण किये हुए खड़े हैं ॥५९॥

वाराहेणैव रूपेण भगवान् लोकभावनः ।
कालानल इवाभाति पृथिवीतलमुद्धरन् ॥६०॥

संसार के रचयिता भगवान् वारह रूप में स्थित हैं। इस समय पृथ्वी का उद्धार करते हुए, कालाग्नि के समान देदीप्यमान हो रहे हैं ॥ ६० ॥

एतस्योरसि सुव्यक्तं श्रीवत्समभिराजते ।
पश्यध्वं विबुधाः सर्वे भूतमेतदनामयम् ॥६१॥

उनके हृदय में स्पष्ट श्रीवत्स का चिह्न दिखाई दे रहा है। तुम सारे देवता उनके दर्शन करो, यही सर्वोत्तम भगवान् का वह रूप है ॥ ६१ ॥

लोमश उवाच —

ततो दृष्ट्वा महात्मानं श्रुत्वा चामन्त्र्या चामराः।
पितामहं पुरस्कृत्य जग्मुर्देवा यथागतम् ॥ ६२॥

लोमश बोले—हे राजन्! यह सुनकर देवता वहाँ पहुँचे और उन महात्मा वराह के दर्शन करके, आज्ञानुसार ब्रह्माजी के साथ-साथ वापिस लौट गये ॥ ६२ ॥

वैशम्पायन उवाच—

श्रुत्वा तु तां कथां सर्वे पाण्डवा जनमेजय ।
लोमशादेशितेनाशु पथा जग्मुः प्रहृष्टवत् ॥६३॥

इति श्रीमहाभारत आरण्यपर्वणि तीर्थयात्रापर्वणि गन्धमादनप्रवेशे द्विचत्वारिंशदधिकशततमोऽध्यायः॥१४२॥

वैशम्पायन बोले—हे जनमेजय! सारे पाण्डव इस कथा को सुनकर बड़े प्रसन्न हुए और लोमश ऋषि के बताये हुए मार्ग से फिर आगे चल दिये ॥ ६३ ॥

इति श्रीमहाभारत वनपर्वान्तर्गत तीर्थ-यात्रा-पर्व में गन्धमादन पर्वत के प्रवेश का एक सौ बयालीसवाँ अध्याय पूरा हुआ

एक सौ तेतालीसवां अध्याय

वैशम्पायन उवाच —

ते शूरास्ततधन्वानस्तूणवन्तः समार्गणाः ।
बद्धगोधाङ्गुलित्राणाः खड्गवन्तोमितौजसः ॥१॥
परिगृह्य द्विजश्रेष्ठान् ज्येष्ठाः सर्व धनुष्मताम् ।
पाञ्चालीसहिता राजन् प्रययुर्गन्धमादनम् ॥२॥

वैशम्पायन ने कहा—हे राजन्, धनुष चढ़ाये हुए, तूणीर और बाणधारी गोधा के चर्म से बने हुए अंगुलियों के कवच को धारण किये हुए, तलवार लिये हुए, सब धनुष-धारियों में उत्तम, अत्यन्त ओजस्वी, पाण्डव द्रौपदी के साथ गन्धमादन पर्वत को चल दिये ॥ १--२ ॥

सरांसि सरितश्चैव पर्वतांश्च वनानि च ।
वृक्षांश्च बहुलच्छायान् ददृशुर्गिरिमूर्द्धनि ॥३॥

इस पर्वतकी चोटी की भूमि पर इन्होंने सरोवर, नदी, पर्वत, वन और गहरी छाया के अनेक वृक्ष देखे ॥ ३ ॥

नित्यपुष्पफलान् देशान् देवर्षिगणसेवितान् ।
आत्मन्यात्मानमाधाय वीरा मूलफलाशिनः ॥४॥
चेरुरुच्चावचाकारान् देशान् विषमसङ्कटान् ।
पश्यन्तो मृगजातानि बहूनि विविधानि च ॥५॥

अपने आतमा को अन्तः प्रविष्ट करके, फलाहारी, वीर पाण्डव अनेक भांति के मृगों को देखते हुए, नित्य पुष्प और फलों से भरे हुए, देवर्षियों के गणों से सेवित, ऊँचे नीचे आकारधारी विषम और सिकुड़े हुए प्रदेशों में घूमने लगे ।। ४--५।।

ऋषिसिद्धामरयुतं गन्धर्वाप्सरसां प्रियम् ।
विविशुस्ते महात्मानः किन्नराचरितं गिरिम् ।।६।।

ये महात्मा पाण्डव,ऋषि,सिद्ध और देवों से युक्त गन्धर्व तथा अप्सराओं के प्रिय, किन्नरों के निवास-स्थान, गन्धमादन पर्वत पर पहुँचे ।।६।।

प्रविशत्स्वथ वीरेषु पर्वतं गन्धमादनम् ।
चण्डवातं महद्वर्षं प्रादुरासीद्विशाम्पते ।।७।।

हे राजन् ! इन वीर पाण्डवों के गन्धमादन पर्वत पर प्रवेश करने के समय बड़ी भारी आँधी के साथ महावृष्टि होने लगी ७

ततो रेणुः समुद्भूतः स पत्रबहुलो महान् ।
पृथिवीञ्चान्तरीक्षञ्च द्याञ्चैव सहसावृणोत् ।।८।।

इस आँधी में पत्ते और धूल उड़ने लगी। इस धूलि ने एकदम पृथिवी,अन्तरिक्ष और द्युलोक तक को ढक लिया ।। ८ ।।

न स्म प्रज्ञायते किञ्चिदावृते व्योम्नि रेणुना ।
न चापि शेकुस्तत् कर्त्तुमन्योन्यस्याभिभाषणम् ।।९।।

रेणु से आकाश के भर जाने पर कुछ भी दिखाई नहीं देता था। इस समय कोई एक-दूसरे से बात भी नहीं कर सकता था ।। ९ ।।

न चापश्यंस्ततोऽन्योऽन्यं तमसावृतचक्षुषः ।
आकृष्यमाणा वातेन साश्मचूर्णेन भारत ॥१०॥

हे भारत ! सब लोगों की आँखों में अँधेरा छा गया, इससे कोई भी एक दूसरे को नहीं देख पाता था । कंकर पत्थर से भरी हुई, हवा लोगों को इधर उधर खैंच रही थी ॥१०॥

द्रुमाणां वातभग्नानां पततां भूतलेऽनिशम् ।
अन्येषाञ्च महीजानां शब्दः समभवन्महान् ॥११॥

आंधी से टूटे हुए वृक्षों के लगातार भूमि पर गिरने से अन्य खड़े हुए, वृक्षों में भी बड़ा भारी शब्द हो रहा था ॥११॥

द्यौः स्वित् पतति किं भूमिर्दीर्य्यते पर्वतो नु किम् ।
इति ते मेनिरे सर्वे पवनेनापि मोहिताः ॥१२॥

तीव्र वायु के वेग से घबराये हुए, पाण्डव यह समझ रहे थे, कि आज आकाश (द्युलोक) गिर रहा है या भूमि और पर्वत फटने वाले हैं ॥१२॥

ते पथानन्तरान् वृक्षान् वल्मीकान् विषमाणि च ।
पाणिभिःपरिमार्गन्तो भीता वायोर्निलिल्यिरे ॥१३॥

इन्होंने मार्ग के समीप के वृक्ष वल्मीक और विषम प्रदेशों को अन्धेरे में हाथों से टटोल लिया और वे वायु से भयभीत होकर उनमें छुप गए ॥१३॥

ततः कार्मुकमादाय भीमसेनो महाबलः ।
कृष्णामादाय सङ्गम्य तस्थावाश्रित्य पादपम् ॥१४॥

महा-वली भीमसेन धनुष लिए हुए,द्रौपदी के पास गया और उसको लेकर वृक्ष के सहारे खड़ा होगया ॥१४॥

धर्म्मराजश्च धौम्यश्च निलिल्याते महावने ।
अग्निहोत्राण्युपादाय सहदेवस्तु पर्व्वतम् ॥१५॥
नकुलो ब्राह्मणाश्चान्ये लोमशश्च महातपाः ।
वृक्षानासाद्य सन्त्रस्तास्तत्र तत्र निलिल्यिरे॥ १६॥

धर्मराज युधिष्ठिर और पुरोहित धौम्य, अग्नि-होत्र के पात्र लेकर महा-वन में छुपे और सहदेव पर्वत पर चला गया । इसी तरह नकुल तथा अन्य ब्राह्मण और महर्षि लोमश, घबराकर जहां तहां वृक्षों की ओट में छुप गए॥ १५—१६॥

मन्दीभूते तु पवने तस्मिन्रजसि शाम्यति ।
महद्भिर्ज्जलधारौघैर्व्वर्षमभ्याजगाम ह ॥१७॥

जलवायु कुछ मन्दा पड़ा और धूल मिट्टी का उड़ना शान्त हो गया, तो वड़ी मूसलधार वर्षा होने लगी ॥१७॥

भृशं चटचटाशब्दो वज्राणां क्षिप्यतामिव ।
ततस्ताश्चञ्चलाभासश्चेरुरभ्रेषु विद्युतः ॥१८॥

इस समय वज्र चलने के समान चटा-चट शब्द हो रहा था और वादलों में लपक झपक कर विजली चमक रही थी ॥१८॥

ततोऽश्मसहिता धाराः संवृण्वत्यः समन्ततः ।
प्रपेतुरनिशं तत्र शीघ्रवातसमीरिताः ॥१९॥

इसके अनन्तर चारों ओर से घेरती हुई, तीव्र वायु के साथ ओले सहित महा-वर्षा पड़ने लगी ॥१९॥

तत्र सागरगा ह्यापः कीर्य्यमाणाः समन्तत ।
प्रादुरासन् सकलुषाः फेनवत्यो विशांपते ॥२०॥

इस समय चारों ओर फैला हुआ। जल,समुद्र-गामिनी नदियों का आकार धारण करने लगा। ये नदियां मैले झागों से भरी हुई वह रही थी ॥२०॥

वहन्त्यो वारि बहुलं फेनोडुपपरिप्लुतम् ।
परिसस्रुर्महाशब्दाः प्रकर्षन्तो महीरुहान् ॥२१॥

बड़े २ वृक्षों को उखाड़तो और तीव्र शब्द करती हुई झागों को नौका के समान धारण करने वाली, नदियां वहुत से जल को लेकर वहने लगी ॥२१॥

तस्मिन्नुपरते शब्दे वाते च समतां गते ।
गते ह्यम्भसि निम्नानि प्रादुर्भूते दिवाकरे ॥२२॥
निर्ज्जग्मुस्ते शनैः सर्वे समाजग्मुश्च भारत ।
प्रतस्थिरे पुनर्वीराः पर्वतं गन्धमादनम् ॥२३॥

इति महाभारत आरण्यपर्वणि तीर्थयात्रा-
पर्वणि गन्धमादनप्रवेशे त्रिचत्वारिंशद-
धिकशततमोध्यायः ॥१४३॥

हे भारत ! जव वह शब्द ठण्डा पड़ गया,वायु ठीक २ चलने लगा, पांनी नीचे को उतर गया और सूर्य निकल आया, तव ये वीर पाण्डव भी, धीरे २ निकले और आगे को गन्धमादन पर्वत की ओर चल दिए ॥२२-२३॥

इति श्रीमहाभारत वनपर्वान्तर्गत तीर्थ-यात्रा-पर्व में
गन्धमादन पर्वत के प्रवेश का एक सौ
तेतालीसवां अध्याय पूरा हुआ।

एक सौ चवांलीसवां अध्याय

वैशम्पायन उवाच—

क्रोशमात्रं प्रयातेषु पाण्डवेषु महात्मसु ।
पद्भ्यामनुचिता गन्तुं द्रौपदी समुपाविशत् ॥१॥

वैशम्पायन वोले—हे राजन्! महावीर पाण्डव एक कोश ही गए होंगे, कि पैदल चलने के अयोग्य द्रौपदी थक कर बैठ गई ॥१॥

श्रान्ता दुःखपरीता च वातवर्षेण तेन च ।
सौकुमार्य्याच्च पाञ्चाली संमुमोह तपस्विनी ॥२॥

यह वेचारी द्रौपदी, थक जाने, वायु और वर्षा से क्लेशित तथा कोमल अङ्ग वाली होने से बड़ी ही व्याकुल होगई ॥२॥

सा कम्पमाना मोहेन बाहूभ्यामसितेक्षणा ।
वृत्ताभ्यामनुरूपाभ्यामूरू समवलम्बत॥३॥

काली २ आंखों वाली, द्रौपदी, इस व्याकुलता से कांपने लगी और इसने अपने गोल सुन्दर वाहुओं से अपनी ही जङ्घाओं का आसरा लिया ॥३॥

आलम्बमाना सहितावूरू गजकरोपमौ ।
पपात सहसा भूमौ वेपन्ती कदली यथा ॥४॥

हाथी के सूंड के समान गोल जंघाओं का आश्रय लेते ही द्रौपदी, कांपती हुई केले के तुल्य अचानक भूमि पर गिर पड़ी ॥४॥

तां पतन्तीं वरारोहां भज्यमानां लतामिव ।
नकुलः समभिद्रुत्य परिजग्राह वीर्य्यवान् ।।५ ।।

टूटी हुई लता के समान गिरती हुई, सुन्दरी द्रौपदी को देखकर बलवान् नकुल ने दौड़ कर उसको थाम लिया ।।५।।

नकुल उवाच—

राजन् पाञ्चालराजस्य सुतेयमसितेक्षणा ।
श्रान्ता निपतिता भूमौ तामवेक्षस्व भारत ।।६।।

नकुल बोला—हे भारत, यह सुन्दर, नेत्रों वाली, पाञ्चालराज की पुत्री द्रौपदी थक कर भूमि पर गिरी जा रही है, आप जरा इसकी ओर देखो ।।६।।

अदुःखार्हा परं दुःखं प्राप्तेयं मृदुगामिनी ।
आश्वासय महाराज तामिमां श्रमकर्षिताम् ।।७।।

हे महाराज, थोड़े चलने पर ही थक जाने वाली, दुखों के अयोग्य, यह द्रौपदी बड़ा दुःख पा रही है। अब तुम इस थकी हुई को कुछ सान्त्वना दो।।७।।

वैशम्पायन उवाच—

राजा तु वचनात्तस्य भृशदुःखसमन्वितः ।
भीमश्च सहदेवश्च सहसा समुपाद्रवत् ।।८।।

वैशम्पायन बोले—हे राजन्! राजा युधिष्ठिर, यह वचन सुन कर अत्यन्त दुःखी हुआ। इसी क्षण भीमसेन और सहदेव द्रौपदी की ओर दौड़े ।।८।।

तामवेक्ष्य तु कौन्तेयो विवर्णवदनां कृशाम् ।
अङ्कमानीय धर्मात्मा पर्यदेवयदातुरः ॥६॥

राजा युधिष्ठिर ने दुर्बल और व्याकुल द्रौपदी को देख कर अपनी गोद में उठा लिया और अब वह बड़ा व्याकुल होकर चिन्ता करने लगा ॥६॥

युधिष्ठिर उवाच—

कथं वेश्मसु गुप्तेषु स्वास्तीर्णशयनोचिता ।
भूमौ निपतिता शेते सुखार्हा वरवर्णिनी ॥१०॥

युधिष्ठिर बोले—हाय ? यह बड़े ही दुःख की बात है, कि जो द्रौपदी राजपुरुषों से रक्षित, महलों में उत्तम बिस्तरों से युक्त, शय्या पर सोने के उचित है, वही सुख के योग्य सुन्दरी द्रौपदी आज भूमि में सो रही है ॥१०॥

सुकुमारौ कथं पादौ मुखञ्च कमलप्रभम् ।
मत्कृतेऽद्य वरार्हायाः श्यामतां समुपागतम् ॥११॥

इसके कितने कोमल चरण हैं। मुख कमल सा कोमल है। इस सुन्दरी का यह मुख मेरे कारण से ही कुम्हलाया है ॥११॥

किमिदं द्यूतकामेन मया कृतमबुद्धिना ।
आदाय कृष्णाश्चरता वने मृगगणायुते ॥१२॥

मुझ मूर्ख ने जुआ खेलकर क्या लिया, जो हिंसक जन्तुओं से हुए वन में द्रौपदी के साथ रहा हूँ ॥१२॥

सुखं प्राप्स्यति कल्याणी पाण्डवान् प्राप्य वै पतीन् ।
इति द्रुपदराजेन पित्रा दत्तायतेक्षणा ॥१३॥

इस विशाल नेत्र वाली, द्रौपदी के पिता द्रुपद ने तो इस आशा से प्रदान की थी, कि यह कल्याणी पाण्डवों को पति पाकर सुखी हो जावेगी ॥१३॥

तत्सर्वमनवाप्येयं श्रमशोकाध्वकर्षिता ।
शेते निपतिता भूमौ पापस्य मम कर्मभिः ॥१४॥

वे सब कुछ सुख इसको प्राप्त नहीं हुए और आज यह मार्ग की थकावट और शोक के कारण मुरझा रही है। यह मुझ पापी की करतूतों से ही आज भूमि में अचेत पड़ी हुई है ॥१४॥

वैशम्पायन उवाच —

तथा लालप्यमाने तु धर्मराजे युधिष्ठिरे ।
धौम्यप्रभृतयः सर्वे तत्राजग्मुर्द्विजोत्तमाः ॥१५॥

वैशम्पायन ने कहा—हे राजन, जिस समय धर्मराज युधिष्ठिर इस प्रकार विलाप कर रहे थे, उसी समय धौम्य आदि ब्राह्मण वहाँ आ पहुँचे ॥१५॥

ते समाश्वासयामासुराशीर्भिश्चाप्यपूजयन् ।
रक्षोघ्नांश्च तथा मन्त्रान् जेपुश्चक्रुश्च ते क्रिया ॥१६॥

इन ब्राह्मणों ने राजा युधिष्ठिर को आश्वासन दिया और आशीर्वादों से सन्तुष्ट किया। इन्होंने राक्षसों के नाश के मन्त्रों का जपना आरम्भ किया और उसी के अनुसार याज्ञिक क्रिया करने लगे ॥१६॥

पठ्यमानेषु मन्त्रेषु शान्त्यर्थं परमर्षिभि : ।
स्पृश्यमाना करैः शीतैः पाण्डवैश्च मुहुर्मुहुः ॥१७॥

ये महर्षि, शान्ति के लिए मन्त्र-पाठ करने लगे। इस समय पाण्डव बार २ शीतल हाथों से द्रौपदी को छू रहे थे ॥१७॥

सेव्यमाना च शीतेन जलमिश्रेण वायुना ।
पाञ्चाली सुखमासाद्य लेभे चेतः शनैः शनैः ॥१८॥

जल की बूंदों से युक्त, शीतल वायु आकर द्रौपदी की सेवा करने लगा, जिससे द्रौपदी को बड़ा सुख प्राप्त हुआ और वह धीरे-धीरे चेत में आने लगी ॥१८॥

परिगृह्य च तां दीनां कृष्णामजिनसंस्तरे ।
पार्था विश्रामयामासुर्लब्धसंज्ञां तपस्विनीम् ॥१९॥

जब तपस्विनी बेचारी द्रौपदी सचेत होगई, तो पाण्डवों ने उस क्लेशित द्रौपदी को उठाकर मृगचर्म पर लिटा दिया ॥१९॥

तस्या यमौ रक्ततलौ पादौ पूजितलक्षणौ ।
कराभ्यां किणजाताभ्यां शनकैः संववाहतुः ॥२०॥

इस द्रौपदी के लाल तलुवे वाले, सुन्दर लक्षणों से युक्त, चरणों को, धनुष की डोरी के आघात से चिह्नित, दोनों हाथों से नकुल और सहदेव दाबने लगे ॥ २० ॥

पर्य्याश्वासयदप्येनां धर्मराजो युधिष्ठिरः ।
उवाच च कुरुश्रेष्ठो भीमसेनमिदं वचः ॥२१॥

राजा युधिष्ठिर ने द्रौपदी को आश्वासन दिया और वे फिर भीमसेन से यह वचन कहने लगे ॥ २१ ॥

बहवः पर्वता भीम विषमा हिमदुर्गमाः ।
तेषु कृष्णा महाबाहो कथं नु विचरिष्यति ॥२२॥

हे भीमसेन ! यहाँ तो वर्फ से दुर्गम ऊँचे नीचे बहुत से पर्वत आवेंगे । हे महाबाहो ! उनमें यह द्रौपदी कैसे चल सकेगी ।२२

भीमसेन उवाच —

त्वां राजन्राजपुत्रींश्च यमौ च पुरुषर्षभौ ।
स्वयं नेष्यामि राजेन्द्र मा विषादे मन कृथाः । २३॥

भीमसेन ने कहा—हे राजेन्द्र ! मैं तुम्हें, द्रौपदी, नरश्रेष्ठ नकुल और सहदेव सब को उठाकर कन्धों पर लेलूँगा । तुम कुछ चिन्ता न करो ॥ २३ ॥

हैडिम्बश्च महावीर्य्यो विहगो मद्बलोपमः ।
वहेदनघ सर्वान्नो वचनात्ते घटोत्कचः ॥२४॥

हे महानुभाव,हिडिम्बा का पुत्र, महा-बली,आकाश-चारी, मेरे समान ही पराक्रमी,घटोत्कच आपकी आज्ञा होते ही हम सबको उठा ले चलेगा ॥ २४ ॥

वैशम्पायन उवाच —

अनुज्ञातो धर्म्मराज्ञा पुत्रं सस्मार राक्षसम् ।
घटोत्कचस्तु धर्मात्मा स्मृतमात्रः पितुस्तदा॥२५॥
कृताञ्जलिरुपातिष्ठदभिवाद्याथ पाण्डवान् ।
ब्राह्मणांश्च महाबाहुः स च तैरभिनन्दितः ॥ २६ ॥

वैशम्पायन कहने लगे—धर्मराज ने भीमसेन को आज्ञा दे दी। भीम ने अपने पुत्र घटोत्कच, को याद किया। पिता के स्मरण करते ही महावली धर्मात्मा घटोत्कच, हाथ जोड़कर सामने आया और ब्राह्मणों के सहित पाण्डवों को प्रणाम करने लगा। इन सब ने उसे आशीर्वाद दिया ॥ २५-२६ ॥

उवाच भीमसेनश्च पितरं भीमविक्रमम्।
स्मृतोऽस्मि भवता शीघ्रं शुश्रूषुरहमागतः ॥२७॥
आज्ञापय महावाहो सर्वं कर्त्तास्म्यसंशयम्।
तच्छ्रुत्वा भीमसेनस्तु राक्षसं परिषस्वजे ॥२८॥

इतिश्री महाभारत आरण्यपर्वणि तीर्थयात्रापर्वणि गन्धमादनप्रवेशे चतुश्चत्वारिंशदधिकशततमोऽध्यायः ॥१४५॥

घटोत्कच पराक्रमी पिता, भीमसेन से बोला—हे महावाहो! आपने मुझे याद किया है। मैं आपकी सेवा के लिए यहाँ आ पहुँचा हूँ। अब आप आज्ञा दीजिये, मैं सब कुछ पूरा करूँगा-यह सुनकर भीमसेन ने अपने पुत्र, घटोत्कच राक्षस का आलिङ्गन किया ॥ २८ ॥

इति श्री महाभारत वनपर्वान्तर्गत तीर्थयात्रापर्व में गन्धमादन पर्वत के प्रवेश का एक सौ चवालीसवाँ अध्याय पूरा हुआ।

एक सौ पैंतालीसवां अध्याय

युधिष्ठिर उवाच—

धर्म्मज्ञो बलवान् शूरः सत्यो राक्षसपुङ्गवः ।
भक्तोऽस्मानौरसः पुत्रो भीम गृह्णातु माचिरम् ॥१॥

युधिष्ठिर ने कहा—हे भीम ! यह राक्षसश्रेष्ठ घटोत्कच बड़ा धर्मात्मा, शूरवीर, बलवान् और सत्यप्रतिज्ञ है। यह हमारा भक्त और तेरा सुपुत्र है। अब यह हम सब को उठा लेवे, देर न करे ॥ १ ॥

तव बाहुबलेनाहमतिभीमपराक्रम ।
अक्षतः सह पाञ्चाल्या गच्छेयं गन्धमादनम् ॥२॥

हे भयानक पराक्रम करने वाले भीम ! मैं तेरे बाहुओं के बल से हीं द्रौपदी के साथ-साथ बिना किसी कष्ट के गन्धमादन पर्वत पर पहुँच जाऊँगा ॥ २ ॥

वैशम्पायन उवाच—

भ्रातुर्वचनमाज्ञाय भीमसेनो घटोत्कचम् ।
आदिदेश नरव्याघ्रस्तनयं शत्रुकर्षणम् ॥३॥

वैशम्पायन बोले—अपने भाई राजा युधिष्ठिर के वचन सुनकर नरश्रेष्ठ भीमसेन शत्रु-विजयी अपने पुत्र घटोत्कच से कहने लगा ॥ ३ ॥

भीमसेन उवाच—

हैडिम्बेय परिश्रान्ता तव मातापराजिता ।
त्वञ्च कामगमस्तात बलवान् वह तां खग ॥४॥

हे तात ! हिडिम्बा के पुत्र घटोत्कच, महाभागा यह तुम्हारी माता (द्रौपदी) थक गई है। तुम तो बलवान् और अपनी कामना के अनुसार उड़ने वाले हो। हे आकाश-चारिन् ! अब तुम इसको उठालो ॥ ४ ॥

स्कन्धमारोप्य भद्रन्ते मध्येऽस्माकं विहायसा ।
गच्छ नीचिकया गत्या यथा चैनां न पीडयेः ॥५॥

हे घटोत्कच, तुम्हारा कल्याण हो, तुम इसको अपने कंधों पर चढ़ाकर नीची चाल द्वारा आकाश-मार्ग से ले चलो, किसी तरह इसको कोई पीड़ा न हो सके ॥ ५ ॥

घटोत्कच उवाच—

धर्म्मराजश्च धौम्यश्च कृष्णाश्च यमजौ तथा ।
एकोऽप्यहमलं वोढुं किमुताद्य सहायवान् ॥६॥

घटोत्कच बोला—हे महाराज ! मैं, धर्मराज, धौम्य पुरोहित, द्रौपदी, नकुल और सहदेव इन सब को अकेला ही उठाकर चल सकता हूँ, जिस पर तो आज मैं सहायता से युक्त हूँ ॥ ६ ॥

अन्ये च शतशः शूरा विहगाः कामरूपिणः ।
सर्वान् वो ब्राह्मणैः सार्द्धं वक्ष्यन्ति सहितानघा॥७॥

मेरे साथ आकाशचारी, कामना के अनुसार रूप धारण करने वाले सैकड़ों शूरवीर हैं। हे महाभाग ! वे तुम सबको ब्राह्मणों के साथ-साथ अपने कंधों पर उठा लेंगे ॥ ७ ॥

एवमुक्त्वा ततः कृष्णामुवाह स घटोत्कचः ।
पाण्डुनां मध्यगो वीरः पाण्डवानपि चापरे ॥८॥

यह कहकर द्रौपदी को घटोत्कच ने उठा लिया। यह वीर घटोत्कच पाण्डवों के मध्य में चल रहा था और अन्य राक्षसोंने पाण्डवों को उठा लिया॥ ८॥

लोमशः सिद्धमार्गेण जगामानुपमद्युतिः ।
स्वेनैव सप्रभावेण द्वितीय इव भास्करः॥६॥

अतितेजस्वी, महर्षि लोमश, सिद्ध मार्ग से उड़कर चले गये। ये अपने प्रभाव से द्वितीय सूर्य के समान तेजस्वी थे॥६॥

ब्राह्मणांश्चापि तान् सर्वान् समुपादाय राक्षसाः ।
नियोगाद्राक्षसेन्द्रस्य जग्मुर्भीमपराक्रमाः ॥१०॥

अन्य ब्राह्मणों को लेकर राक्षसराज घटोत्कच की आज्ञा से अन्य महापराक्रमी राक्षस, आगे चल दिये॥ १०॥

एवं सुरमणीयानि वनान्युपवनानि च ।
आलोकयन्तस्ते जग्मुर्विशालां बदरीं प्रति ॥११॥

इस प्रकार सुन्दर वन वगीचे देखते हुए, ये सब लोग, विशाल बदरी के वृक्ष के समीप पहुँच गये॥ ११॥

ते त्वाशुगतिभिर्वीरा राक्षसैस्तैर्महाजवैः ।
उह्यमाना ययुः शीघ्रं महदध्वानमल्पवत् १२॥

ये वीर पाण्डव भी, शीघ्रगामी, महावेगशील, राक्षसों के ऊपर सवार होकर चल दिये। इनको यह बड़ा लम्बा मार्ग भी छोटा ही प्रतीत हुआ॥ १२॥

देशान् म्लेच्छजनाकीर्णान्नानारत्नाकरायुतान् ।
ददृशुर्गिरिपादांश्च नानाधातुसमाचितान् ॥१३॥

म्लेच्छ जनों से व्याप्त, अनेक रत्नों की खानों से युक्त, यह प्रदेश तथा नाना भांति के धातुओं से समन्वित, नाना प्रकारके पर्वत प्रदेशों को ये लोग देखने लगे ॥ १३ ॥

विद्याधरा समाकीर्णान् युतान् वानरकिन्नरैः ।
तथा किम्पुरुषैश्चैव गन्धर्वैश्च समन्ततः ॥१४॥

यह प्रदेश, विद्याधरों से भरा हुआ, वानर और किन्नर देवयोनियों से युक्त, अनेक यक्ष और गन्धर्वों से परिपूर्ण था ॥१४॥

मयूरैश्चमरैश्चैव वानरैरुरुभिस्तथा ।
वराहैर्गवयैस्श्चैव महिषैश्च समावृतान् ॥१५॥

यह पर्वत मयूर, चमरी, वानर, हरिण. वराह गवय और भैंसों से सुशोभित था ॥ १५ ॥

नदीजालसमाकीर्णान्नानापक्षियुतान् बहून् ।
नानाविधमृगैर्जुष्टान् वानरैश्चोपशोभितात् ॥१६॥

नदियों के समूह से व्याप्त, अनेक भांति के पक्षियों से समन्वित, नाना प्रकार के मृगों से भरे हुए और वानरों से सुशोभित, यह स्थान था ॥ १६॥

समदैश्चापि विहगैः पादपैरन्वितांस्तथा ।
तेऽवतीर्य्य बहून् देशानुत्तरांश्च कुरूनपि ॥१७॥

ददृशुर्विविधाश्चर्यं कैलासं पर्वतोत्तमम् ।
तस्याभ्यासे तु ददृशुर्नरनारायणाश्रमम् ॥१८॥

इन्होंनेमदमें भरे हुए पक्षी और उत्तम-उत्तम वृक्षोंसे समन्वित उन बहुत से देशों का उल्लङ्घन करके उत्तर कुरु को देखा। यहीं पर बहुत से आश्चर्य से परिपूर्ण कैलाश पर्वत है। इसी के पास में नर नारायण नामक ऋषियों का स्थान है ॥ १७--१८ ॥

उपेतं पादपैर्दिव्यैः सदा पुष्पफलोपगैः ।
ददृशुस्ताश्चबदरीं वृतस्कन्धां मनोहराम् ॥१९॥

इन पाण्डवों न नित्य पुष्प और फलों से लदे हुए,उत्तम २ वृक्षों से युक्त, गोल २ टहनों वाली, उस मनोहर बदरीवृक्षके भी दर्शन किये ॥ १९ ॥

स्निग्धामविरलच्छायां श्रिया परमया युताम् ।
पत्रैः स्निग्धैरविरलैरुपेतां मृदुभिःशुभाम्॥२०॥
विशालशाखां विस्तीर्णामतिद्युतिसमन्विताम् ।
फलैरुपचितैर्दिव्यैराचितां स्वादुभिर्भृशम् ॥२१॥
मधुस्रवैः सदा दिव्यां महर्षिगणसेविताम् ।
मदप्रमुदितैर्नित्यं नानाद्विजगणैर्युताम् ॥२२॥

यह बदरी बड़ी, सुन्दर, गहरी छाया वाली, अतीव शोभा से युक्त, कोमल, चिकने, गहरे पत्तों से सुशोभित, विशाल शाखा वाली, फैली हुई, अत्यन्त चमकीली, मीठे २ दिव्य फलों से लदी हुई, दिव्य, महर्षि गण से सुसेवित, मद में भरे हुए अनेक भांति के पक्षियों से समन्वित थी॥ २०--२२॥

अदंशमशके देशे बहुमूलफलोदके ।
नीलशाद्वलसंछन्ने देवगन्धर्वसेविते ॥२३॥
सुसमीकृतभूभागे स्वभावविहते शुभे ।
जातां हिममृदुस्पर्शे देशेऽपहतकण्टके ॥२४॥

डांस मच्छरों से रहित, बहुत से फल मूल से युक्त, नीले घास से ढ़के हुए, देव गन्धर्वों से सुसेवित, स्वभाव से सुन्दर, कांटों से रहित, स्वल्प बर्फीले चौरस भूमार्ग पर यह बदरी खड़ी हुई थी ॥२३—२४॥

तामुपेत्य महात्मानः सह तैर्ब्राह्मणर्षभैः ।
अवतेरुस्ततः सर्वे राक्षसस्कन्धतः शनैः ॥२५॥

यह सारे महात्मा, उस बदरी के वृक्ष के समीप पहुंच कर ब्राह्मणों के साथ २ उन राक्षसों के कन्धे से उतरे ॥२५॥

ततस्तमाश्रमं रम्यं नरनारायणाश्रितम् ।
ददृशुः पाण्डवा राजन् सहिता द्विजपुङ्गवैः ॥२६॥

इसके अनन्तर नर नारायण संज्ञक ऋषियों के तप के स्थान, उस दिव्य आश्रम को ब्राह्मणोंके साथ २ सारे पाण्डवों ने देखा ॥२६॥

तपसा रहितं पुण्यमनामृष्टं रवेः करैः ।
क्षुत्तृट्शीतोष्णदोषैश्च वर्जितं शोकनाशनम् ॥२७॥

यह पवित्र आश्रम. अन्धकार से रहित था, यद्यपि यहां सूर्य की किरणें नहीं पहुंचती थी। भूख, प्यास, शीत, उष्ण, आदि

द्वन्द्वों के क्लेश से यह मुक्त था और दर्शन करने वाले के शोक का नाशक था ।।२७।।

महर्षिगणसम्बाधं ब्राह्म्या लक्ष्म्या समन्वितम् ।
दुष्प्रवेशं महाराज नरैर्धर्मबहिष्कृतैः ।।२८।।

यह महर्षियों के गुणों से भरा पड़ा था और ब्रह्म-सम्बन्धी ऐश्वर्य से युक्त था । जो मनुष्य धर्म हीन है, उनका इस आश्रम में प्रवेश नहीं हो सकता था ।।२८।।

बलिहोमार्चितं दिव्यं सुसंमृष्टानुलेपनम् ।
दिव्यपुष्पोपहारैश्च सर्वतोऽभिविराजितम् ।।२९।।

बलि और होम के साधनों से सम्पन्न, उत्तम रीति से लिपा पुता हुआ तथा दिव्य पुष्पों के गुच्छों से यह सजा हुआ था ।।२९।।

विशालैरग्निशरणैः स्रुग्भाण्डैराचितं शुभैः ।
महद्भिस्तोयकलशैः कठिनैश्चोपशोभितम् ।।३०।।

इसमें बड़ी विशाल अग्नि-होत्र शालाएं थी । स्रुक् आदि हवन पात्रों से समन्वित था एवं बड़े २ जल के कलशों तथा अन्य पात्रों से सुशोभित था ।।३०।।

शरण्यं सर्वभूतानां ब्रह्मघोषनिनादितम् ।
दिव्यमाश्रयणीयन्तमाश्रमं श्रमनाशनम् ।।३१।।

यह आश्रम, प्रत्येक प्राणी का रक्षक था । इसमें सर्वदा वेद-ध्वनि, सुनाई देती रहती थी । यह श्रम-नाशक आश्रम, बड़ा दिव्य और निवास करने के योग्य था ।।३१।।

श्रिया युतमनिर्देश्यं देवचर्य्योपशोभितम् ।
फलमूलाशनैर्दान्तैश्चारुकृष्णाजिनाम्बरैः ॥३२॥

यह इतनी शोभा से युक्त था, जिस का वर्णन नहीं हो सकता है। इस में मनुष्यों का आचार देवों के समान हो जाता था। यह फल मूल आदि के उत्तम २ भोजन और उत्तम २ कृष्ण मृगचर्म के वस्त्रों से प्रकाशमान हो रहा था ॥३२॥

सूर्यवैश्वानरसमैस्तपसा भावितात्मभिः ।
महर्षिभिर्मोक्षपरैर्यतिभिर्नियतेन्द्रियैः ॥३३॥
ब्रह्मभूतैर्महाभागैरुपेतं ब्रह्मवादिभिः ।

सूर्य और अग्नि के समान तेजस्वी, तप से देदीप्यमान, मोक्ष धर्म में तत्पर, जितेन्द्रिय, मन के वश करने वाले, ब्रह्मभूत, महानुभाव महर्षियों से यह दिव्य आश्रम देदीप्यमान था ॥३३॥

सोऽभ्यगच्छन्महातेजास्तानृषीन् प्रयतः शुचिः ॥३४
भ्रातृभिः सहितो धीमान् धर्मपुत्रो युधिष्ठिरः ।

नियमशील, पवित्रात्मा, महा तेजस्वी, बुद्धिमान् धर्मराज युधिष्ठिर, अपने भाइयों के साथ उन महर्षियों के पास पहुंचा ॥३४

दिव्यज्ञानोपपन्नास्ते दृष्ट्वा प्रप्तं युधिष्ठिरम् ॥३५॥
अभ्यगच्छन्त सुप्रीताः सर्व एव महर्षयः ।

ये महर्षि, दिव्यज्ञान से सम्पन्न थे। इन्होंने राजा युधिष्ठिर को आया हुआ जान कर, बड़ी प्रसन्नता प्रकट की और सारे मिलकर उनके स्वागत के लिए चल पड़े ॥३५॥

आशीर्वादान् प्रयुञ्जानाः स्वाध्यायनिरता भृशम् ३६
प्रीतास्ते तस्य सत्कारं विधिना पावकोपमाः ।
उपाजह्रुश्च सलिलं पुष्पमूलफलं शुचि ॥३७॥

ये वेद के स्वाध्याय में परायण, महर्षि, राजा युधिष्ठिर को आशीर्वाद देने लगे। अग्नि के समान तेजस्वी इन महर्षियों ने बड़ी प्रसन्नता से विधि-पूर्वक राजा का सत्कार किया और उसके लिए पवित्र २ जल, पुष्प, मूल और फलों को अतिथि सत्कार के रूप में समर्पण किया ॥३६—३७॥

स तैः प्रीत्याथ सत्कारमुपनीतं महर्षिभिः ।
प्रयतः प्रतिगृह्याथ धर्मराजो युधिष्ठिरः ॥३८॥

धर्मराज युधिष्ठिर ने भी महर्षियों द्वारा प्रीति पूर्वक समर्पित किए हुए सत्कार को बड़ी नम्रता या सावधानी से ग्रहण किया॥३८

तं शक्रसदनप्रख्यं दिव्यगन्धं मनोरमम् ,
प्रीतः स्वर्गोपमं पुण्यं पाण्डवः सह कृष्णया ३९
विवेश शोभया युक्तं भ्रातृभिश्च सहानघ ।
ब्राह्मणैर्वेदवेदाङ्गपारगैश्च सहस्रशः ॥४०॥

इसके अनन्तर इन्द्र के भवन के समान उज्ज्वल, दिव्य गन्धारी मनोहर, स्वर्ग के तुल्य सुखदायी, पवित्र, प्राकृतिक शोभा से सम्पन्न, गन्धमादन पर्वत के प्रदेशों में अपने भाई, द्रौपदी और वेद वेदाङ्ग के ज्ञाता ब्राह्मणों के साथ २ राजा युधिष्ठिर, बड़ी प्रसन्नता से प्रविष्ट हुए ॥३९—४०॥

तत्रापश्यत धर्मात्मा देवदेवर्षिपूजितम् ।
नरनारायणस्थानं भागीरथ्योपशोभितम् ॥४१॥

वहां धर्मराज ने देव और देवर्षियों से पूजित, भागीरथी, गङ्गा से सुशोभित, नर नारायण ऋषियों के स्थान के दर्शन किए ॥४१॥

पश्यन्तस्ते नरव्याघ्रा रेमिरे तत्र पाण्डवाः ।
मधुस्रवफलं दिव्यं ब्रह्मर्षिगणसेवितम् ॥४२॥

इसके देखते ही सारे पाण्डव आनन्द में निमग्न हो गये । यह आश्रम मधु के रस के समान मीठे, फलों से युक्त और ब्रह्मर्षियों के गुणों से सुशोभित था ॥४२॥

तदुपेत्य महात्मानस्तेऽवसन् ब्राह्मणैः सह ।
मुदा युक्ता महात्मानो रेमिरे तत्र ते तदा ॥४३॥

इस स्थान में पहुंचकर महात्मा पाण्डवों ने ब्राह्मणों के साथ वहां निवास किया और बड़े प्रमुदित हुए ॥४३॥

आलोकयन्तो मैनाकं नानाद्विजगणायुतम् ।
हिरण्य शिखरश्चैव तच्च विन्दुसरः शिवम् ॥४४॥

इन्होंने यहां अनेक भांति के पक्षियों से समन्वित, सुवर्ण की शिखर वाला मैनाक,पर्वत और कल्याण-कारी बिन्दुसर देखा ॥४४॥

तस्मिन् विहरमाणाश्च पाण्डवाः सह कृष्णया ।
मनोज्ञैः काननवरे सर्वर्त्तुकुसुमोज्ज्वले॥४५॥

सारी ऋतुओं के पुष्पों से उज्ज्वल, इस मनोहर वन में द्रौपदी के साथ २ पाण्डव घूमने लगे ॥४५॥

पादपैः पुष्पविकचैः फलभारावनामिभिः ।
शोभिते सर्वतो रम्यैः पुंस्कोकिलगणायुतैः ॥४६॥
स्निग्धपत्रैरविरलैः शीतच्छायैर्मनोरमैः ।
सरांसि च विचित्राणि प्रसन्नसलिलानि च ॥४७॥
कमलैः सोत्पलैश्चैव भ्राजमानानि सर्वशः ।
पश्यन्तश्चारुरूपाणि रेमिरे तत्र पाण्डवाः ॥४८॥

खिले हुए फूलों से लदे हुए और फलों के भार से झुके हुए, गहरे और चिकने पत्ते एवं शीतल छाया वाले, मनोहर वृक्ष और कोयलों के गान से सुशोभित, वन में कमल और उत्पलों से चमकीले, स्वच्छ जलधारी, अद्भुत सुन्दर सरोवरों को देखकर पाण्डव, बड़े ही आनन्दित हुए ॥४६—४८॥

पुण्यगन्धः सुखस्पर्शो ववौ तत्र समीरणः ।
ह्लादयन् पाण्डवान् सर्वान् द्रौपद्या सहितान् प्रभो ॥

हे राजन ! उत्तम-गन्ध-धारी, सुखदायी स्पर्श वाला, वायु, द्रौपदी के सहित पाण्डवों को प्रसन्न कर रहा था ॥४९॥

भागीरथीं सुतीर्थाश्च शीतां विमलपङ्कजाम् ।
मणिप्रवालप्रस्तारां पादपैरुपशोभिताम् ॥५०॥
दिव्यपुष्पसमाकीर्णां मनसः प्रीतिवर्द्धिनीम् ।
वीक्ष्यमाणा महात्मानो विशालां बदरीमनु ॥५१॥

इन्होंने बड़ी शीतल, विमल कमलों से अलंकृत प्रवाल तथा मणियों मे जटित, घाटों वाली, वृक्षों से सुशोभित, दिव्य पुष्पों से

परिपूर्ण, मन की प्रीति करने वाली, संसार से पार करने वाली, भागीरथी गङ्गा को उस विशाल वदरी के पास वहती देखा ५०-५१

तस्मिन् देवर्षिचरिते देशे परमदुर्गमे ।
भागीरथीपुण्यजले तर्पयाञ्चक्रिरे तदा ॥५२॥
देवानृषींश्च कौन्तेयाः परमं शौचमास्थिताः ।

देवर्षियों से सेवित, महा-दुर्गम इस देश में आकर पाण्डवों ने भागीरथी के पवित्र जल में पितर देव तथा ऋषियों का बड़ी पवित्रता के साथ तर्पण किया ॥५२॥

तत्र ते तर्पयन्तश्च जपन्तश्च कुरूद्वहाः ॥५३॥
ब्राह्मणैः सहिता वीरा ह्यवसन् पुरुषर्षभाः ।

ये कुरुवंश-श्रेष्ठ पाण्डव, उस स्थान पर तर्पण और जप करते हुए, ब्राह्मणों के सहित वहां निवास करने लगे ॥५३॥

कृष्णायास्तत्र पश्यन्तः क्रीड़ितान्यमरप्रभा ।
विचित्राणि नरव्याघ्रा रेमिरे तत्र पाण्डवाः ॥५४

इति श्रीमहाभारत आरण्यपर्वणि तीर्थयात्रा-
पर्वणि गंधमादनप्रवेशे पञ्चचत्वारिं-
शदधिकशततमोऽध्यायः ॥१४५॥

देवों के समान कान्तिधारी, नर-श्रेष्ठ पाण्डव, इस स्थान में द्रौपदी को भी प्रसन्न और आनन्द होते देखकर बड़े आनन्दित हुए ॥५४॥

इति श्रीमहाभारत वनपर्वान्तर्गत तीर्थ-यात्रा-पर्व में गन्धमादन पर्वत के प्रवेश का एक सौ पैंतालीसवां अध्याय समाप्त हुआ ।

एक सौ छियालीसवाँ अध्याय

वैशम्पायन उवाच—

तत्र ते पुरुषव्याघ्राः परमं शौचमास्थिताः ।
षड्रात्रमवसन् वीरा धनञ्जयदिदृक्षवः ॥१॥

वैशम्पायन बोले—हे राजन् ! इन पुरुष रत्न, वीर, पाण्डवों ने बड़ी पवित्रता के साथ अर्जुन के मिलने की इच्छा में वहां छः रात तक निवास किया ॥१॥

ततः पूर्वोत्तरो वायुः पवमानो यदृच्छया ।
सहस्रपत्रमर्काभं दिव्यं पद्ममुवाहरत् ॥२॥

इस समय पूर्व और उत्तर के कोने से निकले हुए, पवित्र वायु ने सहस्र पँखुड़ी वाले, सूर्य के समान दीप्तिमान्, दिव्य कमल को वहां अचानक ला डाला ॥२॥

तदवैक्षत पाञ्चाली दिव्यगन्धं मनोरमम् ।
अनिलेनाहृतं भूमौ पतितं जलजं शुचि ॥३॥

वायु से उड़ा कर लाये हुए तथा भूमि में पड़े हुए, दिव्य गन्ध-धारी, मनोहर और उज्ज्वल कमल को द्रौपदी ने देखा ॥३॥

तच्छुभा शुभमासाद्य सौगन्धिकमनुत्तमम् ।
अतीव मुदिता राजन् भीमसेनमथाब्रवीत् ॥४॥

सुन्दरी द्रौपदी ने उस उत्तम सुगन्धित पुष्प को उठा लिया, इस पुष्प को लेकर यह बड़ी प्रसन्न हुई और भीमसेन से कहने लगी ॥४॥

पश्य दिव्यं सुरुचिरं भीम पुष्पमनुत्तमम् ।
गन्धसंस्थानसम्पन्नं मनसो मम नन्दनम् ॥५॥'

हे भीम ! तुम सुन्दर, अद्भुत, सुगन्धि से भरे हुए और मेरे मन के प्रसन्न करने वाले, इस दिव्य पुष्प को देखो ॥५॥

इदञ्च धर्मराजाय प्रदास्यामि परन्तप ।
हरेदं मम कामाय काम्यके पुनराश्रमे ॥६॥

हे परन्तप ! मैं इस पुष्प को धर्मराज के लिए अर्पण करूंगी, तुम मेरी कामना पूर्ण करने के लिए इन फूलों को काम्यक वन में ले चलना ॥६॥

यदि तेऽहं प्रिया पार्थ बहूनीमान्युपाहर ।
तान्यहं नेतुमिच्छामि काम्यकं पुनराश्रमम् ॥६॥

हे भीम ! यदि तू मुझ से प्रीति रखता है, तो ऐसे बहुत से पुष्प इकट्ठे करले । मैं इन सब पुष्पों को फिर काम्यक वन के आश्रम में ले चलना चाहती हूं ॥७॥

एवमुक्त्वा शुभापाङ्गी भीमसेनमनिन्दिता ।
जगाम पुष्पमादाय धर्मराजाय तत्तदा ॥८॥

सुन्दर नेत्र रखने वाली, सर्व प्रकार से मनोहर, द्रौपदी भीमसेन से इतना कह कर और उस पुष्प को लेकर, राजा युधिष्ठिर के पास पहुंची ॥८॥

अभिप्रायन्तु विज्ञाय महिष्याः पुरुषर्षभः ।
प्रियायाः प्रियकामः स प्रायाद्भीमो महाबलः ॥६॥

यह पुरुष-श्रेष्ठ, महाबली भीमसेन, राज-महिषी द्रौपदी के अभिप्राय को जान कर, अपनी इस प्रियतमा की कामना पूर्ण करने के लिए चल दिया ॥९॥

वातं तमेवाभिमुखो यतस्तत् पुष्पमागतम् ।
आजिहीर्षुर्जगामाशु स पुष्पाण्यपराण्यपि॥१०॥

यह भीमसेन, अन्य पुष्प लेने की इच्छा से, उस वायु की ओर गया, जिधर से वह पुष्प आया था ॥१०॥

रुक्मपृष्ठं धनुर्गृह्य शरांश्चाशीविषोपमान् ।
मृगराड़िव संक्रुद्धः प्रभिन्न इव कुञ्जरः ॥११॥

भीमसेन सुवर्ण की पीठ वाले, धनुष और विषैले सर्प के समान वाणों को लेकर, कुपित सिंह और मद-स्रावी हाथी के तुल्य चल दिया ॥११॥

ददृशुः सर्वभूतानि महावाणधनुर्द्धरम् ।
न ग्लानिर्न च वैक्लव्यं न भयं न च सम्भ्रमः ॥१२॥
कदाचिज्जुषते पार्थमात्मजं मातरिश्वनः ।

इस समय सारे प्राणी बड़े २ बाण और धनुष के धारण करने वाले भीम को देख रहे थे । ग्लानि, व्याकुलता, भय या घबराहट, पवन पुत्र भीमसेन के पास भी नहीं आ सकते थे ॥१२॥

द्रौपद्याः प्रियमन्विच्छन् स बाहुबलमाश्रितः ॥१३॥
व्यपेतभयसम्मोहः शैलमभ्यपतद्बली ।

अपने बाहुओं के बल का सहारा रखने वाला, महाबली भीमसेन, द्रौपदी के मनोरथ की सिद्धि के लिए, भय और मोह से रहित होकर, पर्वत पर चल दिया ॥१३॥

स तं द्रुमलतागुल्मच्छन्नं नीलशिलातलम् ॥१४॥
गिरिश्चचारारिहरः किन्नराचरितं शुभम् ।

यह शत्रु-विजयी, भीम, किन्नरों के निवास स्थान, वृत्त, लता और झाड़ियों से ढके हुए, नीली २ शिला वाले पर्वत पर चढ़ने लगा ॥१४॥

नानावर्णधरैश्चित्रं धातुद्रुममृगाण्डजैः ॥१५॥
सर्वभूषणसम्पूर्णं भूमेर्भुजमिवोच्छ्रितम् ।

यह पर्वत अनेक वर्ण के धातु, वृत्त, मृग और पक्षियों से अद्भुत, सारे प्राकृतिक भूषणों से भूषित, पृथिवी की उठी हुई भुजा के तुल्य सुशोभित था ॥१५॥

सर्वत्र रमणीयेषु गन्धमादनसानुषु ॥१६॥
सक्तचक्षुरभिप्रायान् हृदयेनानुचिन्तयन् ।

सब तरह से रमणीक, गन्ध मादन पर्वत की चोटियों में इनकी आंखें आसक्त हो गई। ये पर्वत पर निवास करने वाले, ऋषि और गन्धर्वों के कुशा और पुष्पादि के बिछोनों को देखकर अपने मन में अनेक तर्कना करते थे ॥ १६ ॥

पुंस्कोकिलनिनादेषु षट्पदाचरितेषु च ॥१७॥
बद्धश्रोत्रमनश्चक्षुर्जगामामितविक्रमः ।

कोयल के शब्द और भौंरों की गुञ्जार में अपने कान, चक्षु और मन को अर्पण करता हुआ अमित पराक्रमी भीमसेन आगे चल दिया ॥ १७ ॥

आजिघ्नन् स महातेजाः सर्वर्त्तुकुऽमोद्भवम् ॥१८॥
गन्धमुद्धतमुद्दामो वने मत्त इव द्विपः ।

यह महा-पुरुष सब ऋतुओं में उत्पन्न होने वाले पुष्पों के उत्कट गन्ध को सूँघता हुआ, मदोन्मत्त हाथी की भांति चला जा रहा था ॥ १८ ॥

वीज्यमानः सुपुण्येन नानाकुसुमगन्धिना ॥१९॥
पितुः संस्पर्शशीतेन गन्धमादनवायुना ।
ह्रियमाणश्रमः पित्रा संप्रहृष्टतनूरुहः ॥२०॥

पिता के स्पर्श के समान शीतल, अनेक पुष्पों की सुगन्ध का धारण करने वाला, गन्धमादन पर्वत का वायु, भीमसेन का पङ्खा झल रहा था । भीमसेन का अपने पिता, वायु द्वारा सारा श्रम नष्ट कर दिया गया । इस समय भीमसेन के आनन्द से रोमाञ्च खड़े हो गये ॥ १९--२० ॥

सयक्षगन्धर्वसुरब्रह्मर्षिगणसेवितम् ।
विलोकयामास तदा पुष्पहेतोररिन्दमः ॥२१॥

अब उस अरिविजय भीम ने यक्ष, गन्धर्व, देव, ब्रह्मर्षियों के गण से सेवित, उस पुष्प के उत्पत्ति-स्थान को देखा ॥ २१ ॥

विच्छेदेरचितैरनुलिप्त इवाङ्गुलैः ।
विमवैर्धातुविच्छेदैः काञ्चनाञ्जनराजतैः ॥२२॥

सुवर्ण के तुल्य पीले, कृष्ण और चाँदी के तुल्य श्वेत, निर्मल धातुओं और सप्तच्छद-वृक्ष के पत्तों से अनुलिप्त, भीम, अंगुलियों में लगे हुए,त्रिपुण्डकार चन्दन से अनुलिप्त सा प्रतीत होता था ॥ २२ ॥

सपक्षमिव नृत्यन्तं पार्श्वलग्नैः पयोधरैः ।
मुक्ताहारैरिव चितं च्युतैः प्रस्रवणोदकैः ॥२३॥

यह पर्वत इधर उधर लटकते हुए मेघों से पक्ष धारी होकर नाच सा रहा था और बहते हुए झरनों से मोतियों की माला सी पहने हुए था ॥ २३ ॥

अभिरामदरीकुञ्जनिर्झरोदककन्दरम् ।
अप्सरोनूपुररवैः प्रनृत्तवरबर्हिणम् ॥२४॥

इसमें अत्यन्त सुन्दर गुफा, कुञ्ज, झरनों के जल और कंदराएं थी और यहाँ अप्सराओं के नुपूरों के शब्दों के साथ २ मोर नाच रहे थे ॥ २४ ॥

दिग्वारणविषाणाग्रैर्घृष्टोपलशिलातलम् ।
स्रस्तांशुकमिवाक्षोभ्यैर्निम्नगा निःसृतैर्जलैः ॥२५॥

दिग्गजों ने अपने दाँतों से पर्वत के पत्थर और शिला-तल तोड़ डाले थे । यह पर्वत, बिना रुकावट के बहने वाले, नदियों के निकलते हुए, जल से नीचे गिरते हुए वस्त्र के धारण करने वाले के समान जान पड़ता है ॥ २५ ॥

सशष्पकवलैः स्वस्थैरदूरपरिवर्त्तिभिः ।
भयानभिज्ञैर्हरिणैः कौतूहलनिरीक्षितः ॥२६॥

दूर्वा का ग्रास मुख में लिये हुए, स्वस्थ और पास में ही घूमने वाले, निर्भीक, हरिणों ने भीमसेन को बड़े ही कौतूहल से देखा ॥ २६ ॥

चालयानः स वेगेन लताजालान्यनेकशः ।
आक्रीडमानो हृष्टात्मा श्रीमान् वायुसुतो ययौ॥२७॥

इस समय श्रीमान्-वायु-पुत्र, भीमसेन, अपने वेग से अनेक लता समूहों को कम्पित कर रहा था और क्रीड़ा सी करता हुआ आगे चला जा रहा था ॥ २७ ॥

प्रियामनोरथं कर्त्तुमुद्यतश्चारुलोचनः ।
प्रांशुः कनकवर्णाभः सिंहसंहननो युवा ॥२८॥

यह कमल के समान नेत्रधारी, भीमसेन, अपनी प्रिया के मनोरथ को पूरा करने को उद्यत हो रहा था । यह युवा, सुवर्ण के समान वर्ण वाला, बड़े ऊंचे आकार से युक्त और सिंह के समान दृढ़ शरीरधारी था ॥ २८ ॥

मत्तवारणविक्रान्तो मत्तवारणवेगवान् ।
मत्तवारणताम्राक्षो मत्तवारणवारणः ॥२९॥

भीमसेन का पराक्रम, वेग, और लाल २ नेत्र, ये सब मदोन्मत्त हाथी के समान थे । यह मस्त हाथियों को भी घेर कर खड़ा होजाता था ॥ २९ ॥

प्रियपार्श्वोपविष्टाभिर्व्यावृत्ताभिर्विचेष्टितैः ।
यक्षगन्धर्वयोषाभिरदृश्याभिर्निरीक्षितः ॥३०॥
नवावतारं रूपस्य विक्रीडन्निव पाण्डवः ।
चचार रमणीयेषु गन्धमादनसानुषु ॥३१॥

अपने २ प्रियों की बगलों में बैठी हुई, चेष्टा रहित, यक्ष, गन्धर्वों की स्त्रियां, छुरी २ मुंह मोड़ २ कर सौन्दर्य के नये अवतार भीमसेन को देख रही थी, इस प्रकार भीमसेन गन्ध-मादन पर्वत की चोटियों पर क्रीड़ा सी कर रहा था ॥ ३०—३१ ॥

संस्मरन् विविधान् क्लेशान् दुर्य्योधनकृतान् बहून् ।
द्रौपद्या वनवासिन्याः प्रियं कर्त्तुसमुद्यतः ॥३२॥

यह दुर्योधन के दिये हुए, अनेक क्लेशों का स्मरण कर रहा था और इस समय वन-वासिनी द्रौपदी की अभिलाषा पूरी करने में लगा था ॥ ३२ ॥

सोऽचिन्तयद्गते स्वर्गमर्जुने मयि चागते ।
पुष्पहेतोः कथं त्वार्य्यः करिष्यति युधिष्ठिरः ॥३३॥

भीमसेन सोचने लगा-कि अर्जुन तो इन्द्र से सत्कार ग्रहण करने स्वर्ग चला गया है और मैं पुष्पों के लिए यहां चला आया हूं। इस दशा में राजा युधिष्ठिर कैसे अपने समय को व्यतीत करते होंगे ॥३३॥

स्नेहान्नरवरो नूनमविश्वासाद्बलस्य च ।
नकुलं सहदेवञ्च न मोक्ष्यति युधिष्ठिरः ॥३४॥

नर-श्रेष्ठ धर्मराज, युधिष्ठिर, नकुल सहदेव को तो प्रेम और उनके बल पर अविश्वास करके कहीं नहीं भेजेंगे ॥३४॥

कथन्नु कुसुमावाप्तिःस्याच्छीघ्रमिति चिन्तयन् ।
प्रतस्थे नरशार्दूलः पक्षिराडिव वेगितः ॥३५॥

अब ऐसा क्या उपाय है, जिससे मुझे शीघ्र ही पुष्प मिल जावे। यह विचार कर नर-श्रेष्ठ भीमसेन गरुड़ के समान वेग से चल दिया ॥ ३५ ॥

सज्जमानमनोदृष्टिः फुल्लेषु गिरिसानुषु ।
द्रौपदीवाक्यपाथेयो भीमः शीघ्रतरं ययौ ॥३६॥

खिले हुए वृक्षों से व्याप्त, पर्वतकी चोटियों में मन और दृष्टि को लगाये हुए तथा द्रौपदी के वाक्य रूपी पाथेय (कलेवा) को लिए हुए, भीमसेन, बड़ी शीघ्रता से चला जा रहा था ॥३६॥

कम्पयन् मेदिनीं पद्भ्यां निर्घात इव पर्वसु ।
त्रासयन् गजयूथानि वातरंहो वृकोदरः ॥३७॥

वायु के समान वेगशाली, भीमसेन, पूर्वकाल में होने वाले उत्पातों की भांति अपने पैरों से पृथिवी को कम्पायमान कर रहा था- कि जिससे हाथियों के झुंडों कों भी पीड़ा होती थी ॥३७

सिंहव्याघ्रमृगांश्चैव मर्दयानो महाबलः ।
उन्मूलयन्महावृक्षान् पोथयंस्तरसा बली ॥३८॥
लतावल्लीश्च वेगेन विकर्षन् पाण्डुनन्दनः ।
उपर्य्युपरि शैलाग्रमारुरुक्षुरिव द्विपः ॥३९॥

यह महाबली पाण्डु-नन्दन, भीमसेन, सिंह, व्याघ्र और अन्य जंगली जीवों को मारता पीटता तथा बड़े २ वृक्षों को अपने वेग से उखाड़कर चूर्ण करता एवं लता और बेलों को खींचता हुआ, हाथी के समान होकर इस पर्वत की चोटी पर चढ़ना चाहता था ॥ ३८—३९ ॥

विनर्दमानोऽतिभृशं सविद्युदिव तोयदः ।
तेन शब्देन महता भीमस्य प्रतिबोधिताः ॥४०॥
गुहां सन्तत्यजुर्व्याघ्रा निलिल्युर्वनवासिनः ।
समुत्पेतुः खगास्त्रस्ता मृगयूथानि दुद्रुवुः ॥४१॥

यह विजली की कड़क वाले, बादल की भाँति अत्यन्त वेग से भीम कीं इस गर्जना के बड़े भारी शव्द से वन के समस्त जन्तु जाग उठे । इससे व्याघ्र गुफा छोड़कर चल दिए, अन्य वनैले जन्तु छुप गए, पक्षी डरकर उड़ गये और मृगों का झुण्ड भाग निकला ॥ ४०--४१ ॥

ऋक्षाश्चोत्ससृजुर्वृक्षांस्तत्यजुर्हरयो गुहाम् ।
व्यजृम्भन्त महासिंहा महिषाश्चावलोकयन् ॥४२॥

इस समय रीछों ने अपने निवास के वृक्ष छोड़ दिए और सिंहों ने गुफाएँ छोड़ दीं । बड़े-बड़े केहरी, जंभाई लेने लगे और भैंसे भी डर से इधर-उधर देखने लगे ॥ ४२ ॥

तेन वित्रासिता नागाः करेणुपरिवारिताः ।
तद्वनं संपरित्यज्य जग्मुरन्यन्महावनम् ॥४३॥

इस महाशव्द से डरे हुए, हाथी, अपनी-अपनी हथनियों के साथ इस वन को छोड़कर अन्य वन को चले गये ॥ ४३ ॥

वराहमृगसिंहाश्च महिषाश्च वनेचराः ।
व्याघ्रगोमायुसंघाश्च प्रणेदुर्गवयैः सह ॥४४॥

वराह, मृग, सिंह, महिष तथा अन्य वनैले जन्तु, व्याघ्र, गीदड़ आदि का समूह, गवय प्राणी के साथ चिल्लाने लगा ॥४४॥

रथाङ्गसाह्वदात्यूहा हंसकारण्डवप्लवाः ।
शुकाः पुंस्कोकिलाः क्रौञ्चा विसंज्ञा भेजिरे दिशः ॥

चकवा, साहू, पपैया, हंस, कारण्डव, बतक, तोते, कोयल एवं राजहंस डर से अचेत से हुए इधर-उधर उड़ गए ॥ ४५ ॥

तथान्ये दर्पिता नागाः करेणुशरपीड़िताः ।
सिंहव्याघ्राश्च संक्रुद्धा भीमसेनमथाद्रवन् ॥४६॥

अपनी हथिनी के प्रेम में मदोन्मत्त, अन्य हाथी, तथा कुपित हुए सिंह, व्याघ्र, भीमसेन पर टूट पड़े ॥ ४६ ॥

शकृन्मूत्रञ्च मुञ्चाना भयविभ्रान्तमानसा ।
व्यादितास्या महारौद्रा व्यनदन् भीषणान्रवान् ॥४७

ये जन्तु, विष्ठा और मूत्र छोड़ने लगे तथा भय से व्याकुल चित्त होकर और मुँह फाड़कर बड़ी बुरी तरह शब्द करने लगे ॥ ४७ ॥

ततो वायुसुतः क्रोधात् स्वबाहुबलमाश्रितः ।
गजेनान्यान् गणान् श्रीमान् सिंहं सिंहेन वा विभुः ॥
तलप्रहारैरन्यांश्च व्यहनत् पाण्डवो बली ।
ते वध्यमाना भीमेन सिंहव्याघ्रतरक्षवः ॥४८॥
भयाद्विससृजुर्भीमं शकृन्मूत्रञ्च सुस्रुवुः ।

इस समय वायु-पुत्र, भीम को भी क्रोध आगया । इस बली पाण्डव ने अपनी भुजा के बल से एक हाथी को दूसरे हाथी और एक सिंह को दूसरे सिंह से टकराकर मार डाला । इसने अपने चपेटों से भी अनेक जानवर मार दिये । भीम से मारे-

पीटे हुए सिंह, व्याघ्र और चीते डर से भीम को छोड़कर भाग गये और विष्ठा-मूत्र करने लगे ॥४८-४६॥

प्रविवेश ततः क्षिप्रं तानपास्य महाबलः ॥५०॥
वनं पाण्डुसुतः श्रीमाञ्छब्देनापूरयन्दशः ।

महाबली भीमसेन, इन जन्तुओं को छोड़कर अपने शब्द से दिशाओं को पूर्ण करता हुआ, आगे वन में घुस गया ॥५०॥

अथापश्यन्महाबाहुर्गन्धमादनसानुषु ॥ ५१ ॥
सुरम्यं कदलीखण्डं बहुयोजनविस्तृतम् ।

यहाँ बड़ी-बड़ी भुजा वाले भीम ने गन्धमादन पर्वत की चोटियों पर बहुत सुन्दर एक कदली के वृक्षों का बगीचा देखा, जिसका अनेक योजन का विस्तार था ॥ ५१ ॥

तमभ्यगच्छद्वेगेन क्षोभयिष्यन्महाबल ः ॥५२॥
महागज इवास्रावी प्रभुञ्जन् विविधान् द्रुमान् ।

यह महाबली, इस कदली वन को रौंदता-खूँदता बड़े वेग से, मद के टपकाने वाले महागज की तरह अनेक वृक्षों को तोड़ता हुआ चला जारहा था ॥ ५२ ॥

उत्पाट्य कदलीस्तम्भान् बहुतालसमुच्छ्रयान् ॥
चिक्षेप तरसा भीमः समन्ताद् बलिनाम्बरः ।
विनदन् सुमहातेजा नृसिंह इव दर्पितः ॥५४॥

बलवानों में श्रेष्ठ, महा—तेजस्वी, भीमसेन, बड़े-बड़े ताल के वृक्षों के समान, ऊँचे-ऊँचे केले के पेड़ों को उखाड़कर इधर-उधर

बड़े वेग से फेंकने लगा और बड़ी भारी गर्जना करता हुआ, नृसिंह की तरह अकड़कर खड़ा होगया ॥ ५३--५४ ॥

ततः सत्वान्यपाक्रामन् बहूनि सुमहान्ति च ।
रुरुवानरसिंहांश्च महिषांश्च जलाशयान् ॥५५॥
तेन शब्देन चैवाथ भीमसेनरवेण च ।
वनान्तरगताश्चापि वित्रेसुर्मृगपक्षिणः ॥५६॥

इसने रुरु, वानर, सिंह, महिष आदि अनेक प्रकार के बनैले जीव जन्तुओं को भयभीत कर दिया। भीमसेन की गर्जना से उठे हुए महा शब्द से दूसरे वन के मृग, पक्षी भी डर से काँपने लगे ॥ ५५--५६ ॥

तं शब्दं सहसा श्रुत्वा मृगपक्षिसमीरितम् ।
जलार्द्रपक्षा विहगाः समुत्पेतुः सहस्रशः ॥५७॥

इस प्रकार मृग और पक्षियों के कोलाहल को अचानक सुनकर, भीगी पाँख वाले भी हजारों पक्षी, आकाश को उड़ गये।

तानौदकान् पक्षिगणान्निरीक्ष्य भरतर्षभः ।
तानेवानुसरन्रम्यं ददर्श सुमहत्सरः ॥५८॥

भरत-वंश-श्रेष्ठ, भीमसेन ने इन जल के पक्षियों को इस तरह उड़ते देखा, तो यह भी इनके पीछे-पीछे हो लिया। इसने आगे चलकर एक बड़ा भारी सरोवर देखा ॥ ५८ ॥

काञ्चनैः कदलीषण्डैर्मन्दमारुतकम्पितैः ।
वीज्यमानमिवाक्षोभ्यं तीरात्तीरविसर्पिभिः ॥५९॥

एक तीर से दूसरे तीर तक श्रेणी में लगे हुए, कदली के वृक्षों के समूह, अपनी धीमी २ वायु से इस शान्त सरोवर का पंखा सा कर रहे हैं ॥५९॥

तत् सरोऽथावतीर्य्याथ प्रभूतनलिनोत्पलम् ।
महागज इवोद्दामश्चिक्रीड़ वलवद्वली ॥६०॥

वहुत से कमल तथा उत्पलों से भरे हुए, उस सरोवर में उतर कर, वलवानों में श्रेष्ठ, महावली भीम, बड़े हाथी के समान क्रीड़ा करने लगा ॥६०॥

विक्रीड्य तस्मिन् सुचिरमुत्ततारामितद्युतिः ।
ततोऽभ्यगाहत् वेगेन तद्वनं वहुपादपम् ॥६१॥

अत्यन्त कान्तिमान्, भीम, वहुत देर तक उस सरोवर में क्रीड़ा करके वाहर निकला और फिर बड़े वेग से अनेक वृक्षों से गहरे वन में घुस गया ॥६१॥

दध्मौ च शङ्खं स्वनवत् सर्वप्राणेन पाण्डवः ।
आस्फोटयच्च वलवान् भीमः सन्नादयन्दिशः ॥६२॥

सारा प्राण-वायु का वल लगाकर भीम ने शङ्ख वजाया और अपनी भुजाओं को फटकारा । इस प्रकार वलवान् भीम ने सारी दिशाओं को शब्दायमान कर दिया ॥ ६२ ॥

तस्य शङ्खस्य शब्देन भीमसेनरवेण च ।
वाहुशब्देन चोग्रेण नर्दन्तीव गिरेर्गुहा ॥६३॥

उस शंख और भुजा फटकारने के उग्र महा-शब्द तथा भीमसेन की गर्जना से सारी गुफा भी गर्जना सी करने लगी ॥६३॥

तं वज्रनिष्पेषसममास्फोटितमहारवम् ।
श्रुत्वा शैलगुहासुप्तैः सिंहैर्मुक्तो महास्वनः ॥६४॥

इस बिजली की कड़क या वज्र चलने के समान उठे हुए महा-शब्द को सुनकर सिंह अपनी गर्जना भूल गए॥ ६४॥

सिंहनादभयत्रस्तैः कुञ्जरैरपि भारत ।
मुक्तो विरावः सुमहान् पर्वतो येन पूरितः ॥६५॥

हे भारत ! इस महा-शब्द को सिंह की गर्जना समझ कर डरे और घबराये हुए हाथियों ने भी अपनी गर्जना बन्द करदी, जो गर्जना कभी पर्वत को भर दिया करती थी ॥ ६५ ॥

तन्तु नादं ततः श्रुत्वा मुक्तं वारणपुङ्गवैः ।
भ्रातरं भीमसेनन्तु विज्ञाय हनुमान् कपिः ॥६६॥
दिवङ्गमं रुरोधाथ मार्गं भीमस्य कारणात् ।
अनेन हि पथा मा वै गच्छेदिति विचार्य्य सः ॥६७॥

इन बड़े २ हाथियों द्वारा किये हुए महानाद को सुनकर और भीमसेन को वायु का पुत्र होने के कारण, अपना भाई समझ कर वानर श्रेष्ठ, हनुमान् ने भीमसेन के मिलने के लिए स्वर्ग को जाने का मार्ग रोक लिया। हनुमान्‌जी ने सोचा, कि भीम को इस मार्ग से नहीं जाने देना चाहिये ॥ ६६—६७ ॥

आस्ते एकायने मार्गे कदलीषण्डमण्डिते ।
भ्रातुर्भीमस्य रक्षार्थं तं मार्गमवरुध्य वै ॥६८॥
मात्र प्राप्स्यति शापं वा धर्षणां वेति पाण्डवः ।
कदलीषण्डमध्यस्थो ह्येवं सञ्चिन्त्य वानरः ॥६९॥

यह महात्मा, कदली समूह से सुशोभित, एक छोटी पगडण्डी पर खड़ा हो गया, इसने अपने भाई भीम की रक्षा के लिए इस मार्ग को रोका था। इस मार्ग से जाते हुए भीम को कोई शाप न देदे या उसका कुछ तिरस्कार न कर डाले, यह सोचकर हनुमान इस कदली के वन में स्थित हुआ था ॥६८--६९॥

प्राजृम्भत महाकायो हनुमान्नाम वानरः।
कदलीषण्डमध्यस्थो निद्रावशगतस्तदा ॥७०॥

विशाल कायधारी, वानर श्रेष्ठ, हनुमान, उस कदली (केले) के वन में बैठा २ ऊंघने और जंभाई लेने लगा ॥ ७० ॥

जृम्भमाणः सुविपुलं शक्रध्वजमिवोच्छ्रितम्।
आस्फोटयच्च लाङ्गलमिन्द्राशनिसमस्वनम् ॥७१॥

जंभाई लेता हुआ हनुमान्, इन्द्र की ध्वजा के समान ऊंची और इन्द्र के वज्र के समान शब्द करने वाली, अपनी पूंछ को वार-वार फटकारता जाता था ॥ ७१ ॥

तस्य लाङ्गलनिनदं पर्वतः स गुहामुखैः।
उद्गारमिव गौर्नर्दन्नुत्ससर्ज्ज समन्ततः ॥७२॥

वह पर्वत, उसकी पूंछ की फटकार के महाशब्द को अपनी गुफा रूपी मुख से, रंभाते हुए वृषभ के शब्द की तरह चारों ओर छोड़ने लगा ॥७२॥

लाङ्गलास्फोटशब्दाच्च चलितः स महागिरिः।
विघूर्णमानशिखरः समन्तात् पर्य्यशीर्य्यत ॥७३॥

लाङ्गूल (पूंछ) के फटकारने की धसक से वह बड़ा भारी पर्वत हिलने लगा और हिलती हुई इस पर्वत की चोटियाँ चारों ओर बिखरने लगी ॥ ७३॥

स लाङ्गूलरवस्तस्य मत्तवारणनिस्वनम् ।
अन्तर्धाय विचित्रेषु चचार गिरिसानुषु ॥७४॥

इसकी पूंछ की फटकार का महा-शब्द और पर्वत के हाथियों की चिंघाड़ का शब्द पर्वत की सानुओं (चोटियों) में विचित्र ढंग से फैलने लगा ॥७४॥

स भीमसेनस्तच्छ्रुत्वा सम्प्रहृष्टतनूरुहः।
शब्दप्रभवमन्विच्छंश्चचार कदलीवनम् ॥७५॥

इस शब्द को सुन कर आनन्द से भीमसेन के शरीर के रोमाञ्च खड़े हो गये। इस शब्द का पता लगाने के लिये भीम, इस कदली वन में घुस गया ॥ ७५ ॥

कदलीवनमध्यस्थमथ पीने शिलातले ।
ददर्श सुमहाबाहुर्वानराधिपतिं तदा ॥७६॥

अब महाबली भीम ने इस कदली वन के बीच में एक विशाल शिला पर बैठे हुए, वानर-राज हनुमान को देखा ॥ ७६ ॥

विद्युत्संपातदुष्प्रेक्ष्यं विद्युत्संपातपिङ्गलम् ।
विद्युत्संपातनिनदं विद्युतसंपातचञ्चलम् ॥७७॥

हनुमान् का रूप बिजली गिरने के समान चकाचौंध करने वाला तथा बिजली गिरने के सदृश ही पीला एवं बिजली के तुल्य ही शब्द करने वाला और बिजली पड़ने के समान ही चञ्चल था ॥७७॥

बाहुस्वरितकविन्यस्तपीनह्रस्वशिरोधरम् ।
स्कन्धभूयिष्ठकायत्वात्तनुमध्यकटीतटम् । ७८ ॥

इस समय हनुमान् जी ने अपनी पुष्ट और छोटी ग्रीवा को अपनी बांकी की हुई भुजा पर रख छोड़ा था । इनके स्कन्ध और छाती का भाग पुष्ट तथा मध्य कटी का भाग पतला था ॥७८॥

किञ्चिच्चाभुग्नशीर्षेण दीर्घरोमाञ्चितेन च ।
लाङ्गूलेनोर्द्ध्वगतिना ध्वजेनेव विराजता ॥७९ ॥

थोडी अग्र भाग से मुड़ी हुई, दीर्घ रोमों से भरी हुई और ऊपर को उठी हुई हनुमान् जी की पूंछ, ध्वजा की तरह सुशोभित हो रही थी ॥७८॥

ह्रस्वौष्ठं ताम्रजिह्वास्यं रक्तकर्णश्चलद्भ्रुवम् ।
विवृत्तदंष्ट्रादशनं शुक्लतीक्ष्णाग्रशोभितम् ॥८०॥

इनके पतले र ओष्ठ, लाल जिह्वा, लाल कान और चञ्चल भ्रकुटी तथा खुले हुए मुख में श्वेत तथा तीखे दांत और दाढ़े चमक रही थी ॥८०॥

अपश्यद्वदनं तस्य रश्मिवन्तमिवोडुपम् ।
वदनाभ्यंतरगतैः शुक्लैर्दन्तैरलंकृतम् ॥८१॥

इस समय भीमसेन ने मुख के भीतर चमकते हुए दांतों से सुशोभित, हनुमान् के मुख को किरणों से शोभायमान चन्द्रमा के समान देखा ॥८१॥

केशरोत्करसम्मिश्रमशोकानामिवोत्करम् ।
हिरण्मयीनां मध्यस्थं कदलीनां महाद्युतिम् ॥८२ ।

सुनहरी केलों के बीच में बैठे हुए, अत्यन्त कान्तिमान्, कमल आदि पुष्पों के केसरों के समूह से व्याप्त हुए, हनुमान्, अशोक के गुच्छे के तुल्य प्रतीत होते थे ॥८२॥

दीप्यमानेन वपुषा स्वर्चिष्मन्तमिवानलम् ।
निरीक्षन्तममित्रघ्नं लोचनैर्मधुपिङ्गलैः ॥८३॥

यह शत्रु-विजयी, हनुमान् अपने दीप्तिमान् शरीर से प्रज्वलित अग्नि के तुल्य देदीप्यमान हो रहे थे और मोठी तथा पीली आंखों से देखने जाते थे ॥८३॥

तं वानरवरं धीमानतिकायं महाबलम् ।
स्वर्गपन्थानमावृत्य हिमवंतमिव स्थितम् ॥८४॥
दृष्ट्वा चैनं महाबाहुरेकं तस्मिन् महावने ।
अथोपसृत्य तरसा विभीर्भीमस्ततोबली ॥८५॥
सिंहनादं चकारोग्रं वज्राशनिसमं बली ।
तेन शब्देन भीमस्य वित्रेसुर्मृगपक्षिणः ॥८६॥

उस विशाल वन में महाबली, विशाल-काय तथा हिमालय के तुल्य स्वर्ग के मार्ग को रोक कर खड़े हुए, हनुमान जी को देख कर महाबली, बुद्धिमान्, निर्भीक, भीम, बड़े वेग से उनके पास पहुंचा और वज्र कड़कने के समान सिंह नाद करने लगा। भीमसेन के इस महा-शब्द से वन के सारे मृग पक्षी उड़ गए ॥८४—८६॥

हनूमांश्च महासत्व इषदुन्मील्य लोचने ।
दृष्ट्वा तमथ सावज्ञं लोचनैर्मधुपिङ्गलैः ।
स्मितेन चैनमासाद्य हनूमानिदमब्रवीत् ॥८७॥

महा-तेजस्वी हनुमान् ने कुछ आंखें खोली और अपने सुन्दर पीले नेत्रों से भीमसेन को अवज्ञा के साथ देखा। फिर कुछ मुस्कुराते हुए भीम के पास जाकर हनुमान् जी कहने लगे ॥८७॥

हनूमानुवाच —

किमर्थं सरुजस्तेऽहं सुखसुप्तः प्रबोधितः ।
ननु नाम त्वया कार्य्या दया भूतेषु जानता ।
वयं धर्मं न जानीमस्तिर्य्यग्योनिमुपाश्रिताः॥८८॥

हे महात्मन् ! क्या बात है, जो तुमने सुख से सोये हुए, मुझ रोगी को जगाया है । तुम लोग तो ज्ञानी हो, इससे तुमको प्राणी मात्र पर दया करनी चाहिए । हम तो पशु योनि को प्राप्त हुए अज्ञानी जीव हैं, इससे धर्म के तत्व को नहीं जानते हैं ॥८८॥

नरास्तु बुद्धिसंपन्ना दयां कुर्वन्ति जन्तुषु ।
क्रूरेषु कर्मसु कथं देहवाक्चित्तदूषिषु ॥८९॥

मनुष्य ज्ञानवान प्राणी है, इससे यह जीवों पर दया करने का अधिकारी है । देह, वाणी और चित्त के दूषित करने वाले, धर्म-नाशक, क्रूर कर्मों में तुम जैसे बुद्धिमान् कैसे फंस जाते हो ॥८९॥

धर्माघातिषु सज्जन्ते बुद्धिमन्तो भवद्विधाः ।
न त्वं धर्मं विजानासि बुधानोपासितास्त्वया ॥९०॥
अल्पबुद्धितया बाल्यादुत्सादयसि यन्मृगान् ।

न तो तू स्वयं ही धर्म को जानता है और न तैने महात्माओं की संगति की है । तुझ में अभी बचपन है, इससे स्वल्प बुद्धि होने के कारण वन के जीवों को क्लेशित करता फिरता है ॥९०॥

ब्रूहि कस्त्वं किमर्थं वा किमिदं वनमागतः ॥६१॥
वर्जितं मानुषैर्भावैस्तथैव पुरुषैरपि ।

अब तुम बताओ, कि तुम कौन हो और किस प्रयोजन से इस वन में आये हो। यह वन तो मनुष्य और मनुष्यों के व्यवहारों से रहित है ॥६१॥

क्व वा त्वयाद्य गन्तव्यं प्रब्रूहि पुरुषर्षभ ॥६२॥
अतः परमगम्योऽयं पर्वतः सुदुरारुहः ।
विना सिद्धि गति वीर गतिरत्र न विद्यते ॥६३॥

हे पुरुष-श्रेष्ठ ! यह बताओ, तुम जाना कहां चाहते हो, इससे आगे यह पर्वत बड़ा दुर्गम और चढ़ने के अयोग्य है। हे वीर ! सिद्धि प्राप्त किये विना इस पर्वत पर जाना असम्भव है ॥६२—६३॥

देवलोकस्य मार्गोऽयमगम्यो मानुषैः सदा ।
कारुण्यात्त्वामहं वीर वारयामि निबोध मे ॥६४॥

यह तो देवलोक का मार्ग है और मनुष्य के गमन के अयोग्य है। हे वीर ! मैं तो दया करके तुझे रोक रहा हूँ—यह सच समझो ॥ ६४ ॥

नातः परं त्वया शक्यं गन्तुमाश्वसिहि प्रभो ।
स्वागतं सर्वथैवेह तवाद्य मनुजर्षभ ॥६५॥

हे महात्मन् ! तुम इससे आगे नहीं जा सकते हो, इससे कुछ विश्राम कर लो। आज तुम्हारा मुझ से मिल जाना बड़ा ही अच्छा हुआ है ॥ ६५ ॥

इमान्यमृतकल्पानि मूलानि च फलानि च ।
भक्षयित्वा निवर्त्तस्व मा वृथा प्राप्स्यसे वधम् ।
ग्राह्यं यदि वचो मह्यं हितं मनुजपुङ्गव ॥ ९५ ॥
इति श्रीमहाभारत आरण्यपर्वणि तीर्थयात्रापर्वणि
भीमकदलीषण्डप्रवेशे षट्चत्वारिंशदधिक
शततमोऽध्यायः १४६

हे मनुष्योत्तम ! अमृत के तुल्य मीठे इन मूल और फलों का भोजन करके तुम यहाँ से लौट जाओ, नहीं तो वृथा मारे जाओगे। तुम यदि मेरे इस हितकारी वचन का आदर करते हो, तो ऐसा ही करो ॥ ९६ ॥

इति श्रीमहाभारत वनपर्वान्तर्गत तीर्थ-यात्रा-पर्व में भीम के कदली वन के प्रवेश का एक सौ छियालीसवाँ अध्याय पूरा हुआ।

एक सौ सैंतालीसवां अध्याय

वैशम्पायन उवाच—

एतच्छ्रुत्वा वचस्तस्य वानरेन्द्रस्य धीमतः ।
भीमसेनस्तदा वीरः प्रोवाचामित्रकर्षणः ॥ १ ॥

वैशम्पायन बोले—हे राजन् ! शत्रुविजयी, वीर, भीमसेन, बुद्धिमान् वानर-राज हनुमान् के ये वचन सुनकर कहने लगा ॥१॥

भीमसेन उवाच —

को भवान् किं निमित्तं वा वानरं वपुरास्थितः ।
ब्राह्मणानन्तरो वर्णः क्षत्रियस्त्वां तु पृच्छति ॥२॥

आप कौन हैं और किस लिए आपने यह वानर-रूप धारण कर रखा है। मैं ब्राह्मण के अनन्तर क्षत्रिय वर्ण का पुरुष हूँ और तुमसे यह बात पूछता हूँ ॥ २ ॥

कौरवः सोमवंशीयः कुंत्या गर्भेण धारितः ।
पाण्डवो वायुतनयो भीमसेन इति श्रुतः ॥३॥

मैं चन्द्रवंशी, कुरु वंश में उत्पन्न हुआ हूं । कुन्ती ने गर्भ द्वारा मुझे धारण किया है । मैं वायु-पुत्र, पाण्डव भीमसेन हूँ ॥३॥

स वाक्यं कुरुवीरस्य स्मितेन प्रतिगृह्य तत् ।
हनूमान् वायुतनयो वायुपुत्रमभाषत ॥४॥

हनुमान्जी ने भीम के वचन को कुछ हँसते-हँसते सुना । अब वायु-पुत्र हनुमान्जी, वायु-पुत्र भीम से कहने लगे ॥४॥

हनूमानुवाच —

वानरोऽहं न ते मार्गं प्रदास्यामि यथेप्सितम् ।
साधु गच्छ निवर्त्तस्व मा त्वं प्राप्स्यसि वैशसम्॥५॥

मैं एक वानर हूँ, परन्तु तू जिस मार्ग से जाना चाहता है, मैं उस मार्ग को तुझे नहीं दूंगा । तुम मेरे कथन को मानकर लौट जाओ, नहीं तो बिल्कुल नष्ट हो जाओगे ॥ ५ ॥

भीमसेन उवाच —

वैशसं वास्तु यद्वान्यन्न त्वां पृच्छामि वानर ।
प्रयच्छ मार्गमुत्तिष्ठ मा मत्तः प्राप्स्यसे व्यथाम् ।६।

भीमसेन बोला—हे वानर! हमारा नाश हो या वृद्धि, हम तुझसे इस मार्ग के बाबत कुछ पूछ नहीं रहे हैं। अब तू खड़ा हो जा और मार्ग छोड़ दे, नहीं तो मुझसे तुझे व्यर्थ कष्ट पहुँच जावेगा॥ ६॥

हनूमानुवाच—

नास्ति शक्तिर्ममोत्थातुं व्याधिना क्लेशितो ह्यहम्।
यद्यवश्यं प्रयातव्यं लङ्घयित्वा प्रयाहि माम्॥७॥

हनुमान् ने कहा—मैं तो रोग का मारा हुआ हूँ, मुझमें उठने की शक्ति ही नहीं है। यदि तुमको अवश्य जाना ही है, तो मुझे उल्लांघकर चले जाओ॥ ७॥

भीम उवाच —

निर्गुणः परमात्मा तु देहं व्याप्यावतिष्ठते।
तमहं ज्ञानविज्ञेयं नावमन्ये न लङ्घये॥८॥

भीम ने कहा—निर्गुण परमात्मा, शरीर में व्यापक होकर अवस्थित हो रहा है। ज्ञान से जानने योग्य, उस परमात्मा का मैं अपमान या उल्लङ्घन नहीं कर सकता हूँ॥८॥

यद्यागमैर्न विद्याश्च तमहं भूतभावनम्।
क्रमेयं त्वां गिरिश्चैव हनूमानिव सागरम्॥९॥

यदि शास्त्रों से मैंने प्राणियों के अन्तर्गत परमात्मा को नहीं जाना होता, तो मैं समुद्र को हनुमान् की तरह तुझे ही क्या? इस पर्वत तक को उलाँघ जाता॥९॥

भीमसेन उवाच —

को भवान् किं निमित्तं वा वानरं वपुरास्थितः ।
ब्राह्मणानन्तरो वर्णः क्षत्रियस्त्वां तु पृच्छति ॥२॥

आप कौन हैं और किस लिए आपने यह वानर-रूप धारण कर रखा है। मैं ब्राह्मण के अनन्तर क्षत्रिय वर्ण का पुरुष हूँ और तुमसे यह बात पूछता हूँ ॥ २ ॥

कौरवः सोमवंशीयः कुंत्या गर्भेण धारितः ।
पाण्डवो वायुतनयो भीमसेन इति श्रुतः ॥३॥

मैं चन्द्रवंशी, कुरु वंश में उत्पन्न हुआ हूँ। कुन्ती ने गर्भ द्वारा मुझे धारण किया है। मैं वायु-पुत्र, पाण्डव भीमसेन हूँ ॥३॥

स वाक्यं कुरुवीरस्य स्मितेन प्रतिगृह्य तत् ।
हनूमान् वायुतनयो वायुपुत्रमभाषत ॥४॥

हनुमान्जी ने भीम के वचन को कुछ हँसते-हँसते सुना। अब वायु-पुत्र हनुमान्जी, वायु-पुत्र भीम से कहने लगे ॥४॥

हनूमानुवाच —

वानरोऽहं न ते मार्गं प्रदास्यामि यथेप्सितम् ।
साधु गच्छ निवर्त्तस्व मा त्वं प्राप्स्यसि वैशसम् ॥५॥

मैं एक वानर हूँ, परन्तु तू जिस मार्ग से जाना चाहता है, मैं उस मार्ग को तुझे नहीं दूंगा। तुम मेरे कथन को मानकर लौट जाओ, नहीं तो बिल्कुल नष्ट हो जाओगे ॥ ५ ॥

भीमसेन उवाच —

वैशसं वास्तु यद्वान्यन्न त्वां पृच्छामि वानर ।
प्रयच्छ मार्गमुत्तिष्ठ मा मत्तः प्राप्स्यसे व्यथाम् ।६।

भीमसेन बोला—हे वानर! हमारा नाश हो या वृद्धि, हम तुझसे इस मार्ग के बाबत कुछ पूछ नहीं रहे हैं। अब तू खड़ा हो जा और मार्ग छोड़ दे, नहीं तो मुझसे तुझे व्यर्थ कष्ट पहुँच जावेगा ॥ ६ ॥

हनूमानुवाच—

नास्ति शक्तिर्ममोत्थातुं व्याधिना क्लेशितो ह्यहम् ।
यद्यवश्यं प्रयातव्यं लङ्घयित्वा प्रयाहि माम् ॥७॥

हनुमान् ने कहा—मैं तो रोग का मारा हुआ हूँ, मुझमें उठने की शक्ति ही नहीं है। यदि तुमको अवश्य जाना ही है, तो मुझे उल्लांघकर चले जाओ ॥ ७ ॥

भीम उवाच —

निर्गुणः परमात्मा तु देहं व्याप्यावतिष्ठते ।
तमहं ज्ञानविज्ञेयं नावमन्ये न लङ्घये ॥८॥

भीम ने कहा—निर्गुण परमात्मा, शरीर में व्यापक होकर अवस्थित हो रहा है। ज्ञान से जानने योग्य, उस परमात्मा का मैं अपमान या उल्लङ्घन नहीं कर सकता हूँ ॥८॥

यद्यागमैर्न विद्याश्च तमहं भूतभावनम् ।
क्रमेयं त्वां गिरिश्चैव हनूमानिव सागरम् ॥६॥

यदि शास्त्रों से मैंने प्राणियों के अन्तर्गत परमात्मा को नहीं जाना होता, तो मैं समुद्र को हनुमान् की तरह तुझे ही क्या? इस पर्वत तक को उलाँघ जाता ॥६॥

हनूमानुवाच —

क एष हनुमान्नाम सागरो येन लङ्घितः ।
पृच्छामि त्वां नरश्रेष्ठ कथ्यतां यदि शक्यते ॥१०॥

हनुमान् ने कहा—यह हनुमान् कौन था, जिसने समुद्र का उल्लङ्घन किया । हे नरश्रेष्ठ ! मैं तुम से पूछता हूँ, यदि कह सकते हो, तो कह दो॥१०॥

भीमसेन उवाच —

भ्राता मम गुणश्लाघ्यो बुद्धिसत्वबलान्वितः ।
रामायणेऽतिविख्यातः श्रीमान् वानरपुङ्गवः ॥११॥

भीमसेन कहने लगा-मेरे पिता वायु से उत्पन्न होने के कारण, मेरे बड़े भाई के तुल्य, गुणों से प्रशंसित, बुद्धि पुरुषार्थ और बल से युक्त, कान्तिमान, एक बानर हुआ है, जिसका नाम हनुमान् था और जो रामायण में बड़ा विख्यात है ॥११॥

रामपत्नीकृते येन शतयोजनविस्तृतः ।
सागरः प्लवगेन्द्रेण क्रमेणैकेन लङ्घितः ॥१२॥

रामचन्द्र जी की धर्मपत्नी सीता की खोज के लिए जिस बानर-राज हनुमान् ने सौ योजन विस्तीर्ण समुद्र का एक ही छलांग में उल्लंघन किया था ॥१२॥

स मे भ्राता महावीर्य्यस्तुल्योऽहं तस्य तेजसा ।
बले पराक्रमे युद्धे शक्तोऽहं तव निग्रहे ॥१३

वह महा-शक्ति-शाली हनुमान्, मेरा ही भाई था । मैं भी उसके तेज से युक्त हूं, अतः मैं भी बल, पराक्रम या युद्ध में तुझे जीत लेने में सब तरह समर्थ हूं ॥१३॥

उत्तिष्ठ देहि मे मार्गं पश्य मे चाद्य पौरुषम् ।
मच्छासनमकुर्वाणं त्वा वा नेष्ये यमक्षयम् ॥१४॥

अब तू शीघ्र खड़ा हो जा और मुझे मार्ग दे दे या अपने साथ युद्ध में मेरा पौरुष देख। यदि तूने मेरा कहना नहीं माना, तो मैं तुझे यम के घर पहुंचा दूंगा ॥१४॥

वैशम्पायन उवाच—

विज्ञाय तं बलोन्मत्तं बाहुवीर्य्येण दर्पितम् ।
हृदयेनावहस्यैनं हनूमान् वाक्यमब्रवीत् ॥१५॥

वैशम्पायन बोले—हे राजन्! हनुमान् ने महाबली भीम को बाहुओं के बल से उन्मत्त देखा। अब यह हृदय में हंस कर भीम से यह बचन कहने लगा ॥१५॥

हनमानुवाच—

प्रसीद नास्ति मे शक्तिरुत्थातुं जरयानघ ।
ममानुकम्पया त्वेतत् पुच्छमुत्सार्य्य गम्यताम् ॥१६॥

हे महानुभाव! आप नाराज़ न हो। मैं इस बुढ़ापे के कारण उठ नहीं सकता हूं! मेरे ऊपर कृपा करके इस पूंछ को उठाकर निकल जाओ ॥१६॥

वैशम्पायन उवाच—

एवमुक्ते हनुमता हीनवीर्य्यपराक्रमम् ।
मनसाचिन्तयद्भीमः स्वबाहुबलदर्पितः ॥१७॥

वैशम्पायन बोले—हे राजन्! हनुमानजी के इतना कहने पर बाहुबल के अभिमान में चूर, भीमसेन ने अपने मनमें इस वानर को शक्ति और पराक्रम से हीन समझा ॥१७॥

पुच्छे प्रगृह्य तरसा हीनवीर्य्यपराक्रमम् ।
सालोक्यमन्तकस्यैनं नयाम्यद्येह वानरम् ॥१८॥

आज मैं इस दुबले पतले बानर की पूंछ पकड़ कर, इसको यमराज के घर पहुंचाऊंगा ॥१८॥

सावज्ञमथ वामेन स्मयन् जग्राह पाणिना ।
न चाशकच्चालयितुं भीमः पुच्छं महाकपेः ॥१९॥

भीमसेन ने मुस्कुराते हुए,अवज्ञा (लापरवाही)के साथ इसकी पूंछ को बांयें हाथ से उठाया, परन्तु भीम इस महा-कपि की पूंछ को उठा नहीं सका ॥१९॥

उच्चिक्षेप पुनर्दोर्भ्यामिन्द्रायुधमिवोच्छ्रितम् ।
नोद्धर्त्तुमशकद्भीमो दोर्भ्यामपि महाबलः ॥२०॥

महाबली भीम, इन्द्र धनुष के तुल्य विशाल कपि की पूंछ को अपनी दोनों भुजाओं से उठाने लगा परन्तु यह अब दोनों भुजाओं से भी उस पूंछ को नहीं हिला सका ॥ २० ॥

उत्क्षिप्तभ्रूर्विवृत्ताक्षः संहतभ्रुकुटीमुखः ।
स्विन्नगात्रोऽभवद्भीमो न चोद्धर्त्तुं शशाक तम् ॥२१॥

भीम की भौंहे तन गई, आंखें फटी सी रह गई और मुख पर भ्रुकुटी (बलें) चढ़ गई । भीम के सारे शरीर में पसीना आगया, परन्तु वह उस पूंछ को नहीं उठा सका ॥२१॥

यत्नवानपि तु श्रीमाल्लाङ्गूलोद्धरणोद्धुरः ।
कपेः पार्श्वगतो भीमस्तस्थौ व्रीडानताननः ॥२२॥

प्रणिपत्य च कौन्तेयः प्राञ्जलिर्वाक्यमब्रवीत् ।
प्रसीद कपि शार्दूल दुरुक्तं क्षम्यतां मम ॥२३॥

लाङ्गूल (पूँछ) के उठाने में व्यग्र, कान्तिमान् भीम ने बड़ा ही प्रयत्न किया, परन्तु वह पूंछ न उठी । अब वह भीम लज्जा से नीचा मुख करके वानर की बगल में जा खड़ा हुआ । कुन्ती-पुत्र, भीम ने हाथ जोड़ कर और प्रणाम करके यह वाक्य कहा--हे-कपि श्रेष्ठ ! तुम प्रसन्न हो जाओ और मेरे दुर्वचनों को क्षमा करो ॥२२—२३॥

सिद्धो वा यदि वा देवो गन्धर्वो वाथ गुह्यकः ।
पृष्टः सन् काम्यया ब्रूहि कस्त्वं वानररूपधृक् ॥२४॥

तुम सिद्ध, देव, गन्धर्व या यक्ष कौन हो । मैं तुम से पूछ रहा हूं । यदि आप की इच्छा हो, तो आप बतादें, कि वानर के रूप के धारण करने वाले तुम कौन हो ॥२४॥

न चेद्गुह्यं महाबाहो श्रोतव्यंञ्चेद्भवेन्मम ।
शिष्यवत्त्वात्तु पृच्छामि उपपन्नोऽस्मि तेऽनघ॥२५॥

हे महा-बाहो ! यदि यह विषय छुपाने योग्य नहीं है और इसे मैं सुन सकता हूं, तो आप बताइये । मैं शिष्य की तरह पूछता हूं और तुम्हारी शरण में आया हूं ॥२५॥

हनूमानुवाच —

यत्ते मम परिज्ञाने कौतूहलमरिन्दम ।
तत्सर्वमखिलेन त्वं शृणु पाण्डवनंदन ॥२६॥

हनुमान् ने कहा–हे अरि-विजयी, पाण्डु-नन्दन भीम ! यदि मुझे जानने की तेरी उत्कट इच्छा है. तो तू सावधान होकर सारा वृतान्त सुनले ॥२६॥

अहं केशरिणः क्षेत्रे वायुना जगदायुना ।
जातः कमलपत्राक्ष हनूमान्नाम वानरः ॥२७॥

हे कमललोचन ! भीम ! जगत् के प्राण भूत, वायु द्वारा मैं वानरराज केशरी की भार्या में उत्पन्न हुआ हूं और मेरा नाम हनुमान् है ॥ २७ ॥

सूर्य्यपुत्रश्च सुग्रीवं शक्रपुत्रश्च वालिनम् ।
सर्वे वानरराजानस्तथा वानरयूथपाः ॥२८॥
उपतस्थुर्महावीर्य्या मम चामित्रकर्षण ।
सुग्रीवेणाभवत् प्रीतिरनिलस्याग्निना यथा॥२९ ॥

सूर्य के पुत्र सुग्रीव और इन्द्र के पुत्र बालि के सामने, महाबली वानरों के राजा या उनकी सेना के स्वामी, खड़े रहते थे। आग से वायु के समान उस सुग्रीव से मेरी मित्रता थी ॥ २८--२९ ॥

निकृतः स ततो भ्रात्रा कस्मिंश्चित् कारणांतरे ।
ऋष्यमूके मया सार्द्धं सुग्रीवो न्यवसच्चिरम् ॥३०॥

एक बार किसी कारण से बड़े भाई बालि ने सुग्रीव का तिरस्कार करके उसको घर से निकाल दिया। उस समय ऋष्यमूक पर्वत पर सुग्रीव मेरे ही साथ रहता था॥ ३०॥

अथ दाशरथिर्वीरो रामो नाम महाबलः ।
विष्णुर्मानुषरूपेण चचार वसुधातलम् ॥३१॥

इसी समय भगवान् विष्णु, मनुष्य का रूप धारण करके दशरथ पुत्र, महाबली राम के रूप में पृथ्वी पर घूम रहे थे ॥३१॥

स पितुः प्रियमन्विच्छन् सहभार्य्यः सहानुजः ।
सधनुर्धन्विनां श्रेष्ठो दण्डकारण्यमाश्रितः ॥३२॥

धनुष धारियों में श्रेष्ठ वे श्रीरामचन्द्र जी, अपनी भार्या और छोटे भाई के साथ, धनुष लेकर पिता की इच्छा पूरी करने के लिये इस समय दण्डक वन में आये ॥ ३२ ॥

तस्य भार्य्या जनस्थानाच्छलेनापहृता बलात् ।
राक्षसेन्द्रेण बलिना रावणेन दुरात्मना ॥३३॥
सुवर्णरत्नचित्रेण मृगरूपेण रक्षसा ।
वञ्चयित्वा नरव्याघ्रं मारीचेण तदानघ ॥३४॥

इतिश्रीमहाभारत आरण्यपर्वणि तीर्थयात्रापर्वणि हनूमद्भीम संवादे सप्तचत्वारिंशदधिकशततमोऽध्यायः ॥१४७॥

हे महात्मन्! इस समय सुवर्ण और रत्नों से चित्र विचित्र, मृग-रूप-धारी, मारीच राक्षस के द्वारा धोका देकर श्रीरामचन्द्रजी की धर्म-पत्नी सीता को कपट से राक्षस-राज, दुष्ट, रावण ने बल पूर्वक हर लिया ॥ ३३-३४ ॥

इति श्री महाभारत वनपर्वान्तर्गत तीर्थ-यात्रा-पर्व
में हनुमान् और भीम के सम्वाद का एक सौ
सैंतालीसवां अध्याय पूरा हुआ ।

एक सौ अड़तालीसवां अध्याय

हनूमानुवाच —

हृतदारः सह भ्रात्रा पत्नीं मार्गन् स राघवः ।
दृष्टवाञ्छैलशिखरे सुग्रीवं वानरर्षभम् ॥१॥

हनुमान् जी कहने लगे--हे पुरुषर्षभ! जब रावण ने श्रीरामचन्द्रजी की भार्या का अपहरण कर लिया, तो रामचन्द्रजी अपने भाई लक्ष्मण के साथ अपनी भार्या को खोजते हुए ऋष्यमूक पर्वत पर आए और वहां उन्होंने बानरराज सुग्रीव को देखा ॥१॥

तेन तस्याभवत् सख्यं राघवस्य महात्मनः ।
स हत्वा बालिनं राज्ये सुग्रीवमभिषिक्तवान् ॥२॥

महाराजा श्रीरामचन्द्र जी की सुग्रीव से मित्रता हो गई श्रीरामचन्द्र जी ने बालि को मार कर, सुग्रीव को राज्यगद्दी पर बैठा दिया ॥ २ ॥

स राज्यं प्राप्य सुग्रीवः सीतायाः परिमार्गणे ।
वानरान् प्रेषयामास शतशोऽथ सहस्रशः ॥३॥

वानर-राज सुग्रीव ने राज्य पाकर, सीता की खोज में करोड़ों की संख्या में वानर भेजे ॥३॥

ततो वानरकोटिभिः सहितोहं नरर्षभ ।
सीतां मार्गन् महाबाहो प्रयातो दक्षिणां दिशम्॥४॥

हे नर-श्रेष्ठ! महाबाहो! मैं भी एक वानरों की सेना की टुकड़ी के साथ सीता को खोजता हुआ, दक्षिण दिशा को चला गया ॥ ४ ॥

ततः प्रवृत्तिः सीताया गृध्रेण सुमहात्मना ।
सम्पातिना समाख्याता रावणस्य निवेशने ॥५॥

वहां महात्मा सम्पाति गीध ने सीता के समाचार सुनाये और कहा कि वह रावण के घर पर है ॥ ५ ॥

ततोहङ्कार्य्यसिद्ध्यर्थं रामस्याक्लिष्टकर्मणः ।
शतयोजनविस्तारमर्णवं सहसाप्लुतः ॥६॥

अब मैं भी उत्तम कर्म करने वाले श्रीराम के कार्य की सिद्धि के लिए सौ योजन विस्तीर्ण समुद्र को झट से उलांघ गया ॥६॥

अहं स्ववीर्य्यादुत्तीर्य्य सागरं मकरालयम् ।
सुतां जनकराजस्य सीतां सुरसुतोपमाम् ॥७ ॥
दृष्टवान् भरतश्रेष्ठ रावणस्य निवेशने ।
समेत्य तामहं देवीं वैदेहीं राघवप्रियाम् ॥८॥

हे भरत-वशं-श्रेष्ठ ! मकरों के निवास स्थान विशाल समुद्र को मैं अपनी शक्ति से उलाँघ गया । वहाँ रावण के भवन पर मैंने देव-कन्या के सदृश, जनकराज-पुत्री, श्रीसीताजी को देखा और श्रीराम की प्रिय पत्नी, विदेह कुमारी श्रीसीताजी से मेरी भेंट होगई ॥ ७—८ ॥

दग्ध्वा लङ्कामशेषेण साट्टप्राकारतोरणाम् ।
प्रत्यागतश्चापि पुनर्नाम तत्र प्रकाश्य वै ॥९॥

लंका की अट्टालिका, प्राकार (शहरपनाह) और द्वारों को तोड़कर तथा सारी लंका को ही जलाकर मैं लौटा, जिससे वहां मेरा नाम विख्यात होगया ॥ ९ ॥

मद्वाक्यश्चावधार्य्याशु रामो राजीवलोचनः ।
स बुद्धिपूर्वं सैन्यस्य बध्वा सेतुं महोदधौ ॥१०॥

कमल के समान नेत्र धारी, श्रीरामचन्द्र, मेरे वचन सुनकर रावण पर चढ़ चले । इन्होंने बड़ी बुद्धिमानी से वानर-सेना के द्वारा समुद्र पर पुल बँधवाया ॥ १० ॥

वृतो वानरकोटिभिः समुत्तीर्णो महार्णवम् ।
ततो रामेण वीरेण हत्वा तानेव राक्षसान् ॥११॥
रणे स राक्षसगणं रावणं लोकरावणम् ।
निशाचरेन्द्रं हत्वा तु सभ्रातृसुतबान्धवम् ॥१२॥

यह करोड़ों वानरों की सेना लेकर बड़े भारी समुद्र को पार कर गया । इसके अनन्तर वीर-श्रेष्ठ श्रीरामचन्द्रजी, ने अनेक राक्षस मार डाले और भाई बेटों के साथ २ लोकों को त्रास देने वाले रावण का भी बध कर दिया ॥ ११—१२ ॥

राज्येऽभिषिच्य लङ्कायां राक्षसेन्द्रं विभीषणम् ।
धार्मिकं भक्तिमन्तश्च भक्तानुगतवत्सलम् ॥१३॥

अब इन्होंने भक्तिमान्, धार्मिक, अपने प्रिय मित्रों, के सहायक राक्षसराज विभीषण को लंका के सिंहासन पर बैठाया ॥ १३ ॥

ततः प्रत्याहृता भार्या नष्टा वेदश्रुतिर्यथा ।
तयैव सहितः साध्व्या पत्न्या रामो महायशाः॥१४॥
गत्वा ततोऽतित्वरितः स्वां पुरीं रघुनन्दनः।
अध्यावसत्ततोऽयोध्यामयोध्यां द्विषतां प्रभुः॥१५॥

नष्ट हुई वेदों की श्रुति के तुल्य, अपनी भार्या सीता को श्रीराम ने प्राप्त किया। महायशस्वी श्रीरामचन्द्र, अपनी पत्नी सीता को साथ लेकर बड़ी शीघ्रता से अपनी पुरी अयोध्या में पहुँचे। शत्रु-विजयी श्रीराम शत्रूओं से पराजय नहीं होने वाली अयोध्या पुरी के राज्य सिंहासन पर सुशोभित हुए ॥१४--१५॥

ततः प्रतिष्ठितो राज्ये रामो नृपतिसत्तमः ।
वरं मया याचितोऽसौ रामो राजीवलोचनः ॥१६॥

जब राजाओं में श्रेष्ठ, कमल नेत्र, श्री राघव, राज्य सिंहासन पर बैठ गए, तब मैंने उनसे एक वरदान माँगा ॥ १६ ॥

यावद्राम कथेयन्ते भवेल्लोकेषु शत्रुहन् ।
तावज्जीवेयमित्येवं तथास्त्विति च सोऽब्रवीत् ॥१७॥

हे शत्रुहन् ! राम ! जब तक तेरी यह कथा, लोकों में प्रचलित रहे, तब तक मैं जिन्दा रहूं। श्रीरामचन्द्रजी ने कहा—अच्छा ऐसा ही होगा ॥ १७ ॥

सीताप्रसादाच्च सदा मामिहस्थमरिन्दम ।
उपतिष्ठन्ति मे दिव्या भोगा भीम यथेप्सिताः॥१८॥

हे अरिमर्दन, भीम ! सीता जी की कृपा से मेरी इच्छानुसार यहीं पर मुझे दिव्य भोगों की सामग्रियाँ प्राप्त होती रहती हैं ॥१८॥

दशवर्षसहस्राणि दशवर्षशतानि च ।
राज्यं कारितवान् रामस्ततः स्वभवनं गतः॥१९

श्रीरामचन्द्रजी ने ग्यारह हज़ार वर्ष तक अयोध्या का राज्य किया, इसके पीछे वे अपने धाम को चले गये ॥ १६

तदिहाप्सरसस्तात गन्धर्वाश्च सदानघ ।
तस्य वीरस्य चरितं गायन्त्ो रमयन्ति माम् ॥२०॥

हे महानुभाव ! भीम ! यहां उसी राघव के चरितों को गाती हुई अप्सराएँ मुझे आनन्दित करती रहती हैं ॥ २० ॥

अयञ्च मार्गो मर्त्यानामगम्य कुरुनन्दन ।
ततोऽहं रुद्धवान् मार्गं तवेमं देवसेवितम् ॥२१॥

हे कुरुनन्दन ! यह देवों का मार्ग है, इस मार्ग से मनुष्य नहीं जा सकते हैं इसलिये मैंने तुम्हारा यह मार्ग रोका है ॥ २१ ॥

धर्षयेद्वा शपेद्वापि मा कश्चिदिति भारत ।
दिव्यो देवपथो ह्येष नात्र गच्छन्ति मानुषाः ।
यदर्थमागतश्चासि अत्र एव सरश्च तत् ॥२२॥

इति श्रीमहाभारत आरण्यपर्वणि तीर्थयात्रापर्वणि हनूमद्भीमसंवादे अष्टचत्वारिंशदधिकशततमोऽध्यायः ॥१४८॥

हे भारत ! मैंने यह इसलिए किया कि कहीं कोई तुम्हारा अपमान न करदे या तुम्हें शाप न दे डाले । यह देवों का मार्ग है, इससे मनुष्य नहीं जा सकते हैं । तुम जिसलिए आये हो, वह सरोवर यहीं पर हैं ॥ २२ ॥

इति श्रीमहाभारत वनपर्वान्तर्गत तीर्थ - यात्रा-पर्व में
हनुमान् और भीम के सम्वाद का एकसौ
अड़तालीसवां अध्याय पूरा हुआ ।

एक सौ उनंचासवां अध्याय

वैशम्पायन उवाच —

एवमुक्तो महाबाहुर्भीमसेनः प्रतापवान् ।
प्रणिपत्य ततः प्रीत्या भ्रातरं हृष्टमानसः ॥१॥
उवाच श्लक्ष्णया वाचा हनूमन्तं कपीश्वरम् ।
मया धन्यतरो नास्ति यदार्य्यं दृष्टवानहम् ॥२॥
अनुग्रहो मे सुमहांस्तृप्तिश्च तव दर्शनात् ।

वैशम्पायन बोले—हे राजन् ! हनुमान् जी के इतना कहने पर महाबली, प्रतापी, भीम, बड़ा प्रसन्न हुआ और प्रेम से अपने बड़े भाई कपीश्वर हनुमान् को प्रणाम करके मधुर वाणी से कहने लगा। आज मेरे समान कोई धन्य नहीं है, जो मैंने आपके दर्शन कर लिए। आप का यह बड़ा भारी अनुग्रह है। आपके दर्शन से मेरी बड़ी तृप्ति हुई है ॥१—२॥

एकन्तु कृतमिच्छामि त्वयाद्य प्रियमात्मनः ॥३॥
यत्ते तदासीत् प्लवतः सागरं मकरालयम् ।
रूपमप्रतिमं वीर तदिच्छामि निरीक्षितुम् ॥४॥

हे वीर ! आज मैं तुम से एक काम और करवाना चाहता हूँ, जो मुझे बड़ा प्रिय है। जिस रूप से आपने मकरों के आलय समुद्र का उल्लंघन किया, मैं उस अद्भुत रूप को देखना चाहता हूं ॥३—४॥

एवं तुष्टो भविष्यामि श्रद्धास्यामि च ते वचः ।
एवमुक्तः स तेजस्वी प्रहस्य हरिरब्रवीत् ॥५॥

मैं ऐसा करने से बड़ा सन्तुष्ट होऊंगा। मैं तुम्हारे वचन में बड़ी श्रद्धा रखता हूं। जब भीम ने इतना कहा तो-हंसते हुए वानरराज हनुमान् कहने लगे ॥५॥

हनूमानुवाच—

न तच्छक्यं त्वया द्रष्टुं रूपं नान्येन केनचित् ।
कालावस्था तदा ह्यन्या न सा वर्त्तति साम्प्रतम् ॥६

हे भीम ! उस रूप को तुम या अन्य कोई प्राणी नहीं देख सकता है। वह तो समय ही दूसरा था, वह अवस्था अब लौट कर कैसे आ सकती है ॥६॥

अन्यः कृतयुगे कालस्त्रेतायां द्वापरे परः ।
अयं प्रध्वंसनः कालो नाद्य तद्रूपमस्ति मे ॥७॥

सत्युग में काल की अन्य ही दशा थी, त्रेता में कुछ और एवं द्वापर में और भी भिन्न होगई। यह काल तो सब प्रकार से क्षीण करने वाला है, इससे अब वह रूप प्राप्त ही नहीं हो सकता है ॥७॥

भूमिर्नद्यो नगाः शैलाः सिद्धा देवा महर्षयः ।
कालं समनुवर्त्तन्ते यथा भावा युगे युगे ॥८॥

भूमि, नदी, पर्वत, सिद्ध, देव, महर्षि, ये सब काल के अनुसार कार्य करते हैं। ये ही क्या ? संसार के सारे पदार्थ ही काल का अनुसरण करते है ॥८॥

बलवर्ष्म प्रभावा हि प्रहीयन्त्युद्भवन्ति च।
तदलं तत्र तद्रूपं द्रष्टुं कुरुकुलोद्वह।
युगं समनुवर्त्तामि कालो हि दुरतिक्रमः ॥६॥

हे कुरु-वंश-श्रेष्ठ! भीम! वल, देह और प्रभाव, ये समय पर उत्पन्न होते हैं और समय पर ही लीन हो जाते है, इसलिए तुमको पुराना रूप देखने का हठ नहीं करना चाहिए। मैं तो युग के अनुसार चलता हूं, क्योंकि काल को कोई नही उलांघ सकता है ॥६॥

भीमसेन उवाच—

युगसंख्यां समाचक्ष्व आचारश्च युगे युगे।
धर्मकामार्थभावांश्च कर्म-वीर्य्यं भवाभवौ ॥१०॥

भीमसेन ने कहा—हे वानर-राज! तुम, प्रथम युग की संख्या और युग २ के आचार का निदर्शन करो। इसके पश्चात्, धर्म, काम, अर्थ, तत्व, कर्म, फलके उदय करने वाली शक्ति, उत्पत्ति विनाश या ऐश्वर्य अनैश्वर्य का कथन करो ॥१०॥

हनूमानुवाच—

कृतं नाम युगं तात यत्र धर्मः सनातनः।
कृतमेव न कर्त्तव्यं तस्मिन् काले युगोत्तमे।
न तत्र धर्माः सीदन्ति क्षीयन्ते न च वै प्रजाः ॥११॥

हनुमान् ने कहा-हे तात! सब से प्रथम युग का नाम सत्युग है, जिस में सनातन धर्म, पूर्ण रूप से उन्नति को प्राप्त होता है। इस युग में सारे प्राणी कृत-कृत्य होते हैं, उनको कोई कर्तव्य शेष

नहीं होता है। इस समय धर्म का कुछ भी ह्रास नहीं होता है और न पुत्र का कहीं विनाश होता है ॥११॥

ततः कृतयुगं नाम कालेन गुणतां गतम् ।
देवदानवगन्धर्वयक्षराक्षसपन्नगाः ॥१२॥
नासन् कृतयुगे तात तदा न क्रयविक्रयः ।
न सामऋग्यजुर्वर्णाः क्रिया नासीच्च मानवी ॥१३॥

कुछ काल के अनन्तर यह कृत युग भी गौण पड़ जाता है। इस में देव, दानव, गन्धर्व, यक्ष राक्षस, पन्नग, आदि कुछ भी भेद नहीं होते हैं। उस समय क्रय विक्रय की रीति भी नहीं होती और चित्त शुद्धि के हेतु साम, ऋक्, यजु और वर्ण भेद की भी आवश्यकता नहीं है। न कोई मनुष्यों की कृषि आदि क्रियाएँ होती हैं ॥१२—१३॥

अभिध्याय फलं तत्र धर्मः संन्यास एव च ।
न तस्मिन् युगसंसर्गे व्याधयो नेन्द्रियक्षयः ॥१४॥

इस युग में मन के सङ्कल्प करते ही फल की सिद्धि हो जाती है। धर्म के व्यवहार में संन्यास का बड़ा आदर है। इस सत्युग में न तो कोई व्याधि होती है और न इन्द्रियों की शक्ति का नाश होता है ॥१४॥

नासूया नापि रुदितं दर्पो नापि वैकृतम् ।
न विग्रहः कुतस्तन्द्री न द्वेषो न च पैशुनम् ॥१५॥

इस उत्तम युग में कोई किसी की निंदा नहीं करता और न कहीं विपत्ति से किसी को रोना पड़ता है, न किसी को घमण्ड है

और न कोई कपट ही करता है। कहीं भी लड़ाई नहीं होती, न कोई आलसी है। न किसी का किसी से द्वेष और न कोई किसी की चुगली करता है ॥१५॥

न भयं नापि सन्तापो न चेर्ष्या न च मत्सरः ।
ततः परमकं ब्रह्म सा गतिर्योगिनां परा ॥१६॥

किसी से कोई व्यर्थ भयभीत नहीं होता है और न किसी को कुछ जलन होती है। ईर्ष्या और मत्सर कहीं भी दिखाई नहीं देते। असूयादि के त्याग के अनन्तर परमानन्द रूप ब्रह्म कीं प्राप्ति होती है और यही योगियों की उत्कृष्ट गति है ॥१६॥

आत्मा च सर्वभूतानां शुक्लो नारायणस्तदा ।
ब्राह्मणाः क्षत्रिया वैश्याः शूद्राश्च कृतलक्षणाः ॥१७

इस युगमें समस्त प्राणियों का आत्मा,नारायण शुक्ल रूप धारण करता है। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र स्वयमेव शम-दमादि से युक्त उत्पन्न होते हैं ॥१७॥

कृते युगे समभवन् स्वकर्मनिरताः प्रजाः।
समाश्रयं समाचारं समज्ञानञ्च केवलम् ॥१८॥
तदा हि समकर्माणो वर्णा धर्मानवाप्नुवन् ।

सत्युग में प्रजा, अपने २ कर्मों में संलग्न रहती थी। उस समय सब के रहने के स्थान, आचार और ज्ञान, समान ही होते हैं। सब वर्णों का कर्मों में समान अधिकार हैं, जिस से सबको धर्म की प्राप्ति होती है ॥१८॥

एकदेवसमायुक्ता एकमन्त्रविधिक्रियाः ॥१९॥
पृथग्धर्मास्त्वेकवेदा धर्ममेकमनुव्रताः ।

इस समय सारे मनुष्य, एक देव (ब्रह्म) में निमग्न रहते हैं उनका एक मंत्र ओंकार, एक ही विधि, वेदान्त श्रवण तथा एक ही ध्यान होता है। भिन्न २ स्वभाव के होकर भी एक ज्ञान-निष्ठा के मानने वाले और सनातन धर्म के अनुयायी होते हैं ॥१६॥

चातुराश्रम्ययुक्तेन कर्मणा कालयोगिना ॥२०॥
अकामफलसंयोगात् प्राप्नुवन्ति पराङ्गतिम्।

सत्युग में समय पर किये जाने वाले चारों आश्रम धारियों के दर्श पौर्णमासादि यज्ञ से मनुष्य, परमगति पा लेते हैं, क्योंकि उन कर्मों में किसी की आसक्ति नहीं है ॥२०॥

आत्मयोगसमायुक्तो धर्मोऽयं कृतलक्षणः ॥२१॥
कृते युगे चतुष्पादश्चातुर्वर्ण्यस्य शाश्वतः।
एतत् कृतयुगे नाम त्रैगुण्यपरिवर्जितम् ॥२२॥

आत्मा और परमात्मा के चिन्तन से युक्त, युग धर्म का नाम सत्युग है, कृत युग में चारों वर्ण के सनातन धर्म चारों पाद से स्थित थे। इसी का नाम सत्युग है। इसमें सत्व, रज, और तम का योग नहीं होता है ॥२१—२२॥

त्रेतामपि निबोध त्वं तस्मिन् सत्रं प्रवर्त्तते।
पादेन ह्रसते धर्मो रक्ततां याति चाच्युतः ॥२३॥

अब तुम से त्रेतायुग का वर्णन करता हूँ इसमें यज्ञ क्रिया की अधिकता होती है। इस समय धर्म का एक पाद क्षीण हो जाता है और भगवान् विष्णु रक्त वर्ण, धारण करते हैं ॥२३॥

सत्यप्रवृत्ताश्च नराः क्रियाधर्मपरायणाः।
ततो यज्ञाः प्रवर्त्तन्ते धर्म्याश्च विविधा क्रियाः ॥२४

इस समय में भी लोगों की प्रवृति सत्य में रहती है और सारी क्रियाएं धर्म के विचार से होती हैं। इस तरह यज्ञ और धार्मिक क्रियाओं का प्रचार होता रहता है ॥२४॥

त्रेतायां भावसङ्कल्पाः क्रियादानफलोपगाः।
प्रचलन्ति न वै धर्मात्तपोदानपरायणाः ॥२५॥
स्वधर्मस्थाः क्रियावन्तो नरास्त्रेतायुगे भवन्।
द्वापरे च युगे धर्मो द्विभागो न प्रवर्त्तते ॥२६॥
विष्णुर्वै पीततां याति चतुर्धा वेद एव च।

इस त्रेता युग में मनुष्य भाव के अनुसार संकल्प करते हैं. परन्तु फल की प्राप्ति यज्ञादि क्रिया द्वारा ही होती है। मनुष्य तप और दान में परायण तथा क्रिया-शील रहते हैं। द्वापर में धर्म के दो भाग नहीं रहते। भगवान् विष्णु का पीत वर्ण और वेदों के चार विभाग हो जाते हैं ॥२५-२६॥

ततोऽन्ये च चतुर्वेदा स्त्रिवेदाश्च तथापरे ॥२७॥
द्विवेदाश्चैकवेदाश्चाप्यनृचश्चतथापरे।
एवं शास्त्रेषु भिन्नेषु बहुधा नीयते क्रिया ॥२८॥

इसके बाद कोई चतुर्वेदी कोई त्रिवेदी, कोई द्विवेदी, कोई एक वेदी और कोई ऋचाओं तक से हीन हो गए। इस प्रकार शास्त्रों का भेद करके अनेक प्रकार से कर्म-काण्ड जारी कर लिया ॥२७—२८॥

तपोदानप्रवृत्ता च राजसी भवति प्रजा ।
एकदेवस्य चाज्ञानाद्वेदास्ते बहवः कृताः ॥२६॥

इस दशा में प्रजा तप और दान में प्रवृत्त होकर राजसी वृत्ति की बन जाती है। जब लोगों को एक वेद का ठीक २ ज्ञान नहीं रहता है, तब वे बहुत से वेद बना लेते हैं ॥२६॥

सत्वस्य चेह विभ्रंशात् सत्ये कश्चिदवस्थितः ।
सत्वात् प्रच्यवमानानां व्याधयो बहवोऽभवत् ॥३०॥

इस समय लोगों के आत्म-बल का ह्रास होता है, जिससे कोई ही मनुष्य सत्य में दृढ़ रह पाता है. जब मनुष्य आत्म बल का परित्याग कर देता है, तो उसको बहुत सी व्याधियां घेर लेती हैं ॥३०॥

कामाश्चोपद्रवाश्चैव तदा वै दैवकारिताः ।
यैरद्द्यमानाः सुभृशं तपस्तप्यन्ति मानवाः ॥३१॥

उस समय मनुष्य के हृदय में अनेक कामनाएँ जाग उठतीं हैं, और देव प्रेरित उपद्रव खड़े हो जाते हैं। इस कामनाओं से पीड़ित होकर ही मनुष्य अनेक तप करते हैं ॥३१॥

कामकामाः स्वर्गकामा यज्ञांस्तन्वन्ति चापरे ।
एवं द्वापरमासाद्य प्रजाः क्षीयन्त्यधर्मतः ॥३२॥

बहुत से मनुष्य, कामनाओं के पीछे दौड़ने वाले हो जाते हैं और अनेक स्वर्ग की कामना से यज्ञ करने में लिपट जाते हैं। इस प्रकार द्वापर में अधर्म की प्रधानता होने से प्रजा क्षीण हो जाती है ॥३२॥

पादेनैकेन कौन्तेय धर्मः कलियुगे स्थितः ।
तामसं युगमासाद्य कृष्णो भवति केशवः ॥३३॥

हे कौन्तेय ! कलियुग में धर्म एक पाद का रह जाता है और इस तामस युगको पाकर भगवान् विष्णु, कृष्ण वर्ण के हो जाते हैं ३३

वेदाचाराः प्रशाम्यन्ति धर्मयज्ञक्रियास्तथा ।
ईतयो व्याधयस्तन्द्री दोषा क्रोधादयस्तथा ॥३४॥

इस युग में वेदों के आचार, धर्म और याज्ञिक क्रियाएँ नष्ट सी हो जाती हैं । इस काल में अतिवृष्टि अनावृष्टि और व्याधिकी प्रवलता रहती है । मनुष्य, आलसी हो जाते हैं और क्रोध आदि दोषों की वृद्धि हो जाती है ॥३४॥

उपद्रवाश्च वर्तन्ते आधयः क्षुद्भयं तथा ।
युगेष्वावर्तमानेषु धर्मो व्यावर्तते पुनः ॥३५॥

इस प्रकार अनेक उपद्रव होते हैं मन की चिन्ता और क्षुधा का भय भी बढ़ जाता है, ज्यों २ युगों का ह्रास होता जाता है, त्यों २ धर्म भी क्षीण होता है ॥३५॥

धर्मे व्यावर्त्तमाने तु लोको व्यावर्तते पुनः ।
लोके क्षीणे क्षयं यान्ति भावा लोकप्रवर्तकाः॥३६॥

जब धर्म ही उल्टा चल पड़ता है, तो लोक ही उलट जाता है । इस प्रकार जब लोक क्षीण होने लगता है, तो लोक के चलाने वाले भाव. धर्म. ज्ञान आदि भी क्षीण हो जाते हैं॥३६॥

युगक्षयकृता धर्माः प्रार्थनानि विकुर्वते ।
एतत् कलियुगं नाम अचिराद्यत् प्रवर्तते ॥३७॥

युग के क्षय से अत्यन्त क्षीण धर्म, प्रार्थनाओं का भी उलटा ही फल उत्पन्न करते हैं । इसका नाम कलियुग है, जो शीघ्र ही आने वाला है ॥३७॥

युगानुवर्तनन्त्वेतत् कुर्वन्ति चिरजीविनः ।
यच्च ते मत्परिज्ञाने कौतूहलमरिन्दम ॥३८॥
अनर्थकेषु को भावः पुरुषस्य विजानतः ।

हे अरिमर्दन ! मेरे समान चिरञ्जीवी भी काल धर्म के अनुसार चलने वाले होते हैं । अब तुझे जो मेरे जानने की अत्यन्त अभिलाषा हुई है. वह भी अनुचित है । विद्वान् पुरुष को निष्प्रयोजन बात के लिए झगड़ना नहीं चाहिये ॥३८॥

एतत्ते सर्वमाख्यातं यन्मां त्वं परिपृच्छसि ।
युगसंख्यां महाबाहो स्वस्ति प्राप्नुहि गम्यताम्॥३९॥

इति महाभारत आरण्यपर्वणि तीर्थयात्रापर्वणि हनूमद्भीमसंवादे एकोनपञ्चाशदधिकशततमोऽध्यायः ॥१४९॥

हे महाबाहो ! जो तुमने युग धर्म के विषय में मुझसे पूछा था, वह मैंने सारा सुना दिया । अब तुम को कल्याण प्राप्ति हो, तुम जाओ ।

इति श्रीमहाभारत वनपर्वान्तर्गत तीर्थयात्रापर्व
में हनुमान् और भीम के सम्वाद का
एक सौ उनंचासवाँ अध्याय पूरा हुआ

एक सौ पचासवां अध्याय

भीमसेन उवाच—

पूर्वरूपमदृष्ट्वा तें न यास्यामि कथंचन ।
यदि तेऽहमनुग्राह्यो दर्शयात्मानमात्मना ॥१॥

भीमसेन ने कहा—मैं तुम्हारे पूर्व रूप के देखे विना कभी नहीं जाऊंगा। भाई तुम मुझ पर कृपा रखते हो, तो अपने रूप के दर्शन दिखाओ ॥१॥

वैशम्पायन उवाच—

एवमुक्तस्तु भीमेन स्मितं कृत्वा प्लवङ्गमः ।
तद्रूपं दर्शमामास यद्वै सागरलङ्घने ॥२॥

वैशम्पायन बोले—भीम के इतना कहने पर हनुमान् जी मुस्कुरा पड़े और समुद्र के लङ्घन के समय के रूप को दिखा दिया ॥२॥

भ्रातुः प्रियमभिप्सन् वै चकार सुमहद्वपुः ।
देहस्तस्य ततोऽतीव वर्द्धत्यायामविस्तरैः ॥३॥

हनुमान्जी ने अपने भाई भीम की इच्छा पूरी करने के लिये अपने शरीर को बढ़ाना आरम्भ किया। इसकी देह, लम्बाई चौड़ाई में बहुत अधिक बढ़ने लगी ॥३॥

सद्रुमं कदलीषण्डं छादयन्नमितद्युतिः ।
गिरेश्चोच्छ्रयमाक्रम्य तस्थौ तत्र च वानरः ॥४॥

अत्यन्त-तेजस्वी, हनुमान्, वृक्षों सहित सारे कदली वन और पर्वत की ऊंचाई को दाब कर स्थित होगया ॥ ४ ॥

समुच्छ्रितमहाकायो द्वितीय इव पर्वतः ।
ताम्रेक्षणस्तीक्ष्णदंष्ट्रो भ्रुकुटी कुटिलाननः ॥५॥

विशाल-काय-धारी, हनुमान्, इस समय दूसरा पर्वत सा दिखाई पड़ता था। इसकी आंखें, तीक्ष्ण दाढ़े और मुख तथा भ्रकुटी, कुटिल थे ॥५॥

दीर्घलाङ्गलमाविध्य दिशो व्याप्य स्थितः कपिः ।
तद्रूपं महदालक्ष्य भ्रातुः कौरवनन्दनः ॥६॥
विसिस्मिये तदा भीमो जहृषे च पुनः पुनः ।

अपनी दीर्घ लाङ्गूल (पूँछ) को हिलाते हुए, हनुमान् ने सारी दिशाओं को व्याप्त कर लिया। अपने भाई हनुमान् के इस विशाल रूप को देखकर कुरुनन्दन भीमसेन चकित हो गया और बार २ प्रसन्न होने लगा ॥६॥

तमर्कमिव तेजोभिः सौवर्णमिव पर्वतम् ॥७॥
प्रदीप्तमिव चाकाशं दृष्ट्वा भीमो न्यमीलयत् ।

तेज से व्याप्त सूर्य, सुवर्ण के पर्वत तथा चमकते हुए आकाश के समान हनुमान् को देख कर भीमसेन ने अपनी आँखें मीच ली ॥७॥

आबभाषे च हनूमान् भीमसेनं स्मयन्निव ॥८॥
एतावदिह शक्तस्त्वं द्रष्टुं रूपं ममानघ ।

वर्द्धे ह्वश्चाप्यतो भूयो यावन्मे मनसि स्थितम् ।
भीम शत्रुषु चात्यर्थं वर्द्धते मूर्तिरोजसा ॥६॥

अब मुस्कुराते हुए हनुमान् ने भीमसेन से कहा—हे नर श्रेष्ठ ! भीम ! तू मेरा इतना ही रूप देख सकता है। मैं तो इससे अधिक भी अपनी इच्छानुसार और बढ़ सकता हूँ। मेरी मूर्ति शत्रु के सामने ही ओज के साथ वहुत बढ़ती है ॥८-६॥

वैशम्पायन उवाच—

तदद्भुतं महारौद्रं विन्ध्यपर्वतसन्निभम् ।
दृष्ट्वा हनूमतो वर्ष्म सम्भ्रान्तः पवनात्मजः ॥१०॥

वैशम्पायन कहने लगे--इस अद्भुत डरावने, विन्ध्य पर्वत के समान हनुमान्के शरीर को देखकर पवन-पुत्र, भीम. चकरा गया ॥१०॥

प्रत्युवाच ततो भीमः संप्रहृष्टतनूरुहः ।
कृताञ्जलिरदीनात्मा हनूमन्तमवस्थितम् ॥११॥

इसके अनन्तर रोमाञ्चधारी, तेजस्वी, भीम, अपने सम्मुख खड़े हुए हनुमान् से हाथ जोड़कर बोला ॥११॥

दृष्टं प्रमाणं विपुलं शरीरस्यास्य ते विभो।
सँहरस्व महावीर्य्य स्वयमात्मानमात्मना ॥१२॥

हे महाबली ! मैंने तुम्हारे शरीर के विपुल प्रमाण को देख लिया। अब तुम अपने आप इस शरीर के प्रमाण को संकुचित करो ॥१२॥

न हि शक्नोमि त्वां द्रष्टुं दिवाकरमिवोदितम् ।
अप्रमेयमनाधृष्यं मैनाकमिव पर्वतम् ॥१३॥

उदय हुए सूर्य और विचार में भी नहीं आने वाले, आक्रमण के अयोग्य, मैनाक पर्वत के तुल्य, तुम्हारे इस रूप को मैं देख नहीं सकता हूं ॥१३॥

विस्मयश्चैव मे वीर सुमहान् मनसोऽद्य वैं ।
यद्रामस्त्वयि पार्श्वस्थे स्वयं रावणमभ्यगात् ॥१४॥

हे वीर ! इस समय तो मेरे मन में एक शंका चक्कर लगा रही है, कि जब राम के पास तुम जैसे योद्धा थे, तो फिर वे रावण पर स्वयं क्यों चढ़ कर गए ॥१४॥

त्वमेवं शक्तस्तां लङ्कां सयोधां सहवाहनाम् ।
स्वबाहुबलमाश्रित्य विनाशयितुमञ्जसा ॥१५॥

सारे योद्धा और वाहनों के साथ लंका पुरी को तुम अकेले ही अपनी भुजाओं के बलका आश्रय लेकर शीघ्र नष्ट कर सकते थे ॥२५॥

न हि ते किञ्चिदप्राप्यं मारुतात्मज विद्यते ।
तव नैकस्य पर्य्याप्तो रावणः सगणो युधि ॥१६॥

हे मारुतामज, तुम सब कुछ कर सकते हो। तुम्हें कुछ भी दुर्लभ नहीं है। युद्ध में सारी सेना के साथ आया हुआ रावण भी, तुम अकेले के बराबर नहीं होगा ॥२६॥

वैशम्पायन उवाच—

एवमुक्तस्तु भीमेन हनूमान् स प्लवङ्गमः ।
प्रत्युवाच ततो वाक्यं स्निग्धगम्भीरया गिरा ।
एवमेतन्महाबाहो यथा वदसि भारत ॥१७॥

वैशम्पायन बोले—हे राजन् ! जब भीम ने इतना कहा--तो वानरराज हनुमान्, सुन्दर और गम्भीर वाणी से कहने लगा, हे भारत ! जैसा तुम कहते हो, वह ठीक हैं ॥१७॥

भीमसेन न पर्य्याप्तो ममासौ राक्षसाधमः ।
मया तु निहते तस्मिन् रावणे लोककण्टके ॥१८॥
कीर्त्तिर्नश्येद्राघवस्य तत एतदुपेक्षितम् ।

हे भीमसेन ! वह राक्षस-राज, रावण, सचमुच मेरे लिए काफी नहीं था, परन्तु यदि लोक के दुःख-दायी रावण को मैं ही मार देता, तो श्रीरामचन्द्र जी की कीर्ति नष्ट हो जाती, इसी लिए मैंने यह नहीं किया ॥१८॥

तेन वीरेण तं हत्वा सगणं राक्षसाधमम् ॥१९॥
आनीता स्वपुरी सीता कीर्त्तिश्चाख्यापिता नृषु ।

वीर राघव, उस राक्षसाधम रावण को सेना सहित मारकर सीता को अपनी पुरी अयोध्या में ले आया, जिससे उसकी कीर्ति संसार में फैल गई ॥१९॥

तद्गच्छ विपुलप्रज्ञ भ्रातुः प्रियहिते रतः ॥२०॥
अरिष्टं क्षेममध्वानं वायुना परिरक्षितः ।
एष पन्थाः कुरुश्रेष्ठ सौगन्धिकवनाय ते ॥२१॥

हे बुद्धिमानों में श्रेष्ठ ! अपने भाई के प्रिय में लगे हुए, वायु से सुरक्षित, तुम लोग अब आगे जाओ, तुम्हारा मार्ग सुख और कल्याण कारी हो, हे कुरु-श्रेष्ठ ! यह मार्ग, सौगन्धिक वन को जाता है ॥२०—२१॥

द्रक्ष्यसे धनदोद्यानं रक्षितं यक्षराक्षसैः ।
न च ते तरसा कार्य्यः कुसुमावचयः स्वयम्॥२२॥

वहां तू यक्ष राक्षसों से सुरक्षित, कुबेर के बगीचे को देखेगा. परन्तु वहां जल्दी से स्वयं फूल तोड़ने नही लग जाना ॥२२॥

दैवतानि हि मान्यानि पुरुषेण विशेषतः ।
बलिहोमनमस्कारैर्मन्त्रैश्च भरतर्षभ ॥२३॥

हे भरतर्षभ ! मनुष्यों को बलि, होम. मन्त्र और नमस्कार आदि से देवों का सत्कार करना चाहिए ॥२३॥

दैवतानि प्रसादं हि भक्त्या कुर्वन्ति भारत ।
मा तात साहसं कार्षीः स्वधर्मं परिपालय ॥२४॥

हे भारत ! भक्ति के वश में हुए देवता मनुष्य पर कृपा कर देते हैं। हे तात ! तुम वहां कोई विना विचारे न कर डालना. अपने धर्म का पालन करते रहना ॥२४॥

स्वधर्मस्थः परं धर्मं बुध्यस्व गमयस्व च ।
न हि धर्ममविज्ञाय वृद्धाननुपसेव्य च ॥२५॥
धर्मार्थौ वेदितुं शक्यौ बृहस्पतिसमैरपि ।

तू अपने धर्म में स्थित होकर फिर उत्कृष्ट धर्म का ज्ञान प्राप्त कर और उसका आचरण कर. धर्म के विना जाने और वृद्ध जनों का विना सत्संग किऐ बृहस्पति के समान विद्वान् भी धर्म कर्म के तत्व को नहीं जान सकता है ॥२५॥

अधर्मो यत्र धर्माख्यो धर्मश्चाधर्मसंज्ञितः ॥२६॥
स विज्ञेयो विभागेन यत्र मुह्यन्त्यबुद्धयः।

जहां अधर्म को धर्म और धर्म को अधर्म समझ लिया है, इसको तू विभाग करके जान लेना। मूर्ख प्राणी, इसी जगह आकर मोहित हो जाते हैं ॥२६॥

आचारसम्भवो धर्मो धर्मे वेदाः प्रतिष्ठिताः॥२७॥
वेदैर्यज्ञाः समुत्पन्ना यज्ञैर्देवाः प्रतिष्ठिताः।

धर्म तो सदाचार पर निर्भर है और जहां धर्म है, वहीं वेदों की स्थिति है। वेदों से यज्ञ सम्पन्न होते हैं और यज्ञों से देवता सन्तुष्ट किये जाते हैं ॥२७॥

वेदाचारविधानोक्तैर्यज्ञैर्धार्य्यन्ति देवताः ॥२८॥
बृहस्पत्युशनोक्तैश्च नयैर्धार्य्यन्ति मानवाः।

वेद की आज्ञा के अनुसार किये हुए, यज्ञों से देवों की उन्नति है और बृहस्पति तथा शुक्र के कहे हुए नीति-शास्त्र से मनुष्य उन्नति करते हैं ॥२८॥

पण्याकरवणिज्याभिः कृष्या गोऽजाविपोषणैः॥२६
वार्तया धार्य्यते सर्वं धर्मैरेतैर्द्विजातिभिः।

सेवा, आकर, (खान) वाणिज्य, खेती, गाय, बकरी, भेड़ों का पालना इसी प्रकार अन्य जीविकाओं से द्विजाति, अपने धर्म का निर्वाह कर रहे हैं ॥२६॥

त्रयी वार्त्ता दण्डनीतिस्तिस्रो विद्या विजानताम् ॥
ताभिः सम्यक् प्रयुक्ताभिर्लोकयात्रा विधीयते ।

वेदाध्ययन, व्यापार और दण्ड नीति, इन तीनों विद्या के जानने वाले, ब्राह्मण वैश्य और क्षत्रिय, इन तीनों विद्याओं से अपनी लोक-यात्रा (निर्वाह) अच्छी तरह चलाते हैं ॥२०॥

सा चे द्धर्मकृता न स्यात् त्रयीधर्ममृते भुवि ॥३१॥
दण्डनीतिमृते चापि निर्मर्य्यादमिदं भवेत् ।
वार्ताधर्मे ह्यवर्तिन्यो विनश्येयुरिमाः प्रजाः ॥३२॥

यदि लोक-यात्रा, धर्म के साथ न चलाई जावे और वेद धर्म का ह्रास हो जावे तथा दण्ड नीति उठ जावे. तो यह जगत् ही मर्यादा से हीन होकर छिन्न भिन्न हो जाता है। जीविका को धर्म पूर्वक न करने से ही यह सारी प्रजा नष्ट होती हैं ॥३१-३२

द्विजातीनामृतं धर्मो ह्येकश्चैवैकवर्णिकः ॥३३॥
यज्ञाध्ययनदानानि त्रयः साधारणाः स्मृताः ।
याजनाध्यापनं विप्रे धर्मश्चैव प्रतिग्रहः ३४

जब इन तीनों वृत्तियों को तीनों वर्ण, धर्म के अनुसार करते हैं, तो प्रजा में धर्म की वृद्धि होती है। शुद्ध सात्विक योग के साथ आत्मज्ञान प्राप्त करना ही द्विजातियों का मुख्य धर्म है। यज्ञ, अध्ययन और दान तो ब्राह्मण के साधारण कर्म हैं,याज़न अध्ययन और प्रति-ग्रह, ब्राह्मण के धर्म माने गये हो ॥३३—३४॥

पालनं क्षत्रियाणां वै वैश्यधर्म्मश्च पोषणम् ।
शुश्रूषा च द्विजातीनां शूद्राणां धर्म्म उच्यते ॥३५॥

जगत् का पालन करना क्षत्रिय, और पोषण करना वैश्य का कर्म है एवं द्विजातियाँ की सेवा करना ही शूद्र का काम है ॥३५॥

भैक्ष्यहोमव्रतैर्हीनास्तथैव गुरुवासिनः ।
क्षत्रधर्मोऽत्र कौन्तेय तव धर्मोऽत्र रक्षणम् ॥३६॥

हे कोन्तेय ! भिक्षा, होम, व्रत और गुरु कुल में वास ये शूद्रों को वर्जित है । रक्षा करना क्षत्रिय का धर्म है, इससे तुम्हारा धर्म प्रजा की रक्षा करना है ॥ ३६॥

स्वधर्मं प्रतिपद्यस्व विनीतो नियतेन्द्रियः ।
वृद्धैः सम्मन्त्र्य सद्भिश्च बुद्धिमद्भिः श्रुतान्वितैः ॥३७।
आस्थितः शास्ति दण्डेन व्यसनी परिभूयते ।

तुम नम्र रहकर इन्द्रियों का विजय प्राप्त करो और अपने धर्म का आचरण करो । शास्त्र के ज्ञाता, बुद्धिमान, सज्जन, वृद्धों से सम्मति करके कार्य करो । जो राजा इस प्रकार व्यवहार करता है, वह दण्ड द्वारा प्रजा का शासन कर सकता है और जो विषयों में लिप्त होजाता है, उसका विनाश होता है ॥३७॥

निग्रहानुग्रहैः सम्यग्यदा राजा प्रवर्त्तते ॥३८॥
तदा भवन्ति लोकस्य मर्य्यादाः सुव्यवस्थिताः ।

जब राजा न्याय के अनुसार दण्ड और पुरस्कार देता है, तभी लोक की मर्यादा सुव्यवस्थित होती है ॥३८॥

तस्माद्देशे च दुर्गे च शत्रुमित्रबलेषु च ॥३९॥
नित्यश्चारेण बोद्धव्यं स्थानं वृद्धिः क्षयस्तथा ।
राज्ञामुपायश्चारश्च बुद्धिमन्त्रपराक्रमाः ॥४०॥

अपने २ देश और दुर्गों में निवास करने वाले शत्रु-मित्र और उनकी सेना की स्थिति, वृद्धि, तथा क्षय को बुद्धिमान् राजा, नित्य गुप्तचरों से जानता रहे । राजाओं की सिद्धि का उपाय ही गुप्तचर, बुद्धि मन्त्र और पराक्रम है ॥ ३९–४० ॥

निग्रहप्रग्रहौ चैव दाक्ष्यं वै कार्य्यसाधकम् ।
साम्ना दानेन भेदेन दण्डेनोपेक्षणेन च ॥४१॥
साधनीयानि कर्माणि समासव्यासयोगतः ।
मन्त्रमूला नयाः सर्वे चाराश्च भरतर्षभ ॥४२॥

निग्रह (दण्ड) अनुग्रह और चतुराई ये भी कार्य के सिद्ध करने के कारण माने हैं । साम, दान, दण्ड, भेद और उपेक्षा इन सम्पूर्ण या पृथक् २ से अपने कार्य को सिद्ध करे । हे भरतर्षभ, गुप्तचर और राजनीतियां ये सब मन्त्र के ही अधीन हैं

सुमन्त्रितेन या सिद्धिस्तां द्विजैः सह मन्त्रयेत् ।
स्त्रिया मूढ़ेन बालेन लुब्धेन लघुनापि वा ॥४३॥
न मन्त्रयीत गुह्यानि येषाञ्चोन्मादलक्षणम् ।
मन्त्रयेत् सह विद्वद्भिः शक्तैः कर्माणि कारयेत् ॥४४
स्निग्धैश्च नीतिविन्यासान् मूर्खान् सर्वत्र वर्ज्जयेत् ।

जिस कार्य में अधिक विचार की आवश्यकता है, उसको विद्वान् ब्राह्मणों के साथ सोचे । स्त्री, मूर्ख, बालक, लोभी, क्षुद्र विचार वाले, उन्मादी (पागल) के साथ गुप्त मन्त्रणा (सलाह) न करे । जो विचार करने की शक्ति रखते हैं, उन विद्वानों के साथ ही विचार करके अपने कार्य का आरम्भ करे । नीति की स्थापना करने वाले (अधिकारी) मूर्ख नहीं होने चाहिए ॥४३-४४॥

धार्म्मिकान् धर्म्मकार्य्येषु अर्थकार्य्येषु पण्डितान्॥४५॥
स्त्रीषु क्लीबान्नियुञ्जीत क्रूरान् क्रूरेषु कर्म्मसु।

धर्म कार्यों में धर्मात्मा और धन के कार्य में नीतिमान् स्त्रियों में नपुंसक और क्रूर कर्मों में क्रूर मनुष्यों को नियुक्त करे ॥ ४५ ॥

स्वेभ्यश्चैव परेभ्यश्च कार्य्याकार्य्यसमुद्भवा ॥४६॥
वुद्धिः कर्मसु विज्ञेया रिपूणाञ्च वलावलम्।

अपने गुप्तचर या शत्रु के तोड़े हुए, गुप्त मनुष्य से भेद लेकर काम करने न करने में वुद्धि को नियुक्त करे। इसी प्रकार शत्रुओं का वलावल जानता रहे ॥ ४६ ॥

वुद्ध्या सुप्रतिपन्नेषु कुर्य्यात् साधूष्वनुग्रहम् ॥४७॥
निग्रहं चाप्यशिष्टेषु निर्मर्य्यादेषु कारयेत्।

वुद्धि से जिनकी अच्छी तरह परीक्षा करली है, ऐसे साधु पुरुषों की सहायता करता रहे और जो मर्यादा रहित, नीच जन हैं, उनको दण्ड देवे ॥ ४७ ॥

निग्रहे प्रग्रहे सम्यग्यदा राजा प्रवर्त्तते ॥४८॥
तदा भवति लोकस्य मर्य्यादा सुव्यवस्थिता।

जव निग्रह (दण्ड) और अनुग्रह में राजा न्याय से प्रवृत्त होता है, तभी जगत् की मर्यादा चलती है ॥ ४८ ॥

एष तेऽभिहितः पार्थ घोरो धर्मो दुरन्वयः ॥४९॥
तं स्वधर्मविभागेन विनयस्थोऽनुपालय।

हे पार्थ ! मैंने यह समझ में नहीं आने वाला सूक्ष्म धर्म का रहस्य तुझे सुना दिया है। तू विभागानुसार प्राप्त हुए, अपने क्षत्रिय धर्म का पालन करते रहना ॥४६॥

तपो धर्मदमेज्याभिर्विप्रा यान्ति यथा दिवम् ॥५०॥
दानातिथ्यक्रियाधर्मैर्यान्ति वैश्याश्च सद्गतिम् ।
क्षत्रं याति तथा स्वर्गं भुवि निग्रहपालनैः ॥५१॥

तप, धम, यज्ञों से जैसे ब्राह्मण स्वर्ग लोक में चले जाते हैं, दान, अतिथि सत्कार और यज्ञों से वैश्य उत्तम गति पाते हैं, वैसे ही क्षत्रिय भी पृथ्वी पर दूसरों को दण्ड और सज्जन का पालन करके स्वर्ग पाता है ॥५०—५१॥

सम्यक् प्रणीतदण्डा हि कामद्वेषविवर्ज्जिताः ।
अलुब्धा विगतक्रोधाः सतां यान्ति सलोकताम् ॥५२

इति श्रीमहाभारत आरण्यपर्वणि तीर्थयात्रापर्वणि
हनूमद्भीमसंवादे पञ्चाशदधिकशततमोऽध्यायः ॥ १५० ॥

जो न्याय के अनुसार दण्ड देते हैं, काम राग द्वेष से रहित है, क्रोध लोभ से विहीन हैं, वे क्षत्रिय, निश्चय धर्मात्माओं के लोकों को प्राप्त करते हैं ॥ ५२ ॥

इति श्रीमहाभारत वनपर्वान्तर्गत तीर्थ-यात्रा-पर्व में
हनुमान् भीम के सम्वाद का एक सौ पचासवां
अध्याय पूरा हुआ।

एक सौ इक्यावनवां अध्याय

वैशम्पायन उवाच—

तत संहृत्य विपुलं तद्वपुः कामतः कृतम् ।
भीमसेनं पुनर्दोर्भ्यां पर्य्यष्वजत वानरः ॥१॥

वैशम्पायन बोले—हे राजन् ! हनुमान्‌जी ने अपनी इच्छा से विस्तृत किये हुए शरीर को छोटा कर लिया और फिर वे भुजाओं से भीमसेन से आलिङ्गन करने लगे ॥ १ ॥

परिष्वक्तस्य तस्याशु भ्रात्रा भीमस्य भारत ।
श्रमो नाशमुपागच्छत् सर्वञ्चासीत् प्रदक्षिणम् ॥२॥

हे भारत ! अपने भाई हनुमान् से आलिङ्गन करते ही भीमसेन का सारा श्रम नष्ट होगया और उनको सारी कठिनाई सीधी होगई ॥ २ ॥

बलञ्चातिबलो मेने न मेऽस्ति सदृशो महान् ।
ततः पुनरथोवाच पर्य्यश्रुनयनो हरिः ॥३॥
भीममाभाष्य सौहार्दाद्वाष्पगद्गदया गिरा ।

इस समय महाबली भीम ने अपने को और भी बली समझा, इस को अब संसार में अपने समान कोई नहीं दीखता था। स्नेह के आंसुओं से भीगे हुए हनुमान् ने, गद्गद वाणी द्वारा भीम से कहा ॥ ३ ॥

गच्छ वीर स्वमावासं स्मर्त्तव्योऽस्मि कथान्तरे ॥४॥
इहस्थश्च कुरुश्रेष्ठ न निवेद्योऽस्मि कर्हिचित् ।

धनदस्यालयाच्चापि विशिष्टानां महाबल ॥५॥
देशकाल इहायातुं देवगन्धर्वयोषिताम् ।

हे वीर ! अब तुम जाओ और बातचीत के प्रसङ्ग में हम को कभी याद करते रहना। हे कुरु-श्रेष्ठ ! मैं यहां रहता हूँ, यह बात किसी को सूचित न करना। हे महाबली, यह समय, विशेष विशेष गुण रखने वाले देव, गन्धर्व और अप्सराओं के आने का है ॥ ४-५ ॥

ममापि सफलं चक्षुः स्मारितश्चास्मि राघवम् ॥६॥
रामाभिधानं विष्णुं हि जगद्धृदयनन्दनम् ।
सीतावक्त्रारविन्दार्कं दशास्यध्वान्तभास्करम् ॥७॥
मानुषं गात्रसंस्पर्शं गत्वा भीम त्वया सह ।
तदस्मद्दर्शनं वीर कौन्तेयामोघमस्तु ते ॥८॥

आज मेरे नेत्र भी सफल होगये, जो तुमने श्रीराम का स्मरण करा दिया। राम-नामक विष्णु, जगत् के हृदय को आनन्द देने वाले हैं। सीता के मुख कमल को सूर्य, रावण रूप अन्धकार के नाशक, श्रीराम के मानुष शरीर से सम्पर्क पाकर मेरे शरीर ने तेरे शरीर से सम्पर्क प्राप्त किया है। हे कौन्तेय ! अब यह मेरा दर्शन निष्फल नहीं होगा ॥६--८॥

भ्रातृत्वं त्वं पुरस्कृत्य वरं वरय भारत ।
यदि तावन्मया क्षुद्रा गत्वा वारणसाह्वयम् ॥९॥

धार्त्तराष्ट्रा निहन्तव्या यावदेतत् करोम्यहम् ।
शिलया नगरञ्चापि मर्दितव्यं मया यदि ॥१०॥
बध्वा दुर्य्योधनञ्चाद्य आनयामि तवान्तिकम् ।
यावदेतत् करोम्यद्य कामं तव महाबल ॥११॥

हे भारत ! तुम मेरे भाई के सम्बन्ध को मुख्य मानकर मुझ से वर माँगो। मैं अभी हस्तिनापुर जाकर उन क्षुद्र धृतराष्ट्र के पुत्रों को मार सकता हूँ। मैं शिलाओं की वर्षा से उस नगर के नगर को चूर्ण कर सकता हूँ। यदि तुम्हारी इच्छा हो तो दुर्योधन को बाँधकर तेरे पास ले आऊँ। यह सब कुछ मैं इसी क्षण कर सकता हूँ ॥६--११॥

वैशम्पायन उवाच—

भीमसेनस्तु तद्वाक्यं श्रुत्वा तस्य महात्मनः ।
प्रत्युवाच हनूमन्तं प्रहृष्टेनान्तरात्मना ॥१२॥

वैशम्पायन बोले—हे राजन् ! महात्मा हनुमान् के ये वचन सुनकर भीमसेन, अन्तरात्मा से बड़ा प्रसन्न हुआ और उनसे यह वचन बोला ॥१२॥

कृतमेव त्वया सर्वं मम वानरपुङ्गव ।
स्वस्ति तेऽस्तु महाबाहो कामये त्वां प्रसीद मे ॥१३

हे वानर-श्रेष्ठ ! तुमने जो यह कह दिया, वह सब करने के ही बराबर है। हे महाबाहो ! तुम्हारा कल्याण हो, मैं तो यही चाहता हूँ, कि तुम हम पर कृपा बनाए रहो ॥१३॥

सनाथाः पाण्डवाः सर्वे त्वया नाथेन वीर्य्यवन् ।
तवैव तेजसा सर्वान् विजेष्यामो वयं परान् ॥१४॥

हे शक्तिशाली, आज तेरी सहायता से पाण्डव सनाथ होगये हैं। अब तो हम ही तुम्हारे तेज से सारे शत्रुओं को जीत लेंगे १४

एवमुक्तस्तु हनूमान् भीमसेनमभाषत ।
भ्रातृत्वात् सौहृदाच्चैव करिष्यामि प्रियं तव ॥१५॥

जब भीम ने इतना कहा, तो हनुमान् भीम से कहने लगे— तुम मेरे भाई और प्रेमी हो, इससे मैं तुम्हारा कार्य अवश्य करूँगा ॥ १५ ॥

चमूं विगाह्य शत्रूणां शरशक्तिसमाकुलाम् ।
यदा सिंहरवं वीर करिष्यसि महाबल ॥१६॥
तदाहं बृंहयिष्यामि स्वरवेण रवन्तव ।
विजयस्य ध्वजस्थश्च नादान्मोक्ष्यामि दारुणान् ॥१७

हे महाबली ! बाणों की शक्ति से व्याकुल, शत्रुओं की सेना में घुसकर जब तू सिंह नाद करेगा, तब मैं भी तेरे शब्द में शब्द मिलाकर तेरी गर्जना को भीषण बना दूंगा और अर्जुन की ध्वजामें बैठा हुआ दारुण शब्द करता रहूँगा ॥१६--१७॥

शत्रूणां ये प्राणहराः सुखं येन हनिष्यथ ।
एवमाभाष्य हनुमांस्तदा तं पाण्डुनन्दनम् ।
मार्गमाख्याय भीमाय तत्रैवान्तरधीयत ॥१८॥

इति श्रीमहाभारत आरण्यपर्वणि तीर्थ-यात्रा-पर्वणि सौगन्धिकाहरणे एकपञ्चाशदधिकशततमोऽध्यायः ॥१५१॥

ये शव्द, शत्रुओं के प्राणों के हरण वाले होंगे। तुम इस शव्द की सहायता से सब को सुख से मार लोगे। हनुमान्, पाण्डुनन्दन भीम से इतना कहकर और मार्ग बताकर अलक्षित होगए ॥१८॥

इति श्रीमहाभारत वनपर्वान्तर्गत तीर्थ-यात्रा-पर्व में
सौगन्धिक आहरण का एक सौ इक्यावनवाँ
अध्याय पूरा हुआ।

एक सौ बावनवां अध्याय

वैशम्पायन उवाच—

गते तस्मिन् हरिवरे भीमोऽपि बलिनाम्वरः।
तेन मार्गेण विपुलं व्यचरद्गन्धमादनम् ॥१॥

वैशम्पायन बोले—हे राजन्! वानर-श्रेष्ठ, हनुमान् के चले जाने पर वलवानों में श्रेष्ठ, भीमसेन भी उसी मार्ग से विशाल गन्धमादन पर्वत की ओर चल दिया ॥ १ ॥

अनुस्मरन् वपुस्तस्य श्रियश्चाप्रतिमां भुवि।
माहात्म्यमनुभावञ्च स्मरन् दाशरथेर्ययौ ॥२॥

भीमसेन, हनुमान् के शरीर और पृथ्वी पर उसकी अद्भुत कान्ति तथा श्रीरामचन्द्रजी की कीर्ति और प्रताप को याद करता हुआ, सौगन्धिक वन को चला जारहा था ॥ २ ॥

स तानि रमणीयानि वनान्युपवनानि च ।
विलोकयामास तदा सौगन्धिकवनेप्सया ॥३॥

भीमसेन, सौगन्धिक वन के देखने की इच्छा से आगे बढ़ा जा रहा था, इसी बीच में उसने अनेक सुन्दर वन-उपवन देखे ॥ ३ ॥

फुल्लद्रुमविचित्राणि सरांसि सरितस्तथा ।
नानाकुसुमचित्राणि पुष्पितानि वनानि च ॥४॥

इन वनों में पुष्पों से खिले हुए, वृत्तों से युक्त, सरोवर और नदियाँ थीं एवं अनेक भाँति के पुष्पों से लदे हुए, वृत्तों से, वन सुशोभित हो रहे थे ॥ ४ ॥

मत्तवारणयूथानि पङ्कक्लिन्नानि भारत ।
वर्षतामिव मेघानां वृन्दानि ददृशे तदा ॥५॥

हे भारत ! मद की कीचड़ से भीगे हुए मदोन्मत्त, हाथियों के झुण्ड, वर्षा करने वाले मेघों के समूह से प्रतीत होते थे ॥५॥

हरिणैश्चपलापाङ्गैर्हरिणीसहितैर्वनम् ।
सशष्पकवलैः श्रीमान् पथि दृष्ट्वा द्रुतं ययौ ॥६॥

अद्भुत कान्ति-धारी भीमसेन, घास मुँह में लिये हुए चञ्चल नेत्र वाले, हरिणियों के सहित, हरिणों से युक्त वन को देखता हुआ शीघ्र चला जारहा था ॥ ६ ॥

महिषैश्च वराहैश्च शार्दूलैश्च निषेवितम् ।
व्यपेतभीर्गिरिं शौर्याद्भीमसेनो व्यगाहत ॥७॥

भैंसे, वराह, सिंह आदि से भरे हुए, पर्वत पर निर्भीक भीमसेन शूर-वीरता से चढ़ा चला गया ॥ ७ ॥

कुसुमानन्तगन्धैश्च ताम्रपल्लवकोमलैः ।
याच्यमान इवारण्यैर्द्रुमैर्मारुतकम्पितैः ॥८॥

असंख्य पुष्पों की गन्ध के धारण करने वाले, लाल पल्लवों से कोमल, वायु से कंपित, वृक्षों से वन में स्वागत सा पाता हुआ, भीमसेन चला जा रहा है ॥८॥

कृतपद्माञ्जलिपुटा मत्तषट्पदसेविताः ।
प्रियतीर्थवना मार्गे पद्मिनीः समतिक्रमन् ॥९॥

कमल कोशों की अञ्जलि बनाये हुए, मस्त भ्रमरों से सेवित, तीर्थ के जल से प्रेम करने वाली, पद्मिनियों को उलांघता हुआ भीमसेन चला जा रहा हैं ॥९॥

सज्जमानमनोदृष्टिः फुल्लेषु गिरिसानुषु ।
द्रौपदीवाक्यपाथेयो भीमः शीघ्रतरं ययौ ॥१०॥

पुष्पों से खिली हुई, पर्वत की चोटी में मन और दृष्टि लगा कर, द्रौपदी के वाक्य का आश्रय लिये हुए, भीम, शीघ्र २ जा रहा है ॥१०॥

परिवृत्तेऽहनि ततः प्रकीर्णहरिणे वने ।
काञ्चनैर्विमलैः पद्मैर्ददर्श विपुलां नदीम् ॥११॥

जब एक दिन बीतकर दूसरा दिन आया, तो भीमसेन ने बहुत से हरिणों से व्याप्त, वन में सुनहरी, निर्मल कमलों से सुशोभित एक विपुल नदी देखी ॥११॥

हंसकारण्डवयुतां चक्रवाकोपशोभिताम् ।
रचितामिव तस्याद्रेर्मालां विमलपङ्कजाम् ॥१२॥

यह नदी, हंस, कारण्डव आदि जल के पक्षियों से युक्त और चक्रवाकों से सुशोभित थी । यह तो ऐसी प्रतीत होती थी, जैसे उस पर्वत की सुन्दर कमलों की माला हो ॥१२॥

तस्यां नद्यां महासत्त्वः सौगन्धिकवनं महत् ।
अपश्यत् प्रीतिजननं बालार्कसदृशद्युति ॥१३॥

इसी नदी के समीप में इस महाबली भीम ने सूर्य के समान देदीप्यमान.प्रीति उत्पादक,विशाल सौगन्धिक वन को देखा ॥१३॥

तद्दृष्ट्वा लब्धकामः स मनसा पाण्डुनन्दनः।
वनवासपरिक्लिष्टां जगाम मनसा प्रियाम् ॥१४॥

इति श्रीमहाभारत आरण्यपर्वणि तीर्थयात्रापर्वणि सौगन्धिकाहरणे द्विपञ्चाशदधिकशततमोऽध्यायः॥१५२॥

इस वन को देखकर पाण्डुनन्दन भीम के मन की अभिलाषा पूर्ण हो गई । अब फिर उसको वनवास के क्लेशों से पीड़ित द्रौपदी की फिर याद आई ॥१४॥

इति श्रीमहाभारत वनपर्वान्तर्गत तीर्थ-यात्रा-पर्व में सौगन्धिक वन के प्रवेश का एक सौ बावनवां अध्याय पूरा हुआ ।

एक सौ तरेपनवां अध्याय

वैशम्पायन उवाच —

स गत्वा नलिनीं रम्यां राक्षसैरभिरक्षिताम् ।
कैलासशिखिराभ्यासे ददर्श शुभकाननाम् ॥१॥

वैशम्पायन बोले- हे राजन्! भीमसेन ने वहां पहुँच कर कैलास शिखर के पास राक्षसों से सुरक्षित, सुन्दर-वन-वाली, उसी रमणीक पद्मिनी को देखा ॥१॥

कुबेरभवनाभ्यासे जातां पर्वतनिर्झरे ।
सुरम्यां विपुलच्छायां नानाद्रुमलताकुलाम् ॥२॥
हरिताम्बुजसंच्छन्नां दिव्यां कनकपुष्कराम् ।
नानापक्षिजनाकीर्णां सूपतीर्थामकर्दमाम् ॥३॥

यह पद्मिनी, कुबेर के भवन के समीप पर्वत के झरने में लगी हुई थी। यह बड़ी सुन्दर बहुत सी छाया वाली, अनेक वृक्ष और लताओं से व्याप्त, हरे २ कमलों से घिरी हुई, सुनहरी कोश से सुशोभित, अनेक पक्षियों से परिपूर्ण, कीचड़ से रहित, तटों से युक्त थी ॥२-३॥

अतीव रम्यां सुजलां जातां पर्वतसानुषु ।
विचित्रभूतां लोकस्य शुभामद्भुतदर्शनाम् ॥४॥

यह बड़ी ही रमणीक, सुन्दर-जल वाली पर्वत की चोटी पर उत्पन्न हुई थी। संसार में यह बड़ी ही सुन्दर, अद्भुत वस्तु थी ॥४॥

तत्रामृतरसं शीतं लघु कुन्तीसुतः शुभम् ।
ददर्श विमलं तोयं पिबंश्च बहु पाण्डवः ॥५॥

कुन्ती-सुत भीम ने शीतल, हल्के, अमृत रस के समान, इस मीठे निर्मल जल का तृप्ति-पर्यन्त पान किया ॥५॥

तान्तु पुष्करिणीं रम्यां दिव्यसौगन्धिकावृताम्
जातरूपमयैः पद्मैश्छन्नां परमगन्धिभिः ॥६॥
वैदूर्य्यवरनालैश्च वहुचित्रैर्मनोरमैः ।
हंसकारण्डवोद्धूतैः सृजद्भिरमलं रजः ॥७॥

यह कमलिनी, दिव्य सौगन्धिक पुष्पों से आवृत, अत्यन्त सुगन्ध-धारी सुनहरी कमलों से व्याप्त, वैडूर्य मणि के समान नीले नाल से अद्भुत और मनोहर, हंस कारण्डव पक्षियों के उड़ने से निर्मल, रज के बखेरने वाली थी ॥६-७॥

आक्रीडं राजराजस्य कुबेरस्य महात्मनः ।
गन्धर्वैरप्सरोभिश्च देवैश्च परमार्चिताम् ॥८॥

महात्मा कुबेर की यह क्रीड़ा-स्थली थी । गन्धर्व, अप्सरा और देवता इसकी बड़ी पूजा करते थे ॥८॥

सेवितामृषिभिर्दिव्यैर्यक्षैः किम्पुरुषैस्तथा ।
राक्षसैः किन्नरैश्चापि गुप्तां वैश्रवणेन च ॥९॥

यह वनस्थली दिव्य, महर्षि, यक्ष, किन्नरों से सुसेवित थी और राक्षस, किन्नर तथा स्वयं कुबेर, इसकी रक्षा करता रहता था ॥९॥

ताञ्च दृष्ट्वैव कौन्तेयो भीमसेनो महाबलः ।
बभूव परमप्रीतो दिव्यं संप्रेक्ष्य तत्सरः ॥१०॥

इस पद्मिनी और उस सरोवर को देखते ही कुन्ती-पुत्र महाबली भीमसेन, बड़ा ही सन्तुष्ट हुआ ॥१०॥

तच्च क्रोधवशा नाम राक्षसा राजशासनात् ।
रक्षन्ति शतसाहस्राश्चित्रायुधपरिच्छदाः ॥११॥

कुवेर की आज्ञा से क्रोध-वश नामक लाखों राक्षस, विचित्र आयुध और कवचादि धारण करके इस सरोवर की रक्षा करते रहते थे ॥११॥

ते तु दृष्ट्वैव कौन्तेयमजिनैः प्रतिवासितम् ।
रुक्माङ्गदधरं वीरं भीमं भीमपराक्रमम् ॥१२॥
सायुधं बद्धनिस्त्रिंशमशङ्कितमरिन्दमम् ।
पुष्करेप्सुमुपायान्तमन्योऽन्यमभिचुक्रुशुः ॥१३॥

जब इन राक्षसों ने सुवर्ण का अंग (बाहु)भूषण धारण किए, मृग-चर्म-धारी, महापराक्रमी भीम को देखा तो मन में समझा कि यह शस्त्रधारी, तलवार बाँधे हुए, निःशङ्क कोई महाबली, इन कमलिनियों के पुष्पों के लेने को आया है, इससे वे एक दूसरे को पुकारने लगे ॥१२--१३॥

अयं पुरुषशार्दूलः सायुधोऽजिनसंवृतः ।
यच्चिकीर्षुरिह प्राप्तस्तत् सम्प्रष्टुमिहार्हथ ॥१४॥

ये बोले—यह शस्त्र और मृगचर्म धारी पुरुष-श्रेष्ठ, यहां क्यों आया है. इससे यह पूछना चाहिए, ॥१४॥

ततः सर्वे महाबाहुं समासाद्य वृकोदरम् ।
तेजोयुक्तमपृच्छन्त कस्त्वमाख्यातुमर्हसि॥१५॥

तब ये सारे राक्षस, महाबाहु, तेजस्वी, भीम को घेरकर खड़े होगए और पूछने लगे, कि तुम कौन हो—हमको बताओ ॥१५॥

मुनीवेशधरश्चैव सायुधश्चैव लक्ष्यसे ।
यदर्थमभिसंप्राप्तः तदाचक्ष्व महामते ॥१६॥

इति श्रीमहाभारत आरण्यपर्वणि तीर्थयात्रापर्वणि
सौगन्धिकाहरणे त्रिपञ्चाशदधिक
शततमोऽध्यायः ॥१५३॥

एक ओर तो मृगचर्म से मुनि-वेष दिखाई देता है और दूसरी ओर शस्त्र धारण कर रखे हैं । हे महामते ! तुम जिस कारण से आये हो, वह हमको बताओ ॥१६॥

इति श्रीमहाभारत वनपर्वान्तर्गत तीर्थ-यात्रा-पर्व में
सौगान्धिकाहरण का एक सौ तरेपनवां
अध्याय पूरा हुआ ।

महाभारत चित्र संख्या ३८

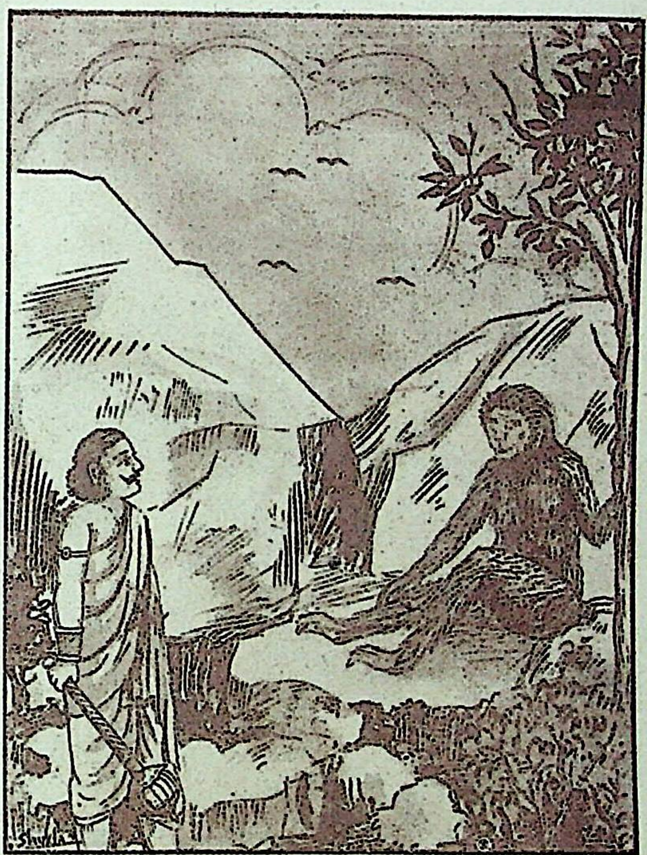

महाबली भीम और महावीर हनुमान का सम्भाषण
महा० वनपर्व अ० १४६--७६, पृष्ठ १४०

एक सौ चौवनवां अध्याय

भीमसेन उवाच —

पाण्डवो भीमसेनोऽहं धर्मराजादनन्तरः ।
विशालां बदरीं प्राप्तो भ्रातृभिः सह राक्षसाः ॥१॥

भीमसेन ने कहा - हे राक्षसो ! मैं धर्म-राज का छोटा भाई पाण्डु-पुत्र, भीमसेन हूँ। मैं अपने भाइयों के साथ, इस विशाल बदरी के दर्शनों को आया हूँ ॥१॥

अपश्यत्तत्र पाञ्चाली सौगन्धिकमनुत्तमम् ।
अनिलोढमितो नूनं सा बहूनि परीप्सति ॥२॥

अपने स्थान पर द्रौपदी ने एक उत्तम सुगन्धि-धारी कमल का फूल देखा। उस कमल को इधर से वायु उड़ाकर लेगया था। अब वह वैसे ही बहुत से कमल चाहती है ॥२॥

तस्या मामनवद्याङ्ग्या धर्मपत्न्याः प्रिये स्थितम् ।
पुष्पहारमिह प्राप्तं निबोधत निशाचराः ॥३॥

हे राक्षसो ! मैं उसी सुन्दरी धर्मराज की पत्नी द्रौपदी की अभिलाषा पूरी करने को उन पुष्पों को लेने के लिए आया हूं ॥३॥

राक्षसा ऊचुः—

आक्रीडोऽयं कुबेरस्य दयितः पुरुषर्षभः ।
नेह शक्यं मनुष्येण विहर्तुं मर्त्यधर्मिणा ॥४॥

राक्षस बोले-हे पुरुषर्षभ ! यह कुबेर का बड़ा प्रिय क्रीड़ा-स्थल है। इस स्थान में मरने-जीने वाला मनुष्य नहीं घूम सकता है ॥४॥

देवर्षयस्तथा यक्षा देवाश्चात्र वृकोदर।
आमन्त्र्य यक्षप्रवरं पिबन्ति रमयन्ति च ॥५॥
गन्धर्वाप्सरसश्चैव विहरन्त्यत्र पाण्डव।

हे भीमसेन ! देवर्षि, यक्ष तथा देवता भी यक्षराज कुबेर की आज्ञा लेकर ही इसके जल का पान और यहां विहार कर सकते हैं। हे पाण्डव ! यहां गन्धर्व और अप्सराएं विहार करते रहते हैं ॥५॥

अन्यायेनेह यः कश्चिदवमन्य धनेश्वरम् ॥६॥
विहर्त्तुमिच्छेद् वृत्तः स विनश्येन्न संशयः।

जो मूर्ख, दुराचारी, धनेश्वर कुबेर का अनादर करके अन्याय-पूर्वक इस स्थान में विहार करता है, वह अवश्य ही नष्ट होजाता है ॥६॥

तमनादृत्य पद्मानि जिहीर्षसि बलादितः।
धर्मराजस्य चात्मानं ब्रवीषि भ्रातरं कथम्॥७॥

तुम भी कुबेर की अवहेलना करके बल-पूर्वक कमल ले जाना चाहते हो। ऐसी इच्छा होने पर भी तुम अपने को धर्म-राजका हो भाई कह रहे हो ॥७॥

आमन्त्र्य यक्षराजं वै ततः पिब हरस्व च।
नातोऽन्यथा त्वयाशक्यं किञ्चित् पुष्करमीक्षितुम्॥८॥

तुम प्रथम यक्षराज कुबेर से आज्ञा ले लो, फिर इसके जल का पान या विहार करो। यदि ऐसा नहीं करोगे, तो तुम एक कमल के पुष्प की ओर देख भी नहीं सकोगे ॥८॥

भीमसेन उवाच—

राक्षसास्तं न पश्यामि धनेश्वरमिहान्तिके ।
दृष्ट्वापि च महाराजं नाहं याचितुमुत्सहे ॥९॥

भीमसेन ने कहा--हे राक्षसो! इस समय यक्षराज कुबेर कहीं पास में दिखाई नहीं देते हैं और मैं महाराज को देखकर भी याचना नहीं कर सकूंगा ॥९॥

न हि याचन्ति राजान एष धर्मः सनातनः।
न चाहं हातुमिच्छामि क्षात्रं धर्मं कथञ्चन ॥१०॥

जो क्षत्रिय होते हैं, वे याचना नहीं करते। उनका यही सनातन-धर्म है, इसलिए मैं भी क्षात्र धर्म का परित्याग करना नहीं चाहता हूं ॥१०॥

इयञ्च नलिनी रम्या जाता पर्वतनिर्झरे ।
नेयं भवनमासाद्य कुबेरस्य महात्मनः ॥११॥
तुल्या हि सर्वभूतानामियं वैश्रवणस्य च ।
एवं गतेषु द्रव्येषु कः कं याचितुमर्हति ॥१२॥

पर्वत के झरने में यह पद्मिनी उत्पन्न हुई है। यह कोई कुबेर के घर में नहीं खड़ी है। यह तो सारे प्राणी और कुबेर की सम्मिलित सम्पति है। इस प्रकार के द्रव्य में कौन किसकी याचना करे ॥११—१२॥

वैशम्पायन उवाच—

इत्युक्त्वा राक्षसान् सर्वान् भीमसेनो ह्यमर्षणः ।
व्यगाहत महाबाहुर्नलिनीं तां महाबलः ॥१३॥

वैशम्पायन बोले—हे राजन् ! इतना कहकर असहनशील, बड़ी २ भुजा वाले, महाबली भीम ने, उस पद्मिनी को जा पकड़ा ॥१३॥

ततः स राक्षसैर्वाचा प्रतिषिद्धः प्रतापवान् ।
मा मैवमिति सक्रोधैर्भर्त्सयद्भिः समन्ततः ॥१४॥

इसके अनन्तर कुपित हुए राक्षस, प्रतापी भीम को फटकारनें लगे और "ऐसा मत करो" यह कहकर उसको कमलिनी के ग्रहण करने से रोकने लगे ॥ १४ ॥

कदर्थीकृत्य तु स तान् राक्षसान् भीमविक्रमः ।
व्यगाहत महातेजास्ते तं सर्वे न्यवारयन् ॥१५॥

महा-पराक्रमी, महा-तेजस्वी, भीम ने उन सारे राक्षसों को व्याकुल कर दिया । वे सारे राक्षस रोकते ही रह गये, परन्तु भीमसेन ने उस पद्मिनी को जा पकड़ा ॥ १५ ॥

गृह्णीस्व बध्नीत प्रकर्त्ततेमं पचाम खादाम चभीमसेनम्
क्रुद्धा ब्रुवन्तोभिययुर्द्रुतंतेशस्त्राणिचोद्यम्यविवृत्तनेत्राः

अब अत्यन्त क्रुद्ध हुए राक्षस आँख फाड़-फाड़कर और शस्त्र उठाकर भीम की ओर दौड़े । भीमसेन को पकड़ लो, बाँध लो, काट डालो, पका लो और खा जाओ—इस प्रकार राक्षस पुकारते जाते थे ॥ १६ ॥

ततःसगुर्वीयमदण्डकल्पांमहागदांकाञ्चनपट्टनद्धाम् ।
प्रगृह्य तानभ्यपतत्तरस्वी ततोऽब्रवीत्तिष्ठत तिष्ठतेति

अब वेगवान् भीमसेन भी बड़ी भारी, यमदण्ड के तुल्य भयङ्कर, सुवर्ण के पत्रों से जटित, महागदा को उठाकर, उन राक्षसों पर दौड़ा और कहने लगा—जरा ठहरो ॥ १७ ॥

ते तं तदा तोमरपट्टिशाद्यैर्व्याविद्धशस्त्रैः सहसा निपेतुः
जिघांसवःक्रोधवशाःसुभीमाभीमंसमन्तात्परिवव्रुरुग्राः

महा-भयङ्कर राक्षस भी अब क्रोध में भर गए। ये भीमसेन को मारने की इच्छा से तोमर, पट्टिश आदि शस्त्र वाँधकर भीमसेन पर टूट पड़े और इन्होंने उसको चारों ओर से घेर लिया ॥ १८॥

वातेनकुन्त्यांबलवान्सजातःशूरस्तरस्वीद्विषतांनिहन्ता
सत्ये च धर्मे च रतः सदैव पराक्रमे शत्रुभिरप्रधृष्यः

यह शत्रु-विजयी, वेगवान्, शूरवीर तथा वलवान् भीमसेन वायु द्वारा कुन्ती में उत्पन्न हुआ है। यह सत्य और धर्म में निरत तथा पराक्रम में शत्रुओं से नहीं दबने वाला था ॥ १९ ॥

तेषां स मार्गान् विविधान्महात्मा ।
विहत्य शस्त्राणि च शात्रवाणाम् ।
यथा प्रवीरान्निजघान भीमः ।
परं शतं पुष्करिणी समीपे ॥२०॥

महात्मा भीम ने उन शत्रुओं के अनेक मार्गों (पैंतरों) तथा शस्त्रों को व्यर्थ कर दिया। भीमसेन ने इस पुष्करिणी के समीप सहस्रों राक्षस मारकर डाल दिये ॥ २० ॥

ते तस्यवीर्य्यञ्चबलञ्च दृष्ट्वाविद्याबलंबाहुबलंतथैव ।
अशक्नुवन्तःसहितुंसमन्तात्द्रुतंप्रवीराःसहसानिवृत्ताः

वे वीर-श्रेष्ठ, राक्षस, भीमसेन के पराक्रम, वल, विद्या और बाहुवल को देखकर, शीघ्र भाग निकले। उन सारे राक्षसों से कुछ भी करते नहीं वना ॥ २१ ॥

विदीर्य्यमाणास्ततएव तूर्णमाकाशमास्थायविमूढसंज्ञाः
कैलासशृङ्गाण्यभिदुद्रुवुस्तेभीमार्दिताःक्रोधवशाःप्रभग्नाः

भीमसेन के आघात से क्षत-विक्षत (ज़ख्मी) हुए, अचेतन राक्षस, आकाश को उड़ गये। भीम से मारे हुए राक्षस, क्रोध में भरे भागे जारहे थे। ये भागते हुए कैलाश पर्वत की चोटी पर पहुँचे ॥ २२ ॥

सशक्रवद्दानवदैत्यसंघान्विक्रम्यजित्वाचरणेऽरिसङ्घान्
विगाह्यतांपुष्करिणींजितारिःकामायजग्राहततोम्बुजानि

शत्रु-विजयी भीम ने, इन्द्र के तुल्य अपने वैरी दैत्य, दानवों के समूह को अपना पराक्रम दिखाकर जीत लिया। इसके वाद वह पुष्करिणी के पास पहुँचा और उसने अपनी इच्छा के अनुकूल कमल के पुष्प तोड़ लिये ॥ २३ ॥

ततःसपीत्वामृतकल्पमम्भोभूयोबभूवोत्तमवीर्य्यतेजाः
उत्पाटचजग्राहचसोऽम्बुजानिसौगन्धिकान्युत्तमगन्धवन्ति

इसने अमृत के तुल्य जल का पान कर लिया, जिससे यह और भी शक्तिशाली और तेजस्वी होगया। इसने उत्तम गन्ध-धारी कमल के पुष्प तोड़-तोड़ कर इकट्ठे कर लिए ॥ २४ ॥

ततस्तुतेक्रोधवशाःसमेत्य धनेश्वरंभीमबलप्रणुन्नाः ।
भीमस्यवीर्य्यंश्चबलश्चसंख्ये यथावदाचख्युरतीवभीताः

भीम के बल से छिन्न भिन्न हुए, क्रोध के वशीभूत और भयभीत राक्षस, धनेश्वर कुबेर के पास पहुँचे। इन्होंने युद्ध में दिखाये हुए भीम के बल और पराक्रम का वर्णन ज्यों का त्यों कर दिया ॥ २५ ॥

तेषां वचस्तत्तुनिशम्यदेवः प्रहस्यरक्षांसिततोऽभ्युवाच ।
गृह्णातुभीमोजलजानिकामात्कृष्णानिमित्तंविदितंममैतत्

उन राक्षसों के वचनों को सुनकर यक्षराज, कुबेर हँस पड़ा और राक्षसों से बोला—भीमसेन को द्रौपदी के लिए जितने कमल लेजाने हैं, लेजाने दो, मुझे इसका सब कुछ पता है २६

ततोऽभ्यनुज्ञाप्यधनेश्वरन्तेजग्मुःकुरूणांप्रवरंविरोषाः ।
भीमश्चतस्यांददृशुर्नलिन्यां यथोपजोषंविचरन्तमेकम्

इति श्रीमहाभारत आरण्यपर्वणि तीर्थयात्रापर्वणि
सौगन्धिकाहरणे चतुःपञ्चाशदधिक
शततमोऽध्यायः॥१५४॥

ये यक्षराज कुबेर से सारा निवेदन करके शान्त होगये और फिर लौटकर भीमसेन के पास पहुँचे। उन्होंने भीमसेन को उस कमलिनी (सरसी) में स्वतन्त्र घूमते देखा ॥ २७ ॥

इति श्रीमहाभारत वनपर्वान्तर्गत तीर्थ-यात्रा-पर्व में
सौगन्धिकाहरण का एक सौ चौवनवाँ
अध्याय पूरा हुआ।

एक सौ पचपनवां अध्याय

वैशम्पायन उवाच—

ततस्तानि महार्हाणि दिव्यानि भरतर्षभ ।
बहूनि बहूरूपाणि विरजांसि समाददे ॥१॥

वैशम्पायन बोला—हे भरतर्षभ! भीमसेन ने अत्यन्त मूल्यवान्, दिव्य, अनेक रूप के बहुत से रज—रहित कमल चुन लिए ॥ १ ॥

ततो वायुर्महान् शीघ्रो नीचैः शर्करकर्षणः ।
प्रादुरासीत् खरस्पर्शः सङ्ग्राममभिचोदयन् ॥२॥

भीम और राक्षसों के युद्ध के समय महान् धूल मिट्टी उड़ाता हुआ, तीक्ष्ण वायु, नीचा २ शीघ्रता से संग्राम की सूचना देता हुआ चलने लगा ॥ २ ॥

पपात महती चोल्का सनिर्घाता महाभया ।
निष्प्रभश्चाभवत् सूर्य्यश्छन्नरश्मिस्तमोवृतः ॥३॥

इस समय महा-भय-कारी, शब्द करते हुए, उल्कापात होने लगे और सूर्य की किरणें मैली पड़ गई तथा सूर्य अन्धकार से निस्तेज होगया ॥ ३ ॥

निर्घातश्चाभवद्भीमो भीमे विक्रममास्थिते ।
चचाल पृथिवी चापि पाँशुवर्षं पपात च ॥४॥

जब भीम ने अपने पराक्रम का प्रकाश किया, तब बड़ी भारी गर्जना हुई। सारी पृथ्वी डग मगाने और धूल मिट्टी की वर्षा पड़ने लगी ॥ ४ ॥

सलोहिता दिशश्चासन् खरवाचो मृगद्विजाः ।
तमोवृतमभूत् सर्वं न प्राज्ञायत किञ्चन ।।५।।
अन्ये च बहवो भीमा उत्पातास्तत्र जज्ञिरे ।

उस समय दिशाएँ लाल होगई, पशु पक्षी बुरे २ शब्द करने लगे; सब दिशाओं में अन्धेरा होगया और कुछ भी नहीं सूझ पड़ता था एवं वहां अन्य भी बहुत से भयङ्कर उत्पात उत्पन्न हुए ।।५।।

तदद्भुतमभिप्रेक्ष्य धर्म्मपुत्रो युधिष्ठिरः ।।६।।
उवाच वदतां श्रेष्ठः कोऽस्मानभिभविष्यति ।
सञ्जीभवत भद्रं वः पाण्डवा युद्धदुर्मदाः ।।७।।

इस प्रकार अद्भुत दशा देखकर उत्तम बोलने वाला धर्मराज युधिष्ठिर, कहने लगा- कौन है ? जो हम पर आक्रमण करना चाहता है । युद्ध के अभिलाषी पाण्डवो ! तय्यार हो जाओ ।। ६—७ ।।

यथारूपाणि पश्यामि स्वभ्यग्रो नः पराक्रमः ।
एवमुक्त्वा ततो राजा वीक्षाञ्चक्रे समन्ततः ।।८।।

इस दशा को देख कर तो प्रतीत होता है, कि पराक्रम दिखाने का समय पास ही आगया है । इतना कह कर धर्मराजने इधर उधर देखना आरम्भ किया ।। ८ ।।

अपश्यमानो भीमन्तु धर्मपुत्रो युधिष्ठिरः ।
ततः कृष्णां यमौ चापि समीपस्थावरिन्दमः ।।९।।
पप्रच्छ भ्रातरं भीमं भीमकर्माणमाहवे ।

जब अरि-विजयी-धर्मराज युधिष्ठिर ने, भीम को नहीं देखा, तो समीप में स्थित द्रौपदी, नकुल और सहदेव से युद्ध में भयानक कर्म करने वाले अपने भाई भीम को पूछा ॥९॥

कच्चिन्नु भीमः पाञ्चालि किञ्चित् कृत्यञ्चिकीर्षति ॥१०
कृतवानपि वा वीरः साहसं साहसप्रियः ।
इमे ह्यकस्मादुत्पाता महासमरदर्शनाः ॥११॥
दर्शयन्तो भयं तीव्रं प्रादुर्भूताः समन्ततः ।

हे पाञ्चालि ! क्या साहसी, वीर,भीमसेन कोई काम करना चाहता है या कर चुका है, क्योंकि ये अचानक होने वाले उत्पात बड़े भारी युद्ध के सूचक हैं, जो तीव्र भय उत्पन्न करते हुए, सब दिशाओं से उठ रहे हैं ॥१०-११॥

तं तथावादिनं कृष्णा प्रत्युवाच मनस्विनी ।
प्रिया प्रियञ्चिकीर्षन्ती महिषी चारुहासिनी ॥१२॥

इस प्रकार कहते हुए, राजा युधिष्ठिर से मनस्विनी, हित चाहने वाली, सुन्दरी राजमहिषी प्रियतमा द्रौपदी ने कहा ॥१२॥

द्रौपद्युवाच—

यत्तत् सौगन्धिकं राजन्नाहृतं मातरिश्वना ।
तन्मया भीमसेनस्य प्रीतयाद्योपपादितम् ।
अपि चोक्तो मया वीरो यदि पश्येर्बहून्यपि ॥१३॥
तानि सर्वाण्युपादाय शीघ्रमागम्यतामिति ।

हे राजन् ! जो आज उत्तम सुगन्ध-धारी कमल के पुष्प को वायु उड़ा कर लाया था, मैंने प्रसन्न होकर वह पुष्प भीम को दिया और कहा, यदि तुम ऐसे अन्य पुष्प देखो, तो उन सबको लेकर शीघ्र आ जाओ ॥१३॥

स तु नूनं महाबाहुः प्रियार्थं मम पाण्डवः ॥१४॥
प्रागुदीचीं दिशं राजंस्तान्याहर्त्तुमितो गतः ।
उक्तस्त्वेवं तया राजा यमाविदमथाब्रवीत् ॥१५॥
गच्छाम सहितास्तूर्णं येन यातो वृकोदरः ।

हे राजन्, वह महाबाहु- पाण्डु-पुत्र, भीम, मेरा मनोरथ पूरा करने के लिए पूर्वोत्तर दिशा में उन पुष्पों के लेने को गया है। जब द्रौपदी ने राजा युधिष्ठिर से इतना कहा,—तो धर्मराज ने नकुल सहदेव से कहा, कि हम भी सारे वहीं शीघ्र चलें, जहां भीमसेन गया हैं ॥१४-१५॥

वहन्तु राक्षसा विप्रान् यथाश्रान्तान् यथाकृशान् ॥१६
त्वमप्यमरसङ्काशः वह कृष्णां घटोत्कच ।

हे घटोत्कच ! राक्षस. भूखे, प्यासे निर्बल ब्राह्मणों को और तुम द्रौपदी को लेकर चलो। तुम तो देवों के समान शक्तिशाली हो ॥१६॥

व्यक्तं दूरमितो भीमः प्रविष्ट इति मे मतिः ॥१७॥
चिरञ्च तस्य कालोऽयं स च वायुसमो जवे ।
तरस्वी वैनतेयस्य सदृशो भुवि लङ्घने ॥१८॥

मेरा खयाल है, कि भीमसेन वन में बहुत दूर निकलगया हैं, वह तो चलने में वायु के समान वेग-शाली है और पृथिवी क उल्लंघन करन में गरुड़ के तुल्य शीघ्रगामी है। आज उसने भी क्यों देर कर दी है ॥१७-१८॥

उत्पतेदपि चाकाशं निपतेच्च यथेच्छकम् ।
तमन्विषाम भवतां प्रभावाद्रजनीचराः ॥१६॥
पुरा स नापराध्नोति सिद्धानां ब्रह्मवादिनाम् ।

भीमसेन तो अपनी इच्छा के अनुसार आकाश में उड़ सकता है और इच्छानुकूल कहीं पर ही उतर सकता है। हे राक्षसो ! हम तुम्हारे प्रभाव से अब भीमसेन को खोज करके ही छोड़ेंगे। यह भीमसेन ब्रह्मवादी सिद्धों का अपराध न करले इस से पूर्व ही हम वहां चल पहुंचे ॥१६॥

यथेत्युक्त्वा तु ते सर्वे हैडिम्बप्रमुखास्तदा ॥२०॥
उद्देशज्ञाः कुबेरस्य नलिन्या भरतर्षभ ।
आदाय पाण्डवांश्चैव तांश्च विप्राननेकशः ॥२१॥
लोमशेनैव सहिताः प्रययुः प्रीतमानसाः ।

हे भरतर्षभ! घटोत्कच आदि राक्षसों ने युधिष्ठिर से कहा—अच्छी वात है। अब वे कुवेर की पद्मिनीं के स्थान को जानने वाले राक्षस, वड़ी प्रसन्नता से पाण्डव और अनेक व्राह्मणों को लेकर लोमश ऋषि के साथ २ वहां गए। वहां शीघ्रता से पहुंच कर उन सब ने वह सुन्दर बनस्थली देखी ॥२०-२२॥

ते सर्वे त्वरिता गत्वा ददृशुः शुभकाननाम् ॥२२॥
गन्धसौगन्धिकवतीं नलिनीं सुमनोरमाम् ।
तत्र भीमं महात्मानं तस्यास्तीरे तरस्विनम् ॥२३॥
ददृशुर्निहतांश्चैव यक्षांश्च विपुलेक्षणान् ।
भिन्नकायाक्षिबाहूरून् सञ्चूर्णितशिरोधरान् ॥२४॥

सुगन्ध से भरे हुए कोशों से युक्त मनोहर पद्मिनी और सरोवर के तट पर वेगशील महात्मा भीम ने विशाल नेत्र वाले, यक्षों को देखा।। इन यक्षों के शरीर कट चुके थे, आंख बाहू और उरुओं के टुकड़े २ हो गए थे तथा ग्रीवाओं का चूर्ण हो चुका था ।।२३-२४।।

तञ्च भीमं महात्मानं तस्यास्तीरे व्यवस्थितम् ।
सक्रोधं स्तब्धनयनं सन्दष्टदशनच्छदम् ।।२५।।
उद्यम्य च गदां दोर्भ्यां नदीतीरे व्यवस्थितम् ।
प्रजासङ्क्षेपसमये दण्डहस्तमिवान्तकम् ।।२६।।

इन्होंने इस सरोवर के तट पर स्थित, क्रोध युक्त, आंख ठहराए हुए, होठ काटते हुए, भुजाओं में गदा उठाए, महात्मा भीम को देखा। जो प्रलय के समय दण्डधारी काल सा प्रतीत होता था ।।२५-२६।।

तं दृष्ट्वा धर्म्मराजस्तु परिष्वज्य पुनः पुनः ।
उवाच श्लक्ष्णया वाचा कौन्तेय किमिदं कृतम् ।।२७

धर्मराज, भीमसेन को देखते ही लिपट गया और स्पष्ट वाणी से बोला- हे भीम ! तूने यह क्या किया ।।२७।।

साहसं बत भद्रं ते देवानामथ वाप्रियम् ।
पुनरेवं न कर्त्तव्यं मम चेदिच्छसि प्रियम् ।।२८।।

हे कौन्तेय ! जो तू मेरा हित चाहता है तो देवों को अप्रिय लगने वाला, ऐसा साहस, फिर कभी आगे न कर बैठना ।।२८।।

अनुशिष्य तु कौन्तेयं पद्मानि परिगृह्य च ।
तस्यामेव नलिन्यान्तु विजह्रुरमरोपमाः ॥२९॥

भीमसेन को शिक्षा देकर और उन कमलों को लेकर देवों के तुल्य पाण्डवों ने उस पद्मिनी की वनस्थली में विश्राम किया२९

एतस्मिन्नेव काले तु प्रगृहीतशिलायुधाः ।
प्रादुरासन्महाकायास्तस्योद्यानस्य रक्षिणः ॥३०॥

इसी समय शिला और शस्त्र लिये हुए विशाल काय-धारी उस बगीचे के रखवाले राक्षस वहां आ पहुंचे ॥३०॥

ते दृष्ट्वा धर्म्मराजानं महर्षिञ्चापि लोमशम् ।
नकुलं सहदेवञ्च तथान्यान् ब्राह्मणर्षभान् ॥३१॥
विनयेन गताः सर्वे प्रणिपेतुश्च भारत ।
सान्त्विता धर्म्मराजेन प्रसेदुःक्षणदाचराः ॥३२

हे भारत ! जब उन उद्यान- रक्षकों ने धर्म-राज युधिष्ठिर, महर्षि लोमश, नकुल, सहदेव तथा अन्य उत्तम ब्राह्मणों को देखा, तो वे सब विनय के साथ प्रणाम करने लगे । धर्मराज ने इनको बड़ी सान्त्वना दी, जिससे सारे रक्षक राक्षस, प्रसन्न हो गए ॥३१—३२॥

विदिताश्च कुबेरस्य तत्र ते कुरुपुङ्गवाः ।
ऊषुर्नातिचिरं कालं रममाणाः कुरूद्वहाः ।
प्रतीक्षमाणा बीभत्सुं गन्धमादनसानुषु ॥३३॥

इति श्रीमहाभारत आरण्यपर्वणि तीर्थयात्रापर्वणि सौगन्धिकाहरणे पञ्चपञ्चाश दधिकशततमोऽध्यायः ॥१५५॥

यहाँ आये हुए,कुरु-वंश-श्रेष्ठ ,पाण्डवों के आने का समाचार यक्षराज कुबेर को भी मिल गया । उस स्थान में पाण्डवों का मन तो लग चुका था, परन्तु वे वहां बहुत काल नहीं ठहर सके । वे तो गन्धमादन पर्वत पर अर्जुन की प्रतीक्षा करना चाहते थे ॥३३॥

इति श्रीमहाभारत वनपर्वान्तर्गत तीर्थ-यात्रा-पर्व में
सौगन्धिक आहरण का एक सौ
पचपनवां अध्याय पूरा हुआ ।

एक सौ छप्पनवां अध्याय

वैशम्पायन उवाच—

तस्मिन् निवसमानोऽथ धर्मराजो युधिष्ठिरः ।
कृष्णया सहितान् भ्रातृनित्युवाच सहद्विजान् ॥१॥

वैशम्पायन बोले—हे राजन् ! उस वन में निवास करता हुआ धर्मराज युधिष्ठिर, एक दिन सारे ब्राह्मण और द्रौपदी के साथ बैठे हुए अपने भाइयों से कहने लगा ॥१॥

दृष्टानि तीर्थान्यस्माभिः पुण्यानि च शिवानि च ।
मनसो ल्हादनीयानि वनानि च पृथक् पृथक् ॥२॥

हे महानुभावो ! हमने बड़े पवित्र, कल्याण-कारी, मनके प्रसन्न करने वाले, अनेक भिन्न २ तीर्थ और वन देखे हैं ॥२॥

देवैः पूर्वं विकीर्णानि मुनिभिश्च महात्मभिः ।
यथाक्रमविशेषेण द्विजैः सम्पूजितानि च ॥३॥

जिन तीर्थों में पूर्वकाल में देव और महात्मा मुनि लोग, निवास करते रहते थे। क्रमानुसार समान रूप से ब्राह्मणों ने जिनके महत्व का वर्णन किया है ।।३।।

ऋषीणां पूर्वचरितं तथा कर्म विचेष्टितम् ।
राजर्षीणाञ्च चरितं कथाश्च विविधाः शुभाः ॥४॥
शृण्वानास्तत्र तत्र स्म आश्रमेषु शिवेषु च ।
अभिषेकं द्विजैः सार्द्धं कृतवन्तो विशेषतः ॥५॥

हमने ऋषियों के जीवन चरित, उनके काम और चेष्टाएँ, राजाओं के चरित अनेक सुन्दर २ कथा, भिन्न २ सुखदायी आश्रमों में सुनी हैं और विशेष करके ब्राह्मणों के साथ इन तीर्थों में स्नान किया है ।।४-५।।

अर्चिताः सततं देवाः पुष्पैरद्भिः सदा च वः ।
यथालब्धैर्मूलफलैः पितरश्चापि तर्पिताः ।।६।।

पुष्प और शुद्ध जल से नित्य देवों की पूजा की और यथा-योग्य प्राप्त हुए, कन्दमूल फलों से पितरों की तृप्ति की है ।।६।।

पर्वतेषु च रम्येषु सर्वेषु च सरःसु च ।
उदधौ च महापुण्ये सूपस्पृष्टं महात्मभिः ॥७॥

रमणीक पर्वत, सारे सरोवर, और महा-पवित्र समुद्र में महात्मा ब्राह्मणों के साथ २ हमने स्नान कर लिए हैं ।।७।।

इला सरस्वती सिन्धुर्यमुना नर्मदा तथा ।
नानातीर्थेषु रम्येषु सूपस्पृष्टं सह द्विजैः ।।८।।

इला, सरस्वती, सिन्धु, यमुना, नर्मदा आदि अनेक तीर्थों में द्विजों के साथ २ स्नान और आचमन किया है ।।८।।

गङ्गाद्वारमतिक्रम्य बहवः पर्वताः शुभाः ।
हिमवान् पर्वतश्चैव नानाद्विजगणायुतः ॥६॥
विशाला बदरी दृष्टा नरनारायणाश्रमः ।
दिव्या पुष्करिणी दृष्टा सिद्धदेवर्षिपूजिता ॥१०॥

इन्होंने गङ्गा-द्वार का अतिक्रमण करके बहुतसे सुन्दर पर्वत और नाना पक्षियों से युक्त, हिमालय पर्वत, तथा विशाल बदरी के वृक्ष, नर-नारायण ऋषियों के आश्रम एवं सिद्ध-देवर्षियों से पूज्य, दिव्य पुष्करिणी के दर्शन किये ॥६—१०॥

यथाक्रमविशेषेण सर्वाण्यायतनानि च ।
दर्शितानि द्विजश्रेष्ठ लोमशेन महात्मना ॥११॥
इमं वैश्रवणावासं पुण्यं सिद्धनिषेवितम् ।
कथं भीम गमिष्यामो गतिरन्तरधीयताम् ॥१२॥

हे द्विज-श्रेष्ठो ! इस प्रकार महात्मा लोमश ने अनेक मठ और स्थानों के दर्शन करा दिये हैं। यह कुबेर के रहने का स्थान है, जो बड़े २ सिद्धों से सुशोभित है। हे भीम ! अब तुम यह विचारो, कि कुबेर के भवन में कैसे प्रवेश हो सकता है॥११-१२॥

वैशम्पायन उवाच—

एवं ब्रुवति राजेन्द्रे वागुवाचाशरीरिणी ।
न शक्यो दुर्गमो गन्तुमितो वैश्रवणाश्रमात् ॥१३॥

वैशम्पायन बोले--हे राजन् ! राजा युधिष्ठिर के इतना कहते ही आकाश-वाणी हुई। तुम यहां से आगे कुबेर के भवन को नहीं जा सकते हो, वह मार्ग बड़ा दुर्गम है ॥१३॥

अनेनैव पथा राजन् प्रतिगच्छ यथागतम् ।
नरनारायणस्थानं बदरीत्यभिविश्रुतम् ॥१४॥

हे राजन् ! तुम तो जिस मार्ग से आए हो, उसी से वापिस नर-नारायण के आश्रम, अपने विशाल बदरी वृक्ष को लौट जाओ ॥१४॥

तस्माद्यास्यसि कौन्तेय सिद्धचारणसेवितम् ।
बहुपुष्पफलं रम्यमाश्रमं वृषपर्वणः ॥१५॥

हे कौन्तेय ! सिद्ध और चारणों से समन्वित, बहुत पुष्प फलों से युक्त, मनोहर वृषपर्वा का आश्रम है, इसके पीछे, तुम वहाँ जाना ॥१५॥

अतिक्रम्य च तं पार्थ चार्ष्टिषेणाश्रमे वसेः ।
ततो द्रष्टासि कौन्तेय निवेशं धनदस्य च ॥१६॥

हे पार्थ ! तुम इस आश्रम को उलाँघ कर आर्ष्टिषेण के आश्रम में जाना । हे कौन्तेय ! वहाँ तुमको यक्षराज कुबेर का भवन दिखाई देगा ॥१६॥

एतस्मिन्नन्तरे वायुर्दिव्यगन्धवहः शुचिः ।
सुखप्रल्हादनः शीतः पुष्पवर्षं ववर्ष च ॥१७॥

इसी समय दिव्य-गन्ध-धारी, शुद्ध शीतल, सुख और आनन्दकारी वायु चलने लगा और पुष्पों की वृष्टि होने लगी ॥ १७ ॥

श्रुत्वा तु दिव्यामाकाशाद्वाचं सर्वे विसिस्मियुः ।
ऋषीणां ब्राह्मणानाञ्च पार्थिवानां विशेषतः ॥१८॥

इस दिव्य आकाश वाणी को सुनकर सारे ऋषि, ब्राह्मण और क्षत्रिय चकित हो गए ॥ १८ ॥

श्रुत्वा तन्महदाश्चर्य्यं द्विजो धौम्यो ऽब्रवीत्तदा ।
न शक्यमुत्तरं वक्तुमेवं भवतु भारत ॥१९॥

इस आश्चर्य जनक घटना को सुनकर धौम्य पुरोहित ने सब से कहा—हे भारत ! इसका कुछ उत्तर न दो—ऐसा ही होने दो ॥ १९ ॥

ततो युधिष्ठिरो राजा प्रतिजग्राह तद्वचः ।
प्रत्यागम्य पुनस्तन्तु नरनारायणाश्रमम् ॥२०॥

इसके अनन्तर राजा युधिष्ठिर ने उस आकाशवाणी को मान लिया और वे फिर नर नारायण के आश्रम को लौट पड़े ।

भीमसेनादिभिः सर्वैर्भ्रातृभिः परिवारितः ।
पाञ्चाल्या ब्राह्मणैश्चैव न्यवसत्तु सुखं तदा ॥२१॥

इति श्रीमहाभारत आरण्यपर्वणि तीर्थयात्रा-पर्वणि
नरनारायणाश्रमगमने षट्पञ्चाशदधिकशततमोऽध्यायः ।

समाप्तश्च तीर्थयात्रापर्व

राजा युधिष्ठिर, भीमसेन आदि सारे भाई, द्रौपदी और ब्राह्मणों से युक्त होकर, उस वन में सुख से रहने लगा ॥ २१ ॥

इति श्रीमहाभारत वनपर्वान्तर्गत तीर्थ-यात्रा-पर्व में नर नारायण के आश्रम में आने का एक सौ छप्पनवां अध्याय समाप्त हुआ और यहीं पर तीर्थ-यात्रा पर्व समाप्त होगया।

अथ जटासुरवधपर्व

एक सौ सत्तावनवां अध्याय

वैशम्पायन उवाच—

ततस्तान् परिविश्वस्तान् वसतस्तत्र पाण्डवान् ।
पर्वतेन्द्रे द्विजैः सार्द्धं पार्थागमनकाङ्क्षया ॥१॥
गतेषु तेषु रक्षःसु भीमसेनात्मजेऽपि च ।
रहितान् भीमसेनेन कदाचित्तान् यदृच्छया ॥२॥
जहार धर्म्मराजानं यमौ कृष्णाञ्च राक्षसः ।

वैशम्पायन बोले—हे राजन्! गन्धमादन पर्वत में अर्जुन से मिलने की अभिलाषा मे ब्राह्मणों के साथ विश्वास-पूर्वक पाण्डवों के निवास करने पर और भीमसेन के पुत्र घटोत्कच तथा उसके साथी राक्षसों के चले जाने पर कभी भीमसेन से पृथक् हुए धर्मराज द्रौपदी, नकुल और सहदेव को अचानक कोई राक्षस उठा ले गया ॥ १—२ ॥

ब्राह्मणो मन्त्रकुशलः सर्वशास्त्रविदुत्तमः ॥३॥
इति ब्रुवन् पाण्डवेयान् पर्य्युपास्ते स्म नित्यदा ।
परीप्समानः पार्थानां कलापानि धनूंषि च ॥४॥

यह राक्षस, पाण्डवों से कहता था, कि मैं मन्त्र—शास्त्र का उत्तम ढंग से जानने वाला हूं। इसी कारण से यह नित्य इनके पास आता था और यह चाहता था, कि मैं पाण्डवों के तूणीर, युद्ध सामग्री और धनुष का अपहरण करलूं ॥ ४ ॥

अन्तरं सम्परिप्रेप्सुर्द्रौपद्या हरणं प्रति ।
दुष्टात्मा पापबुद्धिः स नाम्ना ख्यातो जटासुरः ॥५॥

इस दुष्टात्मा, पाप बुद्धि राक्षस का नाम जटासुर था। यह प्रथम द्रौपदी के अपहरण का मौका देखने लगा ॥ ५ ॥

पोषणं तस्य राजेन्द्र चक्रे पाण्डवनन्दनः ।
बुबुधे न च तं पापं भस्मच्छन्नमिवानलम् ॥६॥

हे राजेन्द्र ! ब्राह्मण रूप धारी इस जटासुर का पालन पोषण पाण्डव ही करने लगे। भस्म में छुपी हुई अग्नि के तुल्य इन्होंने उस दुष्ट को नहीं जान पाया ॥ ६ ॥

स भीमसेने निष्क्रान्ते मृगयार्थमरिन्दम ।
घटोत्कचं सानुचरं दृष्ट्वा विप्रद्रुतं दिशः ॥७॥
लोमशप्रभृतींस्तांस्तु महर्षींश्च समाहितान् ।
स्नातुं विनिर्गतान् दृष्ट्वा पुष्पार्थञ्च तपोधनान्॥८॥
रूपमन्यत् समास्थाय विकृतं भैरवं महत् ।
गृहीत्वा सर्वशस्त्राणि द्रौपदीं परिगृह्य च ॥९॥
प्रातिष्ठत स दुष्टात्मा त्रीन् गृहीत्वा च पाण्डवान् ।

हे अरि-मर्दन, भीमसेन, के मृगया (शिकार) को चले जाने और घटोत्कच आदि राक्षसों के दूर देश में पहुच जाने तथा अपने धर्म कर्म में सावधान लोमश आदि तपस्वी महर्षियों के स्नान करने और पूजा को पुष्प लाने के लिए चले जाने पर मौका देख कर इस राक्षस ने बड़ा विकराल, भैरव रूप धारण किया। यह सारे शस्त्र और द्रौपदी तथा तीनों पाण्डवों को लेकर चल दिया ॥ ७—९ ॥

सहदेवस्तु यत्नेन ततोऽपक्रम्य पाण्डवः ॥१०॥
विभ्राम्य कौशिकं खड्गं मोचयित्वा गृहं रिपोः ।
आक्रन्दद्भीमसेनं वै येन यातो महाबलः ॥११॥

पाण्डु-पुत्र सहदेव, किसी प्रयत्न से उस राक्षस के चक्कर से छूट निकला। इसने शत्रु के नाशकारी अपने कौशिक नामक खड्ग को भी उससे छीन लिया और जिस मार्ग को महाबली भीमसेन गया था, उसी ओर भीमसेन को पुकारने लगा ॥१०-११॥

तमब्रवीद्धर्मराजो ह्रियमाणो युधिष्ठिरः ।
धर्मस्ते हीयते मूढ न तत्वं समवेक्षसे ॥१२॥

राक्षससे हरण किया हुआ, धर्मराज,सहदेव से बोला-हे मूर्ख, तेरा धर्म नष्ट हो रहा है। तू धर्म के तत्व को जानता ही नहीं है ॥ १२ ॥

येऽन्ये क्वचिन्मनुष्येषु तिर्य्यग्योनिगताश्च ये ।
धर्मन्ते समवेक्षन्ते रक्षांसि च विशेषतः ॥१३॥

तुझ से भिन्न मनुष्य ही क्या, पशु-योनि को प्राप्त हुए प्राणी और विशेष कर राक्षस लोग भी धर्म को देखते रहते हैं ॥१३॥

धर्मस्य राक्षसा मूलं धर्मन्ते विदुरुत्तमम् ।
एतत् परीक्ष्य सर्वं त्वं समीपे स्थातुमर्हसि॥१४॥

ये राक्षस, अपने धर्म में बड़े दृढ़ होते हैं और बहुत कुछ धर्म का स्वरूप जानते भी हैं। यह सब कुछ पड़ताल करके, तुझे हमारे पास ही रहना चाहिए ॥ १४ ॥

देवाश्च ऋषयः सिद्धा पितरश्चापि राक्षस ।
गन्धर्वोरगरक्षांसि वयांसि पशवस्तथा ॥१५॥
तिर्य्यग्योनिगताश्चैव अपि कीटपिपीलिकाः ।
मनुष्यानुपजीवन्ति ततस्त्वमपि जीवसि ॥१६॥

हे राक्षस ! देव, ऋषि. सिद्ध पितर, गन्धर्व, सर्प, राक्षस, पक्षी, पशु तथा अन्य योनि के जन्तु, कीड़े मकोड़े सब की प्राणयात्रा मनुष्यों से ही चलती है, इसी प्रकार तू भी मनुष्यों से ही अपना निर्वाह करता होगा ॥१५-१६।

समृद्ध्या ह्यस्य लोकस्य लोको युष्माकमृध्यति ।
इमन्तु लोकं शोचन्तमनुशोचन्ति देवताः ॥१७॥

इस लोक के समृद्धि शील होने पर ही तुम्हारे लोकों की वृद्धि होती है । यदि इस लोक में रोना पड़ जावे तो देवताओं को भी चिन्तातुर होना पड़ता है ॥ १७ ॥

पूज्यमानाश्च वर्द्धन्ते हव्यकव्यैर्यथाविधि ।
वयं राष्ट्रस्य गोप्तारो रक्षितारश्च राक्षस ॥१८॥

हे राक्षस ! यदि विधि-पूर्वक हव्य कव्य से देव पितरों की पूजा की जावे, तो उनकी वृद्धि होती है और हम राष्ट्र के रक्षक और पालक हैं ॥ १८ ॥

राष्ट्रस्यारक्ष्यमाणस्य कुतो भूतिः कुतः सुखम् ।
न च राजावमन्तव्यो राक्षसा जात्वनागसि ॥१९॥

जब राष्ट्र की ही रक्षा नहीं होगी, तो कल्याण या सुख कहां हो सकता है, इस लिए राक्षसों को विना अपराध राजाओं से छेड़ छाड़ नहीं करनी चाहिए ॥ १९ ॥

अणुरप्यपचारश्च नास्त्यस्माकं नराशन ।
विघसाशान् यथाशक्त्या कुर्म्महे देवतादिषु ॥२०॥
गुरूंश्च ब्राह्मणांश्चैव प्रणामप्रवणाः सदा ।

हे राक्षस-राज ! हमारा तो परमाणु के बराबर भी अपराध नहीं है । हम तो यथाशक्ति देव, असुर और ब्राह्मणों को भोजन कराके शेष अन्न का भोजन करते हैं तथा गुरु और ब्राह्मणों को सदा नम्रता से प्रणाम करते रहते हैं, ॥ २० ॥

द्रोग्धव्यं न च मित्रेषु न विश्वस्तेषु कर्हिचित् ॥२१॥
येषाञ्चान्नानि भुञ्जीत यत्र च स्यात् प्रतिश्रयः ।
स त्वं प्रतिश्रयेऽस्माकं पूज्यमानः सुखोषितः ॥२२॥
भुक्त्वा चान्नानि दुष्प्रज्ञ कथमस्मान् जिहीर्षसि ।

किसी भी पुरुष को अपने मित्र और विश्वासी पुरुष से धोखा नहीं करना चाहिए । जिसका अन्न खाया जावे और जिसने रहने का आश्रय दिया हो, उन से भी द्रोह करना उचित नहीं है । तू भी हमारे आश्रय में बहुत दिन तक आदर के साथ सुख से रहा है । हे दुर्बुद्धे ! हमारा अन्न खाकर ही तू हमारा अपहरण करना चाहता है ॥२१-२२॥

एवमेव वृथाचारो वृथावृद्धो वृथामतिः ॥२३॥
वृथामरणमर्हस्त्वं वृथाद्य न भविष्यसि ।

इस प्रकार तो ब्राह्मण रूप में दिखाया हुआ तेरा आचार, वृथा ही है । तू वृथा ही इतना वृद्ध हुआ और तेरी यह बुद्धि भी वृथा ही है । मालूम होता है कि तू व्यर्थ में ही आज अपने प्राण, गवां बैठेगा ॥२३॥

अथ चेद् दुष्टबुद्धिस्त्वं सर्वधर्मविवर्जितः ॥२४॥
प्रदाय शस्त्राण्यस्माकं युद्धेन द्रौपदीं हर ।

यदि तेरी दुष्ट बुद्धि हो गई और तू सारे धर्मोंको छोड़ भी बैठा तो भी हमको शस्त्र दे देने चाहिए और फिर तू युद्ध करके द्रौपदी को ले जा सकता है ॥२४॥

अथ चेत्त्वमविज्ञानादिदं कर्म करिष्यसि ॥२५॥
अधर्मञ्चाप्यकीर्त्तिञ्च लोके प्राप्स्यसि केवलाम् ।

यदि तू बेसमझी से इसी काम को करता रहेगा, तो तुझे बड़े अधर्म और अपयश की प्राप्ति होगी ॥२५॥

एतामद्य परामृष्य स्त्रियं राक्षस मानुषीम् ॥२६॥
विषमेतत् समालोड्य कुम्भेन प्राशितं त्वया ।

हे राक्षस ! जो तूने आज इस मनुष्य जाति की स्त्री का अपमान किया है। यह मानों घड़े में विष घोल कर, घड़ा का घड़ा पी लिया है ॥२६॥

ततो युधिष्ठिरस्तस्य गुरुकः समपद्यत ॥२७॥
स तु भाराभिभूतात्मा न तथा शीघ्रगोऽभवत् ।

इसके अनन्तर धर्मराज, उसको भारी प्रतीत होने लगा। वह राक्षस, बोझे से दबा जा रहा था, इससे शीघ्र भाग नहीं सकता था ॥२७॥

अथाब्रवीत् द्रौपदीञ्च नकुलञ्च युधिष्ठिरः ॥२८॥
माभैष्ट राक्षसान्मूढाद्गतिरस्य मया हृता ।

अब द्रौपदी और नकुल से राजा युधिष्ठिर ने कहा, तुम इस मूर्ख राक्षस से डरो मत, मैंने इसकी चाल रोक दी है ॥२८॥

नातिदूरे महाबाहुर्भविता पवनात्मजः ॥२९॥
अस्मिन् मुहूर्ते संप्राप्ते न भविष्यति राक्षसः ।

अब थोड़ी ही दूरी पर भीमसेन मिल जावेगा। इस समय राक्षस का बल अधिक न रहेगा ॥२९॥

सहदेवस्तु तं दृष्ट्वा राक्षसं मूढ़चेतनम् ॥३०॥
उवाच वचनं राजन् कुन्तीपुत्रं युधिष्ठिरम् ।

हे राजन् ! जब सहदेव ने उस मूर्ख राक्षस की ओर देखा और कुन्ती-पुत्र युधिष्ठिर से कहा ॥३०॥

राजन् किं नाम सत्कृत्यं क्षत्रियस्यास्त्यतोऽधिकम् ॥३१॥
यद्युद्धाभिमुखः प्राणांस्त्यजेच्छत्रून् जयेत वा ।

हे राजन् ! क्षत्रिय को इससे अधिक और क्या उत्तम कार्य हो सकता है, कि या तो युद्धमें प्राणों का परित्याग करदे या शत्रु पर विजय कर ले ॥३१॥

एष चास्मान् वयञ्चैनं युध्यमानाः परन्तप ॥३२॥
सूदयेम महाबाहो देशकालो ह्ययं नृप ।

हे परन्तप ! यह राक्षस हमसे युद्ध करले। हम इससे युद्ध करें, तो अवश्य इसका नाश कर देंगे, क्योंकि देश काल ऐसा ही प्रतीत होता है ॥ ३२ ॥

क्षत्रधर्मस्य संप्राप्तः कालः सत्यपराक्रम ॥३३॥
जयन्तो हन्यमाना वा प्राप्तुमर्हामसद्गतिम् ।

हे सत्य-पराक्रमी ! यह तो क्षात्र-धर्म के प्रकट करने का समय आगया है । जो जीत गए या मारे गए, दोनों तरह ही उत्तम यश प्राप्त होगा ॥३३॥

राक्षसे जीवमानेऽद्य रविरस्तमियाद्यदि ॥३४॥
नाहं ब्रूयां पुनर्ज्जातु क्षत्रियोऽस्मीति भारत ।

यदि इस राक्षस के जीवित रहते हुए आज सूर्य छुप गया, तो मैं फिर कभी यह नहीं कहूंगा, कि मैं भी क्षत्रिय हूँ ॥३४॥

भो भो राक्षस तिष्ठस्व सहदेवो ऽस्मि पाण्डवः ॥३५॥
हत्वा वा मां नयस्वैनां हतो वाद्येह स्वप्स्यसि ।

हे राक्षस ! अब तू ठहर, मेरा नाम भी पाण्डु-पुत्र, सहदेव है । तू या तो मुझे मार कर द्रौपदी को ले जा, या तू आज मारा जाकर सदा को सो जावेगा ॥३५॥

तथा ब्रुवति माद्रेये भीमसेनो यदृच्छया ॥३६॥
प्रत्यदृश्यद्गदाहस्तः सवज्र इव वासवः ।

माद्री-पुत्र. सहदेव के इतना कहने पर अचानक गदा-धारी भीमसेन वज्रधारी इन्द्र के तुल्य दिखाई दिया ॥३६॥

सोऽपश्यद्भ्रातरौ तत्र द्रौपदीञ्च यशस्विनीम् ॥३७॥

क्षितिस्थं सहदेवञ्च क्षिपन्तं राक्षसं तथा ।
मार्गाच्च रक्षः संमूढं कालोपहतचेतसम् ॥३८॥
भ्रमन्तं तत्र तत्रैव दैवेन विनिवारितम् ।

उसने वहाँ अपने दोनों भाई और यशस्विनी द्रौपदी को देखा। इस समय सहदेव पृथिवी पर खड़ा हुआ, राक्षस को फटकार रहा था। राक्षस भी काल की प्रेरणा से मार्ग भूल गया, दैव से रोके और इधर-उधर टकराते हुए, राक्षस को भीम ने देखा।

भ्रातृंस्तान् ह्रियतो दृष्ट्वा द्रौपदीञ्च महाबलः ॥३९॥
क्रोधमाहारयद्भीमो राक्षसञ्चेदमब्रवीत् ।

महाबली भीम ने देखा. कि उसके भाई और द्रौपदी को कोई राक्षस हरण करके ले जा रहा है। यह देखकर वह बड़ा कुपित हुआ और उस राक्षस से कहने लगा ॥३९॥

विज्ञातोऽसि मया पूर्वं पाप शस्त्रपरीक्षणे ॥४०॥
आस्था तु त्वयि मे नास्ति यतोऽसि न हतस्तदा ।

हे पापी! राक्षसाधम! मैंने पूर्व काल में तुझे जब शस्त्र परीक्षा करते देखा, तभी यह अनुमान कर लिया था, कि तू कोई राक्षस है। परन्तु बिल्कुल निश्चय नहीं हुआ, इस से तुझे नहीं मारा ॥४०

ब्रह्मरूपप्रतिच्छन्नो न नो वदसि चाप्रियम् ॥४१॥
प्रियेषु रममाणं त्वां न चैवाप्रियकारिणम् ।
अतिथिं ब्रह्मरूपञ्च कथं हन्यामनागसम् ॥४२॥

उस समय तो ब्राह्मण के वेश में छुपा हुआ था और हमारे विरुद्ध कुछ भी नहीं कहता था। जब तू हमारा प्रिय कर रहा और कोई भी अप्रिय कार्य नहीं करता था एवं ब्राह्मण-रूप-धारी अतिथि था. तो फिर निरपराधी को मैं मार भी कैसे सकता था ॥ ४१-४२ ॥

राक्षसं जानमानोऽपि यो हन्यान्नरकं व्रजेत् ।
अपक्कस्य च कालेन बधस्तव न विद्यते ॥४३॥

तुम्हें राक्षस जानकर भी मार डालता, तो अवश्य नरक को जाता, क्योंकि काल से अपक पुरुष का मारना उचित नहीं है॥४३

नूनमद्यासि संपक्को यथा ते मतिरीदृशी ।
दत्ता कृष्णापहरणे कालेनाद्भुतकर्मणा ॥४४॥

अद्भुत कर्म करने वाले, काल ने अब तुझे पका दिया है, तभी तो उसने तुझे यह द्रौपदी के हरण करने की बुद्धि दी है।

बडिशोऽयं त्वया ग्रस्तः कालसूत्रेण लम्बितः ।
मत्स्योऽम्भसीव स्यूतास्यः कथमद्य भविष्यति ॥४५॥

काल सूत्र में लटकते हुए कांटे को तूने मछली की तरह निगल लिया है। अब तू जल में बिंधे मुख वाले मत्स्य के तुल्य कुछ भी नहीं करा सकेगा ॥४५॥

यश्चासि प्रस्थितो देशं मनः पूर्वगतञ्च ते ।
न तं गन्तासि गन्तासि मार्गं बकहिडिम्बयोः ॥४६॥

तू अपने घर से जिस देश को प्रथम विचार कर चला था, अब वहां नहीं जा सकता है। अब तू भी बकासुर और हिडिंबासुर के मार्ग से ही जावेगा ॥४६॥

एवमुक्तस्तु भीमेन राक्षसः कालचोदितः।
भीत उत्सृज्य तान् सर्वान् युद्धाय समुपस्थितः॥४७॥

जब भीम ने इतना कहा, तो काल के वशीभूत यह राक्षस भयभीत हो गया और इन सब पाण्डवों को दूर पटक कर युद्ध के लिए आगे बढ़ा ॥४७॥

अब्रवीच्च पुनर्भीमं रोषात् प्रस्फुरिताधरः।
न मे मूढा दिशः पाप त्वदर्थं मे विलम्बितम् ॥४८॥

रोष से फड़कते हुए ओठों के धारण करने वाले राक्षस ने फिर भीम से कहा- अरे पापी मूर्ख ! मैं कोई मार्ग नहीं भूला हूं मैं तो तेरे लिए ही यह सब कुछ देर कर रहा था ॥४८॥

श्रुता मे राक्षसा ये ये त्वया विनिहता रणे।
तेषामद्य करिष्यामि तवास्रेणोदकक्रियाम् ॥४९॥

मैंने जिन राक्षसों को तेरे हाथ से मरा हुआ सुना है, उनकी आज तेरे रक्त से जल दान क्रिया करूंगा ॥४९॥

एवमुक्तस्ततो भीमः सृक्कणी परिसंलिहन्।
स्मयमान इव क्रोधात् साक्षात् कालान्तकोपमः ॥५०

बाहुसंरम्भमेवैच्छन्नभिदुद्राव राक्षसम्।
राक्षसोऽपि तदा भीमं युद्धार्थिनमवस्थितम् ॥५१॥

मुहुर्मुहुर्व्याददानः सृक्कणी परिसंलिहन् ।
अभिदुद्राव संरब्धो बलिर्वज्रधरं यथा ॥५२॥

जब राक्षस ने भीम से इतना कहा- तो भीम, क्रोध से होठ चाबने लगा। इस समय मुस्कुराता हुआ भीम, साक्षात् यमराज सा प्रतीत होता था। भीमसेन अपनी भुजाओं की ओर देखकर उस राक्षस पर टूट पड़ा। राक्षस भी युद्ध की इच्छा से उपस्थित भीम को देखकर बार २ अपना मुख फाड़ता और होठ चाबता था। इन्द्र पर बलि के तुल्य, राक्षस ने भीम पर आक्रमण किया।

वर्त्तमाने तदा ताभ्यां बाहुयुद्धे सुदारुणे ।
माद्रीपुत्रावभिक्रुद्धावुभावप्यभ्यधावताम् ॥५३॥

जिस समय इन दोनों का दारुण बाहु-युद्ध हो रहा था, उसी समय कुपित होकर, माद्री-पुत्र,नकुल और सहदेव राक्षस की ओर दौड़े ॥५३॥

न्यवारयत्तौ प्रहसन् कुन्तीपुत्रो वृकोदरः ।
शक्तोऽहं राक्षसस्येति प्रेक्षध्वमिति चाब्रवीत् ॥५४॥

हँसते हुए कुन्ती पुत्र, भीमसेनने उन दोनों को रोक दिया और कहा- मैं ही इस राक्षस के मारने में समर्थ हूँ, तुम देखते रहो ॥५४॥

आत्मना भ्रातृभिश्चैव धर्मेण सुकृतेन च ।
इष्टेन च शपे राजन् सूदयिष्यामि राक्षसम् ॥५५॥

हे राजन्! मैं अपने भाई धर्म, पुण्य और इष्ट देव की शपथ खाता हूँ तुम निश्चिन्त रहो, मैं इस राक्षस को मार लूंगा ॥ ५५ ॥

इत्येवमुक्त्वा तौ वीरौ स्पर्द्धमानौ परस्परम्।
वाहुभ्यां समसज्जेतामुभौ रक्षोवृकोदरौ ॥५६॥

इतना कहकर वे दोनों वीर, एक दूसरे के जीतने की स्पर्धा करने लगे। राक्षस और भीमसेन, भुजाओं को मिला कर मल्ल-युद्ध में प्रवृत्त हुए ॥ ५६॥

तयोरासीत् संप्रहारः क्रुद्धयोर्भीमरक्षसोः ।
अमृष्यमाणयो संख्ये देवदानयोरिव ॥५७॥

दोनों कुपित हुए भीम और राक्षस के परस्पर ऐसे प्रहार होते थे, जैसे एक दूसरे को नहीं सहने वाले, देव दानव प्रहार कर रहे हो ॥ ५७ ॥

आरुज्यारुज्य तौ वृक्षानन्योन्यमभिजघ्नतुः ।
जीमूताविव गर्जन्तौ निनदन्तौ महाबलौ ॥५८॥

ये दोनों महाबली वृक्षों को तोड़ २ कर एक दूसरे के मार रहे थे और ऐसा महा-शब्द कर रहे थे, जैसे मेघ गर्जना कर रहा हो ॥ ५८ ॥

बभञ्जतुर्महावृक्षानूरुभिर्वलिनाम्वरौ ।
अन्योन्येनातिसंरब्धौ परस्परवधैषिणौ ॥५९।

ये दोनों एक दूसरे पर कुपित हो रहे थे और आपसमें एक-दूसरे को मारना चाहता था। इस प्रकार युद्ध करते हुए, इन दोनों वीरों ने अपनी जङ्घाओं से अनेक वृक्ष तोड़ डाले ॥५८॥

तद्वृक्षयुद्धमभवन्महीरुहविनाशनम्।
वालिसुग्रीवयोर्भ्रात्रोः पुरा स्त्रीकांक्षिणोर्यथा ॥६०॥

इनका यह वृक्षों का युद्ध, वृक्षों के विनाश का कारण बन गया। पूर्व काल में स्त्री के लिए युद्ध करने वाले वालि सुग्रीव दोनों भाइयों के समान, यह भीम और जटासुर का युद्ध हो रहा था ॥ ६० ॥

आविध्याविध्य तौ वृक्षान्मुहूर्त्तमितरेतरम् ।
ताडयामासतुरुभौ विनदन्तौ मुहुर्मुहुः ॥६१॥

थोड़ी देर तक वृक्षों को घुमा २ कर एक दूसरे पर मारते थे और दोनों ही बार २ गर्जना करते जाते थे ॥६१ ॥

तस्मिन् देशे यदा वृक्षाः सर्व एव निपातिताः।
पुञ्जीकृताश्च शतशः परस्परवधेप्सया ॥६२॥

उस प्रदेश में जितने वृक्ष थे, वे सब उखाड़ लिये गये और एक दूसरे के मारने से वृक्षों की मूंज सी कुट गई ॥ ६२ ॥

ततः शिलाः समादाय मुहूर्त्तमिव भारत ।
महाभ्रैरिव शैलेन्द्रौ युयुधाते महाबलौ ॥६३॥

हे भारत! अब दोनों वीर, पर्वत की शिलाएँ लेकर थोड़ी देर युद्ध करते रहे। ये महाबली इस प्रकार युद्ध कर रहे थे, जैसे मेघों से पर्वत लड़ रहे हों ॥ ६३ ॥

शिलाभिरुग्ररूपाभिर्बृहतीभिः परस्परम् ।
वज्रैरिव महावेगैराजघ्नतुरमर्षणौ ॥६४॥

वे क्रोध में भरे हुए दोनों महाबली, वेग-शील, वज्र के तुल्य, महा भयङ्कर, बड़ी २ शिलाओं से लड़ रहे थे ॥६४॥

अभिद्रुत्य तु भूयस्तावन्योन्यबलदर्पितौ ।
भुजाभ्यां परिगृह्याथ चकर्षाते गजाविव ॥६५॥

अपने २ बल के गर्व में भरे हुए भीम और राक्षस, दोनों फिर एक दूसरे पर दौड़े। इन्होंने अपनी २ भुजाओं से एक दूसरे को पकड़ लिया और हाथी के तुल्य अपनी २ ओर खींचने लगे ॥ ६५ ॥

मुष्टिभिश्च महाघोरैरन्योन्यमभिजघ्नतुः ।
ततः कटकटाशब्दो बभूव सुमहात्मनोः ॥६६॥

अब ये महा-घोर मुष्टिकाओं से लड़ने लगे। इन दोनों महावीरों की मुष्टिकाओं का कटा कट शब्द हो रहा था ॥६६॥

ततः संहृत्य मुष्टिन्तु पञ्चशीर्षमिवोरगम् ।
वेगेनाभ्यहनद्भीमो राक्षसस्य शिरोधराम् ॥६७॥

इस समय पांच शिर वाले सर्प के तुल्य हाथ की मुट्ठी बांध कर भीमसेन ने बड़े वेग से राक्षस की ग्रीवा पर मारी ॥ ६७ ॥

ततः श्रान्तन्तु तद्रक्षो भीमसेनभुजाहतम् ।
सुपरिश्रान्तमालक्ष्य भीमसेनोऽभ्यवर्त्तत ॥६८॥

भीमसेन की भुजा से मारा हुआ राक्षस बिलकुल थक गया। राक्षस को बिल्कुल थका हुआ देख कर, भीमसेन के शरीर में बल भर गया ॥ ६८ ॥

तत एनं महाबाहुर्बाहुभ्याममरोपमः ।
समुत्क्षिप्य बलाद्भीमो विनिष्पिष्य महीतले ॥६९।

देवों के समान बली, महा-भुज-धारी, भीम ने इस राक्षस को अपनी भुजाओं से उठा लिया और भूमि पर पटक कर पीस डाला ॥ ६९ ॥

तस्य गात्राणि सर्वाणि चूर्णयामास पाण्डवः ।
अरत्निना चाभिहत्य शिरः कायादपाहरत् ॥७०॥

पाण्डु-पुत्र, भीमसेन ने इसके सारे शरीर का चून और इसको थपेड़ों से मार कर इसके शिर को देह से पृथक् कर दिया ॥ ७० ॥

सन्दष्टौष्ठं विवृताक्षं फलं वृन्तादिव च्युतम् ।
जटासुरस्य तु शिरो भीमसेनबलाद्धृतम् ॥७१॥
पपात रुधिरादिग्धं सन्दष्टरदनच्छदम्।

होठों को दांतों में दाबे हुए, खुली आंखों वाला, अपने मूल से टूटे हुए फल के समान, जटासुर का मस्तक, भीमसेन के बल से पृथ्वी पर गिर पड़ा। यह सारा रक्त में भीग रहा था और होठों को काटे हुए था ॥७१॥

तं निहत्य महेष्वासो युधिष्ठिरमुपागमत् ।
स्तूयमानो द्विजाग्र्यैस्तु मरुद्भिरिव वासवः ॥७२॥

इति श्रीमहाभारत आरण्यपर्वणि जटासुरवधपर्वणि
जटासुरवधो नाम सप्तपञ्चाशदधिकशततमोऽध्यायः
समाप्तश्च जटासुरवधपर्व ॥१५७॥

महाधनुर्धर भीम, उसको मार कर राजा युधिष्ठिर के पास पहुँचा। यहां देवों द्वारा इन्द्र के तुल्य, उत्तम ब्राह्मणों ने इसकी स्तुति की ॥७२॥

इति श्रीमहाभारत वनपर्वान्तर्गत जटासुरवधपर्व में जटासुर वध का एक सौ सत्तावनवां अध्याय समाप्त हुआ और यहीं पर जटासुरवधपर्व भी समाप्त होगया।

अथ यक्षयुद्धपर्व

एक सौ अट्ठावनवां अध्याय

वैशम्पायन उवाच—

निहते राक्षसे तस्मिन् पुनर्नारायणाश्रमम्।
अभ्येत्य राजा कौन्तेयो निवासमकरोत् प्रभुः ॥१॥

वैशम्पायन बोले---हे राजन्! उस राक्षस के मार लेने के के अनन्तर, राजा युधिष्ठिर फिर नर नारायण के आश्रम में लौट आए और वहीं निवास करने लगे ॥१॥

स समानीय तान् सर्वान् भ्रातृनित्यब्रवीद्वचः।
द्रौपद्या सहितान् काले संस्मरन् भ्रातरं जयम् ॥२॥

एक दिन राजा युधिष्ठिर, अपने भाई अर्जुन को याद कर रहा था। उस समय इसने द्रोपदी के सहित सारे अपने भाइयों को बुलाकर कहा—।।२।।

समाश्चतस्रोऽभिगताः शिवेन चरितां वने।
कृतोद्देशस्तु बीभत्सुः पञ्चमीमभितः समाम् ।।३।।
प्राप्य पर्वतराजानं श्वेतं शिखरिणाम्वरम्।
पुष्पितैर्द्रुमषण्डैश्च मत्तकोकिलषट्पदैः ।।४।।
मयूरैश्चातकैश्चापि नित्योत्सवविभूषितम्।
व्याघ्रैर्वराहैर्महिषैर्गवयैर्हरिणैस्तथा।।५।।
श्वापदैर्व्यालरूपैश्च रुरुभिश्च निषेवितम्।
फुल्लैः सहस्रपत्रैश्च शतपत्रैस्तथोत्पलैः ।।६।।
प्रफुल्लैः कमलैश्चैव तथा नीलोत्पलैरपि।
महापुण्यं पवित्रञ्च सुरासुरनिषेवितम् ।।७।।

हमको सुख से वन में घूमते हुए चार वर्ष व्यतीत हो गए। अर्जुन, पांचवें वर्ष में मस्त कोयल, भ्रमर, मयूर और चातकों से शव्दायमान, फूले फले वृक्ष समूह से विभूषित, पर्वतों में श्रेष्ठ श्वेतगिरि कैलास पर मिलने की प्रतिज्ञा कर गया है। यह पर्वत, व्याघ्र, वराह, महिष, गवय, हरिण तथा अन्य विकराल प्राणी एवं रुरु नामक हरिणों से व्याप्त हैं। इस में सहस्रपत्र शतपत्र, उत्पल नीलोत्पल आदि अनेक भांति के कमल खिल रहे हैं। यह देव और असुरोंसे पूज्य बड़ा पवित्र और पुण्यजनक पर्वत है। ।।३-७।।

तत्रापि च कृतोद्देशः समागमदिदृक्षुभिः ।
कृतश्च समयस्तेन पार्थेनामिततेजसा ॥८॥

मिलने की इच्छा वाले, हम लोगों से उसने उसी समय मिलने की प्रतिज्ञा करली थी । अत्यन्त-तेजस्वी अर्जुन ने जो प्रतिज्ञा (शर्त) की है, वह तुमको सुनाता हूं ॥७॥

पञ्चवर्षाणि वत्स्यामि विद्यार्थीति पुरा मयि ।
तत्र गाण्डीवधन्वानमवाप्तास्त्रमरिंदमम् ॥९॥
देवलोकादिमं लोकं द्रक्ष्यामः पुनरागतम् ।
इत्युक्त्वा ब्राह्मणान् सर्वानामन्त्रयत पाण्डवः॥१०॥
कारणञ्चैव तत्तेषामाचचक्षे तपस्विनाम् ।

उसने पूर्व काल में मुझसे कहा था, कि मैं विद्यार्थी रूप में पाँच वर्ष तक स्वर्ग में रहूँगा । अब हम गाण्डीव-धारी अस्त्र-विद्या प्राप्त किये हुए, शत्रु विजयी, देवलोक से इस लोक में आये हुए, अर्जुन को देखेंगे--यह कह कर राजा युधिष्ठिर ने सारे ब्राह्मणों को बुला भेजा और उन तपस्वियों से उनके बुलाने का कारण कहा ।

तानुग्रतपसः प्रीतान् कृत्वा पार्थाः प्रदक्षिणम् ॥११।
ब्राह्मणास्तेऽन्वमोदन्त शिवेन कुशलेन च ।

पाण्डवों ने उन प्रसन्न महातपस्वियों की प्रदक्षिणा की । ब्राह्मणों ने भी कल्याण और कुशल का आशीर्वाद देकर धर्मराज के विचार का अनुमोदन किया । ॥११॥

सुखोदर्कमिदं क्लेशमचिराद्भरतर्षभ ॥१२॥
क्षत्रधर्मेण धर्मज्ञ तीर्त्वा यां पालयिष्यसि ।

ब्राह्मण बोले--हे भरतर्षभ ! यह क्लेश शीघ्र ही सुख में बदल जावेगा। हे धर्मात्मन् ! तुम इस विपत्ति को पार करके क्षात्रधर्मानुसार पृथ्वी का पालन करोगे। ॥१२॥

तत्तु राजा वचस्तेषां प्रतिगृह्य तपस्विनाम् ॥१३॥
प्रतस्थे सह विप्रैस्तैर्भ्रातृभिश्च परन्तपः।
राक्षसैरनुयातो वै लोमशेनाभिरक्षितः ॥१४॥

राजा युधिष्ठिर भी उन तपस्वियों के आशीर्वाद को ग्रहण करके उनके साथ आगे चल दिया। इस समय इनके साथ राक्षस थे और ये लोमश की मन्त्रशक्ति से सुरक्षित थे ॥१३-१४॥

क्वचित् पद्भ्यां ततोऽगच्छद्राक्षसैरुह्यते क्वचित्।
तत्र तत्र महातेजा भ्रातृभिः सह सुव्रतः ॥१५॥

स्थान २ पर व्रतशील राजा युधिष्ठिर और उनके भाई, कहीं २ पैदल चलते और कहीं २ राक्षस उनको अपने कन्धों पर ले चलते थे ॥१५॥

ततो युधिष्ठिरो राजा बहून् क्लेशान् विचिन्तयन्।
सिंहव्याघ्रगजाकीर्णामुदीचीं प्रययौ दिशम् ॥१६॥

इस समय राजा युधिष्ठिर के मन पर अनेक क्लेशों का प्रभाव पड़ रहा था। अब ये, सिंह, व्याघ्र और गजों से व्याप्त, उत्तर दिशा को चल दिए ॥१६॥

अवेक्षमाणः कैलासं मैनाकञ्चैव पर्वतम् ।
गन्धमादनपादांश्च श्वेतञ्चापि शिलोच्चयम् ॥१७॥
उपर्य्युपरि शैलस्य बह्वीश्च सरितः शिवाः ।
पृष्ठे हिमवतः पुण्यं ययौ सप्तदशेऽहनि ॥१८॥

यहां इन्होंने कैलास, मैनाक, गन्धमादन और श्वेत पर्वत (हिमालय) को देखा। इन पर्वतों के ऊपर अनेक कल्याण-कारी नदियाँ बह रही थीं। ये हिमालय की चोटी पर सत्रहवें दिन पहुँचे ॥१७—१८॥

ददृशुः पाण्डवा राजन् गन्धमादनमन्तिकात् ।
पृष्ठे हिमवतः पुण्ये नानाद्रुमलतावृते ॥१९॥

हे राजन्! यहाँ इन्होंने गन्धमादन पर्वत के पास में अनेक द्रुम और लताओं से व्याप्त, हिमालय के दो पृष्ठ देखे ॥१९॥

सलिलावर्त्तसञ्जातैः पुष्पितैश्च महीरुहैः ।
समावृतं पुण्यतममाश्रमं वृषपर्वणः ॥२०॥

यहाँ जल के आवर्तों से सिंचे हुए, फूलों से व्याप्त, वृक्षों से ढ़का हुआ, राजर्षि वृषपर्वा का पवित्र आश्रम था ॥२०॥

तमुपागम्य राजर्षिधर्मात्मानमरिन्दमाः ।
पाण्डवा वृषपर्वाणमवदन्त गतक्लमाः ॥२१॥

ये शत्रु-विजयी, पाण्डव, धर्मात्मा राजर्षि वृषपर्वा के पास पहुँचे और श्रम रहित होकर उससे बातचीत करने लगे ॥२१॥

अभ्यनन्दत राजर्षिः पुत्रवद्भरतर्षभान् ।
पूजितास्त्ववसंस्तत्र सप्तरात्रमरिन्दमाः ॥२२॥

राजर्षि वृषपर्वा ने इन भरत-वंश-श्रेष्ठ पाण्डवों का पुत्र की तरह आदर किया। इन अरि-विजयी पाण्डवों ने आदर के साथ सात रात तक वहां निवास किया ॥२२॥

अष्टमेऽहनि संप्राप्ते तमृषिं लोकविश्रुतम् ।
आमन्त्र्य वृषपर्वाणं प्रस्थानं प्रत्यरोचयन् ॥२३॥

आठवें दिन, लोकों में प्रसिद्ध, राजर्षि वृषपर्वा से आज्ञा लेकर राजा युधिष्ठिर ने आगे चलने का विचार किया ॥२३॥

एकैकशश्च तान् विप्रान्निवेद्य वृषपर्वणे ।
न्यासभूतान् यथाकालं बन्धूनिव सुसत्कृतान् २४

राजा युधिष्ठिर ने बन्धुओं की तरह सत्कार पाये हुए और समय पर ली जाने वाली धरोहर की तरह रखे हुए, एक २ ब्राह्मण का वृषपर्वा से परिचय कराया ॥२४॥

पारिबार्हश्च तं शेषं परिदाय महात्मने ।
ततस्ते यज्ञपात्राणि रत्नान्याभरणानि च ॥२५॥
न्यदधुः पाण्डवा राजन्नाश्रमे वृषपर्वणः ।

जो व्यवहार के योग्य अपने पास सामान शेष था, उसको और यज्ञों के पात्र एवं नाना प्रकार के रत्न आभूषणों को राजा युधिष्ठिर ने राजर्षि वृषपर्वा के आश्रम में छोड़ दिया ॥२५॥

अतीतानागते विद्वान् कुशलः सर्वधर्मवित् ॥२६॥
अन्वशासत् स धर्मज्ञः पुत्रवद्भरतर्षभान् ।
तेऽनुज्ञाता महात्मानः प्रययुर्दिशमुत्तराम् ॥२७॥

यह महर्षि, भूत, भविष्यत् का जानने वाला, कुशल और धर्मात्मा था। इस धर्मात्मा ने भरत-वशं-श्रेष्ठ पाण्डवों को पुत्र के समान शिक्षा दी। ये सारे उस ऋषि की आज्ञा लेकर उत्तर को चल दिए ॥२६—२७॥

तान् प्रस्थितानभ्यगच्छद् वृषपर्वा महामतिः ।
उपन्यस्य महातेजा विप्रेभ्यः पाण्डवांस्तदा ॥२८॥
अनुसंसाध्य कौन्तेयानाशीर्भिरभिनन्द्य च ।
वृषपर्वा निववृते पन्थानमुपदिश्य च ॥२९॥
नानामृगगणैर्जुष्टं कौन्तेयः सत्यविक्रमः ।
पदातिर्भ्रातृभिः सार्द्धं प्रातिष्ठत युधिष्ठिरः ॥३०॥

जब महा बुद्धिमान्, महा-तेजस्वी वृषपर्वा ने पाण्डवों को जाते देखा, तो इसने पाण्डवों के लिए ब्राह्मणों को अपर्ण किया। यह पाण्डवों को पहुंचाकर और आशीर्वाद देकर तथा अनेक मृगों से युक्त मार्ग दिखाकर लौट आये । सत्य-पराक्रम-करने वाला, राजा युधिष्ठिर, अपने भाइयों के साथ पैदल ही चलता रहा ॥२८—३०॥

नानाद्रुमनिरोधेषु वसन्तः शैलसानुषु ।
पर्वतं विविशुः श्वेतं चतुर्थेऽहनि पाण्डवाः ॥३१॥

अनेक वृक्षों से गहन पर्वत के प्रदेशों में! निवास करते हुए, पाण्डव चौथे दिन श्वेत पर्वत पर पहुंचे ॥३१॥

महाभ्रघनसङ्काशं सलिलोपहितं शुभम् ।
मणिकाञ्चनरूपस्य शिलानाञ्च समुच्चयम् ॥३२॥

यह पर्वत, बड़े भारी बादलों के समान ऊंचा और पानी के झरनों से सुशोभित था। इसमें मणि और सुवर्ण की अनेक शिलाएँ पड़ी हुईं थीं ॥३२॥

ते समासाद्य पन्थानं यथोक्तं वृषपर्वणा ।
अनुसस्रु र्यथोद्देशं पश्यन्तो विविधान्नगान् ॥३३॥

ये पाण्डव, वृषपर्वा के बताये हुए मार्ग से अपने उद्देश्य के अनुसार मार्ग में अनेक पर्वतों को उलाँघते हुए चले जा रहे थे ॥३३॥

उपर्य्युपरि शैलस्य गुहाः परमदुर्गमाः ।
सुदुर्गमास्तेषु बहून् सुखेनैवाभिचक्रमुः ॥३४॥

इन्होंने पर्वतों के ऊपर के भाग में परम दुर्गम अनेक गुफाएं देखी। ये अत्यन्त दुर्गम प्रदेशों को भी बात की बात में पार कर जाते थे ॥३४॥

धौम्यः कृष्णा च पार्थाश्च लोमशश्च महानृषिः ।
अगच्छन् सहितास्तत्र न कश्चिदवहीयते ॥३५॥

पुरोहित धौम्य, द्रौपदी, पाण्डव, महर्षि लोमश. ये सब साथ २ चले आ रहे थे। इनमें कोई भी पीछे नहीं पड़ता था ॥३५॥

तं मृगद्विजसंघुष्टं नानाद्रुमलतायुतम् ।
शश्वन्मृगगणैश्चैव सेवितं सुमनोरमम् ॥३६॥

पुण्यं पद्मसरोयुक्तं सपल्वलमहावनम् ।
उपतस्थुर्महाभागा माल्यवन्तं महागिरिम् ॥३७॥

अब महा-भाग, पाण्डव, मृग, पक्षियों से शब्दायमान, अनेक वृक्ष और लताओं से सुशोभित, वानरों के समूह से समन्वित, मनोहर, पवित्र, कमल खिले हुए सरोवर से युक्त, क्षुद्र सरोवरों सहित महा-वन-वाले माल्यवान् पर्वत पर पहुँचे ॥३६--३७॥

ततः किम्पुरुषावासं सिद्धचारणसेवितम् ।
ददृशुर्हृष्टरोमाणः पर्वतं गन्धमादनम् ॥३८॥

इसके अनन्तर इन्होंने किन्नरों की निवास-भूमि, सिद्ध और चारणों से सुसेवित, गन्धमादन पर्वत को देखा। जिसको देखते ही इनके रोमाञ्च खड़े होगए ॥ ३८ ॥

विद्याधरानुचरितं किन्नरीभिस्तथैव च ।
गजसंघसमावासं सिंहव्याघ्रगणायुतम् ॥३९॥

यह गन्धमादन पर्वत, विद्याधर और किन्नरी संज्ञक देवाङ्गनाओं से सुशोभित था। इसमें गजों के समूह तथा सिंह और व्याघ्रों के गणों का निवास था ॥ ३९ ॥

शरभोन्नादसंघुष्टं नानामृगनिषेवितम् ।
ते गन्धमादनवनं तन्नन्दनवनोपमम् ॥४०॥
मुदिताः पाण्डुतनया मनोहृदयनन्दनम् ।
विविशुः क्रमशो वीराः शरण्यं शुभकाननम् ॥४१॥

यह पर्वत, शरभ नामक वनैले जन्तु तथा अन्य अनेक जन्तुओं से शव्दायमान था। नन्दन वन के तुल्य, मन और हृदय को आनन्ददायी, शरण में आए हुए को सुख देने वाले, सुन्दर वनों से युक्त, इस गन्धमादन पर्वत पर महावीर पाण्डव, बड़ी प्रसन्नता से पहुँचे ॥ ४०--४१ ॥

द्रौपदीसहिता वीरास्तैश्च विप्रैर्महात्मभिः ।
शृण्वन्तः प्रीतिजननान् वल्गून्मदकलाञ्छुभान्॥४२॥
श्रोत्ररम्यान् सुमधुरान् शव्दान् खगमुखेरितान् ।

द्रौपदी और उन महात्मा व्रह्मर्षियों के साथ २ पाण्डव, प्रीतिजनक, सुन्दर, स्पष्ट, मीठे पक्षियों के शव्दों को सुनते जाते थे। ये शव्द कानों को बड़े मीठे जान पड़ते थे ॥ ४२ ॥

सर्वर्त्तुफलभाराढ्यान् सर्वर्त्तुकुसुमोज्ज्वलान् ॥४३॥
पश्यन्तः पादपांश्चापि फलभारावनामितान्।

ये महाबली सारी ऋतुओं के फलों से भरे हुए और सारे ऋतुओं के पुष्पों से उज्ज्वल, फलों के भार से झुके हुए वृक्षों को देखते जारहे थे ॥ ४३ ॥

आम्रानाम्रातकान् भव्यान् नारिकेलान् सतिन्दुकान्॥४४
सुञ्जातकांस्तथांजीरान् दाड़िमान् वीजपूरकान् ।
पनसान् लकुचान् मोचान् खर्जुरानम्लवेतसान् ॥४५॥
पारावतांस्तथा क्षौद्रान्नीपांश्चापि मनोरमान् ।
विल्वान् कपित्थान् जम्बूश्च काश्मरीर्वदरीस्तथा॥४६॥

प्लक्षानुडुम्बरवटानश्वत्थान् क्षीरिकांस्तथा ।
भल्लातकानामलकीर्हरीतकविभीतकान् ।।४७।।
इंगुदान् करमर्दांश्च तिन्दुकांश्च महाफलान् ।
एतानन्याँश्चविविधान् गन्धमादनसानुषु।।४८ ।
फलैरमृतकल्पैस्तानाचितान् स्वादुभिस्तरून् ।

आम, आम्रातक, उत्तम २ नारियल, इमली, मुञ्जक, अञ्जीर अनार, अमरूद, कटहल, बड़हर, केला, खजूर, अम्लवेत, पारावत, क्षौद्र, सुदर २ कदम्ब, विल्व, कैथ, जामुन, जम्भीरी नींबू, वेर, पिलखन, गूलर, वड़, पीपल, पिण्डखजूर, भिलावे, आंवले, हरड़-बहेड़ा, इंगुरी, करोंदा, बड़े फल के तैंदू आदि वृक्ष तथा अन्य अनेक प्रकार के अमृत के समान स्वादु फलों से लदे हुए, वृक्षों को देखते हुए पाण्डव जा रहे थे ॥ ४४--४८ ॥

तथैव चम्पकाशोकान् केतकान् वकुलाँस्तथा ।।४६।।
पुन्नगान् सप्तकर्णांश्च कर्णिकारान् सकेतकान् ।
पाटलान् कुटजान् रम्यान् मन्दारेन्दीवराँस्तथा।।५०।।
पारिजातान् कोविदारान् देवदारुद्रुमाँस्तथा ।
शालाँस्तालाँस्तमालाँश्च पिप्पलानिङ्गुदाँस्तथा ।।५१।।
शाल्मलीः किंशुकाशोकान् शिंशपाः सरलाँस्तथा।

इसी प्रकार चम्पा, अशोक, केतकी, वकुल, पुन्नाग, सप्तपर्ण, कनेर, केवड़ा, पाटल (गुलाब), कुटज, सुन्दर २ मन्दार, इन्दीवर, पारिजात, कोविदार, देवदारु, शाल, ताल, तमाल, पिप्पल,

इङ्गुद, शाल्मली, किंशुक, दूसरी तरह का अशोक, शीशम, सरल अदि वृक्षों की शोभा देखकर पाण्डव प्रसन्न हो रहे थे ॥४९-५१॥

चकोरैः शतपत्रैश्च भृङ्गराजैस्तथा शुकैः ॥५२॥
कोकिलैः कलविङ्कैश्च हारीतैर्जीवजीवकैः ।
प्रियकैश्चातकैश्चैव तथान्यैर्विविधैः खगैः ॥५३॥
श्रोत्ररम्यं सुमधुरं कूजद्भिश्चाप्यधिष्ठितान् ।
सरांसि च मनोज्ञानि समन्ताज्जलचारिभिः ॥५४॥

इन वृक्षों पर चकोर, मोर, भौरें, तोते, कोयल, कलविंक, हरियल, चकवा. प्रियङ्गुल, चातक आदि पक्षी कानों को रमणीक प्रतीत होनेवाला, मीठा गान कर रहे थे। इस पर्वत पर जल जन्तुओं से भरे हुए अनेक सरोवर थे ॥५२-५४॥

कुमुदैः पुण्डरीकैश्च तथा कोकनदोत्पलैः ।
कल्हारैः कमलैश्चैव आचितानि समन्ततः ॥५५॥

कुमद, पुण्डरीक, कोकनद, उत्पल मल्हार और कमलों से ये सरोवर चारों ओर से ढके पड़े थे ॥५५॥

कादम्बैश्चक्रवाकैश्च कुररैर्जलकुक्कुटैः ।
कारण्डवैः प्लवैर्हंसैर्बकैर्मद्गुभिरेव च ॥५६॥
एतैश्चान्यैश्च कीर्णानि समन्ताज्जलचारिभिः ।
हृष्टैस्तथा तामरसरसासवमदालसैः ॥५७॥

कादम्ब, चक्रवाक, कुरर, जलकुक्कुट, कारण्डव, सव, हंस, बगुले, मद्गु (मत्स्य) आदि जल जन्तुओं से ये सरोवर सुशोभित था। ये पक्षी कमल के रस के मदमें अलसा रहे थे ॥५६-५७॥

पद्मोदरच्युतरजः किञ्जल्कारुणरञ्जितैः ।
मञ्जुस्वरैर्मधुकरैर्विरुतान् कमलाकरान् ॥५८॥
अपश्यंस्ते नरव्याघ्रा गन्धमादनसानुषु ।
तथैव पद्मषण्डैश्च मण्डितांश्च समन्ततः ॥५९॥

नरश्रेष्ठ पाण्डवों ने कमलों के मध्य भाग से निकले पुष्परज के लाल रंग से रंगे हुए, मीठे स्वरवाले भ्रमरों के शब्द और सब ओर कमलसमूह से सुशोभित, सरोवरों को गंधमादन पर्वत पर देखा ॥५८-५९॥

शिखण्डिनीभिः सहितान् लतामण्डपकेषु च ।
मेघतूर्य्यरवोद्दाममदनाकुलितान् भृशम् ॥६०॥
कृत्वैव केकामधुरं सङ्गीतं मधुरस्वरम् ।
मयूरान् ददृशुर्हृष्टान्नृत्यतो वनलालसान् ।
कांश्चित्प्रियाभिः सहितान् भ्रममाणान् कलापिनः ॥६२
चित्रान् कलापान् विस्तीर्य्य सविलासान्मदालसान्.

इन्होंने लता मण्डपों में मोरनियों के साथ घूमने वाले, मेघरूपी तुरी बाजे के श्रवण से उत्कट, काम के वशीभूत, मधुर स्वर में अपनी केका वाणी से गाते हुए, रंग विरंगी पांखों को फैलाकर विलास सहित मद में भरे हुए, वन की लालसा वाले, नांचते हुए, मयूरों को देखा। इन मयूरों में कुछ तो अपनी प्रिया मोरनी के साथ घूमरहे थे ॥६०-६२॥

वल्लीलतासंकटेषु कुटजेषु स्थितांस्तथा ।
कांश्चिच्च कुटजानान्ते विटपेषूत्कटानिव ॥६३॥
कलापरुचिराटोपनिचितान्मुकुटानिव ।
विवरेषु तरूणाञ्च रुचिरान् ददृशुश्च ते ॥६४॥

कुछ मयूर, वेल और लताओं से बनाई हुई कुटज की कुञ्जों में और कुछ कुटज वृक्षों के पास के वृक्षों में उत्कण्ठित होकर स्थित थे। इन मयूरों के उठे हुए पंख, मयूरों के मुकुट से प्रतीत होते थे। कुछ मयूर, वृक्षों के कोटरों में बैठे सुशोभित हो रहे थे ॥६३-६४॥

सिन्धुवारांस्तथोदारान् मन्मथस्येव तोमरान् ।
सुवर्णवर्णकुसुमान् गिरीणां शिखरेषु च ॥६५॥

उन पर्वतों की चोटियों पर सुवर्ण के वर्ण वाले कमल, खिले हुए थे, जो कामदेव के तोमर शस्त्र से प्रतीत होते थे ॥६५॥

कर्णिकारान् विकसितान् कर्णपूरानिवोत्तमान् ।
तथापश्यन् कुरुवकान् वनराजिषु पुष्पितान् ॥६६॥

खिले हुए कर्णिकार के पुष्प उत्तम कर्ण के आभूषण से जान पड़ते थे। आगे चलकर पाण्डवों ने वन की पंक्तियों में खिले हुए, कुरबक के वृक्ष देखे ॥६६॥

कामवश्योत्सुककरान् कामस्येव शरोत्करान् ।
तथैव वनराजीनामुदारान्रचितानिव ॥६७॥
विराजमानांस्तेऽपश्यंस्तिलकांस्तिलकानिव ।
तथानङ्गशराकारान् सहकारान्मनोरमान् ॥६८॥

अब यहां पाण्डवों ने मनुष्यों को उत्कण्ठित करने वाले कामदेव के बाणों के तुल्य, वन पंक्तियों के उत्तमता से बनाये हुए, सुन्दर तिलक के समान, तिलक (चन्दन) के वृक्ष और कामदेव के बाणों के आकार वाले, मनोहर आम के वृक्षों को देखा ॥६७-६८॥

अपश्यन् भ्रमरारावान् मञ्जरीभिर्विराजितान् ।
हिरण्यसदृशैः पुष्पैर्दावाग्निसदृशैरपि ॥६९॥

इन आम के वृक्षों में भ्रमर शब्द कर रहे थे और ये अपनी मञ्जरियों से बहुत ही मनोरम प्रतीत होते थे। ये पुष्प, सुवर्ण और दावाग्नि के सदृश जान पड़ते थे ॥६९॥

लोहितैरञ्जनाभैश्च वैदूर्य्यसदृशैरपि ।
अतीव वृक्षा राजन्ते पुष्पिता शैलसानुषु ॥७०॥

पर्वत की चोटियों पर लाल. काले, वैडूर्य मणि के तुल्य नीले, फूलों से प्रफुल्लित वृक्ष, अत्यन्त मनोहर हो रहे थे ॥७०॥

तथा शालांस्तमालांश्च पाटलान् वकुलानपि ।
माला इव समासक्ताः शैलानां शिखरेषु च ॥७१॥

इन पर्वतों की शिखरों पर शाल, तमाल, पाटल और वकुलों को पाण्डवों ने देखा, जो माला की तरह एक दूसरे से सट रहे थे ॥७१॥

विमलस्फाटिकाभानि पाण्डुरच्छदनैर्द्विजैः ।
कलहंसैरुपेतानि सारसाभिरुतानि च ॥७२॥

सरांसि बहुशः पार्था पश्यन्तः शैलसानुषु ।
पद्मोत्पलविमिश्राणि सुखशीतजलानि च ॥७३॥

पर्वत की चोटियों पर निर्मल स्फटिक के समान जल से परिपूर्ण, श्वेत पांखों वाले, कलहंसों से युक्त, सारसों से शब्दायमान, बहुत से सरोवरों को पाण्डवों ने देखा। जिनके जलों में कमल और उत्पलों की सुगन्ध मिली हुई है और जिनके जल बड़े ही शीतल तथा सुखकारी हैं ॥७२—७३॥

एवं क्रमेण ते वीरा वीक्षमाणाः समन्ततः ।
गन्धवन्त्यथ माल्यानि रसवन्ति फलानि च ॥७४॥
सरांसि च मनोज्ञानि वृक्षांश्चातिमनोरमान् ।
विविशुः पाण्डवाः सर्वे विस्मयोत्फुल्ललोचनाः ॥७५

इस प्रकार महाबली पाण्डव, सुगन्ध से परिपूर्ण मालाएँ रसीले फल, मनोहर सरोवर, अत्यन्त सुन्दर वृक्षों को क्रम से चारों ओर देखते हुए उस पर्वत पर चले गये। इस समय ये सारे पाण्डव. अचम्भित और प्रफुल्लित हो रहे थे ॥७४—७५॥

कमलोत्पलकह्लारपुण्डरीकसुगन्धिना ।
सेव्यमाना वने तस्मिन् सुखस्पर्शेन वायुना ॥७६॥

इस वन में कमल, उत्पल, कह्लार, पुण्डरीक की सुगन्धि का धारी, सुख-कारी, वायु, पाण्डवों की सेवा सी कर रहा था ॥७६॥

ततो युधिष्ठिरो भीममाहेदं प्रीतिमद्वचः ।
अहो श्रीमदिदं भीमं गन्धमादनकाननम् ॥७७॥

इसके अनन्तर राजा युधिष्ठिर ने प्रीति से भरा हुआ वचन कहा- हे भीम ! यह गन्धमादन वन बड़ा ही मनोहर है ॥७७॥

वने ह्यस्मिन् मनोरम्ये दिव्याः काननजा द्रुमाः ।
लताश्च विविधाकाराः पत्रपुष्पफलोपगाः ॥७८॥

इस सुन्दर वन में दिव्य वन के वृक्ष खड़े हैं तथा अनेक प्रकार के पत्र, पुष्प और फलों से भरी हुई लताऐं हैं ॥७८॥

भान्त्येते पुष्पविकचाः पुंस्कोकिलकुलाकुलाः ।
नात्र कण्टकिनः केचिन्न च विद्यन्त्यपुष्पिताः ॥७९

कोयलों के अलाप से समन्वित, पुष्पों के गुच्छे, बड़े ही सुशोभित हो रहे थे। इस वन में कोई कांटेदार या बिना खिला हुआ वृक्ष नहीं था ॥७९॥

स्निग्धपत्रफला वृक्षा गन्धमादनसानुषु ।
भ्रमरारावमधुरा नलिनीः फुल्लपङ्कजाः ॥८०॥

इस गन्धमादन पर्वत के प्रदेशों में सुन्दर पत्र पुष्प वाले, भ्रमरों के शब्दों से शब्दायमान, वृक्ष थे और खिले-कोशों वाली कमलिनियां थीं ॥८०॥

विलोड्यमानाः पश्येमाः करिभिः सकरेणुभिः ।
पश्येमां नलिनीं चान्यां कमलोत्पलमालिनीम् ॥८१॥
स्रग्धरां विग्रहवतीं साक्षाच्छ्रियमिवापराम् ।

यह देखो हथिनियों के साथ हाथी, इन कमलिनियों को विलोडित कर रहे हैं और दूसरी कमलिनी को देखो, जो अपने प्रिय कमलोत्पल के माला की तरह लिपटी जा रही है

और माला धारण किये हुए साक्षात् लक्ष्मी सी मालूम पड़ती है ॥८१॥

नानाकुसुमगन्धाढ्यास्तस्येमाः काननोत्तमे ॥८२॥
उद्गीयमाना भ्रमरैराजन्ते वनराजयः।

इस पर्वत के सुन्दर वन में अनेक पुष्पों के गन्ध से भरी हुई, भ्रमरों की गुञ्जार से परिपूर्ण, वन की पंक्तियाँ, अत्यन्त सुशोभित हो रही हैं ॥८२॥

पश्य भीम शुभान् देशान् देवाक्रीडान् समन्ततः ॥
अमानुषगतिं प्राप्ताः संसिद्धा स्म वृकोदर।

हे वृकोदर! तुम चारों ओर से देवों के क्रीड़ास्थल इस वन-प्रदेश को देखो। हम लोग विना देवयोनि प्राप्त हुए यहाँ आगए और सिद्ध से बन गए ॥८३॥

लताभिः पुष्पिताग्राभिः पुष्पिताः पादपोत्तमाः ॥८४
संश्लिष्टः पार्थ शोभन्ते गन्धमादनसानुषु।

हे पार्थ! इस गन्धमादन पर्वत के प्रदेशों में पुष्पों से भरी लताएँ, पुष्पों से भरे वृक्षों से कैसी चिपट रही हैं ॥८४॥

शिखण्डिनीभिश्चरतां सहितानां शिखण्डिनाम् ॥८५
नदतां शृणु निर्घोषं भीम पर्वतसानुषु।

हे भीम! तुम इस पर्वत की सानुओं (चोटिओं) में मयूरों के साथ घूमती हुई मोरनियों को देखो। ये किस प्रकार मधुर शब्द बोल रही हैं, इसको सुनो ॥८५॥

चकोराः शतपत्राश्च मत्तकोकिलसारिकाः ॥८६॥
पत्रिणः पुष्पितानेतान् सम्पतन्ति महाद्रुमान् ।

पुष्पों से लदे हुए, इन बड़े २ वृक्षों की ओर चकोर, शतपत्र, तथा मदोन्मत्त कोयल और मैनाएँ कैसी सुन्दरता से उड़ी जा रही हैं ॥८६॥

रक्तपीतारुणाः पार्थ पादपाग्रगताः खगाः ॥८७॥
परस्परमुदीक्षन्ते बहवो जीवजीवकाः ।

हे पार्थ ! लाल, गलाबी, पीले रंग धारीं, वृक्षों की टहनियों पर बैठे हुए, बहुत से जीव-जीवक नामक पक्षी, एक दूसरे की ओर देख रहे हैं ॥८७॥

हरितारुणवर्णानां शाद्वलानां समीपतः ॥८८॥
सारसाः प्रतिदृश्यन्ते शैलप्रस्रवणेष्वपि ।
वदन्ति मधुरा वाचः सर्वभूतमनोरमाः ॥८९॥
भृङ्गराजोपचक्राश्च लोहपृष्ठाः पतत्रिणः ।

पर्वतों के झरनों में भी हरी लाल घास के पास बड़े मनोहर सारस पक्षी दिखाई दे रहे हैं। भृङ्गराज, उपचक्र और लोह-पृष्ठ पक्षी, सारे भूतों को मधुर प्रतीत होने वाली वाणी बोल रहे हैं ॥८८-८९॥

चतुर्विषाणाः पद्माभाः कुञ्जराः सकरेणवः ॥९०॥
एते वैदूर्य्यवर्णाभं क्षोभयन्ति महत्सरः ।

श्वेत कमल के सदृश कान्तिधारी, चार दांतों वाले, हथनियों सहित हाथी, वैडूर्य मणि के तुल्य नीले-जल-वाले, बड़े भारी सरोवर को आलोड़ित कर रहे हैं ॥९०॥

वहुतालसमुत्सेधाः शैल शृङ्गपरिच्युताः ॥६१॥
नानाप्रस्रवणेभ्यश्च वारिधाराः पतन्ति च ।

वड़े २ लम्वे ताल के वृक्ष के समान लम्वी, ऊंचे २ पर्वतों से गिरती हुई, अनेक झरनों की जल धाराएँ सामने ही गिर रहीं हैं ॥६१॥

भास्कराभप्रभा भीमाः शारदाभ्रघनोपमाः ॥६२॥
शोभयन्ति महाशैलं नानारजतधातवः ।

सूर्य के समान चमकीले, शरद् ऋतु के मेघ के तुल्य श्वेत, चकाचौंध करने वाले चान्दी सम्वन्धी धातुएँ, इस महापर्वत की शोभा को वढ़ा रहे हैं ॥६२॥

क्वचिदञ्जनवर्णाभाः क्वचित्काञ्चनसन्निभाः ॥६३॥
धातवो हरितालस्य क्वचिद्धिङ्गुलकस्य च ।
मनःशिलागुहाश्चैव सन्ध्याभ्रनिकरोपमाः ॥६४॥
शशलोहितवर्णाभाः क्वचिद्गैरिकधातवः ॥६५॥
सितासिताभ्रप्रतिमाः वालसूर्य्यसमप्रभाः ।
एते वहुविधाः शैला शोभयन्ति महाप्रभाः ॥६६॥

कहीं तो अञ्जन वर्ण के काले और कहीं सुवर्ण के समान पीले, हरी लाल और हींगलू सम्वन्धी धातु, कहीं सन्ध्या के मेघों के तुल्य, लाल २ मैन-शिला, कहीं शशक (खरगोश) के रक्त के तुल्य, श्वेत और काले मेघों के समान, वाल सूर्य की सी

कान्ति-धारी, गैरिक आदि अनेक प्रकार के चमकीले धातु, इस महा-शैल की शोभा बढ़ा रहे हैं ॥६३-६६॥

गन्धर्वाः सह कान्ताभिर्यथोक्तं वृषपर्वणा ।
दृश्यन्ते शैलशृङ्गेषु पार्थ किम्पुरुषैः सह ॥६७॥

हे पार्थ ! वृषपर्वा के कथनानुसार इस पर्वत की चोटियों पर किन्नर और अपनी कान्ताओं के साथ अनेक गन्धर्व, दिखाई देते हैं ॥६७॥

गीतानां समतालानां तथा साम्नाश्च निस्वनः ।
श्रूयते बहुधा भीम सर्वभूतमनोहरः ॥६८॥

हे भीम ! ताल के साथ गाये हुए, गीत तथा सब को सुन्दर प्रतीत होने वाला, साम गान का स्वर, प्रायः सुना जा रहा है ६८

महागङ्गामुदीक्षस्व पुण्यां देवनदीं शुभाम् ।
कलहंसगणैर्जुष्टामृषिकिन्नरसेविताम् ॥६६॥

बड़ी पवित्र, सुन्दर, देवनदी, गङ्गा को देखो, जो कल-हंसों से युक्त और ऋषि तथा किन्नरों से सेवित है ॥६६॥

धातुभिश्च सरिद्भिश्च किन्नरैर्मृगपक्षिभिः ।
गन्धर्वैरप्सरोभिश्च काननैश्च मनोरमैः ॥१००॥
व्यालैश्च विविधाकारैः शतशीर्षैः समन्ततः ।
उपेतं पश्य कौन्तेय शैलराजमरिन्दम ॥१०१॥

हे अरि-मर्दन ! भीम ! अनेक धातु, नदी, किन्नर, मृग और पक्षी, गन्धर्व, अप्सरा, सुन्दर वन, अनेक भांतिके सौ २ शिरवाले, सर्पादि जन्तुओं से समन्वित, इस पर्वतराजको देखो १००-१०१

वैशम्पायन उवाच—

ते प्रीतमनसः शूराः प्राप्ता गतिमनुत्तमाम् ।
नातृप्यन् पर्वतेन्द्रस्य दर्शनेन परन्तपाः ॥१०२॥

वैशम्पायन बोले - हे राजन् ! ये शूरवीर पाण्डव, बड़े प्रसन्न और उत्तम दशा को प्राप्त हुए। ये इस पर्वतराज के सुन्दर दृश्यों को देखते हुए तृप्त नहीं होते थे ॥१०२॥

उपेतमथ माल्यैश्च फलवद्भिश्च पादपैः ।
आर्ष्टिषेणस्य राजर्षेराश्रमं ददृशुस्तदा ॥१०३॥

हे राजन् ! अब ये पाण्डव पुष्प और फलों के समूह से लदे हुए, वृक्षों से सुशोभित, राजर्षि आर्ष्टिषेण के आश्रम में पहुंचे ॥१०३॥

ततस्ते तिग्मतपसं कृशन्धमनिसन्ततम् ।
पारगं सर्वधर्माणामार्ष्टिषेणमुपागमन् ॥१०४॥

इति श्रीमहाभारत आरण्यपर्वणि यक्षयुद्धपर्वणि
गन्धमादनशोभादर्शनं नामाष्टपञ्चाशदधिकशततमोऽध्यायः

यहां इन्होंने बड़े तीव्र तपस्वी, कृश नाड़ियों के जाल को धारण किये हुए, सब धर्मों के तत्व के ज्ञाता, राजर्षि आर्ष्टिषेण के दर्शन किए ॥१०४॥

इति श्रीमहाभारत वनपर्वान्तर्गत यक्षयुद्धपर्व में गन्धमादन पर्वत की शोभा के वर्णनका एक सौअट्ठावनवां अध्याय पूरा हुआ ।

एक सौ उनसठवां अध्याय

वैशम्पायन उवाच—

युधिष्ठिरस्तमासाद्य तपसा दग्धकिल्बिषम् ।
अभ्यवादयत प्रीतः शिरसा नाम कीर्त्तयन् ॥१॥

वैशम्पायन कहने लगे—हे राजन् ! तप से अपने पापों को भस्म करने वाले, महर्षि आर्ष्टिषेण के पास पहुंच कर राजा युधिष्ठिर ने अपने नाम का उच्चारण करके उस मुनि को बड़े प्रेम के साथ शिर झुकाकर प्रणाम किया ॥ १ ॥

ततः कृष्णा च भीमश्च यमौ च सुतपस्विनौ ।
शिरोभिः प्राप्य राजर्षिं परिवार्य्योपतस्थिरे ॥२॥

इसके अनन्तर द्रौपदी, भीम और कष्ट-सहिष्णु, नकुल और सहदेव ने भी शिर नवा कर प्रणाम किया और ये सब उस राजर्षि को घेर कर बैठ गए ॥ २ ॥

तथैव धौम्यो धर्मज्ञः पाण्डवानां पुरोहितः ।
यथान्यायमुपाक्रान्तस्तमृषिं संशितव्रतम् ॥३॥

इसी तरह धर्मात्मा, पाण्डवों के पुरोहित, महर्षि धौम्य भी, उस व्रतशील आर्ष्टिषेण से नियम के अनुसार मिले ॥ ३ ॥

अन्वजानात् स धर्मज्ञो मुनिर्दिव्येन चक्षुषा ।
पाण्डोः पुत्रान् कुरुश्रेष्ठानास्यतामिति चाब्रवीत्॥४॥

इस मुनि ने अपने दिव्य ज्ञान से ये जान लिया, कि ये कुरु-वंश-श्रेष्ठ, पाण्डु के पुत्र हैं । इसने इनको बैठने की आज्ञा दी ॥ ४ ॥

कुरूणामृषभं प्राप्तं पूजयित्वा महातपाः ।
सह भ्रातृभिरासीनं पर्य्यपृच्छदनामयम् ॥५॥

इस महा-तपस्वी ने कुरु-वंश-श्रेष्ठ, राजा युधिष्ठिर की बड़ी पूजा की और अपने भाइयों के साथ विराजमान धर्मराज से कुशल पूछी ॥ ५ ॥

नानृते कुरुषे भावं कच्चिद्धर्मे प्रवर्त्तसे ।
मातापित्रोश्च ते वृत्तिः कच्चित् पार्थ न सीदति ॥६॥

हे धर्मराज ! तुम झूंठे व्यवहारों में तो अपना चित्त नहीं लगाते हो और धर्म में तुम्हारी चित्त वृत्ति लगी तो रहती है तथा माता पिता की सेवा शुश्रूषा की वृत्ति, तो कम नहीं हो गई है ॥ ६ ॥

कच्चित्ते गुरवः सर्वे वृद्धा वैद्याश्च पूजिताः ।
कच्चिन्न कुरुषे भावं पार्थ पापेषु कर्मसु ॥७॥

हे पार्थ ! सारे पूज्य, वृद्ध और विद्वानों का तुम्हारे यहां आदर सत्कार तो होता रहता है और तुम पाप कर्मों का अपने चित्त में विचार तो नहीं करते हो ॥ ७ ॥

सुकृतं प्रतिकर्तुञ्च कच्चिद्धातुञ्च दुष्कृतम् ।
यथान्यायं कुरुश्रेष्ठ जानासि न विकत्थसे ॥८॥

हे कुरु-श्रेष्ठ ! तुम सुकृत का प्रत्युपकार और दुष्कृत के भूल जाने का काल तो न्यायानुसार जानते हो । इस कार्य में कहीं अपनी प्रशंसा की डींग में तो नहीं आते रहते हो ॥ ८ ॥

यथार्हं मानिताः कच्चित्त्वया नन्दन्ति साधवः ।
वनेष्वपि वसन् कच्चिद्धर्ममेवानुवर्त्तसे ॥९॥

तुम से यथा-योग्य मान पाये हुए, श्रेष्ठ-पुरुष तो सुख से रहते हैं ? तुम इस विपत्ति के समय वन में रहते हुए धर्म का आचरण तो कर रहे हो ॥ ९ ॥

कच्चिद्धौम्यस्त्वदाचारैर्न पार्थ परितप्यते ।
दानधर्मतपःशौचैरार्जवेन तितिक्षया ॥१०॥

हे पार्थ ! पुरोहित धौम्य, कहीं तुम्हारे आचरणों से असन्तुष्ट तो नहीं रहते हैं ? दान, धर्म, तप, शौच, सरलता और सहनशीलता से सन्तुष्ट तो हैं ॥ १० ॥

पितृपैतामहं वृत्तं कच्चित् पार्थानुवर्त्तसे ।
कच्चिद्राजर्षियातेन पथा गच्छस्यरिन्दम ॥११॥

हे पार्थ ! तुम अपने पिता, पितामहों की मर्यादा का अनुपालन तो करते रहते हो और श्रेष्ठ राजाओं के प्रवृत्त किये हुए मार्ग से तो चल रहे हो ॥ ११ ॥

स्वे स्वे किल कुले जाते पुत्रे नप्तरि वा पुनः ।
पितरः पितृलोकस्थाः शोचन्ति च हसन्ति च ॥१२॥
किन्त्वस्य दुष्कृतेऽस्माभिः सम्प्राप्तव्यं भविष्यति ॥
किञ्चास्य सुकृतेऽस्माभिः प्राप्तव्यमिति शोभनम् ॥१३

हे अरि-मर्दन ! अपने २ कुल में पुत्र या पौत्र के उत्पन्न होने पर पितृ-लोक में स्थित, पितर, दुःखी और सुखी होते

रहते हैं। ये जानते हैं, कि यदि इन्होंने कुछ बुरा कर्म कर डाला, तो उसकी हानि भी हम को ही उठानी पड़ेगी और जो इन्होंने अच्छे कर्म किए, तो उनका शुभ फल भो हम को ही प्राप्त होगा ॥ १२—१३ ॥

पिता माता तथैवाग्निर्गुरुरात्मा च पञ्चमः ।
यस्यैते पूजिताः पार्थ तस्य लोकावुभौ जितौ॥१४॥

हे पार्थ !जिसने पिता, माता, अग्नि, गुरु और पांचवां आत्मा का आदर सत्कार करना जान लिया, उसने निश्चय ही दोनों लोक जीत लिए ॥ १४ ॥

युधिष्ठिर उवाच—

भगवन्नार्य्य माहैतद्यथावद्धर्मनिश्चयम् ।
यथाशक्ति यथान्यायं क्रियते विधिवन्मया ॥१५॥

युधिष्ठिर ने कहा—हे आर्य! भगवन्! आपने जो धर्म के विषय में मुझ से पूछा-यह ठीक है-मैं यथा-शक्ति न्यायानुसार अवश्य विधि-पूर्वक धर्म के आचरण करने का प्रयत्न करता रहता हूं ॥ १५॥

आर्ष्टिषेण उवाच—

अब्भक्षा वायुभक्षाश्च प्लवमाना विहायसा ।
जुषन्ते पर्वतश्रेष्ठमृषयः पर्वसन्धिषु ॥१६॥

आर्ष्टिषेण बोले-हे राजन् ! जल और वायु मात्र का आहार करने वाले ऋषि लोग, आकाश मार्ग से पर्व-काल (पूर्णिमा) में इस पर्वत श्रेष्ठ पर आते रहते हैं ॥ १६ ॥

कामिनः सह कान्ताभिः परस्परमनुव्रताः ।
दृश्यन्ते शैलशृङ्गस्था यथा किम्पुरुषा नृप ॥१७॥

इसी प्रकार कामी किन्नर आदि देवगण, अपनी २ कान्ताओं के साथ परस्पर प्रेम करते हुए, इस पर्वत के शिखर पर मिलते हैं ॥ १७ ॥

अरजांसि च वासांसि वसानाः कौशिकानि च ।
दृश्यन्ते बहवः पार्थ गन्धर्वाप्सरसां गणाः ॥१८॥

हे पार्थ ! यहां साफ धुले हुए रेशमी वस्त्र पहने हुए, बहुत से गन्धर्व और अप्सराओं के समूह भी घूमते रहते हैं ॥ १८ ॥

विद्याधरगणाश्चैव स्रग्विणः प्रियदर्शनाः ।
महोरगगणाश्चैव सुपर्णाश्चोरगादयः ॥१९॥
अस्य चोपरि शैलस्य श्रूयते पर्वसन्धिषु ।

माला पहने हुए, बड़े सुन्दर विद्याधर, महोरग, उरग और गरुड़, आदि देव, इस पूर्णिमा की पर्व सन्धि में इस पर्वत की चोटी पर घूमते दिखाई देते हैं ॥ १९ ॥

भेरीपणवशङ्खानां मृदङ्गानाञ्च निःस्वनः ॥२०॥
इहस्थैरेव तत् सर्वं श्रोतव्यं भरतर्षभाः ।
न कार्य्या वः कथञ्चित्स्यात्तत्राभिगमने मतिः॥२१॥

इसी तरह भेरी, पणव, शंख और मृदङ्गों का शब्द, तुम यही बैठे हुए सुनते रहना। हे भरतर्षभ ! तुम वहां जाने की इच्छा जरा भी नहीं करना ॥ २०—२१ ॥

न चाप्यतः परं शक्यं गतुं भरतसत्तमाः।
विहारो ह्यत्र देवानाममानुषगतिस्तु सा ॥२२॥

हे भरत-वंश-श्रेष्ठ, इस के आगे तुम जा नहीं सकते हो क्योंकि इस स्थान पर देवों का विहार होता हैं। यह स्थली मनुष्यों के विहार के योग्य नहीं मानी गई हैं॥ २२॥

ईषच्चपलकर्माणं मनुष्यमिह भारत।
द्विषन्ति सर्वभूतानि ताडयन्ति च राक्षसाः॥२३॥

हे भारत! मनुष्य, कुछ चपलता से कार्य कर बैठते हैं, इससे अन्य प्राणी इन से द्वेष करने लगते हैं और राक्षस लोग इनको मारते हैं॥ २३॥

अस्यातिक्रम्य शिखरं कैलासस्य युधिष्ठिर।
गतिः परमसिद्धानां देवर्षिणां प्रकाशते ॥२४॥

हे युधिष्ठिर! इस कैलास की शिखर को उलांघ लेने पर ही परम सिद्ध, देवर्षियों की गति का प्रकाश होता है॥ २४॥

चापल्यादिव गच्छन्तं पार्थ यानमतः परम्।
अयःशूलादिभिर्घ्नन्ति राक्षसाः शत्रुसूदन ॥२५॥

हे शत्रु-नाशक, युधिष्ठिर! इस आगे के मार्ग में जो कोई मनुष्य अपनी चपलता से गमन भी करे, तो उसको राक्षस, लोहों के दण्डों से मारते हैं।॥ २५॥

अप्सरोभिः परिवृतः समृद्ध्या नरवाहनः।
इह वैश्रवणस्तात पर्वसन्धिषु दृश्यते ॥२६॥

हे तात ! पर्व काल में अप्सराओं से घिरा हुआ, बड़े ऐश्वर्य के साथ, कुवेर भी इसी पर्वत पर आता है ।। २६ ।।

शिखरस्थं समासीनमधिपं यक्षरक्षसाम् ।
प्रेक्षन्ते सर्वभूतानि भानुमन्तमिवोदितम् ॥२७॥

यक्ष और राक्षसों के अधीश्वर, पर्वत की शिखर पर बैठे हुए, कुवेर को सारे प्राणी, उदय को प्राप्त हुए सूर्य के सदृश देखते रहते हैं ।। २७ ।।

देवदानवसिद्धानां तथा वैश्रवणस्य च ।
गिरेः शिखरमुद्यानमिदं भरतसत्तम ॥२८॥

हे भरत-सत्तम ! देव, दानव, सिद्ध और कुवेर का तो यह पर्वत, क्रीड़ा करने का एक उद्यान (वगीचा) ही है ।। २८ ।।

उपासीनस्य धनदं तुम्बुरोः पर्वसन्धिषु ।
गीतसामस्वनस्तात श्रूयते गन्धमादने ॥२९॥

हे तात ! पर्वकाल में कुवेर की सेवा में गाने के लिए तुम्बरु नामक गन्धर्व आता है। जो सामवेद के स्वर सुनाता है, वे इस गन्धमादन पर्वत पर सब को सुनाई देते रहते हैं ।। २९ ।।

एतदेवंविधश्चित्रमिह तात युधिष्ठिर ।
प्रेक्षन्ते सर्वभूतानि बहुशः पर्वसन्धिषु ॥३०॥

हे युधिष्ठिर ! इस प्रकार इस पर्वत पर अनेक अद्भुत वातें होती रहती हैं। जो पर्वकाल में प्रायः सारे प्राणी देखते सुनते रहते हैं ।। ३० ।।

भुञ्जाना मुनिभोज्यानि रसवन्ति फलानि च ।
वसध्वं पाण्डवश्रेष्ठा यावदर्जुनदर्शनात् ॥३१॥

हे पाण्डवश्रेष्ठो ! मुनियों के अन्न का भोजन और रसीले फल खाते हुए, अर्जुन के आगमन तक तुम यहीं ठहरो ॥ ३१ ॥

न तात चपलैर्भाव्यमिह प्राप्तैः कथञ्चन ।
उषित्वेह यथाकामं यथाश्रद्धं विहृत्य च ।
ततः शस्त्रजितां तात पृथिवीं पालयिष्यसि ॥३२॥
इति श्रीमहाभारत आरण्यपर्वणि यक्षयुद्धपर्वणि
आर्ष्टिषेणयुधिष्ठिरसंवादे एकोनषष्ठ्यधिकशततमोऽध्यायः ॥

हे धर्मराज ! यहां आकर कोई चपलता न कर बैठना । यहां अपनी इच्छा के अनुसार ठहर कर और रुचि के अनुसार घूम कर, विहार करो । इसके अनन्तर यहां से लौटने पर शस्त्र से प्राप्त होने वाली पृथ्वी का पालन करोगे ॥ ३२ ॥

इति श्रीमहाभारत वनपर्वान्तर्गत यक्ष-युद्ध-पर्व में आर्ष्टिषेण
और युधिष्ठिर के सम्वाद का एक सौ उनसठवां
अध्याय पूरा हुआ ।

एक सौ साठवा अध्याय

जनमेजयउवाच—

आर्ष्टिषेणाश्रमे तस्मिन् मम पूर्वपितामहाः ।
पाण्डोः पुत्रा महात्मानः सर्वे दिव्यपराक्रमाः ॥१॥

कियन्तं कालमवसन् पर्वते गन्धमादने ।
किञ्च चक्रुर्महावीर्य्याः सर्वेऽतिवलपौरुषाः ॥२॥
कानि चाभ्यवहार्य्याणि तत्र तेषां महात्मनाम् ।
वसतां लोकवीराणामासंस्तद् ब्रूहि सत्तम ॥३॥

जनमेजय वोला—हे व्रह्मन्! इस गन्धमादन पर्वत पर आर्ष्टिषेण मुनि के आश्रम में मेरे पूर्व पितामह, दिव्य पराक्रमी, महात्मा, पाण्डव. कितने दिन तक रहे। इन अत्यन्त पुरुषार्थी, महावली पाण्डवों ने वहाँ क्या किया और उन महा-वीर, महात्माओं का भोजन का व्यवहार कैसा था—यह सव कुछ मुझे बताओ ॥ १--२॥

विस्तरेण च मे शंस भीमसेनपराक्रमम् ।
यद्यच्चक्रे महावाहुस्तस्मिन् हैमवते गिरौ ॥४॥

इस हिमवान् पर्वत में महा-वाहु भीम ने क्या क्या पराक्रम किए? मुझे उन सव को विस्तार से सुनाओ ॥ ३॥

न खल्वासीत् पुनर्युद्धं तस्य यक्षैर्द्विजोत्तम ।
कच्चित्समागमस्तेषामासीद्वैश्रवणेन च ॥५॥
तत्र ह्यायाति धनद आर्ष्टिषेणो यथाव्रवीत् ।
एतदिच्छाम्यहं श्रोतुं विस्तरेण तपोधन ।
न हि मे शृण्वतस्तृप्तिरस्ति तेषां विचेष्टितम् ॥६॥

हे द्विजोत्तम! उनका यक्षों से फिर युद्ध तो नहीं हुआ और उनका यक्षराज कुवेर से समागम (मुलाक़ात) हुआ या नहीं। महर्षि आर्ष्टिषेण ने कहा है, कि यहाँ कुवेर आता रहता है। हे तपोधन! मैं यह सब विस्तार से सुनना चाहता हूँ। उनके कामों को सुनते हुए मुझे तृप्ति नहीं होती है ॥४-५-६॥

वैशम्पायन उवाच—

एतदात्महितं श्रुत्वा तस्याप्रमिततेजसः ।
शासनं सततञ्चक्रुस्तथैव भरतर्षभाः ।
भुञ्जाना मुनिभोज्यानि रसवन्ति फलानि च ॥७॥
शुद्धवाणहतानाञ्च मृगाणां पिशातान्यपि ।
मेध्यानि हिमवत्पृष्ठे मधूनि विविधानि च ॥८॥
एवं ते न्यवसंस्तत्र पाण्डवा भरतर्षभाः।
तथानिवसतां तेषां पञ्चमं वर्षमभ्यगात् ॥६॥
शृण्वतां लोमशोक्तानि वाक्यानि विविधान्युत ।

वैशम्पायन बोले—हे राजन्! इस अनन्त तेजस्वी, महर्षि द्वारा की हुई, अपनी हितकारिणी शिक्षा सुनकर भरत-वंश-श्रेष्ठ पाण्डव उसका पालन करने लगे। ये मुनियों के भोज्य, अन्न और रसीले फल तथा शुद्ध वाण से मारे हुए जंगली जीवों का मांस खाते थे। हिमालय की चोटी पर बड़ा पवित्र और मीठा मधु (शहद) था। ये भरतवंशोत्पन्न पाण्डव, यहाँ रहते थे, कि इनको अर्जुन के मिलने का पाँचवाँ वर्ष आ गया। ये इस समय में महर्षि लोमश के उपदेशों को सुनते रहते थे ॥७--६॥

कृत्यकाल उपस्थास्य इति चोक्त्वा घटोत्कचः ॥१०।
राक्षसैः सह सर्वैश्च पूर्वमेव गत प्रभो

मैं काम पड़ने पर फिर आजाऊँगा, यह कहकर घटोत्कच, सारे राक्षसों के साथ पहिले ही चला गया था ॥१०॥

आर्ष्टिषेणाश्रमे तेषां वसतां वै महात्मनाम् ॥११॥
अगच्छन् बहवो मासाः पश्यतां महदद्भुतम्

इन महात्मा पाण्डवों को आर्ष्टिषेण के आश्रम में रहते हुए और अद्भुत दृश्य देखते हुए, बहुत से मास व्यतीत होगए ॥११

तैस्तत्र विहरद्भिश्च रममाणैश्च पाण्डवैः ॥१२॥
प्रीतिमन्तो महाभागा मुनयश्चारणास्तथा ।
आजग्मुः पाण्डवान् द्रष्टुं शुद्धात्मानो यतव्रताः॥१३॥

बड़े आनन्द के साथ, उस पर्वत पर घूमते हुए पाण्डवों के प्रेम से, बड़े २ महाभाग, शुद्धात्मा, व्रतशील मुनि और चारण, पाण्डवों से मिलने को आए। भरत-वंश-श्रेष्ठ, पाण्डवों ने उन सब मुनियों से वार्तालाप की ॥१२--१३॥

ते तैः सह कथाश्चक्रुर्दिव्यां भरतसत्तमाः ।
ततः कतिपयाहस्य महाह्रदनिवासिनम् ॥१४॥
ऋद्धिमन्तं महानागं सुपर्णः सहसाहरत् ।
प्राकम्पत महाशैलः प्रामृद्यन्त महाद्रुमाः ॥१५॥
ददृशुः सर्वभूतानि पाण्डवाश्च तदद्भुतम् ।

कुछ दिन के अनन्तर बड़े भारी ह्रद (तालाव) में विषैले महासर्प को अचानक गरुड़ ले उड़ा। इस समय यह महाशैल काँपने लगा और बड़े २ वृक्ष कुचल गए। सारे प्राणी और पाण्डवों ने इस आश्चर्य-कारी घटना को देखा ॥१४--१५॥

ततः शैलोत्तमस्याग्रात् पाण्डवान् प्रति मारुतः॥१६॥
अवहत् सर्वमाल्यानि गन्धवन्ति शुभानि च।
तत्र पुष्पाणि दिव्यानि सुहृद्भिः सह पाण्डवाः॥१७॥
ददृशुः पञ्चवर्णानि द्रौपदी च यशस्विनी।
भीमसेनं ततः कृष्णा काले वचनमब्रवीत् ॥१८॥

इस पर्वत राज की शिखर के अनेक पुष्पों की सुगन्ध को वायु, पाण्डवों तक पहुचा रहा था। अपने हितकारी जनों के साथ पाण्डव और यशस्विनी द्रौपदी ने वहाँ पांचवर्ण के पुष्प देखे। इनको देखकर द्रौपदी पर्वत प्रदेश के एकान्त में बैठे हुए, बड़ी २ भुजा वाले भीमसेन से बोली ॥१६--१८॥

विविक्ते पर्वतोद्देशे सुखासीनं महाभुजम्।
सुपर्णानिलवेगेन श्वसनेन महाबलात्॥१९॥
पञ्चवर्णानि पात्यन्ते पुष्पाणि भरतर्षभ।
प्रत्यक्षं सर्वभूतानां नदीमश्वरथा प्रति ॥२०॥

हे भरतर्षभ! गरुड़ के गमनके समय होने वाले वेगके तुल्य वेगशील, वायु से बड़े बल के साथ ये पचरंगे पुष्प, अश्वरथा नदी के पास बखेरे जा रहे हैं, जिनको सारे प्राणी देख रहे हैं।१९--२०

खाण्डवे सत्यसन्धेन भ्रात्रा तव महात्मना।
गन्धर्वोरगरक्षांसि वासवश्च निवारितः॥२१॥
हता मायाविनश्चोग्रा धनुः प्राप्तश्च गाण्डिवम्।

सत्य-प्रतिज्ञ, महात्मा तुम्हारे भाई अर्जुन ने खाण्डव वन में गन्धर्व, उरग, राक्षस और इन्द्र तक का मुख युद्ध से फेर दिया था। उस समय उन्होंने बहुत से मायावी राक्षस मारे और गाण्डीव धनुष पाया ॥२१॥

तवापि सुमहत्तेजो महद्बाहुबलञ्च ते ॥२२॥
अविषह्यमनाधृष्यं शक्रतुल्यबलोपमम् ।
त्वद्बाहुबलवेगेन त्रासिताः सर्वराक्षसाः ॥२३॥
हित्वा शैलं प्रपद्यन्तां भीमसेन दिशो दश ।
ततः शैलोत्तमस्याग्रं चित्रमाल्यधरं शिवम् ॥२४॥
व्यपेतभयसम्मोहाः पश्यन्तु सुहृदस्तव ।
एवं प्रणिहितं भीम चिरात् प्रभृति मे मनः ॥२५॥
द्रष्टुमिच्छामि शैलाग्रं त्वद्बाहुबलपालिता ।

हे भीमसेन! तुम्हारा भी तेज और बाहुबल, इन्द्र के बल के तुल्य है, जिसको कोई सह नहीं सकता है और न उसको कोई दबा सकता है। तेरी भुजाओं के बल के वेग से घबराकर सारे राक्षस, इस पर्वत-राज को छोड़कर दशों दिशाओंमें भाग जावे। इसके बाद, अद्भुत २ पुष्प समूह के धारण करने वाले, कल्याण-कारी, इस पर्वत की शिखर को तेरे प्रेमीजन भय और मोह से रहित देखें। हे भीम! मैं तो इस पर्वत-राज को तेरी भुजाओं से पालित हुई इसी तरह देखना चाहती हूं ॥२२--२५॥

ततः क्षिप्तमिवात्मानं द्रौपद्या स परन्तपः ॥२६॥
नामृष्यत महाबाहुः प्रहारमिव सद्गवः ।

इस शत्रु-विजयी भीमने अपने आपको द्रौपदी से उभारा हुआ समझा और इस महाबली से यह आक्षेप, उत्तम बैल के प्रहार के सदृश नहीं सहा गया ।।२६।।

सिंहर्षभगतिः श्रीमानुदारकनकप्रभः ।।२७।।
मनस्वी बलवान् दृप्तो मानी शूरश्च पाण्डवः ।
लोहिताक्षः पृथुव्यंसो मत्तवारणविक्रमः ।।२८।।
सिंहदंष्ट्रो बृहत्स्कन्धः शालपोत इवोद्गतः ।
महात्मा चारुसर्वाङ्गः कम्बुग्रीवो महाभुजः ।।२९।।
रुक्मपृष्ठं धनुः खड्गं तूणांश्चापि परामृशत् ।
स केशरीव चोत्सिक्तः प्रभिन्न इव वारणः ।।३०।।
व्यपेतभयसम्मोहः शैलमभ्यपतद्बली ।

सिंह के समान गति धारी, शोभाशील, दिव्य सुवर्ण की सी कान्ति-वाला, मनस्वी, बलवान्, उद्धत, मानी, शूर, लाल नेत्र और पुष्ट कंधों का धारी, मदोन्मत्त हाथी के तुल्य विक्रम और सिंह की सी दाढ़ों तथा बड़े २ कंधों का धारण करने वाला, श्रेष्ठ शरीरसे सुन्दर, शंख की सी ग्रीवा और बड़ी२ भुजाओं वाला, महात्मा भीमसेन, शाल-वृक्ष के पौदे के सदृश विशाल था। इसने सुनहरी पीठ वाला धनुष, तलवार और तूणीर को उठा लिया। सिंह के समान मदोद्धत, मद टपकते हुए हाथी के तुल्य, बलवान् भीम, भय और आवेग को छोड़ कर पर्वत की ओर चल पड़ा ।।२७-३०।।

तं मृगेन्द्रमिवायान्तं प्रभिन्नमिव वारणम् ॥३१॥
ददृशुः सर्वभूतानि बाणकार्मुकधारिणम् ।
द्रौपद्या वर्द्धयन् हर्षं गदामादाय पाण्डवः ॥३२॥
व्यपेतभयसम्मोहः शैलराजं समाश्रितः ।

मृगेन्द्र और मदस्रावी गज के समान आते हुए, धनुष और बाणों के धारी, भीम को इस समय सारे प्राणियों ने इस वीर वेष में देखा। पाण्डु-पुत्र, भीमसेन, गदा लेकर द्रौपदी का हर्ष बढ़ाता हुआ निर्भयता से शैल-राज पर चढ़ गया ॥३१--३२॥

न ग्लानिर्न च कातर्य्यं न वैक्लव्यं न मत्सरः ॥३३
कदाचिज्जुषते पार्थमात्मजं मातरिश्वनः ।

वायु-पुत्र भीमसेन को कोई ग्लानि, कायरता, व्याकुलता, और मात्सर्य (डाह) आदि दोष कभी छू तक नहीं जाते थे ॥३३॥

तदेकायनमासाद्य विषमं भीमदर्शनम् ॥३४॥
बहुतालोच्छ्रयं शृङ्गमारुरोह महाबलः ।

अनेक ताल वृक्षों की ऊंचाईके तुल्य ऊंचे, बांई दांई ओर से मनुष्यों के गमनागमन से रहित, ऊंचे नीचे भयानक से पर्वत पर महाबली, भीम चढ़ गया ॥३४॥

स किन्नरमहानागमुनिगन्धर्वराक्षसान् ॥३५॥
हर्षयन् पर्वतस्याग्रमारुह्य सुमहाबलः ।

महाबली भीम, किन्नर, महानाग, मुनि, गन्धर्व और राक्षसों के हर्ष को बढ़ाता हुआ, इस पर्वत की शिखर पर चढ़ गया ॥३५॥

ततो वैश्रवणावसं ददर्श भरतर्षभः ॥३६॥
काञ्चनैः स्फाटिकैश्चैव वेश्मभिः समलंकृतम् ।
प्राकारेण परिक्षिप्तं सौवर्णेन समन्ततः ॥३७॥
सर्वरत्नद्युतिमता सर्वोद्यानवता तथा ।
शैलादभ्युच्छ्रयवता चयाट्टालकशोभिना ॥३८॥
द्वारतोरणनिर्व्यूहध्वजसंवाहशोभिना ।

यहां इसने सुवर्ण और स्फटिक (संगमरमर) से बने हुए उत्तम महलों से युक्त कुवेर के भवन को देखा, जो सुवर्ण के प्राकार (परकोटे) से चारों ओर सुरक्षित था। इस प्राकार में अनेक रत्न जड़े हुए थे और इसके चारों ओर बड़े २ वगीचे लगे थे। मूलवंध (पुश्ती) और अट्टालिका से इस प्राकार की शोभा बढ़ रही थी। इसमें अनेक द्वार, तोरण, नागदन्त (खूंटी) और ध्वजाओं के समूह सुशोभित थे ॥३६-३८॥

विलासिनीभिरत्यर्थं नृत्यन्तीभिः समन्ततः ॥३९॥
वायुना धूयमानाभिः पताकाभिरलंकृतम् ।

इस पर्वत का शिखर अनेक कलाओं से नाचने वाली स्त्रियों से मनोरम और वायु से कंपाई हुई ध्वजाओं से अलंकृत था ॥३९॥

धनुष्कोटिमवष्टभ्य वक्रभावेन बाहुना ॥४०॥
पश्यमानः स खेदेन द्रविणाधिपतेः पुरम् ।

भीमसेन भी अपनी बांकी भुजाओंको धनुषकी कोटिमें लगाकर बड़े खेद (हसद) से यक्षराज कुबेर के भवन को देखने लगा ॥४०॥

मोदयन् सर्वभूतानि गन्धमादनसम्भवः ॥४१॥
सर्वगन्धवहस्तत्र मारुतः सुसुखो ववौ ।

गन्धमादन पर्वत से उत्पन्न हुआ, सारे गन्धों का धारी पवन, सारे प्राणियों को आनन्दित करता हुआ, सुख से चल रहा था ॥४१॥

चित्रा विविधवर्णाभाश्चित्रमञ्जरिधारिणः ॥४२॥
अचिन्त्या विविधास्तत्र द्रुमाः परमशोभिनः ।

बड़े २ अद्भुत तथा अद्भुत मञ्जरियों के धारण करने वाले, अनेक वर्ण के अनेक वृक्ष, उस पर्वत पर सुशोभित हो रहे हैं। ये ऐसे उत्तम वृक्ष थे, जिन के देखने का कभी विचार भी नहीं आ सकता है ॥४२॥

रत्नजालपरिक्षिप्तं चित्रमाल्यविभूषितम् ॥४३॥
राक्षसाधिपतेः स्थानं ददृशे भरतर्षभः ।

भरत-वंश-श्रेष्ठ, भीमसेन ने, यहां रत्नों के समूह से व्याप्त अद्भुत २ पुष्पों के समूह से सजे हुए, राक्षसाधिपति कुबेर के भवन को देखा ॥४३॥

गदाखड्गधनुष्पाणिः समभित्यक्तजीवितः ॥४४॥
भीमसेनो महाबाहुस्तस्थौ गिरिरिवाचलः ।

गदा, खड्ग और धनुष हाथ में लिए हुए, जीती जागती मूर्ति, महावाहु भीमसेन, नहीं हिलने वाले पर्वत के समान दिखाई दे रहा है ॥४४॥

ततः शङ्खमुपाध्मासीद् द्विषतां लोमहर्षणम् ॥४५॥
ज्याघोषतलशब्दञ्च कृत्वा भूतान्यमोहयत् ।

अब भीमसेन ने शत्रुओं के रोमाञ्च खड़े कर देने वाला शख बजाया और धनुष की डोरी तथा तालों की फटकार के शब्द से वन के सारे प्राणी अचेत से कर दिए ॥४५॥

ततः प्रहृष्टरोमाणस्तं शब्दमभिदुद्रुवुः ॥४६॥
यक्षराक्षसगन्धर्वाः पाण्डवस्य समीपतः ।

इस शब्द को सुनकर रोमाञ्चित हुए यक्ष, राक्षस, गन्धर्व पाण्डु-पुत्र, भीमसेन के पास दौड़े हुए आए ॥४६॥

गदापरिघनिस्त्रिंशशूलशक्तिपरश्वधाः ॥४७॥
प्रगृहीता व्यरोचन्त यक्षराक्षसबाहुभिः ।
ततः प्रववृते युद्धं तेषां तस्य च भारत ॥४८॥

यक्ष, राक्षस, गन्धर्वों की भुजाओं में गदा, परिघ, तलवार, शूल, शक्ति और परशु आदि शस्त्र चमक रहे थे। हे भारत! अब इन यक्ष और भीमसेन में युद्ध छिड़ गया ॥४७-४८॥

तैः प्रयुक्तान्महामायैः शूलशक्तिपरश्वधान् ।
भल्लैर्भीमः प्रचिच्छेद भीमवेगतरैस्ततः ॥४९॥

ये महा-मायावी, यक्ष शूल, शक्ति और परशु चलाने लगे। भीमसेन ने अपने भीम-वेग-वाले बाणों से उनको काट गिराया।

अन्तरीक्षगतानाञ्च भूमिष्ठानाञ्च गर्जताम्।
शरैर्विव्याधगात्राणि राक्षसानां महाबलः ॥५०॥

आकाश में स्थित, अत्यन्त गर्जना करने वाले, राक्षसों के शरीरों को महाबली भीम ने अपने बाणों से बींध दिया ॥५०॥

सा लोहितमहावृष्टिरभ्यवर्षन्महाबलम्।
गदापरिघपाणीनां रक्षसां कायसम्भवा ॥५१॥

गदा और परिघ शस्त्र हाथ में लिए हुए, राक्षसों के शरीर से उत्पन्न रक्त की वर्षा ने, महाबली भीम को भिगो दिया ॥५१॥

कायेभ्यः प्रच्युता धारा राक्षसानां समन्ततः।
भीमबाहुबलोत्सृष्टैरायुधैर्यक्षरक्षसाम् ॥५२॥
विनिकृत्तानि दृश्यन्ते शरीराणि शिरांसि च।

भीम की बाहुओं के बल से चलाये हुए, शस्त्रों से राक्षस, यक्ष, रक्षों के शरीरों से चारों ओर रक्त की धारा पड़ने लगी और उनके शरीर तथा शिर कट-कटकर गिरते हुए दिखाई देने लगे ॥५२॥

प्रच्छाद्यमानं रक्षोभिः पाण्डवं प्रियदर्शनम् ॥५३॥
ददृशुः सर्वभूतानि सूर्य्यमभ्रगणैरिव।

राक्षसों से घिरे हुए भीम को पर्वत के सारे प्राणियों ने बादलों में ढके हुए सूर्य के सदृश देखा ॥५३॥

स रश्मिभिरिवादित्यः शरैररिनिघातिभिः ॥५४
सर्वानाच्छन्महाबाहुर्बलवान् सत्यविक्रमः,

सूर्य से निकली हुई किरणों के तुल्य, अपने चलाये हुए, शत्रु-नाशक बाणों से बड़ी भुजा वाले महा-वली, सत्यराक्रप मी भीम ने सारे यक्ष राक्षसों को ढक दिया ॥५४॥

अभितर्जयमानाश्च रुवन्तश्च महारवान् ॥५५॥
न मोहं भीमसेनस्य ददृशुः सर्वराक्षसाः ।

महा-भयङ्कर शब्द करते हुए, यक्ष, राक्षस, भीमसेन को फटकारने लगे, परन्तु इससे भीमसेन को कुछ भी मोह या भय से युक्त नहीं देखा ॥५५॥

यक्षा विकृतसर्वाङ्गा भीमसेनभयार्दिताः ॥५६॥
भीममार्त्तस्वरश्चक्रुर्विप्रकीर्णमहायुधाः

यक्षों के सारे अङ्ग क्षत-विक्षत होगये । इन्होंने अपने सारे शस्त्र फैंक दिए और ये भीमसेन के भय से आतुर होकर चीखने चिल्लाने लगे॥५६॥

उत्सृज्य ते गदाशूलानसिशक्तिपरश्वधान् ॥५७॥
दक्षिणां दिशमाजग्मुस्त्रासिता दृढधन्वना,

दृढ़ धनुष-धारी भीम से डरे हुए यक्ष, गदा, शूल, खडग, शक्ति और परशु आदि शस्त्रों को फेंककर दक्षिण दिशा को चले गए ॥५७॥

तत्र शूलगदापाणिर्व्यूढोरस्को महाभुजः ॥५८॥
सखा वैश्रवणस्यासीन्मणिमान्नाम राक्षसः ।
अदर्शयदधीकारं पौरुषञ्च महाबलः ॥५९॥

इस युद्ध में शूल, गदा हाथ में लिए हुए, दृढ़ छाती वाला, महा-भुजा-धारी, मणिमान् नामक राक्षस, कुवेर का सखा था। इस महाबलीने अपना स्वामीपन और पुरुषार्थ दिखलाया॥५८--५६

स तान् दृष्ट्वा परावृत्तान् स्मयमान इवाब्रवीत्।
एकेन बहवः संख्ये मानुषेण पराजिताः ॥६०॥

यह भागते हुए यक्षों को देख कर मुस्कराता हुआ बोला--बड़े आश्चर्य की बात है, जो एक मनुष्य ने वहुत से यक्ष राक्षस हरा दिए ॥ ६० ॥

प्राप्य वैश्रवणावासं किं वक्ष्यथ धनेश्वरम्।
एवमाभाष्य तान् सर्वानभ्यवर्त्तत राक्षसः ॥६१॥
शक्तिशूलगदापाणिरभ्यधावत् स पाण्डवम्।

अरे! तुम कुवेर के भवन पर जाकर क्या कह सकोगे? इस प्रकार की बातें करके इस मणिमान् राक्षस ने उन भागते हुए यक्षों को फिर लौटा लिया और शक्ति, शूल तथा गदा लेकर भीम पर आक्रमण किया ॥ ६१ ॥

तमापतन्तं वेगेन प्रभिन्नमिव वारणम् ॥६२॥
वत्सदन्तैस्त्रिभिः पार्श्वे भीमसेनः समार्दयत्।

मदस्रावी गज के तुल्य वेग से झपटते हुए, मणिमान् नामक राक्षस की पसली में भीमसेन ने तीन वाण मारे ॥ ६२ ॥

मणिमानपि संक्रुद्धः प्रगृह्य महतीं गदाम् ॥६३॥
प्राहिणोद्भीमसेनाय परिगृह्य महाबलः।

महाबली मणिमान् ने भी क्रुद्ध होकर बड़ी भारी गदा उठाई और उस को घुमाकर भीमसेन पर छोड़ी ॥ ६३ ॥

विद्युद्रूपां महाघोरामाकाशे महतीं गदाम् ॥६४॥
शरैर्बहुभिरभ्यार्च्छद्भीमसेनः शिलाशितैः ।
प्रत्यहन्यन्त ते सर्वे गदामासाद्य सायकाः ॥६५॥
न वेगं धारयामासुर्गदावेगस्य वेगिताः ।

भीमसेन ने भी शाण पर चढ़े हुए, तीक्ष्ण वाणों से बिजली के तुल्य चमकती हुई, महा-घोर, बड़ी भारी गदा को आकाश में ही घेर लिया। परन्तु ये सारे वाण, गदा के पास पहुंचते ही नष्ट भ्रष्ट होगए। ये वाण, वेग वाले थे, तो भी गदा चलाने में वेग वाले मणिमान् के वेग को नहीं सह सके ॥ ६४—६५ ॥

गदायुद्धसमाचारं वुद्ध्यमानः स वीर्य्यवान् ॥६६॥
व्यंसयामास तं तस्य प्रहारं भीमविक्रमः ।

यह महा-पराक्रमी भीम भी गदा युद्ध के जानने वाला था, इससे इस महावली ने मणिमान् के इस गदा के प्रहार को व्यर्थ कर दिया ॥ ६६ ॥

ततः शक्तिं महाघोरां रुक्मदण्डामयस्मयीम् ॥६७॥
तस्मिन्नेवान्तरे धीमान् प्रजहाराथ राक्षसः ।

इसी वीच में वुद्धिमान् राक्षस ने सोने के दण्ड में लगी हुई, लोहे की महा-घोर शक्ति का प्रहार किया ॥ ६७ ॥

सा भुजं भीमनिर्ह्रादा भित्वा भीमस्य दक्षिणम् ॥६८॥
साग्निज्वाला महारौद्रा पपात सहसा भुवि ।

यह महा-रौद्र शक्ति, भयानक शब्द करती हुई, भीम की दाई भुजा को चीर कर अग्नि के सदृश लपलपाती हुई, भूमि पर गिर गई ॥ ६८ ॥

सोऽतिविद्धो महेष्वासः शक्त्यामितपराक्रमः॥६६॥
गदां जग्राह कौन्तेयः क्रोधपर्य्याकुलेक्षणः।

यह अमित-पराक्रमी, महाधनुर्धर, भीम, इस गदा से क्षत (जख्मी) होगया। इस समय क्रोध में भर कर भीमसेन ने भी गदा सम्हाली॥ ६६॥

रुक्मपट्टपिनद्धान्तां शत्रूणां भयवर्द्धिनीम् ॥७०॥
प्रगृह्याथ नदन् भीमः शैक्यां सर्वायसीं गदाम्।
तरसा चाभिदुद्राव मणिमन्तं महाबलम् ॥७१॥

यह शत्रुओं को भय देने वाली गदा, सुवर्ण के पत्र से मंढी हुई थी। तीक्ष्ण लोहे से बनी हुई, शत्रु-नाशिनी गदा को लेकर भीम गर्जने लगा और बड़े वेग से महाबली मणिमान् राक्षस पर झपटा॥७०--७१॥

दीप्यमानं महाशूलं प्रगृह्य मणिमानपि।
प्राहिणोद्भीमसेनाय वेगेन महता नदन् ॥७२॥

मणिमान् ने भी देदीप्यमान महाशूल को लेकर बड़ी गर्जना के साथ, बड़े वेग से भीम पर छोड़ा ॥७२॥

भङ्क्त्वा शूलं गदाग्रेण गदायुद्धविशारदः।
अभिदुद्राव तं हन्तुं गरुत्मानिव पन्नगम् ॥७३॥

गदा-युद्ध में निपुण, भीम ने अपने गदा के अग्रभाग से उस शूल के टुकड़े २ कर दिए और सर्प पर गरुड़ के सदृश उस मणिमान् पर आक्रमण किया ॥७३॥

सोऽन्तरीक्षमवप्लुत्य विधूय सहसा गदाम् ।
प्रचिक्षेप महाबाहुर्विनद्य रणमूर्द्धनि ॥७४॥

महाबाहु, भीमसेन ने आकाश में उछट कर और अच्छी तरह गदा को घुमाकर गर्जना के साथ उस महायुद्ध में मणिमान् राक्षस पर फैंकी ॥७४॥

सेन्द्राशनिरिवेन्द्रेण विसृष्टा वातरंहसा ।
हत्वा रक्षः क्षितिं प्राप्य कृत्येव निपपात ह ॥७५॥

इन्द्र से छोड़े हुए वज्र के सदृश, वायु के समान वेग शील भीम ने गदा से राक्षस को मार कर, भूमि पर गिरा दिया। यह पृथिवी पर पड़ी गदा कृत्या (यज्ञक्रिया मूर्ति) के समान प्रतीत होती थी ॥७५॥

तं राक्षसं भीमबलं भीमसेनेन पातितम् ।
ददृशुःसर्व भूतानि सिंहेनेव गवाम्पतिम् ॥७६॥

सिंह से पछाड़े हुए बैल के सदृश भीम से मारे हुए महाबली मणिमान् राक्षस को सब लोगों ने देखा ॥७६॥

तं प्रेक्ष्य निहतं भूमौ हतशेषा निशाचराः ।
भीममार्त्तस्वरं कृत्वा जग्मुः प्राचीं दिशं प्रति ॥७७॥

इति श्रीमहाभारत आरण्यपर्वणि यक्षयुद्धपर्वणि
मणिमद्वधो नामषष्ट्यधिकशततमोऽध्यायः॥१६०॥

इसको मरा हुआ और भूमि में पड़ा हुआ देख कर मरने से बचे हुए राक्षस, भयानक करुणा क्रन्दन करके पूर्व दिशा को भाग गए ॥७७॥

इति श्रीमहाभारत वनपर्वान्तर्गत महायुद्धपर्व में
मणिमान् के वधका एक सौ साठवां अध्याय पूरा हुआ

एक सौ इकसठवां अध्याय

वैशम्पायन उवाच—

श्रुत्वा बहुविधैः शब्दैर्नाद्यमानां गिरेर्गुहाम् ।
अजातशत्रुः कौन्तेयो माद्रीपुत्रावुभावपि ॥१॥
धौम्यः कृष्णा च विप्राश्च सर्वे च सुहृदस्तथा ।
भीमसेनमपश्यन्तः सर्वे विमनसोऽभवन् ॥२॥

वैशम्पायन बोले--हे राजन् ! कुन्ती-पुत्र, युधिष्ठिर, नकुल, सहदेव, महर्षि धौम्य, द्रौपदी, तथा सारे हित चाहने वाले ब्राह्मण, अनेक प्रकार के शब्दों से गूंजती हुई गुफा को सुनकर और अपने पास भीमसेन को न देखकर बड़े व्याकुल हुए ॥१-२॥

द्रौपदीसार्ष्टिषेणाय सम्प्रधार्य्य महारथाः ।
सहिताः सायुधाः शूराः शैलमारुरुहुस्तदा ॥३॥

ये सारे शूरवीर महारथी, द्रौपदी को आर्ष्टिषेण मुनि के पास छोड़कर और आप शस्त्र लेकर इकट्ठे ही पर्वत पर चढ़ गए ॥३॥

ततः सम्प्राप्य शैलाग्रं वीक्षमाणा महारथाः ।
ददृशुस्ते महेष्वासा भीमसेनमरिन्दमाः ॥४॥
स्फुरतश्च महाकायान् गतसत्त्वांश्च राक्षसान् ।
महाबलान् महासत्त्वान् भीमसेनेन पातितान् ॥५॥

इन शत्रु-विजयी, धनुर्धर, महारथियों ने पर्वत पर पहुँचकर इधर उधर देखा, तो भीमसेन पर दृष्टि पड़ी और इसके

साथ ही, विशाल-काय, महाबली, महा-पराक्रमी, भीमसेन के गिराये हुए राक्षस, अचेत हुए तड़फ रहे हैं ॥४-५॥

शुशुभे स महाबाहुर्गदाखड्गधनुर्द्धरः ।
निहत्य समरे सर्वान् दानवान् मघवानिव ॥६॥

गदा, खड्ग, और धनुषधारी, भीम, इन सब राक्षसों को युद्ध में मारकर दानवों को मारने वाले इन्द्र के तुल्य देदीप्यमान हो रहा था ॥६॥

ततस्ते भ्रातरं द्रष्ट्वा परिष्वज्य महारथाः ।
तत्रोपविविशुः पार्थाः प्राप्ता गतिमनुत्तमाम् ॥७॥

महारथी पाण्डव, अपने भाई भीमसेन को देखकर उसके लिपट गए और बड़े आनन्द को प्राप्त होकर वहीं बैठ गए ॥७॥

तैश्चतुर्भिर्महेष्वासैर्गिरिशृङ्गमशोभत ।
लोकपालैर्महाभागैर्दिवं देववरैरिव ॥८॥

यह पर्वत का शिखर, बड़े २ धनुष धारण करने वाले इन चारों पाण्डवों से और महानुभाव, देवश्रेष्ठ, लोक पालों से. स्वर्ग के सदृश सुशोभित होरहा था ॥८॥

कुवेरसदनं दृष्ट्वा राक्षसांश्च निपातितान् ।
भ्राता भ्रातरमासीनमब्रवीत् पृथिवीपतिः ॥९॥

भीमसेनका भ्राता, राजा युधिष्ठिर कुवेरके भवन और भीमसेन के मारे हुए राक्षसों को देखकर, बैठे हुए, अपने भाई भीमसेन से कहने लगा ॥९॥

युधिष्ठिर उवाच—

साहसाद्यदि वा मोहाद्भीम पापमिदं कृतम् ।
नैतत्ते सदृशं वीर मुनेरिव मृषा वचः ॥१०॥

हे भीम ! तुमने अपने बल के अभिमान या अज्ञान से यह पापकर्म कर डाला है । मुनि को मिथ्या भाषण के सदृश यह तुझे शोभा नहीं देता है ॥१०॥

राजद्विष्टं न कर्त्तव्यमिति धर्मविदो विदुः ।
त्रिदशानामिदं द्विष्टं भीमसेन त्वया कृतम् ॥११॥

हे भीमसेन ! जिस राजा के राज में रहे, उसके विरुद्ध कभी कोई कार्य न करे, यह धर्म के जानने वाले जानते हैं । परन्तु तूने यह देवों के विरुद्ध कार्य कर डाला ॥११॥

अर्थधर्मावनादृत्य यः पापे कुरुते मनः ।
कर्मणां पार्थ पापानां स फलं विन्दते ध्रुवम् ।
पुनरेवं न कर्त्तव्यं मम चेदिच्छसि प्रियम् ॥१२॥

हे पार्थ ! नीति और धर्म को छोड़कर जो मनुष्य, पाप में मन को लगाता है, वह निश्चय ही अपने पाप-कर्मों का शीघ्र फल पा जाता है । यदि तू मेरा हित चाहता है, तो कभी भविष्य में ऐसी दुर्घटना न कर बैठना ॥१२॥

वैशम्पायन उवाच—

एवमुक्त्वा स धर्मात्मा भ्राता भ्रातरमच्युतम् ।
अर्थतत्त्वविभागज्ञः कुन्तीपुत्रो युधिष्ठिरः ।
विरराम महातेजास्तमेवार्थं विचिन्तयन् ॥१३॥

वैशम्पायन बोले--हे राजन्! नीति-शास्त्र के तत्वका जानने वाला, कुन्ती-पुत्र, भीमसेन का भ्राता, महा तेजस्वी, महात्मा, राजा युधिष्ठिर, महाबली अपने भाई भीमसेन को यह शिक्षा देकर चुप होगया, परन्तु यह घटना उसके मनमें चक्कर लगाती रही ॥१३॥

ततस्ते हतशिष्टा ये भीमसेनेन राक्षसाः ।
सहिताः प्रत्यपद्यन्त कुबेरसदनं प्रति ॥१४॥

इसके अनन्तर जो भीमसेन के मारने से राक्षस बच निकले थे, वे इकट्ठे ही कुबेर के भवन पर पहुंचे ॥१४॥

ते जवेन महावेगाः प्राप्य वैश्रवणालयम् ।
भीममार्त्तस्वरश्चक्रुर्भीमसेनभयार्दिताः ॥ १५ ॥

भीमसेन के भय से घबराए हुए, राक्षस, बड़े वेग से भागे और कुबेर के भवन पर पहुँचकर चीखने-चिल्लाने लगे ॥१५॥

न्यस्तशस्त्रायुधाः क्लान्ताः शोणिताक्ततनुच्छदाः ।
प्रकीर्णमूर्द्धजा राजन् यक्षाधिपतिमब्रुवन् ॥१६॥

हे राजन्! इन राक्षसों ने अपने सारे अस्त्र-शस्त्र डाल दिए। इनके कवच रक्त में भीगे हुए थे। ये बिखरे बालों वाले, घबराये हुए राक्षस, यक्षाधिपति कुबेर से कहने लगे ॥१६॥

गदापरिघनिस्त्रिंशतोमरप्राशयोधिनः ।
राक्षसा निहताः सर्वे तव देव पुरःसराः ॥१७॥

हे देव! गदा, परिघ, खड्ग, तोमर, पाश आदि शस्त्रों से से लड़ने वाले राक्षस भी आपके देखते-देखते मार डाले गए।

प्रमृद्य तरसा शैलं मानुषेण धनेश्वर ।
एकेन सहिताः संख्ये रणे क्रोधवशा गणाः ॥१८॥
प्रवरा राक्षसेन्द्राणां यक्षाणाञ्च नराधिप ।
शेरते निहता देव गतसत्वाः परासवः ॥१९॥

हे धनेश्वर ! एक मनुष्य ने बड़े वेग से पर्वत का मर्दन करके बड़े भारी युद्ध में क्रोध में भरे हुए, यक्ष और राक्षसों के उत्तम-उत्तम गण मारकर डाल दिए, जो कुछ तो मर चुके और कुछ अचेत पड़े हैं ॥१८॥

लब्धशेषा वयं मुक्ता मणिमांस्ते सखा हतः ।
मानुषेण कृतं कर्म विधत्स्व यदनन्तरम् ॥२०॥

हम कुछ बच कर निकल आये हैं, परन्तु आपका सखा मणिमान् राक्षस मारा गया । यह सब कुछ एक मनुष्य ने किया है । अब इसके अनन्तर जो कुछ करना हो, वह करो ॥२०॥

एतच्छ्रुत्वा सुसंक्रुद्धः सर्वयक्षगणाधिपः ।
कोपसंरक्तनयनः कथमित्यब्रवीद्वचः ॥२१॥
द्वितीयमपराध्यन्तं भीमं श्रुत्वा धनेश्वरः ।
चुक्रोध यक्षाधिपतिर्युज्यतामिति चाब्रवीत् ॥२२॥

यह सुनकर सारे राक्षसों का अधिपति कुबेर बड़ा कुपित हुआ और क्रोध से इसकी आँखें लाल होगई । यह कहने लगा, कि उसने ऐसा क्यों किया है । दूसरी बार भीमसेन को अपराध करते देखकर, कुबेर के क्रोध का ठिकाना नहीं रहा और वह यक्षों से बोला—तय्यार होजाओ ॥२१-२२॥

अथाभ्रघनसङ्काशं गिरिशृङ्गमिवोच्छ्रितम् ।
रथं संयोजयामासुर्गन्धर्वैर्हेममालिभिः ॥२३॥

इसके अनन्तर सुवर्ण की माला पहने हुए, गन्धर्वों ने बादलों के समूह और पर्वत के शिखर के समान ऊंचे रथ को तय्यार कर दिया ॥२३॥

तस्य सर्वगुणोपेता विमलाक्षा हयोत्तमाः ।
तेजोबलगुणोपेता नानारत्नविभूषिताः ॥२४॥
शोभमाना रथे युक्तास्तरिष्यन्त इवाशुगाः ।
हेषयामासुरन्योन्यं हेषितैर्विजयावहैः ॥२५॥

इस रथ में सब गुणों से युक्त, निर्मल नेत्रों वाले, तेज और बल से समन्वित, अनेक रत्नों से विभूषित घोड़े जोड़े गए। वे रथ में जुड़े हुए घोड़े, बड़े ही सुशोभित हो रहे थे और इस लोक को एक क्षण में उलाँघ जाने की शीघ्रता कर रहे थे। विजयकारी अपने शब्दों से एक अश्व स्वयं बोल कर दूसरे अश्व से शब्द करा रहा था ॥२४-२५॥

स तमास्थाय भगवान् राजराजो महारथम् ।
प्रययौ देवगन्धर्वैः स्तूयमानो महाद्युतिः ॥२६॥

यक्ष-राज कुवेर, उस महा-रथ में बैठकर चल दिया। इस समय इस महा-कान्ति-धारी कुवेर की देव और गन्धर्व स्तुति कर रहे थे ॥२६॥

तं प्रयान्तं महात्मानं सर्वे यक्षा धनाधिपम् ।
रक्ताक्षा हेमसङ्काशा महाकाया महाबलाः ॥२७॥

तस्थुस्तेषां समभ्यासे धनेश्वरपुरः सराः ।
सायुधा बद्धनिस्त्रिंशा यक्षा दशशता वराः ।
ते जवेन महावेगाः प्लवमाना विहायसा ॥२८॥
गन्धमादनमाजग्मुः प्रकर्षन्त इवाम्बरम् ।

महात्मा यक्षराज के चढ़ चलने पर लाल-लाल आँखों वाले, सुवर्ण के तुल्य चमकते हुए, विशाल-काय, महाबली प्रधान-प्रधान एक हज़ार यक्ष, शस्त्र और खड्ग लेकर आकाश-मार्ग से बड़े वेग के साथ, गन्धमादन पर्वत पर पहुँच गए। ये महा-वेग-शील यक्ष, इस समय आकाश को खैंच से रहे थे ॥२७--२८॥

कुबेरञ्च महात्मानं यक्षरक्षोगणावृतम् ॥२६॥
तत् केशरिमहाजालं धनाधिपतिपालितम् ।
ददृशुर्हृष्टरोमाणः पाण्डवाः प्रियदर्शनम् ॥३०॥

अब पाण्डवों ने कुबेर से सुरक्षित इन अश्वों के समूह और महात्मा कुबेर को देखा, जो यक्ष और राक्षसों से घिरा हुआ था। इस सुन्दर यक्षराजको देखकर पाण्डव बड़े प्रसन्न हुए २६-३०

कुबेरस्तु महासत्वान् पाण्डोः पुत्रान् महारथान् ।
आत्तकार्मुकनिस्त्रिंशान् दृष्ट्वा प्रीतिऽभवत्तदा ।३१।

कुबेर भी, महावीर, महारथी, धनुष और खड्ग-धारी, पाण्डवों को देखकर, बड़ा प्रसन्न हुआ ॥३१॥

देवकार्य्यं चिकीर्षन् स हृदयेन तुतोष ह ।
ते पक्षिण इवापेतुर्गिरिशृङ्गं महाजवाः ॥३२॥
तस्थुस्तेषां समभ्यासे धनेश्वरपुरःसराः ।

यह कुवेर, इन पाण्डवों से किसी देव-कार्य को सम्पादन कराना चाहता था, इससे इनको देखकर हृदय से प्रसन्न हुआ। ये महा-वेगशील पाण्डव भी, पक्षियों की तरह पर्वत के शिखर पर आ पहुँचे। कुवेर आदि सारे देवता, उनके पास आकर बैठ गए ॥३२॥

ततस्तं हृष्टमनसं पाण्डवान् प्रति भारत ॥३३॥
समीक्ष्य यक्षगन्धर्वा निर्विकारमवस्थिताः।

हे भारत! पाण्डवों के प्रति यक्षराज को प्रसन्न देखकर सारे यक्ष और गन्धर्व भी सीधी तरह बैठे रहे ॥ ३३ ॥

पाण्डवाश्च महात्मानः प्रणम्य धनदं प्रभुम् ॥३४॥
नकुलः सहदेवश्च धर्मपुत्रश्च धर्मवित्।
अपराद्धमिवात्मानं मन्यमाना महारथाः ॥३५॥
तस्थुः प्राञ्जलयः सर्वे परिवार्य्य धनेश्वरम्।

महात्मा पाण्डवों ने धनाधिपति कुवेर को प्रणाम किया। धर्मात्मा धर्मराज, नकुल और सहदेव अपने आपको अपराधी समझ रहे थे। ये सारे कुवेर को घेरकर और हाथ जोड़कर बैठ गए ॥ ३४--३५ ॥

स ह्यासनवरं श्रीमत्पुष्पकं विश्वकर्मणा ॥३६॥
विहितश्चित्रपर्य्यन्तमातिष्ठत धनाधिपः।

धनाधिपति कुवेर, ऐश्वर्यशाली. विश्वकर्मा द्वारा वनाये हुए, चित्रों से सुमण्डित, सिंहासन पर बैठ गया ॥ ३६ ॥

तमासीनं महाकायाः शङ्कु कर्णा महाजवाः ॥३७॥
उपोपविविशुर्यक्षा राक्षसाश्च सहस्रशः ।
शतशश्चापि गन्धर्वास्तथैवाप्सरसां गणाः ॥३८॥
परिवार्य्योपतिष्ठन्त यथा देवाः शतक्रतुम् ।

कुवेर के बैठ जाने पर बड़े-बड़े शरीर-धारी, शंकु के तुल्य कान वाले, महा-वेग-शील, सहस्रों यक्ष, राक्षस और सैकड़ों की संख्या में गन्धर्व और अप्सराएं, इन्द्र को देवों के सदृश, कुवेर को घेरकर बैठ गए ॥ ३७--३८ ॥

काञ्चनीं शिरसा विभ्रद्भीमसेनः स्रजं शुभाम् ॥३९॥
पाशखड्गधनुष्पाणिरुदैक्षत धनाधिपम् ।

इस समय भीमसेन के सिर पर सुवर्ण की माला पड़ी हुई थी। पाश, खड्ग और धनुष-धारी भीम ने भी आँख उठाकर कुवेर की ओर देखा ॥ ३९ ॥

भीमसेनस्य न ग्लानिर्विक्षतस्यापि राक्षसैः ॥४०॥
आसीत्तस्यामवस्थायां कुवेरमपि पश्यतः ।

भीमसेन, राक्षसों के साथ किये हुए युद्ध से क्षत-विक्षत (ज़ख्मी) होगया था, परन्तु इस दशा में भी कुवेर की ओर देखता हुआ, भीम, घवराता नहीं था ॥ ४० ॥

आददानं शितान् वाणान् योद्धुकाममवस्थितम् ॥४१
दृष्ट्वा भीमं धर्मसुतमब्रवीन्नरवाहनः ।

तीक्ष्ण-वाण-धारी, युद्ध के लिए अवस्थित, भीम को देखकर नरों को वाहन बनाने वाला, यक्षराज कुवेर, धर्मराज से बोला ॥४१॥

विदुस्त्वां सर्वभूतानि पार्थ भूतहिते रतम् ॥४२॥
निर्भयश्चापि शैलाग्रे वस त्वं भ्रातृभिः सह ।

हे पार्थ ! तुमको सब जानते हैं, कि तुम प्राणी मात्र का हित करना चाहते हो। इसलिए तुम निर्भय होकर इस पर्वत पर भाइयों के साथ निवास कर सकते हो ॥४२॥

न च मन्युस्त्वया कार्य्यो भीमसेनस्य पाण्डव॥४३
कालेनैते हताः पूर्वं निमित्तमनुजस्तव ।
व्रीड़ा चात्र न कर्त्तव्या साहसं यदिदं कृतम् ॥४४॥

हे धर्मराज !तुम भीमसेन पर नाराज नहीं होना। इन राक्षसों को तो काल ने ही प्रथम मार रखा था, तुम्हारा भाई भीम तो केवल निमित्त होगया है। जो भीमसेन ने यह अनुचित साहस कर डाला, तुम इसका भी संकोच न करो ॥४३-४४॥

दृष्टश्चापि सुरैः पूर्वं विनाशो यक्षरक्षसाम् ।
न भीमसेने कोपो मे प्रीतोऽस्मि भरतर्षभ ।
कर्मणा भीमसेनस्य मम तुष्टिरभूत् परा ॥४५॥

हे भरतर्षभ ! देवों ने तो यक्ष राक्षसों का होने वाला, विनाश, प्रथम ही देख लिया था। अब मेरा भीमसेन पर कोई कोप नहीं है, किन्तु इसके इस वीर-कर्म से मैं बड़ा सन्तुष्ट हुआ हूं ॥४५॥

वैशम्पायन उवाच —

एवमुक्त्वा तु राजानं भीमसेनमभाषत ।
नैतन्मनसि मे तात वर्त्तते कुरुसत्तम ॥४६॥

यदिदं साहसं भीम कृष्णार्थे कृतवानसि ।
मामनादृत्य देवांश्च विनाशं यक्षरक्षसाम् ॥४७॥
स्वबाहुबलमाश्रित्य तेनाहं प्रीतिमांस्त्वयि ।
शापादद्य विनिर्मुक्तो घोरादस्मि वृकोदर ॥४८॥

वैशम्पायन बोले—हे राजन् ! इतना धर्मराज से कहकर यक्षराज कुबेर, भीमसेन से बोला-हे कुरुसत्तम ! भीम ! मुझे तेरे इस अपराध का कुछ भी ख्याल नहीं है, क्योंकि तैंने यह साहस द्रौपदी के लिए किया है। यद्यपि इस युद्ध में देवता और मेरा अनादर तथा यक्ष राक्षसों का विनाश हुआ, तो भी अपने भुजाओं के बल पर यह सब कुछ किया, इससे मैं तेरी वीरता पर सन्तुष्ट हूं। हे भीम ! आज मैं एक घोर शाप से मुक्त हो गया हूं ॥४६—४८॥

अहं पूर्वमगस्त्येन क्रुद्धेन परमर्षिणा ।
शप्तोऽपराधे कस्मिंश्चित्तस्यैषा निष्कृतिः कृता॥४६॥

मैंने कभी महर्षि अगस्त्य का अपराध कर लिया था, जिससे उन्होंने क्रुद्ध होकर मुझे शाप दे डाला। यह उसी शाप का प्रायश्चित्त किया है ॥४६॥

दिष्टो हि मम संक्लेशः पुरा पाण्डवनन्दन ।
न तवात्रापराधोऽस्ति कथञ्चिदपि पाण्डव ॥५०॥

हे पाण्डु-नन्दन ! यह क्लेश तो मेरे भाग्य में लिखा हुआ था इसमें तुम्हारा थोड़ा सा भी अपराध नहीं है ॥५०॥

युधिष्ठिर उवाच—

कथं शप्तोऽसि भगवन्नगस्त्येन महात्मना ।
श्रोतुमिच्छाम्यहं देव तत्रैतच्छापकारणम् ॥५१॥

युधिष्ठिर बोले—हे भगवन्! महात्मा अगस्त्य ने आपको क्यों शाप दे डाला। मैं इस शाप का कारण विस्तार से सुनना चाहता हूं ॥५१॥

इदञ्चाश्चर्य्यभूतं मे यत् क्रोधात्तस्य धीमतः ।
तदैव त्वं न निर्दग्धः सबलः सपदानुगः ॥५२॥

मुझे यह भी बड़ा अचम्भा हो रहा है, कि उस विचार शील मुनि के शाप से तुम उसी क्षण, अपनी सेना और सेवकों के साथ भस्म कैसे नहीं हुए ॥५२॥

धनेश्वर उवाच—

देवतानामभून्मन्त्रः कुशवत्यां नरेश्वर ।
वृतस्तत्राहमगमं महापद्मशतैस्त्रिभिः ।
यक्षाणां घोररूपाणां विविधायुधधारिणाम् ॥५३॥

कुवेर ने कहा—हे राजन्! एक बार कुशस्थली स्थान में देवों ने विचार करने को सभा बुलाई। वहां मैं भी तीन सौ महापद्म यक्षों के साथ गया था। ये यक्ष, अनेक शस्त्रधारी और रूप वाले थे ॥५३॥

अध्वन्यहमथापश्यमगस्त्यमृषिसत्तमम् ।
उग्रं तपस्तप्यमानं यमुनातीरमाश्रितम् ॥५४॥
नानापक्षिगणाकीर्णं पुष्पितद्रुमशोभितम् ।

मैंने मार्ग में ऋषियों में श्रेष्ठ, अगस्त्य ऋषि को देखा जो यमुना तीर पर बड़ा भारी तप कर रहा था। यह यमुना का तीर, अनेक पक्षियों के गणों से युक्त और पुष्पों वाले वृक्षों से सुशोभित था।।५४।।

तमूर्द्ध्वबाहुं दृष्ट्वा वै सूर्य्यस्याभिमुखे स्थितम्।।५५।।
तेजोराशिं दीप्यमानं हुताशनमिवैधितम् ।
राक्षसाधिपतिः श्रीमान्मणिमान्नाम मे सखा ।।५६।।
मौर्ख्यादज्ञानभावाच्च दर्पान्मोहाच्च पार्थिव ।
न्यष्ठीवदाकाशगतो महर्षेस्तस्य मूर्द्धनि ।।५७।।

हे राजन् ! सूर्य के सम्मुख, ऊपर को भुजा उठाये हुए, तेजोराशि, प्रज्वलित अग्नि के तुल्य देदीप्यमान, इस महर्षि अगस्त्य को देखकर राक्षसाधिपति, श्रीमान् मेरे सखा मणिमान् ने मूर्खता अज्ञान, घमण्ड और मोह से उस ऋषि के शिर पर आकाश से ही थूक दिया।।५५—५७।।

स कोपान्मामुवाचेदं दिशः सर्वा दहन्निव।
मामवज्ञाय दुष्टात्मा यस्मादेष सखा तव ।।५८।।
धर्षणां कृतवानेतां पश्यतस्ते धनेश्वर ।
तस्मात् सहैभिः सैन्यैस्ते वधं प्राप्स्यति मानुषात्।।५९।।
त्वश्चाप्येभिर्हतैः सैन्यैः क्लेशं प्राप्येह दुर्मतिः ।
तमेव मानुषं दृष्ट्वा किल्विषाद्विप्रमोक्ष्यसे ।।६०।।

यह अगस्त्य मुनि, कोप से सारी दिशाओं को जलाता हुआ, मुझसे बोला—हे धनेश्वर ! तेरे देखते २ तेरे-सखा

दुष्ट मणिमान् ने मेरा तिरस्कार करके यह आक्रमण किया है। इसलिए यह इस सब सेना के साथ मनुष्य से वध प्राप्त करेगा और तू भी दुर्मति है, इससे इस सेना का क्लेश उठाकर उसके पीछे उसी मनुष्य के दर्शन करके पाप से छुटकारा पावेगा ॥५८—६०॥

सैन्यानान्तु तवैतेषां पुत्रपौत्रं बलान्वितम् ।
न शापं प्राप्स्यते घोरं तत्तवाज्ञा करिष्यति ॥६१॥

हे यक्षराज ! इस सेना के सैनिक, जो तेरी आज्ञा में चलेंगे, उनके बलवान् पुत्र, पौत्रों को यह घोर शाप नहीं लगेगा ॥६१॥

एष शापो मया प्राप्तः प्राक् तस्मादृषिसत्तमात् ।
स भीमेन महाराज भ्रात्रा तव विमोचितः ॥६२॥

इति श्रीमहाभारत आरण्यपर्वणि यक्षयुद्धपर्वणि
कुबेरदर्शने एकषष्ट्यधिकशततमोऽध्यायः ॥१६१॥

पूर्वकाल में यह शाप, मुझे उसी ऋषि, अगस्त्य से प्राप्त हुआ है । हे महाराज ! आज आपके भाई भीम के दर्शन से वह निवृत्त हो गया ॥६२॥

इति श्रीमहाभारत वनपर्वान्तर्गत यक्षयुद्धपर्व
में कुबेर दर्शन का एक सौ इकसठवाँ
अध्याय पूरा हुआ ।

एक सौ बासठवां अध्याय

धनद उवाच—

युधिष्ठिर धृतिर्दाक्ष्यं देशकालपराक्रमाः ।
लोकतन्त्रविधानानामेष पञ्चविधो विधिः ॥१॥

कुबेर ने कहा—हे युधिष्ठिर! धैर्य, चतुराई, देश-काल और पराक्रम, ये पांच, लोक व्यवहार के चलाने के प्रधान कारण हैं ॥१॥

धृतिमन्तश्च दक्षाश्च स्वे स्वे कर्मणि भारत ।
पराक्रमविधानज्ञा नराः कृतयुगेऽभवन् ॥२॥

हे भारत! धैर्यशील, दक्ष, अपने २ कार्य में लगे हुए, पराक्रम की विधि के जानने वाले पुरुष, सत्युग में अधिक होते थे ॥२॥

धृतिमान् देशकालज्ञः सर्वधर्मविधानवित् ।
क्षत्रियः क्षत्रियश्रेष्ठ प्रशास्ति पृथिवीञ्चिरम् ॥३॥

हे क्षत्रिय—श्रेष्ठ! धैर्यवान, देश-काल का ज्ञाता, सब धर्मों के विधानों का जानने वाला, क्षत्रिय ही इस पृथिवी का अधिक काल तक शासन कर सकता है ॥३॥

य एवं वर्त्तते पार्थ पुरुषः सर्वकर्मसु ।
स लोके लभते वीर यशः प्रेत्य च सद्गतिम् ॥५॥

हे पार्थ! वीर! जो पुरुष, इन पांच विधियों से सब कार्यों को करता है, वही इस लोक में यश और परलोक में सद्गति पाता है ॥४॥

महाभारत चित्र संख्या ३६

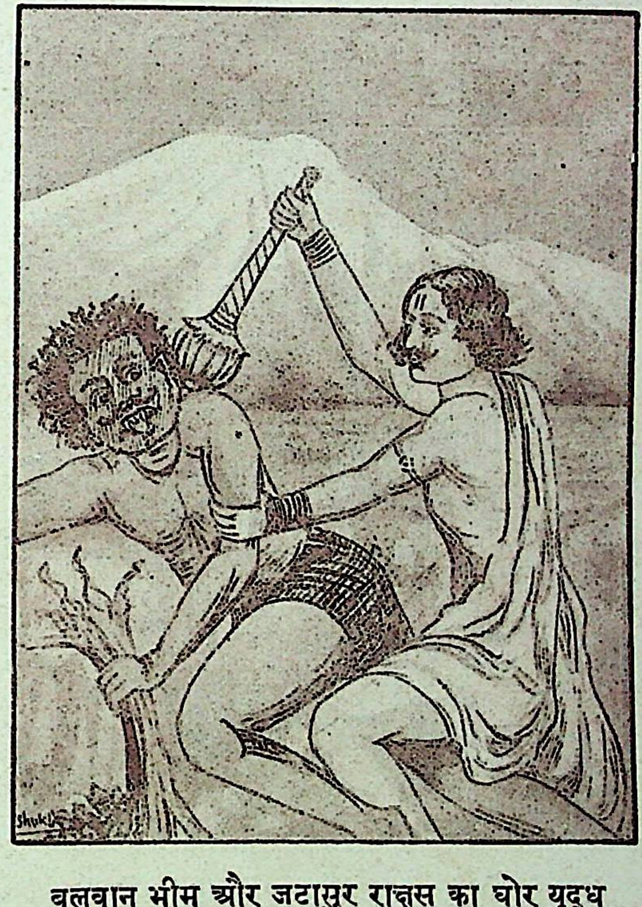

वलवान भीम और जटासुर राक्षस का घोर युद्ध
महा० वनपर्व अ० १५७--५७ पृष्ठ २२४

देशकालान्तरप्रेप्सुः कृत्वा शक्रः पराक्रमम् ।
सम्प्राप्तस्त्रिदिवे राज्यं वृत्रहा वसुभिः सह ॥५॥

देश-काल के भेद का जानने वाले वृत्रासुर के शत्रु, इन्द्र ने भी पराक्रम करके ऐश्वर्य के साथ ही स्वर्ग का राज्य प्राप्त किया है ॥५॥

यस्तु केवलसंरम्भात् प्रपातं न निरीक्षते ।
पापात्मा पापबुद्धिर्यः पापमेवानुवर्त्तते ॥६॥
कर्मणामविभागज्ञः प्रेत्य चेह विनश्यति ।

जो केवल आवेग में भरकर अपने पतन (कमजोरियों) की ओर दृष्टि नहीं रखता है, वह पापबुद्धि, पापी, पाप ही बटोरता है। जो कर्मों के विभाग का नहीं जानने वाला है, वह भी इस लोक और परलोक में नष्ट हो जाता है ॥६॥

अकालज्ञः सुदुर्मेधाः कार्य्याणामविशेषवित् ॥७॥
वृथाचारसमारम्भः प्रेत्य चेह विनश्यति ।

देशकाल का और कार्यों के रहस्य का विशेष रीति से नहीं जानने वाला, जो मूर्ख, वृथा आवेश में आकर कार्य आरम्भ कर देता है, वह इस लोक और परलोक में अवश्य दुर्गति पाता है ॥७॥

साहसे वर्त्तमानानां निकृतीनां दुरात्मनाम् ॥८॥
सर्वसामर्थ्यलिप्सूनां पापो भवति निश्चयः ।

जो व्यर्थ साहस करने वाले, दुरात्मा ठग, सब कुछ करने की सामर्थ्य प्राप्त करना चाहते हैं, उनके पल्ले निश्चय पाप ही पड़ता है ॥८॥

अधर्मज्ञोऽवलिप्तश्च बालबुद्धिरमर्षणः ॥६॥
निर्भयो भीमसेनोऽयं तं शाधि पुरुषर्षभ ।

हे पुरुषर्षभ ! यह भीम धर्म के तत्व से अपरिचित, उद्धत बालक की सी बुद्धि रखने वाला, असहनशील और निर्भीक है। आप इसको शासन में रखें ॥६॥

आर्ष्टिषेणस्य राजर्षेः प्राप्य भूयस्त्वमाश्रमम् ॥१०॥
तामिस्रं प्रथमं पक्षं वीतशोकभयो वस ।

अब तुम फिर आर्ष्टिषेण मुनि के आश्रम को जाओ और वहाँ कृष्ण-पक्ष तक शोक और भय छोड़ कर निवास करो ॥१०॥

अलकाः सह गन्धर्वैर्यक्षाश्च सह किन्नरैः ॥११॥
मन्नियुक्ता मनुष्येन्द्र सर्वे च गिरिवासिनः ।
रक्षिष्यन्ति महावाहो सहितं द्विजसत्तमैः ॥१२॥

हे महाबाहो ! राजन् ! गन्धर्वों के साथ, अलका-पुरी-वासी तथा किन्नरों के साथ यक्ष एवं सारे पर्वत निवासी, देव, मेरे नियुक्त किये हुए, ब्राह्मणों के साथ तुम्हारी रक्षा करेंगे ॥११-१२॥

साहसादनुसम्प्राप्तः प्रतिवुध्य वृकोदरः ।
वार्य्यतां साध्वयं राजंस्त्वया धर्मभृताम्वर ॥१३॥

भीमसेन, अनुचित साहस करके यहां चला आया। तुम धर्मात्मा को इसे अब अच्छी तरह रोक देना चाहिये ॥१३॥

अतः परश्च वो राजन् द्रच्यन्ति वनगोचराः ।
उपस्थास्यन्ति वो राजन् रक्षिष्यन्ते च वः सदा ॥

हे राजन्! इसके वाद तुमको वनवासी लोग मिलेंगे जो तुम्हारी सेवा और रक्षा करेंगे ॥१४॥

तथैव चान्नपानानि स्वादूनि च बहूनि च ।
आहरिष्यन्ति मत्प्रेष्याः सदा वः पुरुषर्षभाः ॥१५॥

हे पुरुष-श्रेष्ठो! स्वाद-युक्त, बहुत से अन्न-पान, हमारे सेवक सदा तुम्हारे पास पहुंचाते रहेंगे ॥१५॥

यथा जिष्णुर्महेन्द्रस्य यथा वायोर्वृकोदरः ।
धर्मस्य त्वं यथा तात योगोत्पन्नो निजः सुतः ॥१६
आत्मजावात्मसम्पन्नौ यमौ चोभौ यथाश्विनोः ।
रक्ष्यास्तद्वन्मयापीह यूयं सर्वे युधिष्ठिर ॥१७॥

हे तात! इन्द्र से जैसे अर्जुन, वायु से भीम, धर्म से तुम, किसी योग से उत्पन्न हुए हो, इसी प्रकार अश्विनी-कुमार से नकुल, सहदेव उत्पन्न हुए। ये सब देव जैसे पुत्र के सम्बन्ध से तुम्हारी रक्षा करते हैं, वैसे ही मुझे भी तुम्हारी रक्षा करनी उचित है ॥१६—१७॥

अर्थतत्त्वविधानज्ञः सर्वधर्मविधानवित् ।
भीमसेनादवरजः फाल्गुनः कुशलो दिवि ॥१८॥

नीति के तत्व का ज्ञाता, सब धर्मों का जानने वाला, भीमसेन से छोटा भाई, अर्जुन, स्वर्ग में कुशल से हैं ॥१८॥

याः काश्चन मता लोके स्वर्ग्याः परमसम्पदः ।
जन्मप्रभृति ता सर्वाः स्थितास्तात धनञ्जये ॥१९॥

हे तात ! जो कुछ स्वर्ग में परम सम्पत्ति मानी गई हैं, वे सब जन्म से ही अर्जुन में स्थित समझो ॥१६ ॥

दमो दानं बलं बुद्धिर्ह्रीर्धृतिस्तेज उत्तमम् ।
एतान्यपि महासत्वे स्थितान्यमिततेजसि ॥२०॥

दम, दान, बल, बुद्धि, लज्जा, धृति और उत्तम तेज ये सब अत्यन्त तेजस्वी, महाबली अर्जुन में स्वभाव से ही विद्यमान हैं ॥२०॥

न मोहात् कुरुते जिष्णुः कर्म पाण्डव गर्हितम् ।
न पार्थस्य मृषोक्तानि कथयन्ति नरा नृषु ॥२१॥

हे पाण्डव ! अर्जुन, मोह में आकर कभी निन्दित कर्म नहीं करता है। कोई भी मनुष्य, अन्य मनुष्यों में यह नहीं कह सकता, कि अर्जुन ने कभी असत्य कहा हो ॥२१॥

स देवपितृगन्धर्वैः कुरूणां कीर्त्तिवर्द्धनः ।
मानितः कुरुतेऽस्त्राणि शक्रसद्मनि भारत ॥२२॥

हे भारत ! कुरुवंश की कीर्ति का बढ़ाने वाला अर्जुन, देव, पितर और गन्धर्वों से सम्मानित होकर, इन्द्र भवन में अस्त्र-विद्या सीख रहा है ॥२२॥

योऽसौ सर्वान् महीपालान् धर्मेण वशमानयत् ।
स शान्तनुर्महातेजाः पितुस्तव पितामहः ॥२३॥
प्रीयते पार्थ पार्थेन दिवि गाण्डीवधन्वना ।
सम्यक् चासौ महावीर्य्यः कुलधुर्य्येण पार्थिवः ।२४॥

हे पार्थ ! जिसने सारे राजाओं को धर्म-पूर्वक अपने वश में कर लिया । वही महा-तेजस्वी, तुम्हारे पिता का भी पितामह, महाबली, राजा शान्तनु, स्वर्ग में गाण्डीव-धारी, कुल की धुर के धारण करने वाले, अर्जुनसे बड़ा प्रसन्न हो रहा है ॥२३—२४।

पितॄन् देवानृषीन् विप्रान् पूजयित्वा महातपाः ।
सप्त मुख्यान्महामेधानाहरद्यमुनाः प्रति ॥२५॥

पितर, देव, ऋषि और ब्राह्मणों की पूजा करके महातपस्वी राजा शान्तनु ने यमुना तट पर सात अश्वमेध यज्ञ किये थे ॥२५॥

अधिराजः स राजंस्त्वां शान्तनुः प्रपितामहः ।
स्वर्गजित् शक्रलोकस्थः कुशलं परिपृच्छति ॥२६॥

हे राजन् ! राजाधिराज, स्वर्ग-लोक को जीतने वाले, स्वर्ग में स्थित हुए तुम्हारे प्रपितामह, राजा शान्तनु, तुम्हारी कुशल पूछ रहे हैं ॥२६॥

वैशम्पायन उवाच—

एतच्छ्रुत्वा तु वचनं धनदेन प्रभाषितम् ।
पाण्डवाश्च ततस्तेन बभूवुः संप्रहर्षिता ॥२७॥

वैशम्पायन ने कहा--हे राजन् ! कुबेर का कहा हुआ, इतना वचन सुन कर उससे पाण्डव बड़े ही हर्षित हुए ॥२७॥

ततः शक्तिं गदां खड्गं धनुश्च भरतर्षभ ।
प्राध्वं कृत्वा नमश्चक्रे कुबेराय वृकोदर ॥२८॥

इसके वाद शक्ति, गदा, खड्ग और धनुष को पीछे पीठ पर डाल कर भरत-वंश-श्रेष्ठ भीमसेन ने कुवेर को प्रणाम किया ॥२८॥

ततोऽब्रवीद्धनाध्यक्षः शरण्यः शरणागतम् ।
मानहा भव शत्रूणां सुहृदां नन्दिवर्द्धनः ॥२९॥

इसके अनन्तर शरणागत-वत्सल कुवेर ने अपनी शरण में आये हुए, धर्मराज से कहा-कि तुम शत्रुओं के मान के भञ्जन करने वाले और मित्रों के आनन्द के बढ़ाने वाले हो जाओ ॥२९॥

स्वेषु वेश्मसु रम्येषु वसतामित्रतापनाः।
कामान्न परिहास्यन्ति यक्षा वो भरतर्षभाः ॥३०॥

हे भरतर्षभ ! आप शत्रुओं को सन्तापित करने वाले हो। अपने घर पर अतिथि रूप से विराजमान आपकी कोई भी कामना को यक्ष लोग व्यर्थ नहीं होने देंगे अर्थात् सब कामना पूर्ण करते रहेंगे ॥३०॥

शीघ्रमेव गुडाकेशः कृतास्त्रः पुनरेष्यति ।
साक्षान्मघवता सृष्टः संप्राप्स्यसि धनञ्जयः ॥३१॥

अब शीघ्र ही अस्त्र विद्या प्राप्त करके अर्जुन आने वाला है। इस अर्जुन को साक्षात् इन्द्र, पहुंचाने आवेगा। इस तरह वह तुमको प्राप्त होगा ॥३१॥

एवमुत्तमकर्माणमनुशिष्य युधिष्ठिरम् ।
अस्तं गिरिवरश्रेष्ठं प्रययौ गुह्यकाधिप ॥३२॥

इस प्रकार उत्तम कर्म करने वाले, राजा युधिष्ठिर को शिक्षा देकर यक्षराज, कुवेर, अपने निवास स्थान के पर्वत को चला गया ॥३२॥

तं परिस्तोमसङ्कीर्णैर्नानारत्नविभूषितैः ।
यानैरनुययुर्यक्षा राक्षसाश्च सहस्रशः॥३३॥

अनेक रत्नों से जटित, वस्त्र की झूलों से व्याप्त, यानों से सहस्रों यक्ष राक्षस, उस कुवेर के पीछे चल दिए ॥ ३३ ॥

पक्षिणामिव निर्घोषः कुबेरसदनं प्रति ।
बभूव परमाश्वानामैरावतपथे यथा ॥३४॥

इस समय कुवेर के घर की ओर उड़ कर चलने वाले पक्षियों के तुल्य अश्वों का शब्द हो रहा था। यह शब्द इन्द्र-पुरी में होने वाले अश्वों के शब्द सा प्रतीत होता था ॥३४॥

ते जग्मुस्तूर्णमाकाशं धनाधिपतिवाजिनः ।
प्रकर्षन्त इवाभ्राणि पिबन्त इव मारुतम्॥३५॥

ये कुवेर के घोड़े, फौरन आकाश को उड़ गए,जो वादलों को खींचते हुए और वायु को पीते हुए से भागे जारहे थे ॥३५॥

ततस्तानि शरीराणि गतसत्वानि रक्षसाम् ।
अपाकृष्यन्त शैलाग्राद्धनाधिपतिशासनात् ॥३६॥

इसके वाद कुवेर की आज्ञा से सेवक गण, मरे हुए राक्षसों के शरीरों को पर्वत के शिखर से खैंचने लगे ॥ ३६ ॥

तेषां हि शापकालः स कृतोऽगस्त्येन धीमता ।
समरे निहतास्तस्माच्छापस्यान्तोऽभवत्तदा ॥३७॥

महा-तपस्वी, अगस्त्य के दिए हुए, शाप का यह समय आया है । इसी कारण ये राक्षस युद्ध में मारे गए और इससे ही अब शाप की समाप्ति हुई है ॥३७॥

पाण्डवाश्च महात्मानस्तेषु वेश्मसु ताः क्षपाः ।
सुखमूषुर्गतोद्वेगाः पूजिताः सर्व राक्षसैः ॥३८॥

इति श्रीमहाभारत आरण्यपर्वणि यक्षयुद्धपर्वणि
कुबेरवाक्ये द्विषष्ट्यधिकशततमोऽध्यायः ॥१६२॥

महात्मा पाण्डवों ने उन यक्षों के भवनों पर उन रात्रियों में सुख से निवास किया । समस्त राक्षसों से पूजित होकर पाण्डव, बड़े ही सन्तुष्ट हो रहे थे ॥३२॥

इति श्रीमहाभारत वनपर्वान्तर्गत यक्षयुद्धपर्व में कुबेर के
वाक्य का एक सौ बासठवां अध्याय समाप्त हुआ ।

एक सौ तरेसठवां अध्याय

वैशम्पायन उवाच—

ततः सूर्य्योदये धौम्यः कृत्वाह्निकमरिन्दम ।
आर्ष्टिषेणेन सहितः पाण्डवानभ्यवर्त्तत ॥१॥

वैशम्पायन बोले--हे अरिमर्दन ! इसके अनन्तर प्रातःकाल होने पर अपनी नित्यक्रिया होम आदि करके पुरोहित धौम्य, महर्षि आर्ष्टिषेण के साथ, पाण्डवों के पास पहुँचे ॥१॥

तेऽभिवाद्यार्ष्टिषेणस्य पादौ धौम्यस्य चैव ह ।
ततः प्राञ्जलयः सर्वे ब्राह्मणांस्तानपूजयन् ॥२॥

पाण्डवों ने भी महर्षि आर्ष्टिषेण और धौम्य के चरणों की वन्दना की और बाद में हाथ जोड़कर सारे ब्राह्मणों की पूजा की।

ततो युधिष्ठिरं धौम्यो गृहीत्वा दक्षिणे करे ।
प्राचीं दिशमभिप्रेक्ष्य महर्षिरिदमब्रवीत् ॥३॥

अब महर्षि, धौम्य ने युधिष्ठिर का दायां हाथ पकड़ा और पूर्व दिशा की ओर देखकर कहा ॥ ३ ॥

असौ सागरपर्य्यन्तां भूमिमावृत्य तिष्ठति ।
शैलराजो महाराज मन्दरोऽतिविराजते ॥४॥

हे महाराज ! समुद्र पर्यन्त भूमि को घेर कर खड़ा हुआ, शैलराज मैनाक पर्वत कितना सुशोभित हो रहा है ॥ ४ ॥

इन्द्रवैश्रवणावेतां दिशं पाण्डव रक्षतः ।
पर्वतैश्च वनान्तैश्च काननैश्चैव शोभिताम् ॥५॥

हे पाण्डव ! पर्वत, वनस्थली और उपवनों से सुशोभित इस दिशा की इन्द्र और कुबेर रक्षा करते रहते हैं ।।५।।

एतदाहुर्महेन्द्रस्य राज्ञो वैश्रवणस्य च ।
ऋषयः सर्वधर्मज्ञाः सद्म तात मनीषिणः ।।६।।
ततश्चोद्यन्तमादित्यमुपतिष्ठन्ति वै द्विजाः ।
ऋषयश्चापि धर्मज्ञाः सिद्धाः साध्याश्च देवताः ।।७।।

हे तात ! सब धर्मों के ज्ञाता, बिचार शील महर्षि, यह कहते रहते हैं, कि इन्द्र और यक्षराज कुबेर के इसी दिशा में भवन बने हैं, इसी लिए सारे धर्मात्मा द्विज, ऋषि, सिद्ध, साध्य और देवता, सूर्योदय काल में इस ओर ही मुख करके उपासना करते हैं ।।६-७।।

यमस्तु राजा धर्मज्ञः सर्वप्राणभृतां प्रभुः ।
प्रेतसत्त्वगतिं ह्येनां दक्षिणामाश्रितो दिशम् ।।८।।

धर्मात्मा, सब प्राणियों का स्वामी, यमराज, मृत प्राणियों के गमन योग्य दक्षिण दिशा में अपना स्थान बनाये हुए हैं ।।८।।

एतत् संयमनं पुण्यमतीवाद्भुतदर्शनम् ।
प्रेतराजस्य भवनमृद्ध्या परमया युतम् ।।९।।

यह संयमन नामक स्थान अत्यन्त ही सुन्दर, प्रेतराज यम का भवन है, जो बड़ी भारी समृद्धि से परिपूर्ण है ।।१०।।

तं प्राप्य सविता राजन् सत्येन प्रतितिष्ठति ।
अस्तं पर्वतराजानमेतमाहुर्मनीषिणः ।।१०।।

हे राजन् ! मनीषी लोग कहते हैं, कि यह सामने दीखने वाला पर्वत अस्ताचल है । इस पर पहुंच कर सूर्य, सत्य रूप से स्थित होते हैं ॥१०॥

एनं पर्वतराजानं समुद्रश्च महोदधिम् ।
आवसन् वरुणो राजा भूतानि परिरक्षति ॥११॥

हे पाण्डव ! इस अस्ताचल और जल से परिपूर्ण समुद्र में राजा वरुण का गृह है जो सारे प्राणियों का रक्षक है ॥११॥

उदीचीं दीपयन्नेष दिशं तिष्ठति वीर्य्यवान् ।
महामेरुर्महाभागः शिवो ब्रह्मविदां गतिः ॥१२॥

यह शोभाशील, सर्वोत्तम, कल्याण-कारी, ब्रह्म-ज्ञानियों की गति, महा-मेरु-पर्वत है, जो उत्तर दिशा को देदीप्यमान करके स्थित है ॥ १२ ॥

यस्मिन् ब्रह्मसदश्चैव भूतात्मा चावतिष्ठते ।
प्रजापतिः सृजन् सर्वं यत्किञ्चिज्जङ्गमागमम् ॥१३॥

इसी पर्वत पर ब्रह्म-सभा नामक देवों की सभा है, जहाँ ब्रह्माजी जड़ चेतन सृष्टि की रचना करते हुए स्थित रहते हैं ।१३

यानाहुर्ब्रह्मणः पुत्रान् मानसान् दक्षसप्तमान् ।
तेषामपि महामेरुः शिवं स्थानमनामयम् ॥१४॥

ब्रह्माजी के दक्ष आदि सात मानस-पुत्र कहाते हैं, उन महानुभावों का भी यही कल्याण-कारी, दुःख-रहित, महामेरु स्थान है ॥१४॥

अत्रैव प्रतितिष्ठन्ति पुनरत्रोदयन्ति च।
सप्त देवर्षयस्तात वशिष्ठप्रमुखास्तदा ॥१५॥

हे तात! यहीं पर वसिष्ठ आदि सप्तर्षि, उदय होते हैं और यहीं अस्त हो जाते हैं ॥१५॥

देशं त्रिरजसं पश्य मेरोः शिखरमुत्तमम्।
तत्रात्मतृप्तैरध्यास्ते देवैः सह पितामहः ॥१६॥

हे राजन्! तुम मिट्टी धूल से रहित, इस उत्तम प्रदेश, मेरु के शिखर को देखो, जहां आत्मज्ञान से तृप्त हुए, देवों के साथ ब्रह्मा जी निवास करते हैं ॥१६॥

यमाहुः सर्वभूतानां प्रकृतेः प्रकृतिं ध्रुवाम्।
अनादिनिधनं देवं प्रभुं नारायणं परम् ॥१७॥
ब्रह्मणः सदनात्तस्य परं स्थानं प्रकाशते।
देवापि यं न पश्यन्ति सर्वतेजोमयं शुभम् ॥१८॥

जिसको सब भूतों के कारण का ध्रुव कारण माना है। उनको ही अनादि निधन, नारायण देव, प्रभु आदि नामों से पुकारा जाता है। वह सर्वोत्कृष्ट है। ब्रह्मा के स्थान से भी उनका स्थान अधिक प्रकाशमान है। इस तेजोमय स्थान को देवता भी आंख भर कर नहीं देख सकते हैं ॥१७-१८॥

अत्यर्कानलदीप्तन्तत् स्थानं विष्णोर्महात्मनः।
स्वयैव प्रभया राजन् दुष्प्रेक्ष्यं देवदानवैः ॥१९॥

हे राजन् ! सूर्य और अग्नि से भी अधिक दीप्तिमान्, महा-तेजस्वी भगवान् विष्णु का स्थान है। यह अपने ही स्वतः सिद्ध प्रकाश से देव और दानवों की दृष्टि को चकाचौंध कर देता है ॥१९॥

प्राच्यां नारायणस्थानं मेरावति विराजते।
यत्र भूतेश्वरस्तात सर्वप्रकृतिरात्मभूः ॥२०॥
भासयन् सर्वभूतानि सुश्रियाभिविराजते ।

हे तात ! इस पूर्व दिशा में मेरु पर्वत पर ही नारायण का स्थान सुशोभित है। समस्त जङ्गम जगत् के स्वामी, जड़ जगत् के उत्पादक, स्वयम्भू, भगवान् विष्णु अपने तेज से समस्त संसार को देदीप्यमान कर रहे हैं ॥२०॥

नात्र ब्रह्मर्षयस्तात कुत एव महर्षयः ॥२१॥
प्राप्नुवन्ति गतिं ह्येतां यतीनां कुरुसत्तम।

हे कुरु-वंश-श्रेष्ठ युधिष्ठिर ! इस लोक में यति लोग प्रवेश पा सकते हैं। यहां ब्रह्मर्षियों तक का प्रवेश नहीं है, महर्षियों की तो चलती ही क्या है ॥२१॥

न तं ज्योतींषि सर्वाणि प्राप्य भासन्ति पाण्डव॥२२॥
स्वयं प्रभुरचिन्त्यात्मा तत्र ह्यति विराजते ।

हे पाण्डव ! यदि सारे ज्योतिष्मान् पदार्थ भी इकट्ठे होकर वहां पहुंच जावे, तो भी वे उसके सम्मुख नहीं चमक सकते हैं। यहीं पर विचार में नहीं आने वाले भगवान् विष्णु, स्वयं विराजते हैं ॥२२॥

यतयस्तत्र गच्छन्ति भक्त्या नारायणं हरिम् ॥२३॥
परेण तपसा युक्ता भाविताः कर्मभिः शुभैः ।

जो उत्तम २ कर्मों से पवित्र हो गए हैं और जो महातप से देदीप्यमान हैं, वे ही यति लोग, भक्ति से पाप-हारी, नारायण को पा सकते हैं ॥२३॥

योगसिद्धा महात्मानस्तमोमोहविवर्जिताः ॥२४॥
तत्र गत्वा पुनर्नेमं लोकमायान्ति भारत ।
स्वयम्भुवं महात्मानं देवदेवं सनातनम् ॥२५॥

हे भारत ! योग में सिद्ध, महात्मा, अज्ञान और मोह से रहित, जितेन्द्रिय लोग इस लोक में जाकर फिर नहीं लौटते हैं और स्वयम्भू, सनातन देवों के देव परमात्मा को पा जाते हैं ।

ईश्वरस्य सदा ह्येतत् प्रणमात्र युधिष्ठिर ॥२६॥
स्थानमेतन्महाभाग ध्रुवमक्षयमव्ययम् ।

हे महाभाग ! यह क्षीण नहीं होने वाला, स्थिर, अविनाशी परमात्मा का स्थान है । तुम इसको प्रणाम करो ॥ २६ ॥

एनं त्वहरहर्मेरुं सूर्याचन्द्रमसौ ध्रुवम् ।
प्रदक्षिणमुपावृत्य कुरुतः कुरुनन्दन ॥२७॥
ज्योतींषि चाप्यशेषेण सर्वाण्यनघ सर्वतः ।
परियान्ति महाराज गिरिराजं प्रदक्षिणम् ॥२८॥

हे कुरुनन्दन ! सूर्य और चन्द्रमा, प्रतिदिन इसी निश्चल मेरु पर्वत के चारों तरफ घूमकर प्रदक्षिणा करते हैं। हे महानुभाव ! महाराज ! येही क्या सारे ही प्रकाशमान पदार्थ, इसी पर्वत राज की प्रदक्षिणा करते हैं। ॥२७--२८॥

एवं ज्योतींषि सर्वाणि प्रकर्षन् भगवानपि ।
कुरुते वितमस्कर्मा आदित्योऽपि प्रदक्षिणम् ॥२९॥

इसी तरह समस्त ज्योतिष्मान् पदार्थों का प्रकर्षक, तेज से देदीप्यमान, अन्धकार रहित, सूर्य भी इसकी प्रदक्षिणा करता है।

अस्तं प्राप्य ततः सन्ध्यामतिक्रम्य दिवाकरः ।
उदीचीं भजते काष्ठां दिशमेप विभावसुः ॥३०॥
स मेरुमनुवृत्तः सन् पुनर्गच्छति पाण्डव ।
प्राङ्मुखः सविता देवः सर्वभूतहिते रतः ॥३१॥

यह प्रकाशमान सूर्य, सायङ्काल में अस्त होकर उत्तर दिशा को प्राप्त हो जाता है। हे पाण्डव ! सब प्राणियों के हित में तत्पर, सूर्य, फिर मेरु की प्रदक्षिणा करके पूर्व से निकल आता है ॥३०—३१॥

स मासं विभजन् काले बहुधा पर्वसन्धिषु ।
तथैव भगवान् सोमो नक्षत्रैः सह गच्छति ॥३२॥

अनेक पर्व-कालों में मास आदि को विभाग करते हुए भगवान्, चन्द्रमा भी, नक्षत्रों के साथ, उसी प्रकार मेरु का चक्कर लगाते हैं ॥३२॥

एवमेष ह्यतिक्रम्य महामेरुमतन्द्रितः ।
भावयन् सर्वभूतानि पुनर्गच्छति मन्दरम् ॥३३॥

अपने नियम में तत्पर, चन्द्रमा, इस महा-मेरु की परिक्रमा करके, सारे प्राणियों को आल्हादित करता हुआ, फिर मन्दराचल को चला जाता है ॥३३॥

तथा तमिस्रहा देवो मयूखैर्भासयन् जगत् ।
मार्गमेतमसम्बाधमादित्यः परिवर्त्तते ॥३४॥

अन्धकार--नाशक, सूर्य देव भी, अपनी किरणों से इस जगत् को प्रकाशमान करके इस लम्बे चौड़े मार्ग को पार करता है ३४

सिसृक्षुः शिशिराण्येष दक्षिणां भजते दिशम् ।
ततः सर्वाणि भूतानि कालोऽभ्यर्च्छति शैशिरः॥३५॥

जब सूर्य, शिशिर ऋतु की रचना करता है, तब वह दक्षिणायन होजाता है ; तब सारे प्राणियों में शिशिर काल का प्रवेश होता है ॥३५॥

स्थावराणाञ्च भूतानां जङ्गमानाञ्च तेजसा ।
तेजांसि समुपादत्ते निवृत्तः स विभावसुः ॥३६॥
ततः स्वेदक्लमौ तन्द्रा ग्लानिश्च भजते नरान् ।
प्राणिभिः सततं स्वप्नो ह्यभीक्ष्णञ्च निषेव्यते ॥३७॥

यह तेजस्वी सूर्य, स्थावर, जङ्गम, भूतों का अपने तेज से सम्पूर्ण सार खैंचता रहता है। इस सूर्य से ही मनुष्यों के शरीर में स्वेद और व्याकुलता बढ़ती है और तन्द्रा तथा ग्लानि होती है। इन्हीं सूर्य देव के छुपने पर, प्राणियों को रात में सदा स्वप्न आते हैं ॥३६—३७॥

एवमेतमनिर्देशं मार्गमावृत्य भानुमान् ।
पुनः सृजति वर्षाणि भगवान् भावयन् प्रजाः॥३८॥

भगवान् सूर्य, इस तरह इस दुर्गम अन्तरिक्ष मार्ग का अतिक्रमण करके प्रजा के पोषण के लिए वर्षा करता है ॥३८॥

वृष्टिमारुतसन्तापैः सुखैः स्थावरजङ्गमान् ।
वर्द्धयन् सुमहातेजाः पुनः प्रतिनिवर्त्तते ॥३९॥

वर्षा, वायु और ग्रीष्म ऋतु के द्वारा स्थावर, जंगम सृष्टि के सुख की वृद्धि करता हुआ, महा-तेजस्वी सूर्य, फिर लौट आता है

एवमेष चरन् पार्थः कालचक्रमतन्द्रितः ।
प्रकर्षन् सर्वभूतानि सविता परिवर्त्तते ॥४०॥

हे पार्थ ! नियम-पूर्वक, काल चक्र को चलाता हुआ और स्वयं मेरु की प्रदक्षिणा करता हुआ, सारे भूतों के सार को खैंचने वाला, सूर्य इसी तरह घूमता है ॥४०॥

सन्तता गतिरेतस्य नैष तिष्ठति पाण्डव ।
आदायैव तु भूतानां तेजो विसृजते पुनः ॥४१॥

हे पाण्डव ! यह सूर्य, सदा चक्कर लगाता रहता है । यह कभी ठहरता ही नहीं है । यह भूतों के सारे जल को खैंच कर फिर वर्षा द्वारा छोड़ देता है ॥४१॥

विभजन् सर्वभूतानामायुः कर्म च भारत ।
अहोरात्रं कलाः काष्ठाः सृजत्येष सदा विभुः॥४१॥

इति श्रीमहाभारत आरण्यपर्वणि यक्षयुद्धपर्वणि
मेरुदर्शने त्रिषष्ट्यधिकशततमोऽध्यायः ॥१६२॥

हे भारत ! यही आदित्य, सारे प्राणियों की आयु और कर्मों की व्यवस्था करता है और यही सूर्य, दिन, रात, घड़ी, दिशाओं के विभाग का करने वाला है ।।४२।।

इति श्रीमहाभारत वनपर्वान्तर्गत यक्षयुद्धपर्व
में मेरु-दर्शन का एक सौ तरेसठवां
अध्याय पूरा हुआ ।

एक सौ चौंसठवां अध्याय

वैशम्पायन उवाच—

तस्मिन्नगेन्द्रे वसताश्च तेषां महात्मनां सद्व्रतमास्थितानाम् ।
रतिः प्रमोदश्च बभूव तेषामाकांक्षतां दर्शनमर्जुनस्य ।।१।।

वैशम्पायन बोले—हे राजन् ! अर्जुन के दर्शनों की इच्छा से उस पर्वत में निवास करने वाले, उत्तम व्रतों में संलग्न, महात्मा पाण्डवों का आनन्द और प्रमोद बढ़ रहा था ।।१।।

तान् वीर्य्ययुक्तान् सुविशुद्धकामांस्तेजस्विनः सत्यधृतिप्रधानान्
संप्रीयमाणा बहवोऽभिजग्मुर्गन्धर्वसङ्घाश्च महर्षयश्च ।।२।।

उन महा-पराक्रमी, शुद्ध अभिलाषा वाले, सत्य और धैर्य को प्रधान मानने वाले, तेजस्वी पाण्डवों के पास, बहुत से गन्धर्व और महर्षि, प्रेम-पूर्वक आने लगे ।।२।।

तं पादपैः पुष्पधरैरुपेतं नगोत्तमं प्राप्य महारथानाम् ।
मनः प्रसादः परमो बभूव यथा दिवं प्राप्य मरुद्गणानाम् ।।३।।

पुष्प-धारी, अनेक वृक्षों से युक्त, पर्वत पर पहुँचकर, महारथी पाण्डवों का मन स्वर्ग में रहने वाले देवों की तरह वड़ा ही प्रसन्न हुआ ॥३॥

मयूरहंसस्वननादितानि पुष्पोपकीर्णानि महाचलस्य ।
शृङ्गाणि सानूनि च पश्यमाना गिरेःपरं हर्षमवाप्य तस्थुः॥४॥

मयूर, हंस आदि पक्षियों के शब्द से शब्दायमान, पुष्पों से व्याप्त, महा-पर्वत के शिखर और प्रदेशों को देखकर महारथी पाण्डव वड़े ही प्रसन्न हुए ॥४॥

साक्षात् कुवेरेण कृताश्च तस्मिन्नगोत्तमे संवृतकूलरोधसः ।
कादम्बकारण्डवहंसजुष्टाः पद्माकुलाः पुष्करिणीरपश्यन् ५

उस पर्वत-श्रेष्ठ में स्वयं कुवेर से बनायी हुई, कदम्ब, कारण्डव, हंस आदि जल के पक्षियों से युक्त, कमलों से व्याप्त, नये-नये शैवाल आदि से भरे नीर वाली, पुष्करिणियों (छोटी-छोटी कृत्रिम नदियों) को पाण्डवों ने देखा ॥५॥

क्रीडाप्रदेशांश्च समृद्धरूपान् सुचित्रमाल्यावृतजातशोभान् ।
मणिप्रकीर्णांश्च मनोरमांश्च यथा भवेयुर्धनदस्य राज्ञः ॥६

वड़ी-वड़ी समृद्धि से प्रकाशमान, चित्र-विचित्र पुष्पों के समूह से सुशोभित; मणियों से व्याप्त, क्रीड़ा-प्रदेश वैसे ही मनोहर बने हुए थे, जैसे धनेश्वर कुबेर के यहाँ होने चाहिए।

अनेकवर्णैश्च सुगन्धिभिश्च महाद्रुमैः सन्ततमभ्रजालैः ।
तपः प्रधानाः सततं चरन्तः शृङ्गं गिरेश्चिन्तयितुं न शेकुः ७

अनेक वर्ण के सुगन्धित, बड़े-बड़े वृक्ष और मेघ-समूह से व्याप्त, पर्वत के शिखर पर तप करते हुए पाण्डव, घूमते थे। वे, इस पर्वत के शिखर के महत्व का विचार भी नहीं कर सकते थे ।।७।।

स्वतेजसा तस्य नगोत्तमस्य महौषधीनाञ्च तथा प्रभावात् ।
विभक्तभावो न बभूव कश्चिदहो निशानां पुरुषप्रवीर ।।८।।

हे पुरुष-प्रवीर ! इस पर्वत के अपने तेज तथा महौषधियों के प्रभाव से, रात-दिन के विभाग का पता नहीं लगता है--यह बड़े ही आश्चर्य की बात है ।।८।।

यमास्थितः स्थावरजङ्गमानि विभावसुर्भावयतेऽमितौजाः ।
तस्योदयश्चास्तमनञ्च वीरास्तत्र स्थितास्ते ददृशुर्नृसिंहाः ९

अत्यन्त-तेजस्वी, सूर्य. जिस पर्वत पर स्थित होकर सारे स्थावर जङ्गम जगत् को आनन्द पहुँचाता है, उसी पर्वत पर स्थित हुए नर-श्रेष्ठ, पाण्डव, उस सूर्य के उदय-अस्त को देखते रहते हैं ।।९।।

रवेस्तमिस्रागमनिर्गमांस्ते तथोदयश्चास्तमनञ्च वीराः ।
समावृताः प्रेक्ष्य तमोनुदस्य गभस्तिजालैः प्रदिशो दिशश्च ।।

ये पाण्डव, महा अन्धकार का आना; और जाना तथा सूर्य का उदय और अस्त, एवं अन्धकार-नाशक सूर्य के किरण जाल से व्याप्त, दशों दिशाओं को देखते रहते थे ।।१०।।

स्वाध्यायवन्तः सततक्रियाश्च धर्मप्रधानाश्च शुचिव्रताश्च ।
सत्ये स्थितास्तस्य महारथस्य सत्यव्रतस्यागमनप्रतीक्षाः ॥११॥

महारथी, सत्यवादी, अर्जुन की प्रतीक्षा करने वाले, पाण्डव यहाँ वेद का स्वाध्याय, यज्ञादि क्रिया, धर्म प्रधान पवित्र व्रत और सत्य नियमों का पालन करते थे ॥११॥

इहैव हर्षोऽस्तु समागतानां क्षिप्रं कृतास्त्रेण धनञ्जयेन ।
इति ब्रुवन्तः परमाशिषस्ते पार्थास्तपोयोगपरा बभूवुः ॥१२

अस्त्र-विद्या में कुशल होकर आये हुए अर्जुन के समागम का उत्सव यहीं पर होवे, यह अभिलाषा करते हुऐ और परस्पर कहते हुए पाण्डव, तप और योग में संलग्न रहते थे ॥ १२ ॥

दृष्ट्वाविचित्राणिगिरौवनानिकिरीटिनंचिन्तयतामभीक्ष्णम्
बभूव रात्रिर्दिवसश्च तेषां सम्वत्सरेणैव समानरूपः ॥१३॥

इस पर्वत के विचित्र वनों को देखने वाले और नित्य अर्जुन के स्मरण करने में तत्पर, पाण्डवों के एक २ रात और दिन एक-एक वर्ष के समान गुजरता था ॥१३॥

यदैव धौम्यानुमते महात्मा कृत्वा जटां प्रव्रजितः स जिष्णुः
तदैव तेषां न वभूव हर्षः कुतो रतिस्तद्गतमानसानाम् ॥१४

जब से धौम्य की अनुमति से महात्मा अर्जुन ने जटा बनाकर वन को प्रस्थान किया, तभी से इन पाण्डवों का हर्ष उड़ गया था। अर्जुन के स्मरण में लगे हुए, पाण्डवों को चैन भी कहां मिल सकता है ॥१४॥

भ्रातुर्नियोगात्तु युधिष्ठिरस्य वनादसौ वारणमत्तगामी ।
यत्काम्यकात्प्रव्रजितः स जिष्णुस्तदैवतेशोकहताबभूवुः ॥१५

भाई युधिष्ठिर की आज्ञा से मस्त हाथी के सदृश चलने वाला अर्जुन, जब इस काम्यक बन से अस्त्र विद्या सीखने गया, तभी से ये सारे शोकातुर हो रहे थे ॥१५॥

तथैव तं चिन्तयतां सिताश्वमस्त्रार्थिनं वासवमभ्युपेतम् ।
मासोऽथकृच्छ्रेणतदाव्यतीतस्तस्मिन्नगेभारतभारतानाम् ॥

हे भारत, उस श्वेत अश्व वाले, अस्त्र विद्या के लिए इन्द्र के पास गये हुए, अर्जुन को याद करते हुए, पाण्डवों का एक मास, उस पर्वत पर बड़े क्लेश से व्यतीत हुआ ॥१६॥

उषित्वा पञ्चवर्षाणि सहस्राक्षनिवेशने ।
अवाप्य दिव्यान्यस्त्राणि सर्वाणि विबुधेश्वरात् ॥१७॥
आग्नेयं वारुणं सौम्यं वायव्यमथ वैष्णवम् ।
ऐन्द्रं पाशुपतं ब्राह्मंच पारमेष्ठ्यंच प्रजापतेः ॥१८॥
यमस्य धातुः सवितुस्त्वष्टुर्वैश्रवणस्य च ।
तानि प्राप्य सहस्राक्षादभिवाद्य शतक्रतुम् ॥१९॥
अनुज्ञातस्तदा तेन कृत्वा चापि प्रदक्षिणम् ।
आगच्छदर्जुनः प्रीतः प्रहृष्टो गन्धमादनम् ॥२०॥

इति श्रीमहाभारत आरण्यपर्वणि यक्षयुद्धपर्वणि
महर्षिगणदर्शने चतुः षष्ट्यधिकशततमोऽध्यायः ॥१६४॥

अर्जुन भी, पांच वर्ष तक इन्द्र के भवन पर रहकर और देवेश्वर इन्द्र से आग्नेय, वारुण, सौम्य, वायव्य, वैष्णव, ऐन्द्र, पाशुपत, व्राह्मण, तथा प्रजापति के पारमेष्ठ्य आदि दिव्य अस्त्र, यम, धाता, सविता, त्वष्टा और कुबेर के अस्त्र पाकर एवं इन्द्र को प्रणाम करके उसकी आज्ञा से चल दिया। इसने इस समय इन्द्र की प्रदक्षिणा की। इसके अनन्तर वड़ा प्रसन्न अर्जुन, गन्ध-मादन-पर्वत पर आ पहुंचा ॥१७--२०,।

इति श्रीमहाभारत वनपर्वान्तर्गत यक्षयुद्धपर्व में महर्षि-गण के दर्शन का एक सौ चौसठवां अध्याय पूरा हुआ।

यहीं यक्ष- युद्ध पर्व भी समाप्त हो गया।

अथ निवातकवचयुद्धपर्व

एक सौ पैंसठवां अध्याय

वैशम्पायन उवाच—

ततः कदाचिद्धरिसंप्रयुक्तं महेन्द्रवाहं सहसोपयातम्।
विद्युत्प्रभं प्रेक्ष्य महारथानां हर्षोऽर्जुनं चिन्तयतां वभूव १

वैशम्पायन वोला—हे राजन्, इसके अनन्तर अश्वों से युक्त. इन्द्र का रथ,अचानक उस पर्वत पर आकर खड़ा हो गया, जो विजली के समान देदीप्यमान हो रहा था। अर्जुन की चिन्ता से व्याकुल, महारथी पाण्डव इस रथ को देखकर वड़े ही आनन्दित हुए ॥१॥

स दीप्यमानः सहसान्तरीक्षं प्रकाशयन् मातलिसंगृहीतः ।
बभौ महोल्केव घनान्तरस्था शिखेव चाग्नेर्ज्वलिता विधूमा॥२॥

इन्द्र के सारथि मातलि से चलाया हुआ, देदीप्यमान रथ, आकाश को प्रकाशित कर रहा था। यह मेघोंके वीच उल्का-पात तथा धूम रहित प्रज्वलित अग्नि सा चमक रहा था॥२॥

तमास्थितः संददृशे किरीटी स्रग्वी नवान्याभरणाणि बिभ्रत्
धनञ्जयो वज्रधरप्रभावः श्रिया ज्वलन् पर्वतमाजगाम॥३॥

इस में बैठा हुआ अर्जुन दिखाई पड़ा, जिसने मुकुट माला और नये वस्त्र धारण कर रखे थे। इन्द्र के समान प्रभावशाली अर्जुन, अपने तेजसे जाज्वल्यमान हुआ, उस पर्वत पर पहुंचा॥३

स शैलमासाद्य किरीटमाली महेन्द्रवाहादवरुह्य तस्मात् ।
धौम्यस्य पादावभिवाद्य धीमानजातशत्रोस्तदनन्तरञ्च ॥४

यह मुकुट-माला-धारी, अर्जुन उस पर्वत पर पहुंच कर इन्द्र के वाहन से उतर पड़ा। इस बुद्धिमान् अर्जुन ने प्रथम महर्षि धौम्य के चरणों की वन्दना की और पीछे राजा युधिष्ठिर के चरण छूए॥४॥

वृकोदरस्यापि च वन्द्य पादौ माद्रीसुताभ्यामभिवादितश्च ।
समेत्य कृष्णां परिसान्त्व्य चैनां प्रह्वोऽभवद्भ्रातुरुपह्वरे सः

इसके बाद भीमसेन के चरणों में प्रणाम किया। नकुल और सहदेव ने आकर अर्जुन की वन्दना की। अर्जुन द्रौपदी के पास गया और उसको शान्ति देकर अपने भाई राजा युधिष्ठिर के पास आकर नम्रता से खड़ा हो गया ॥५॥

बभूव तेषां परमप्रहर्षस्तेनाप्रमेयेण समागतानाम् ।
स चापि तान् प्रेक्ष्य किरीटमाली ननन्द राजानमभिप्रशंसन्

अपार, बल-धारी, अर्जुन के मिलने पर इन लोगों को बड़ा ही हर्ष हुआ। यह मुकुट-धारी अर्जुन भी, राजा युधिष्ठिर की कीर्ति गाता हुआ उनके दर्शन करके बड़ा सन्तुष्ट हुआ ॥६॥

यमास्थितः सप्त जघान पूगान् दितेः सुतानां नमुचेर्निहन्ता
तमिन्द्रवाहं समुपेत्य पार्थाः प्रदक्षिणश्चक्रुरदीनसत्वाः॥७॥

नमुचि दैत्य का मारने वाले, इन्द्र ने जिस रथ पर बैठ दैत्यों के सात झुंड मार डाले, उसी इन्द्र के रथ के पास पहुँच कर महाबली पाण्डवों ने उसकी प्रदक्षिणा की ॥७॥

ते मातलेश्चक्रुरतीव हृष्टा सत्कारमग्र्यं सुरराजतुल्यम् ।
सर्वान् यथावच्च दिवौकसस्ते पप्रच्छुरेनं कुरुराजपुत्राः॥८॥

अत्यन्त प्रसन्नता में भरे हुए, पाण्डवों ने मातलि सारथि का इन्द्र के तुल्य बड़ा ही सत्कार किया। कुरु-वंश-श्रेष्ठ पाण्डवों ने इस मातलि से क्रम बद्ध सारे देवों की कुशल पूछी ॥८॥

तानप्यसौ मातलिरभ्यनन्दत् पितेव पुत्राननुशिष्य पार्थान् ।
ययौ रथेनाप्रतिमप्रभेण पुनः सकाशं त्रिदिवेश्वरस्य ॥९॥

मातलि सारथि ने भी इनको उत्तर देकर सन्तुष्ट किया। यह पुत्र को पिता के सदृश पाण्डवों को शिक्षा देकर फिर उसी अद्वितीय रथ से इन्द्र के पास चला गया ॥९॥

गते तु तस्मिन्नरदेववर्य्यः शक्रात्मजः शक्ररिपुप्रमाथी ।
शक्रेणदत्तानिददौमहात्मा महाधनान्युत्तमरूपवन्ति॥१०॥
दिवाकराभाणिविभूषणानि प्रियः प्रियायै सुतसोममात्रे ।

इन्द्र के शत्रुओं के विजयी, इन्द्र-पुत्र, महात्मा, नर-श्रेष्ठ, अर्जुन ने, इस सारथि के चले जाने पर इन्द्र के अर्पण किये हुए बड़े रूप वाले, अमूल्य, सूर्य के तुल्य चमकते हुए आभूषण, अपनी प्रिया सुत-सोम की माता द्रौपदी को दिए ॥१०॥

ततः स तेषांकुरुपुङ्गवानां तेषाञ्चसूर्य्याग्निसमप्रभाणाम्॥११॥
विप्रर्षभाणामुपविश्य मध्ये सर्वं यथावत् कथयाम्बभूव
एवं मयास्त्राण्युपशिक्षितानि शक्राच्चवाताञ्चशिवाच्चसाक्षात्
तथैव शीलेनसमाधिनाथ प्रीताः सुरा मे सहिता सहेन्द्राः ।

इसके अनन्तर कुरु-वंश-श्रेष्ठ, पाण्डव और सूर्य तथा अग्नि के समान तेजस्वी ब्रह्मर्षियों के मध्य में बैठ कर अर्जुन ने स्वर्ग की सारी कथा सुनाई, कि मैंने इन्द्र, वायु और साक्षात् शंकर से इस प्रकार आत्म विद्या सीखी और मेरे शील तथा समाधि से इन्द्र के साथ सारे देवता इस प्रकार एक बार में ही प्रसन्न हो गए।

संक्षेपतो वै स विशुद्धकर्मा तेभ्यःसमाख्यायदिविप्रवासम् ।
माद्रीसुताभ्यांसहितःकिरीटी सुष्वापतामावसतिं प्रतीतः१३

इति श्रीमहाभारत आरण्यपर्वणि निवातकवचयुद्धपर्वणि
अर्जुनागमने पञ्चषष्ट्यधिकशततमोऽध्यायः

उत्तम कर्मों का करने वाले अर्जुन ने संक्षेप से स्वर्ग के वास की सारी कथा सुना दी। इसके पीछे नकुल और सहदेव के साथ, अर्जुन, उसी स्थान को पसन्द करके रात में वहीं सो गया ॥१३॥

इति श्रीमहाभारत वनपर्वान्तर्गत निवातकवचयुद्धपर्व में अर्जुन के आगमन का एक सौ पैंसठवां अध्याय पूरा हुआ।

एक सौ छियासठवां अध्याय

वैशम्पायन उवाच—

ततो रजन्यां व्युष्टायां धर्मराजं युधिष्ठिरम्।
भ्रातृभिः सहितः सर्वैरवन्दत धनञ्जयः ॥१॥।

वैशम्पायन बोले—हे जनमेजय! अब रात्रि के व्यतीत हो जाने पर सारे भाइयों के साथ अर्जुन ने धर्मराज युधिष्ठिर को प्रणाम किया ॥१॥

एतस्मिन्नेव काले तु सर्ववादित्रनिस्वनः।
बभूव तुमुलः शब्दस्त्वन्तरीक्षे दिवौकसाम् ॥२॥

इस समय, सारे बाजों का मिला हुआ, बड़ा भारी देवों के बाजों का शब्द, आकाश में होने लगा ॥२॥

रथनेमिस्वनश्चैव घण्टाशब्दश्च भारत।
पृथग्व्यालमृगाणाञ्च पक्षिणामिव सर्वशः॥३॥

हे भारत! रथ की नेमिका और घण्टाओं का शब्द, सिंह आदि जंगली जन्तु तथा पक्षियों का सा प्रतीत होता था ॥३॥

तं समन्तादनुययुर्गन्धर्वाप्सरसां गणाः ।
विमानैः सूर्य्यसंकाशैर्देवराजमरिन्दमम् ॥४॥

सूर्य के समान चमकते हुए विमानों में बैठे हुए, गन्धर्व और अप्सराओं के समूह, देवराज इन्द्र को चारों ओर से घेर कर चल रहे थे ॥४॥

ततः स हरिभिर्युक्तं जाम्बूनदपरिष्कृतम् ।
मेधनादिनमारुह्य श्रिया परमया ज्वलन् ॥५॥
पार्थानभ्याजगामाथ देवराजः पुरन्दरः ।
आगत्य च सहस्राक्षो रथादवरुरोह वै ॥६॥

इसके अनन्तर अश्वों से युक्त, सुवर्ण से जाज्वल्यमान, मेघ के तुल्य शब्द करने वाले, रथ पर चढ़ कर अत्यन्त--शोभा-धारी सहस्राक्ष देवराज, इन्द्र, पाण्डवों के पास आया और आकर रथ से उतर पड़ा ॥५----६॥

तं दृष्ट्वैव महात्मानं धर्मराजो युधिष्ठिरः ।
भ्रातृभिः सहितः श्रीमान् देवराजमुपागमत् ॥७॥

इस महात्मा इन्द्र को देखते ही सारे भाइयों के साथ, श्रीमान् युधिष्ठिर, देवराज के पास पहुंचे ॥७॥

पूजयामास वै चाथ विधिवद्भूरिदक्षिणः ।
यथार्हममितात्मानं विधिदृष्टेन कर्मणा ॥८॥

धर्मराज ने भी, विधि-पूर्वक बहुत सी भेटों के साथ, इस अमित-तेजस्वी, इन्द्र की पूजा की ॥८॥

धनञ्जयश्च तेजस्वी प्रणिपत्य पुरन्दरम् ।
भृत्यवत् प्रणतस्तस्थौ देवराजसमीपतः ॥९॥

तेजस्वी अर्जुन भी, इन्द्र को प्रणाम करके देवराज इन्द्र के पास सेवक की तरह खड़ा हो गया ॥ ९ ॥

आघ्राय तं महातेजाः कुन्तीपुत्रो युधिष्ठिरः ।
धनञ्जयमभिप्रेक्ष्य विनीतं स्थितमन्तिके ॥१०॥
जटिलं देवराजस्य तपोयुक्तमकल्मषम् ।
हर्षेण महताविष्टः फाल्गुनस्याथ दर्शनात् ॥११॥

महा-तेजस्वी कुन्ती-पुत्र युधिष्ठिर ने इन्द्र के पास नम्र भाव से खड़े हुए, तपस्वी,जटा-धारी, शुद्धाचरण धारण करने वाले, अर्जुन को देखा। इसको देखकर धर्मराज ने इसका मस्तक सूँघा। यह अर्जुन को इस विनीत भाव में देखकर बड़ा हर्षित हुआ ॥१०--११॥

बभूव परमप्रीतो देवराजञ्च पूजयन् ।
तं तथादीनमनसं राजानं हर्षसंप्लुतम् ॥१२॥
उवाच वचनं धीमान् देवराजः पुरन्दरः ।

धर्मराज, देवराज इन्द्र का सत्कार करके बड़ा सन्तुष्ट हो रहा था। इस प्रकार उदार-चित्त-वाले, प्रमुदित, राजा युधिष्ठिर को देखकर बुद्धिमान देवराज इन्द्र, यह वचन बोला ॥१२॥

त्वमिमां पृथिवीं राजन् प्रशासिष्यसि पाण्डव ।
स्वस्ति प्राप्नुहि कौन्तेय काम्यकं पुनराश्रमम् ॥१३॥

हे पाण्डु-पुत्र, धर्मराज ! तुम इस सारी पृथ्वी का शासन करोगे। अब तुमको कल्याण प्राप्त हो और तुम फिर वापिस ही काम्यक वन के आश्रम को लौट जाओ ॥१३॥

अस्त्राणि लब्धानि च पाण्डवेन सर्वाणि मत्तः प्रयतेनराजन्।
कृतप्रियश्चास्मिधनञ्जयेन जेतुंनशक्यस्त्रिभिरेष लोकैः॥१४॥

हे राजन् ! बड़ीं सावधानी से पाण्डु-पुत्र अर्जुन ने मुझसे सारे अस्त्र-शस्त्र सीख लिए हैं। मुझे अर्जुन ने बड़ा सन्तुष्ट किया है। इसको तीन लोक मिलकर भी नहीं जीत सकते हैं १४

एवमुक्त्वा सहस्राक्षः कुन्तीपुत्रं युधिष्ठिरम्।
जगाम त्रिदिवं हृष्टः स्तूयमानो महर्षिभिः॥१५॥

सहस्र नेत्र-धारी इन्द्र, कुन्ती-पुत्र राजा युधिष्ठिर से इतना कहकर, महर्षियों से प्रशंसित हुआ, अत्यन्त प्रसन्नता के साथ स्वर्ग को चला गया ॥१५॥

धनेश्वरगृहस्थानां पाण्डवानां समागमम्।
शक्रेण य इदं विद्वानधीयीत समाहितः॥१६॥
सम्वत्सरं ब्रह्मचारी नियतः संशितव्रतः।
स जीवेद्धि निराबाधं सुसखी शरदां शतम्॥१७॥

इति श्रीमहाभारत आरण्यपर्वणि निवातकवच
युद्धपर्वणि इन्द्रागमने षट्षष्ट्यधिक शततमोऽध्यायः

जो विद्वान कुवेर के घर पर हुए इन्द्र के साथ पाण्डवों के के समागम को सावधानी से पढ़ता है, तथा एक वर्ष तक व्रत-नियम-शील और ब्रह्मचारी रहता है, तो वह सुख-पूर्वक विना क्लेश के सौ वर्ष तक जीता रहता है ॥१७॥

इति श्रीमहाभारत वनपर्वान्तर्गत निवातकवचयुद्धपर्व में इन्द्र के आगगन का एक सौ छियासठवां अध्याय पूरा हुआ।

एक सौ सड़सठवाँ अध्याय

वैशम्पायन उवाच—

यथागतं गते शक्रे भ्रातृभिः सह सङ्गतः।
कृष्णया चैव बीभत्सुर्धर्मपुत्रमपूजयत् ॥१॥

वैशम्पायन बोले— हे जनमेजय, इन्द्र के जैसे आये वैसे ही चले जाने पर अपने भाई और द्रौपदी के साथ अर्जुन राजा युधिष्ठिर की सेवा करने लगा ॥१॥

अभिवादयमानं तं मूर्द्ध्न्युपाघ्राय पाण्डवम्।
हर्षगद्गदया वाचा प्रहृष्टोऽर्जुनमब्रवीत् ॥२॥

प्रणाम करते हुए अर्जुन के शिर को सूंघकर राजा युधिष्ठिर, वड़ी प्रसन्नता के साथ हर्ष से गद्गद वाणी द्वारा अर्जुन से बोले ॥२॥

कथमर्जुन कालोऽयं स्वर्गे व्यतिगतस्तव।
कथञ्चास्त्राण्यवाप्तानि देवराजश्च तोषितः॥ ३॥

हे अर्जुन ! यह तुम्हारा समय स्वर्ग में किस तरह व्यतीत हुआ। किस प्रकार तुमने अस्त्र पाए और कैसे देवराज इन्द्र सन्तुष्ट किया।

सम्यग्वा ते गृहीतानि कच्चिदस्त्राणि पाण्डव ।
कच्चित् सुराधिपः प्रीतो रुद्रो वास्त्राण्यदात्तव ॥४॥

हे पाण्डव ! क्या तूने अच्छी तरह सारे अस्त्र सीख लिए हैं। इन्द्र ने प्रसन्न होकर ये अस्त्र तुमको प्रदान किये हैं या रुद्र ने किए हैं ॥ ४ ॥

यथा दृष्टश्च ते शक्रो भगवान् वा पिनाकधृक् ।
यथैवास्त्राण्यवाप्तानि यथैवाराधितश्च ते ॥५॥

जैसे तुमने इन्द्र के दर्शन किए वा जिस तरह भगवान् शङ्कर को देखा, जैसे अस्त्र पाए और जैसे-जैसे ये प्रसन्न किए, यह सब कुछ सुनाओ ॥५॥

यथोक्तवांस्त्वां भगवाञ्छतक्रतुररिन्दम ।
कृतप्रियस्त्वयास्मीति तस्य ते किं प्रियं कृतम् ॥६॥

हे अरि-मर्दन ! भगवान् इन्द्र ने कहा था, कि अर्जुन ने मेरा बड़ा प्रिय कार्य किया है। अब तुम बताओ तुमने उनका क्या हित किया है ॥६॥

एतदिच्छाम्यहं श्रोतुं विस्तरेण महाद्युते ।
यथा तुष्टो महादेवो देवराजस्तथानघ ॥७॥
यच्चापि वज्रपाणेस्तु प्रियं कृतमरिन्दम ।
एतदाख्याहि मे सर्वमखिलेन धनञ्जय ॥८॥

हे महाद्युते ! जिस तरह महादेव या देवराज इन्द्र सन्तुष्ट हुआ, वह सब कुछ विस्तार से सुनना चाहता हूं । हे अरिन्दम ! अर्जुन ! जो कुछ तुमने वज्रधारी इन्द्र का प्रिय कार्य किया, वह भी तुम मुझको सम्पूर्ण सुनाओ ॥७---८॥

अर्जुन उवाच --

शृणु हन्त महाराज विधिना येन दृष्टवान् ।
शतक्रतुमहं देवं भगवन्तश्च शङ्करम् ॥६॥

अर्जुन ने कहा--हे महाराज! मैंने जिस विधि से इन्द्र और भगवान् शङ्कर के दर्शन किये, वह सब सुनाता हूं, तुम बड़े हर्ष के साथ सुनो ॥६॥

विद्यामधीत्य तां राजंस्त्वयोक्तामरिमर्दन ।
भवता च समादिष्टस्तपसे प्रस्थितो वनम् ॥१०॥

हे अरिमर्दन ! तुम्हारी सिखाई हुई विद्या को ग्रहण करके और तुम्हारी ही आज्ञा से मैं तप करने के लिए वन में चला गया ॥१०॥

भृगुंतुङ्गमथो गत्वा काम्यकादास्थितस्तपः ।
एक रात्रोषितः कश्चिद्पश्यं ब्राह्मणं पथि ॥११॥

मैं काम्यक वन से चलकर भृगु-तुङ्ग पर्वत पर पहुंचा और वहाँ तप करने लगा । मैं वहां एक ही रात ठहरा था, कि मैंने मार्ग में कोई एक ब्राह्मण देखा ॥११॥

स मामपृच्छत् कौन्तेय क्वासि गन्ता ब्रवीहि मे ।
तस्मा अवितथं सर्वमब्रुवं कुरुनन्दन ॥१२॥

उसने मुझसे कहा--हे कौन्तेय! तुम कहाँ जा रहे हो, मुझे बताओ। हे कुरुनन्दन ! मैंने उस ब्राह्मण को सब कुछ सच २ बता दिया ॥१२॥

स तथ्यं मम तच्छ्रुत्वा ब्राह्मणो राजसत्तमः ।
अपूजयत मां राजन् प्रीतिमांश्चाभवन्मयि ॥१३॥

हे राजसत्तम ! वह ब्राह्मण मेरे सत्य बचन सुनकर मुझ पर बड़ा प्रसन्न हुआ और मेरा आदर करने लगा ॥१३॥

ततो मामब्रवीत् प्रीतस्तप आतिष्ठ भारत ।
तपस्यन्नचिरेण त्वं द्रक्ष्यसे विबुधाधिपम् ॥१४॥

इसके अनन्तर उसने मुझ से कहा--हे भारत ! तुम तप करो यदि तुम तप का आरम्भ कर दोगे, तो थोड़े समय में ही देवराज इन्द्र के दर्शन कर सकोगे ॥१४॥

ततोऽहं वचनात्तस्य गिरिमारुह्य शैशिरम् ।
ततोऽतप्यं महाराज मासं मूलफलाशनः ॥१५॥

हे महाराज ! अब मैं उस ब्राह्मण के बचन से हिमालय पर्वत पर चढ़ गया और वहां कन्द, मूल फलों का भोजन करके एक महीने तक तप करता रहा ॥१५॥

द्वितीयश्चापि मे मासो जलं भक्षयतो गतः ।
निराहारस्तृतीयेऽथ मासे पाण्डवनन्दन ॥१६॥

हे पाण्डव--नन्दन ! मेरा दूसरा महीना भी जलपान में ही व्यतीत हुआ और मैंने तीसरे महीने में तो बिल्कुल ही आहार नहीं किया ॥१६॥

ऊद्र्ध्वबाहुश्चतुर्थन्तु मासमस्मि स्थितस्तदा ।
न च मे हीयते प्राणस्तदद्भुतमिवाभवत् ॥१७॥

चौथे महीने में ऊपर को भुजा उठाकर खड़ा २ तप करने लगा । इस समय भी मेरा बल क्षीण नहीं होता था—यह बड़ा ही आश्चर्य हुआ ॥१७॥

वैशम्पायन उवाच—

पञ्चमे त्वथ संप्राप्ते प्रथमे दिवसे गते ।
वराहसंस्थितं भूतं मत्समीपं समागमत् ॥१८॥

पांचवां महीने का आरम्भ हुआ और एक ही दिन गया था, उस समय वराह के आकार का कोई प्राणी मेरे पास आया ॥१८॥

निघ्नन् प्रोथेन पृथिवीं विलिखंश्चरणैरपि ।
संमार्जन् जठरेणोर्वीं विवर्त्तंश्च मुहुर्मुहुः ॥१९॥

यह अपने मुख के अग्रभाग से भूमि को खोद रहा था और चरणों से कुरेद रहा था । यह जन्तु, जब बार २ पृथिवी पर लेट लगाता था, तो अपने पेट से पृथिवी को बुहार सी देता था ॥

अनु तस्यापरं भूतं महत् कैरातसंस्थितम् ।
धनुर्बाणासिमत् प्राप्तं स्त्रीगणानुगतं तदा ॥२०॥

इसके पीछे बड़े भारी किरात का रूप धारण किये हुए, स्त्रियों के गण को साथ लिए हुए, धनुष, बाण और खड्ग धारी, एक अन्य प्राणी, दृष्टि गोचर हुआ ॥२०॥

ततोऽहं धनुरादाय तथाक्षय्ये महेषुधी ।
अताडयं शरेणाथ तद्भूतं लोमहर्षणम् ॥२१॥

मैंने धनुष और क्षीण नहीं होने वाले तूणीर को लेकर एक बाण से उस भयानक जन्तु को मारा ॥२१॥

युगपत्तं किरातस्तु विकृष्य बलवद्धनुः ।
अभ्याजघ्ने दृढतरं कम्पयन्निव मे मनः ॥२२॥

किरात ने भी इसी समय अपने विशाल धनुष को खैंच कर मेरे साथ २ बड़े ज़ोर से उसी जन्तु के बाण मारा, जिससे मेरा मन कांप सा गया ॥२२॥

स तु मामब्रवीद्राजन् मम पूर्वपरिग्रहः ।
मृगयाधर्ममुत्सृज्य किमर्थं ताडितस्त्वया ॥२३॥

हे राजन्! वह किरात, मुझसे बोला, कि यह जीव तो प्रथम मेरा लक्ष्य हो गया था, फिर तुमने इस पर क्यों बाण चलाया ॥

एष ते निशितैर्बाणैर्दर्पं हन्मि स्थिरो भव ।
स धनुष्मान् महाकायस्ततो मामभ्यभाषत ॥२४॥

इस धनुष-धारी, महाकाय किरात ने आक्रमण करके कहा- अब मैं इन तीक्ष्ण बाणों से तेरा घमण्ड चूर २ किये देता हूं, तू ज़रा ठहर जा ॥२४॥

ततो गिरिमिवात्यर्थमावृणोन्मां महाशरैः ।
तञ्चाहं शरवर्षेण महता समवाकिरम् ॥२५॥

इस किरात ने इतना कहकर अपने बड़े २ बाणों से पर्वत के सदृश, मुझे बाणों से ढ़क दिया। इसके पीछे मैंने भी उस किरात पर बड़ी भारी बाणों की झड़ी लगा दी ॥२५॥

ततः शरैर्दीप्तमुखैर्यन्त्रितैरनुमन्त्रितैः ।
प्रत्यविध्यमहं तन्तु वज्रैरिव शिलोच्चयम् ॥२६॥

हे राजन् ! मैंने तीक्ष्ण मुख वाले, ज़ोर से खैंचे हुए, अभिमन्त्रित बाणों से वज्रों से पर्वत के सदृश उस किरात को क्षत (जख़्मी) कर दिया ॥२६॥

तस्य तच्छतधा रूपमभवच्च सहस्रधा ।
तानि चास्य शरीराणि शरैरहमताड़यम् ॥२७॥

इस किरात के सैकड़ों हज़ारों रूप हो गए। इसके इन सारे शरीरों को मैं बाणों से बींधने लगा ॥२७॥

पुनस्तानि शरीराणि एकीभूतानि भारत ।
अदृश्यन्त महाराज तान्यहं व्यधमं पुनः ॥२८॥

हे भारत। अब इसके वे सारे शरीर इकट्ठे हुए दिखाई दिए, तो फिर मैंने बाणों से उन शरीरों को बींधना आरम्भ किया।

अणुर्बृहच्छिरां भूत्वा बृहच्चाणुशिराः पुनः ।
एकीभूतस्तदा राजन् सोऽभ्यवर्त्तत मां युधि ॥२६॥

हे राजन् ! यह किरात, कभी बड़ा मस्तक और छोटा शरीर, कभी छोटा मस्तक और बड़ा शरीर एवं कभी दोनों रूप धारण करके मुझसे युद्ध में भिड़ने लगा ॥२६॥

यदाभिभवितुं बाणैर्न च शक्नोमि तं रणे ।
ततो महास्त्रमातिष्ठं वायव्यं भरतर्षभ ॥३०॥

हे भरतर्षभ ! मैं जव युद्ध में बाणों से इस भील को पराजित नहीं कर सका,तो वायव्य नामक महास्त्र का प्रयोग किया।

न चैनमशकं हन्तुं तदद्भुतमिवाभवत् ।
तस्मिन् प्रतिहते चास्त्रे विस्मयो मे महानभूत् ।।३१।।

मैं यह वायव्यास्त्र भी उसके नहीं मार सका, यह एक अचम्भे की सी वात हुई । जव यह अस्त्र भी व्यर्थ हो गया, तो इसका मुझको वड़ा ही आश्चर्य हुआ ।।३१।।

भूय एव महाराज सविशेषमहन्ततः ।
अस्त्रपूगेन महता रणे भूतमवाकिरम् ।।३२।।

हे महाराज । अव मैंने विशेष-विधि से रण में अस्त्र-समूह द्वारा इस किरात को ढ़क देना चाहा ।।३३।।

स्थूणाकर्णमथो जालं शरवर्षमथोल्बणम् ।
शलभास्त्रमश्मवर्षं समास्थायाहमभ्ययाम् ।।३३।।

स्थूला-कर्ण, वारुणास्त्र, प्रवल शरवर्ण, शलभास्त्र, अश्मवर्ण आदि अस्त्रों को लेकर मैं उसकी ओर दौड़ा ।।३३।।

जग्रास प्रसभं तानि सर्वाण्यस्त्राणि मे नृप ।
तेषु सर्वेषु जग्धेषु ब्रह्मास्त्रमहमादिशं ।।३४।।

हे नृप । मेरे इन सारे अस्त्रों को वह किरात वड़े वेग से निगल गया । जव वे सारे अस्त्र दग्ध हो गए, तो मैंने ब्रह्मास्त्र उठाया ।।३४।।

ततः प्रज्वलितैर्बाणैः सर्वतः सोपचीयते ।
उपचीयमानश्च मया महास्त्रेण व्यवर्द्धत ॥३५॥

ब्रह्मास्त्र के छोड़ने पर बड़े-बड़े प्रज्वलित बाण निकले, जिनसे वह सब ओर से ढक गया। बाणों से बिंधे हुए ही किरात पर मैंने ब्रह्मास्त्र से आक्रमण किया ॥३५॥

ततः सन्तापिता लोका मत्प्रसूतेन तेजसा ।
क्षणेन हि दिशः खञ्च सर्वतो हि विदीपितम् ॥३६॥

इस मेरे उत्पन्न किये हुए, तेज से क्षण भर में सारे लोक, सारी दिशा और आकाश जल उठा ॥३६॥

तदप्यस्त्रं महातेजाः क्षणेनैव व्यशातयत् ।
ब्रह्मास्त्रे तु हते राजन् भयं मां महदाविशत् ॥३७॥

हे राजन्! इस महा-तेजस्वी किरात ने थोड़ी ही देर में ब्रह्मास्त्र को भी काट डाला। ब्रह्मास्त्र के रुकते ही मेरे चित्त पर बड़ा भारी भय सवार होगया ॥३७॥

ततोऽहं धनुरादाय तथाक्षय्ये महेषुधी ।
सहसाभ्यहनं भूतं तान्यप्यस्त्राण्यभक्षयत् ॥३८॥

अब मैंने धनुष और नहीं क्षीण होने वाले तूणीर लेकर बड़े वेग से उस भील पर आक्रमण किया, परन्तु इस भूत ने उन अस्त्रों को भी चाब डाला ॥३८॥

हतेष्वस्त्रेषु सर्वेषु भक्षितेष्वायुधेषु च ।
मम तस्य च भूतस्य बाहुयुद्धमवर्त्तत ॥३९॥

जब सारे अस्त्र रुक गए और शस्त्रों को उसने चाब डाला, तो मेरा और उस भूत का बाहु-युद्ध होने लगा ॥३९॥

व्यायामं मुष्टिभिः कृत्वा तलैरपि समागतैः ।
अपारयंश्च तद्भूतं निश्चेष्टमगमं महीम् ॥४०॥

मुट्ठी बाँधकर तथा चपेटों से भी युद्ध किया, परन्तु मैं उस किरात पर विजयी नहीं हो सका प्रत्युत मैं अचेत सा होकर भूतल पर गिर पड़ा ॥४०॥

ततः प्रहस्य तद्भूतं तत्रैवान्तरधीयत ।
सह स्त्रीभिर्महाराज पश्यतो मेऽद्भुतोपमम् ॥४१॥

हे महाराज ! इसके अनन्तर वह अद्भुत रूप-धारी भूत (भील) हँसकर वहीं मेरे देखते-देखते अपनी सारी स्त्रियों के साथ अलक्षित होगया ॥४१॥

एवं कृत्वा स भगवांस्ततोऽन्यद्रूपमास्थितः ।
दिव्यमेव महाराज वसानोऽद्भुतमम्बरम् ॥४२॥

हे महाराज ! इतना करके उस तेजस्वी प्राणी ने अन्य रूप धारण किया । इसने अब अद्भुत और दिव्य वस्त्र धारण किए ।

हित्वा किरातरूपञ्च भगवान् त्रिदशेश्वरः ।
स्वरूपं दिव्यमास्थाय तस्थौ तत्र महेश्वरः ॥४३॥

देवों के देव, भगवान् शङ्कर, किरात का रूप छोड़कर और दिव्य स्वरूप धारण करके मेरे सम्मुख खड़े होगए ॥४३॥

अदृश्यत ततः साक्षाद्भगवान् गोवृषध्वजः ।
उमासहायो व्यालधृग्बहुरूपः पिनाकधृक् ॥४४॥

इसके अनन्तर उत्तम बृष पर चढ़ने वाले, पार्वती के साथी सर्प पहने हुए, पिनाक धनुष के धारण करने वाले, अनेक रूप-धारी, साक्षात् भगवान् शङ्कर ने दर्शन दिए ॥४४॥

स मामभ्येत्य समरे तथैवाभिमुखं स्थितम् ।
शूलपाणिरथोवाच तुष्टोऽस्मीति परन्तप ॥४५॥

युद्ध के लिए उसी तरह सम्मुख खड़े हुए, मेरे पास आकर शूलपाणि शङ्कर मुझसे कहने लगे—हे परन्तप ! मैं तुझ पर प्रसन्न होगया हूँ ॥४५॥

ततस्तद्धनुरादाय तूणौ चाक्षय्यसायकौ ।
प्रादान्ममैव भगवान् धारयस्वेति चाब्रवीत् ॥४६॥

इसके बाद भगवान् शङ्कर ने धनुष और बाण, क्षीण नहीं होने वाले दो तरकस मुझे दिए और कहा—तुम इसको धारण करो ॥ ४६ ॥

तुष्टोऽस्मि तव कौन्तेय ब्रूहि किं करवाणि ते ।
मनोगतं वीर यत्ते तद्ब्रूहि वितराम्यहम् ॥४७॥

हे अर्जुन, मैं तुझ पर प्रसन्न होगया हूँ, अब तू कह, मैं तेरा क्या कार्य सम्पादन करूँ । हे वीर ! जो तेरा मनोरथ हो, वह कह दे, मैं वही दे सकता हूँ ॥ ४७ ॥

अमरत्वमपाहाय ब्रूहि यत्ते मनोगतम् ।
ततः प्राञ्जलिरेवाहमस्त्रेषु गतमानसः ॥४८॥
प्रणम्य मनसा शर्वं ततो वचनमाददे
भगवन्मे प्रसन्नश्चेदीप्सितोऽयं वरो मम ॥४९॥

अस्त्राणीच्छाम्यहं ज्ञातुं यानि देवेषु कानिचित् ।
ददानीत्येवं भगवानब्रवीत्त्र्यम्बकश्च माम् ।।५०।।

तू देव-पदवी को छोड़कर कुछ ही अपने मन की अभिलाषा को माँग ले। मैंने भी हाथ जोड़ लिए। मैं तो अस्त्र लेना चाहता था, इसलिए अन्तःकरण से शिव को प्रणाम करके कहने लगा। हे भगवन् ! यदि आप प्रसन्न हैं, तो मेरा यही वर अभीष्ट है, कि मैं कुछ अस्त्र ग्रहण करना चाहता हूँ। भगवान् शङ्कर ने कहा—अच्छा ? तुमको अस्त्र दे दिए जावेंगे।।४८--५०।।

रौद्रमस्त्रं मदीयं त्वामुपस्थास्यति पाण्डव ।
प्रददौ च मम प्रीतः सोऽस्त्रं पाशुपतं महत् ।।५१।।

हे पाण्डव ! मेरा बड़ा भीषण अस्त्र तुझे प्राप्त हो जावेगा, इतना कहकर भगवान् शङ्कर ने प्रेम-पूर्वक मुझे पाशुपतास्त्र प्रदान कर दिया ।। ५१ ।।

उवाच च महादेवो दत्त्वा मेऽस्त्रं सनातनम् ।
न प्रयोज्यं भवेदेतन्मानुषेषु कथञ्चन ।।५२।।

इस सनातन अस्त्र को देकर भगवान् ने मुझसे कहा--इसको तू अधिकतर मनुष्यों में प्रयुक्त न करना ।।५२।।

जगद्विनिर्दहेदेवमल्पतेजसि पातितम् ।
पीड्यमानेन वलवत् प्रयोज्यं स्याद्धनञ्जय ।।५३।।

यदि अल्प तेज वाले पर इस अस्त्र को छोड़ देगा, तो जगत् को जला डालेगा। हे अर्जुन ! यदि तुम वहुत पीड़ा में फँस जाओ, तो इस वलवान् अस्त्र का प्रयोग कर सकते हो ।।५३।।

अस्त्राणां प्रतिघाते च सर्वथैव प्रयोजयेत् ।
तदप्रतिहतं दिव्यं सर्वास्त्रप्रतिषेधनम् ॥५४॥

जब तेरे अन्य अस्त्रों का प्रतिघात हो जावे, तो उस समय इसका प्रयोग अवश्य करना चाहिए। यह कहीं नहीं रुकनेवाला, सारे अस्त्रों का रोक देनेवाला दिव्य अस्त्र है ॥५४॥

मूर्त्तिमन्मे स्थितं पार्श्वे प्रसन्ने गोवृषध्वजे ।
उत्सादनममित्राणां परसेनानि कर्त्तनम् ॥५५॥
दुरासदं दुष्प्रसहं सुरदानवराक्षसैः ।
अनुज्ञातस्त्वहं तेन तत्रैव समुपाविशम् ।
प्रेक्षतश्चैव मे देवस्तत्रैवान्तरधीयत ॥५६॥

इति श्रीमहाभारत आरण्यपर्वणि निवातकवचयुद्धपर्वणि अर्जुनयुधिष्ठिरसंवादे सप्तषष्ट्यधिकशततमोऽध्यायः॥

जब वृषभध्वज भगवान् शङ्कर प्रसन्न हो गए-तो यह दिव्य अस्त्र भी मूर्ति धारण कर के मेरे पास आकर खड़ा हो गया। यह अस्त्र शत्रुनाशक और शत्रु की सेना को काट देनेवाला है। यह सारे देव, दानव और राक्षसों से भी नहीं सहा जा सकता है और न कोई इसे प्राप्त ही कर सकता है। भगवान् शङ्कर की आज्ञा से मैं वहीं बैठ गया। मेरे देखते २ देवों के देव भगवान् शङ्कर अलक्षित हो गए ॥५५-५६॥

इति श्रीमहाभारत वनपर्वान्तर्गत निवातकवचयुद्ध
पर्व में अर्जुन युधिष्ठिर के सम्वाद का एकसौ
सड़सठवां अध्याय समाप्त हुआ ।

एक सौ अड़सठवां अध्याय

अर्जुन उवाच —

ततस्तामवसं प्रीतो रजनीं तत्र भारत।
प्रसादाद्देवदेवस्य त्र्यम्बकस्य महात्मनः ॥१॥

अर्जुन ने कहा—हे भारत! मैं उस रात वहां देवों के देव, महात्मा भगवान् शङ्कर के अनुग्रह से बड़े सुख से रहा ॥१॥

व्युषितो रजनीश्चाहं कृत्वा पौर्वाह्णिकीः क्रियाः।
अपश्यन्तं द्विजश्रेष्ठं दृष्टवानस्मि यं पुरा ॥२॥

जब रात व्यतीत हो गई, तो मैं उठा और प्रातःकाल की क्रिया सन्ध्या वन्दन आदि किए। इसके बाद मैंने उसी ब्राह्मण को देखा, जो पहले देखा था ॥२॥

तस्मै चाहं यथावृत्तं सर्वमेव न्यवेदयम्।
भगवन्तं महादेवं समेतोऽस्मीति भारत ॥३॥

हे भारत! उस ब्राह्मण को मैंने यह सारी घटना सुना दी, कि जिस प्रकार भगवान् महादेव से साक्षात्कार हुआ था ॥३॥

स मामुवाच राजेन्द्र प्रीयमानो द्विजोत्तमः।
दृष्टस्त्वया महादेवो यथा नान्येन केनचित् ॥४॥

हे राजेन्द्र! वह द्विजोत्तम बड़ा प्रसन्न हुआ और बोला—कि तूने ही शङ्कर के दर्शन किये हैं, नहीं तो आज तक कोई उनके दर्शन नहीं कर सका ॥४॥

समेत्य लोकपालैस्तु सर्वैर्वैवस्वतादिभिः।
द्रष्टास्यनघ देवेन्द्रं स च तेऽस्त्राणि दास्यति ॥५॥

अब तुम सारे यम आदि लोकपालों से मिलो। इसके अनन्तर इन्द्र से मिलना-वह तुमको सारे अस्त्र प्रदान कर देगा

एवमुक्त्वा स मां राजन्नाश्लिष्य च पुनः पुनः।
अगच्छत् स यथाकामं ब्राह्मणः सूर्य्यसन्निभः ॥६॥

हे राजन्! सूर्य के तुल्य तेजस्वी, ब्राह्मण, इतना कहकर और बार २ मुझ से आलिङ्गन करके अपनी इच्छानुसार कहीं चला गया ॥६॥

अथापराह्णे तस्याह्नः प्रावात् पुण्यः समीरणः
पुनर्नवमिमं लोकं कुर्वन्नपि सपत्नहन् ॥७॥

हे शत्रु नाशक! इसी दिन के तीसरे पहर बड़ा उत्तम वायु इस लोक को नवीन सा करता हुआ चलने लगा ॥७॥

दिव्यानि चैव माल्यानि सुगन्धीनि नवानि च।
शैशिरस्य गिरेः पादे प्रादुरासन् समीपतः ॥८॥

अब इस शीतल पर्वत (हिमालय) के प्रदेशों में चारों ओर, नई २ सुगन्ध के धारी पुष्पों के गुच्छे प्रादुर्भूत हो गए ॥८॥

वादित्राणि च दिव्यानि सुघोषाणि समन्ततः।
स्तुतयश्चेन्द्रसंयुक्ता अश्रूयन्त मनोहराः ॥६॥

इस पर्वत पर बड़े २ सुन्दर शब्द करने वाले, दिव्य बाजे सब ओर बजने लगे और बड़ी मनोहर इन्द्र की प्रशंसा सुनी जाने लगी ॥६॥

गणाश्चाप्सरसां तत्र गन्धर्वाणां तथैव च ।
पुरस्ताद्देवदेवस्य जगुर्गीतानि सर्वशः ॥१०॥

अप्सरा और गन्धर्वों के गण, देवराज इन्द्र के सामने सुन्दर २ गीत गाने लगे ॥१०॥

मरुतश्च गणास्तत्र देवयानैरुपागमन् ।
महेन्द्रानुचरा ये च ये च सद्मनिवासिनः ॥११॥

जो इन्द्र के अनुचर और घर में रहनेवाले, देवों के गण थे, वे भीं देवयान से वहीं पर चले आए ॥११॥

ततो मरुत्वान् हरिभिर्युक्तैर्वाहैः स्वलंकृतैः ।
शचीसहायस्तत्रायात् सह सर्वैस्तदामरैः॥ १२॥

उत्तम घोड़ों से युक्त, अच्छी तरह सजाये हुए रथों पर सवार होकर इन्द्राणी और सारे देवों के साथ इन्द्र भी वहां पधारे॥१२॥

एतस्मिन्नेव काले तु कुबेरो नरवाहनः ।
दर्शयामास मां राजँल्लक्ष्म्या परमया युतः ॥१३॥

हे राजन् इसी समय नरों की सवारी में चलनेवाले कुबेर मुझे दिखाई पड़े, जो अत्यन्त ऐश्वर्य से देदीप्यमान थे ॥१३॥

दक्षिणस्यां दिशि यमं प्रत्यपश्यं व्यवस्थितम् ।
वरुणं देवराजञ्च यथास्थानमवस्थितम् ॥१४॥

दक्षिण दिशा में यम और अपने स्थान पश्चिम दिशा में बैठे हुए देवराज वरुण को देखा ॥१४॥

ते मामूचुर्महाराज सान्त्वयित्वा नरर्षभ ।
सव्यसाचिन्निरीक्षस्माल्लोकपालानवस्थितान् ॥१५॥

हे महाराज, मुझे धैर्य बंधाकर वे मुझ से कहने लगे—हे अर्जुन, तू सावधानी से देख, हम सारे लोकपाल, तेरे सम्मुख खड़े हैं ॥१५॥

सुरकार्य्यार्थसिद्ध्यर्थं दृष्टवानसि शङ्करम् ।
अस्मत्तोऽपि गृहाण त्वमस्त्राणीति समन्ततः ॥१६॥

देवों के कार्य सिद्ध करने के लिए ही तुमने भगवान् शङ्कर के दर्शन किए हैं। अब तुम हम सब से भी अस्त्र ग्रहण कर लो ॥१६॥

ततोऽहं प्रयतो भूत्वा प्रणिपत्य सुरर्षभान् ।
प्रत्यगृह्णं तदास्त्राणि महान्ति विधिवद्विभो ॥१७॥

हे राजन्! अब मैं देवों को प्रणाम करके सावधानी से स्थित हो गया। इसके बाद मैंने सारे उनके महान् अस्त्र विधि-पूर्वक ग्रहण कर लिए ॥१७॥

गृहीतास्त्रस्ततो देवैरनुज्ञातोऽस्मि भारत ।
अथ देवा ययुः सर्वे यथागतमरिन्दम ॥१८॥
मघवानपि देवेशो रथमारुह्य सुप्रभम् ।
उवाच भगवान् स्वर्गं गन्तव्यं फाल्गुन त्वया ॥१६

हे भारत! मैं जब सारे अस्त्र ग्रहण कर चुका, तो देवों ने मुझे इजाजत दे दी और देवता भी जिस २ स्थान से आये थे, वहीं

चले गए। इन्द्र भी चमकीले रथ पर सवार होकर चल दिया और बोला—हे अर्जुन, तुम स्वर्ग में आना ॥१८-१९॥

पुरैवागमनादस्माद्वेदाहं त्वां धनञ्जय ।
अतः परं त्वहं वै त्वां दर्शये भरतर्षभ ॥२०॥

हे भरतर्षभ ! अर्जुन, तुम्हारे इस आने से पूर्व ही हम तुमको जानते हैं। इसके आगे अब हम तुमको कुछ बातें दिखावेंगे।

त्वया हि तीर्थेषु पुरा समाप्लावः कृतोऽसकृत् ।
तपश्चेदं महत्तप्तं स्वर्गं गन्तासि पाण्डव ॥२१॥

हे पाण्डव ! पूर्व काल में तूने कई बार तीर्थों में स्नान किए हैं और यह बड़ा भारी तप कर लिया है, इससे तू स्वर्ग में आ सकेगा ॥२१॥

भूयश्चैव च तप्तव्यं तपश्चरणमुत्तमम् ।
स्वर्गं त्ववश्यं गन्तव्यं त्वया शत्रुनिसूदन ॥२२॥

हे शत्रु-नाशक ! अब तुम एक बार और उत्तम तप कर लो इसके बाद तुम स्वर्ग में अवश्य आना ॥२२॥

मातलिर्मन्नियोगात्त्वां त्रिदिवं प्रापयिष्यति ।
विदितस्त्वं हि देवानां मुनीनाञ्च महात्मनाम् ॥२३॥

मेरी आज्ञा से मातलि सारथि, तुमको स्वर्ग में ले आवेगा। तुमको सारे महात्मा मुनि और देवता जान चुके हैं ॥२३॥

ततोऽहमब्रुवं शक्रं प्रसीद भगवन्मम ।
आचार्य्यं वरयेयं त्वामस्त्रार्थं त्रिदशेश्वर ॥२४॥

तब मैंने इन्द्र से कहा—हे भगवन् ! आप मुझ पर अनुग्रह करें। हे देवराज ! मैं अस्त्र ग्रहण करने के लिए तुमको आचार्य बनाना चाहता हूं ।।२४।।

इन्द्र उवाच—

क्रूरकर्मास्त्रवित्तात भविष्यसि परन्तप ।
यदर्थमस्त्राणीप्सुस्त्वं तं कामं पाण्डवाप्नुहि ।।२५।।

इन्द्र ने कहा—हे परन्तप ! तात, पाण्डव, तुझे अस्त्र विद्या सिखादी जावेगीं, तो उससे तू बड़े २ क्रूर कार्य कर डालेगा। जिस प्रयोजन से तू अस्त्र ग्रहण करना चाहता है, वह तेरा प्रयोजन स्वयं ही सिद्ध हो जावेगा ।।२५।।

यतोऽहमत्र् वन्नाहं दिव्यान्यस्त्राणि शत्रुहन् ।
मानुषेषु प्रयोच्यामि विनास्त्रप्रतिघातनात् ।।२६।।

मैंने इन्द्र से कहा—हे शत्रुनाशक ! मैं इन दिव्य अस्त्रों का प्रयोग मनुष्यों में नहीं करूंगा। हाँ ? अन्य के अस्त्र के प्रयोग के विरुद्ध ही इनका प्रयोग करूंगा ।।२६।।

तानि दिव्यानि मेऽस्त्राणि प्रयच्छ विबुधाधिप ।
लोकांश्चास्त्रजितान् पश्चाल्लभेयं सुरपुङ्गव ।।२७।।

हे देवराज ! इन्द्र ! तुम मुझे उन दिव्य अस्त्रों को अर्पण करो, जिन से मैं अस्त्रों से जीते जाने वाले लोकों को प्राप्त कर सकूं ।।२७।।

इन्द्र उवाच—

परीक्षार्थं मयैतत्ते वाक्यमुक्तं धनञ्जय ।
ममात्मजस्य वचनं सूपपन्नमिदं तव ।।२८।।

२२

इन्द्र बोले—हे अर्जुन ! मैंने तेरी परीक्षा लेने के लिए ही ऐसा कहा था । तू मेरा पुत्र है, तुझे ऐसा ही कहना चाहिए ॥२८॥

शिक्ष मे भवनं गत्वा सर्वाण्यस्त्राणि भारत ।
वायोरग्नेर्वसुभ्योऽपि वरुणात् समरुद्गणात् ॥२९॥

हे भारत ! तुम हमारे भवन पर आकर वायु, अग्नि, वसु, वरुण, मरुद्गण आदि देवों से सारे अस्त्रों को सीख लेना ॥२९॥

साध्यं पैतामहञ्चैव गन्धर्वोरगरक्षसाम् ।
वैष्णवानि च सर्वाणि नैर्ऋतानि तथैव च ॥३०॥
मद्गतानि च जानीहि सर्वास्त्राणि कुरूद्वह ।
एवमुक्त्वा तु मां शक्रस्तथैवान्तरधीयत ॥३१॥

हे कुरूद्वह ! तू साध्यास्त्र, ब्रह्मास्त्र, गन्धर्व उरग और राक्षसों के अस्त्र, वैष्णव और नैऋतास्त्र आदि सारे अस्त्र ग्रहण कर लेना और जिन अस्त्रों को मैं जानता हूं, उनको भी सीख लेना । हे राजन् ! इतना कहकर इन्द्र, वहीं अलक्षित हो गया ॥३०-३१॥

अथापश्यं हरियुजं रथमैन्द्रमुपास्थितम् ।
दिव्यं मायामयं पुण्यं यत्तं मातलिना नृप ॥३२॥

हे नृप, इसके बाद मैंने उत्तम अश्वों से युक्त, दिव्य, अत्यद्भुत, मातलि सारथि से जोते हुए, पवित्र, इन्द्र के रथ को खड़ा हुआ देखा ॥३२॥

लोकपालेषु यातेषु मामुवाचाथ मातलिः ।
द्रष्टुमिच्छति शक्रस्त्वां देवराजो महाद्युते ॥३३॥

जब सारे लोकपाल चले गये, तब मुझ से मातलि ने कहा—हे महाद्युते ! तुमको इन्द्र बुला रहे हैं ॥३३॥

संसिध्यस्व महाबाहो कुरु कार्य्यमनन्तरम् ।
पश्य पुण्यकृतांल्लोकान् सशरीरो दिवं व्रज ॥३४॥

हे महाबाहो ! अब तुम तय्यार हो जाओ और जो कुछ काम करना है, कर लो । अब तुम पुण्यात्माओं के गमन करने योग्य लोकों की सैर करो और सदेह स्वर्ग को पधारो ॥३४॥

देवराजः सहस्राक्षस्त्वां दिदृक्षति भारत ।
इत्युक्तोऽहं मातलिना गिरिमामन्त्र्य शैशिरम् ॥३५
प्रदक्षिणमुपावृत्य समारोहं रथोत्तमम् ।
चोदयामास स हयान् मनोमारुतरंहसः॥३६॥

हे भारत ! देवराज इन्द्र, तुम्हें देखना चाहते हैं, मातलि सारथि के इतना कहने पर मैंने हिमालय पर्वत से विदा ली और प्रदक्षिणा करके उस श्रेष्ठ रथ पर चढ़ गया । इस सारथि ने भी मन और वायु के समान वेग से चलने वाले अश्वों को तेजी से चलाया ॥३५--३६॥

मातलिर्हयतत्त्वज्ञो यथावद्भूरिदक्षिणः ।
अवैक्षत च मे वक्त्रं स्थितस्याथ स सारथिः ॥३७

अश्वों के मर्म का जानने वाला, ऐश्वर्य-शाली, मातलि सारथि ने रथ में बैठे हुए मेरे मुख की ओर देखा ॥ ३७ ॥

तथा भ्रान्ते रथे राजन् विस्मितश्चेदमब्रवीत् ।
अत्यद्भुतमिदं त्वद्य विचित्रम्प्रतिभाति मे ॥३८॥

हे राजन्! जब रथ घूम रहा था, तब वह चकित होकर कहने लगा—यह तो बड़ी अद्भुत बात है और मुझे बड़ी ही विचित्र प्रतीत होती है॥ ३८॥

यदास्थितो रथं दिव्यं पदान्न चलितः पदम्।
देवराजोऽपि हि मया नित्यमत्रोपलक्षितः ॥३९॥
विचलन् प्रथमोत्पाते हयानां भरतर्षभ।
त्वं पुनः स्थित एवात्र रथे भ्रान्ते कुरूद्वह ॥४०॥
अतिशक्रमिदं सर्वं तवेति प्रतिभाति मे।

हे भरतर्षभ! तुम जब से इस दिव्य रथ में बैठे हो, एक पद भी इधर-उधर नहीं हुए हो। मैंने तो नित्य देवराज इन्द्र को भी देखा है, कि अश्वों के प्रथम बार चलते ही इधर-उधर डगमगाने लगते हैं। हे कुरूद्वह, परन्तु तुम इस रथ के चक्कर लगाने पर भी बड़ी दृढ़ता से एक ही स्थान पर बैठे हो, मुझे तो तुम में यह इन्द्र से भी अधिक गुण दिखाई दिया॥३९--४०॥

इत्युक्त्वाकाशमाविश्य मातलिर्विबुधालयान् ॥४१॥
दर्शयामास मे राजन् विमानानि च भारत।

हे राजन्, इतना कहकर मातलि आकाश में देवों के भवनों में पहुँच गया। हे भारत! अब उसने मुझे उत्तम-उत्तम विमान (देवों के स्थान) दिखाए॥४१॥

स रथो हरिभिर्युक्तो ह्यूर्ध्वमाचक्रमे ततः ॥४२॥
ऋषयो देवताश्चैव पूजयन्ति नरोत्तम।

इतने समय में ही उत्तम अश्वों से युक्त, वह रथ, ऊपर निकल गया। हे नरोत्तम, वहाँ ऋषि और देवों ने मेरा वड़ा आदर किया।। ४२ ।।

ततः कामगमांल्लोकानपश्यं वै सुरर्षिणाम् ।।४३।।
गन्धर्वाप्सरसाश्चैव प्रभावममितौजसाम् ।
नन्दनादीनि देवानां वनान्युपवनानि च ।।४४।।
दर्शयामास मे शीघ्रं मातलिः शक्रसारथिः ।

इसके अनन्तर देवों की इच्छानुसार विहार करने योग्य, लोक और अति तेजस्वी गन्धर्व तथा अप्सराओं का प्रभाव देखा। इन्द्र के सारथि मातलि ने नन्दन आदिक देवों के वन उपवनों को शीघ्र ही दिखा दिया ।।४३-४४।।

ततः शक्रस्य भवनमपश्यममरावतीम् ।।४५।।
दिव्यैः कामफलैर्वृक्षैरत्नैश्च समलंकृताम् ।

अब इन्द्र के भवन और अमरावती दिखाई देने लगी, जो दिव्य, कामना के अनुसार फल देने वाले वृक्ष और रत्नों से अलंकृत थी ।।४५।।

न तत्र सूर्य्यस्तपति न शीतोष्णे न च क्लमः ।।४६।।
न वाधते तत्र रजस्तत्रास्ति न जरा नृप ।

वहां सूर्य की तेजी या गर्मी सर्दी की वाधा नहीं थी और वहां न रजोगुण ही क्लेशित करता था और न वुढ़ापा ही आता था ४६

न तत्र शोको दैन्यं वा दौर्बल्यञ्चोपलक्ष्यते ।।४७।।
दिवौकसां महाराज न ग्लानिररिमर्दन ।

हे अरि-मर्दन, वहां देवों को किसी प्रकार का दैन्य, शोक, दुर्बलता और ग्लानि नहीं होती थी ॥४७॥

न क्रोधलोभौ तत्रास्तां सुरादीनां विशाम्पते ॥ ४८॥
नित्यं तुष्टाश्च ते राजन् प्राणिनः सुरवेश्मनि ।

हे विशाम्पते, देवों को उस स्थान में किसी प्रकार का क्रोध लोभ भी नहीं था। इस स्वर्ग-लोक में प्राणी सदा सन्तुष्ट रहते थे ॥४८॥

नित्यपुष्पफलास्तत्र पादपा हरितच्छदाः ॥४९॥
पुष्करिण्यश्च विविधाः पद्मसौगन्धिकायुताः ।

यहां पर पुष्प फलों से लदे हुए, हरे २ पत्तों के वृक्ष थे और कमलों के पुष्पों से सुगन्धित अनेक छोटी २ पुष्करिणी (तलाई) थी ॥४९॥

शीतस्तत्र ववौ वायुः सुगन्धी जीवनः शुचिः ॥५०॥
सर्वरत्नविचित्रा च भूमिः पुष्पविभूषिता ।

इस स्थान पर जीवन देने वाला, पवित्र, सुगन्धित शीतल वायु चलता रहता था। यहां की भूमि सब प्रकार के रत्नों से विचित्र और पुष्पों से विभूषित थी ॥५०॥

मृगद्विजाश्च बहवो रुचिरा मधुरस्वराः ॥५१॥
विमानगामिनश्चात्र दृश्यन्ते बहवोऽम्बरे ।

बहुत भांति के मृग और पक्षी, यहां सुन्दर और मीठे स्वर में चहचहा रहे थे और आकाश में बहुत से विमान से घूमने वाले देवता दृष्टि में आते थे ॥५१॥

ततोऽपश्यं वसून् रुद्रान् साध्यांश्च समरुद्गणान्॥५२॥
आदित्यानश्विनौ चैव तान् सर्वान् प्रत्यपूजयम् ।

वहां मैंने वसु, रुद्र, साध्य, मरुद्गण, आदित्य, आश्विन, आदि देवों को देखा । उन सबको देखकर मैंने उनको प्रणाम किया

ते मां वीर्य्येण यशसा तेजसा च वलेन च ॥५३॥
अस्त्रैश्चाप्यन्वजानन्त संग्रामे विजयेन च ।

उन्होंने मुझे पराक्रमी, यशस्वी, तेजस्वी, वलवान्, अस्त्रज्ञ और संग्राम में विजयी होने का आशीर्वाद दिया ॥५३॥

प्रविश्य तां पुरीं दिव्यां देवगन्धर्वपूजिताम् ॥५४॥
देवराजं सहस्राक्षमुपातिष्ठं कृताञ्जलिः ।

इसके अनन्तर मैं देव गन्धर्वों से सुशोभित उस अमरावती पुरी में घुसा और हाथ जोड़ कर देवराज इन्द्र के सम्मुख पहुंचा ।

ददावर्द्धासनं प्रीतः शक्रो मे ददताम्वरः ॥५५॥
वहुमानाच्च गात्राणि पस्पर्श मम वासवः ।

आदर करने में कुशल इन्द्र ने, प्रीति-पूर्वक मुझे अपने आधे सिंहासन पर वैठाया और वड़े मान के साथ मेरे शरीर पर हाथ फेरा ॥५५॥

तत्राहं देवगन्धर्वैः सहितो भूरिदक्षिणैः ॥५६॥
अस्त्रार्थमवसं स्वर्गे शिक्षाणोऽस्त्राणि भारत ।

हे भारत ! मैं ऐश्वर्य शाली, देव. गन्धर्वों के साथ अस्त्र विद्या ग्रहण करने के लिए अस्त्रों का अभ्यास करता हुआ, स्वर्ग में रहने लगा ॥५६॥

विश्वावसोश्च वै पुत्रश्चित्रसेनोऽभवत् सखा ॥५७॥
स च गान्धर्वमखिलं ग्राहयामास मां नृप ।

हे नृप ! विश्वावसु, गन्धर्व का पुत्र चित्रसेन, मेरा मित्र होगया। उसने मुझे सारी विद्या सिखवा दी ॥५७॥

तत्राहमवसं राजन् गृहीतास्त्रः सुपुजितः ॥५८॥
सुखं शक्रस्य भवने सर्वकामसमन्वितः ।

हे राजन् ! मैं इन्द्र के भवन पर सारे मनोरथ को पाकर बड़े सत्कार से रह रहा था । अब तक मैंने सारे अस्त्र ग्रहण कर लिए थे ॥५८॥

शृण्वन् वै गीतशब्दश्च तूर्य्यशब्दश्च पुष्कलम्॥५९॥
पश्यंश्चाप्सरसः श्रेष्ठा नृत्यन्तीर्भरतर्षभ ।

हे भरतर्षभ ! जी और तूर्य वाद्य के पुष्कल शब्द सुनता हुआ और अनेक अप्सराओं के नाच देखता हुआ, मैं सुख से दिन व्यतीत कर रहा था ॥५९॥

तत् सर्वमनवज्ञाय तथ्यं विज्ञाय भारत ॥६०॥
अत्यर्थं प्रतिगृह्याहमस्त्रेष्वेव व्यवस्थितः ।

हे भारत ! इन सब को आदर-पूर्वक और पुरुषार्थ समझकर मैंने ग्रहण कर लिया, परन्तु दृढ़ता के साथ तो मैं अस्त्र ग्रहण करने में ही लगा रहा-नाचने गाने में अधिक आसक्त नहीं हुआ ॥६०॥

ततोऽतुष्यत् सहस्राक्षस्तेन कामेन मे विभुः ॥६१॥
एवं मे वसतो राजन्नेष कालोऽत्यगाद्दिवि ।

मेरे इस व्यवहार से देवराज इन्द्र बड़ा सन्तुष्ट हुआ। हे राजन्! स्वर्ग में इस प्रकार निवास करते हुए मेरा समय व्यतीत हुआ ॥६१॥

कृतास्त्रमतिविश्वस्तमथ मां हरिवाहनः ॥६२॥
संस्पृश्य मूर्द्धि्न पाणिभ्यामिदं वचनमब्रवीत्।

हरि अश्वों के वाहनवाले इन्द्र ने अस्त्र विद्या में कुशल, विश्वासी, मुझे देखकर हाथों से मेरा मस्तक छुआ और यः वचन कहा—॥६२॥

न त्वमद्य युधा जेतुं शक्यः सुरगणैरपि ॥६३॥
किं पुनर्मानुषे लोके मानुषैरकृतात्मभिः।
अप्रमेयोऽ प्रधृष्यश्च युद्धेष्वप्रतिमस्तथा ॥६४॥

हे अर्जुन! अब तुमको स्वर्ग में देवों का गण भी नहीं जीत सकता है, फिर मनुष्य लोक में स्वल्प बल वाले मनुष्य तो तुझे जीत ही क्या सकते हैं। तू युद्ध में अद्वितीय, आक्रमण के अयोग्य और विचारों में भी नहीं आने वाली शक्ति रखता है ॥६३-५४॥

अथाब्रवीत् पुनर्देवः सम्प्रहृष्टतनूरुहः।
अस्त्रयुद्धे समो वीर न ते कश्चिद्भविष्यति ॥६५॥

आनन्द के रोमाञ्चधारी, इन्द्रदेव ने फिर कहा—हे वीर! अस्त्र युद्ध में तेरे समान कोई भी वीर नहीं होगा ॥६५॥

अप्रमत्तः सदा दक्षः सत्यवादी जितेन्द्रियः।
ब्रह्मण्यश्चास्त्रविच्चासि शूरश्चासि कुरूद्वह ॥६६॥

हे कुरुवंश-श्रेष्ठ ! तू बड़ा सावधान, चतुर, सत्यवादी, जितेन्द्रिय, ब्राह्मण-रक्षक, अस्त्रों का ज्ञाता और शूरवीर है ॥६६॥

अस्त्राणि समवाप्तानि त्वया दश च पञ्च च ।
पञ्चभिर्विधिभिः पार्थ विद्यते न त्वया समः ॥६७॥

हे पार्थ ! अब तूने पन्द्रह अस्त्र ग्रहण कर लिए हैं, परन्तु पांच प्रकार का प्रयोग और उपसंहार की विधि का जानने वाला तेरे समान कोई नहीं होगा ॥६७॥

प्रयोगमुपसंहारमावृत्तिञ्च धनञ्जय ।
प्रायश्चित्तञ्च वेत्थ त्वं प्रतिघातञ्च सर्वशः ॥६८॥

हे धनञ्जय ! प्रयोग (अस्त्र के चलाने) उपसंहार (समेटने) आवृत्ति (बार २ प्रयोग उपसंहार) प्रायश्चित्त (निरपराधियों को जीवन दान) और प्रतिघात (शत्रु के अस्त्र से दग्ध का पुनरुज्जीवन) इन पांचों विधियों को तू अच्छी तरह जानता है ६८

तव गुर्वर्थकालोऽयं समुत्पन्नः परन्तप ।
प्रतिजानीष्व तं कर्तुं ततो वेत्सत्स्याम्यहं परम् ॥६९॥

हे परन्तप ! यह तेरा गुरु की सेवा करने का समय आया है यदि तू मेरे कार्य के पूर्ण करने की प्रतिज्ञा करे, तो मैं तुझे बताऊं ॥६९॥

ततो हमब्रुवं राजन् देवराजमिदं वचः ।
विषह्य यन्मया कर्तुं कृतमेव निबोध तत् ॥७०॥

हे राजन् ! अब मैंने देवराज इन्द्र से यह वचन कहा—हे महात्मन् ! जिस कार्य को मैं कर सकता हूं, उसको किया हुआ ही समझो ॥७०॥

ततो मामब्रवीद्राजन् प्रहसन् बलवृत्रहा ।
नाविषह्यं तवाद्यास्ति त्रिषु लोकेषु किञ्चन ॥७१॥

हे राजन्! बल और वृत्र के घातक, इन्द्र ने हंस कर मुझसे कहा, हे अर्जुन ! आज तीनों लोक में कोई ऐसी वस्तु नहीं हैं, जो तुझे अशक्य हो ॥७१॥

निवातकवचा नाम दानवा मम शत्रवः ।
समुद्रकुक्षिमाश्रित्य दुर्गे प्रतिवसन्त्युत ॥७२॥
तिस्रः कोट्यः समाख्यातास्तुल्यरूपबलप्रभाः ।
तांस्तत्र जहि कौन्तेय गुर्वर्थस्ते भविष्यति ॥७३॥

निवात-कवच नामक दानव मेरे शत्रु हैं, वे समुद्र के भीतर किला बनाकर रहते हैं। वे तीन करोड़ हैं। जिन के बल, रूप और तेज सब समान हैं। हे कौन्तेय, तू उनको मार डाल, इसमें ही तेरी गुरु दक्षिणा पूरी हो जावेगी ॥७२-७३॥

ततो मातलिसंयुक्तं मयूरसमरोमभिः ।
हयैरुपेतं प्रादान्मे रथं दिव्यं महाप्रभम् ॥७४॥

इसके बाद इन्द्र ने मातलि सारथि से युक्त, मयूरों के रोमों के समान रोम वाले घोड़ों से समन्वित, चमकीला रथ, मुझे सौंप दिया ॥७४॥

बबन्ध चैव मे मूर्द्धि्न किरीटमिदमुत्तमम् ।
स्वरूपसदृशञ्चैव प्रादादङ्गविभूषणम् ॥७५॥

इन्द्र ने यह उत्तम मुकुट मेरे मस्तक पर बांध दिया और मेरे स्वरूप के सदृश ही यह अङ्ग का विभूषण समर्पण किया ७५

अभेद्यं कवचञ्चेदं स्पर्शरूपवदुत्तमम् ।
अजरां ज्यामिमाञ्चापि गाण्डीवे समयोजयत्॥७६॥

हे राजन्, इन्द्र ने बड़ा सुन्दर, स्पर्श के योग्य, नहीं बिंधने वाला कवच, मुझे पहना दिया और जीर्ण नहीं होने वाली प्रत्यञ्चा (धनुष की डोरी) गाण्डींव धनुष पर चढ़ा दी ॥ ७६ ॥

तत प्रायामहन्तेन स्यन्दनेन विराजता ।
येनाजयद्देवपतिर्बलिवैरोचनिं पुरा ॥७७॥

मैं इस चमकीले रथ से चल दिया, जिससे विरोचन के पुत्र बलि को देवराज, इन्द्र ने जीता था ॥७७॥

ततो देवाः सर्व एव तेन घोषेण बोधिताः ।
मन्वाना देवराजं मां समाजग्मुर्विशाम्पते ॥७८॥

हे विशाम्पते ! इस रथ के घोष से चैतन्य हुए, सारे देवताओं ने मुझे इन्द्र समझा और वे दौड़ कर आए ॥७८॥

दृष्ट्वा च मामपृच्छन्त किङ्करिष्यसि फाल्गुन ।
तानब्रुवं यथाभूतमिदं कर्त्तास्मि संयुगे ॥७९॥

वे मुझे देख कर कहने लगे, हे अर्जुन ! तुम क्या करना चाहते हो, उनसे मैंने सारा वृतान्त कह दिया, कि मैं युद्ध में यह करने जा रहा हूं ॥७९॥

निवातकचानान्तु प्रस्थितं मां वधैषिणम् ।
निबोधत महाभागाः शिवञ्चाशास्त मेऽनघाः ॥८०॥

मैं निवात-कवच दैत्यों को मारने चला हूं । हे महानुभावो ! तुम मेरे कल्याण की कामना करो ॥८०॥

तुष्टुवुर्मां प्रसन्नास्ते यथा देवं पुरन्दरम् ।
रथेनानेन मघवान् जितवान् शम्बरं युधि ॥८१॥
नमुचिं बलवृत्रौ च प्रह्लादनरकावपि ।
बहूनि च सहस्राणि प्रयुतान्यर्बुदान्यपि ॥८२
रथेनानेन दैत्यानां जितवान्मघवान् युधि ।

देवता यह सुन कर बड़े प्रसन्न हुए और देवराज इन्द्र के तुल्य मेरी स्तुति करने लगे । इसी रथ से इन्द्र ने युद्ध में शम्बर, नमुचि, बल, वृत्रासुर, प्रल्हाद और नरक तथा सहस्रों, लाखों और अरबों असुरों की सेना को जीता था ॥८१-८२॥

त्वमप्यनेन कौन्तेय निवातकवचान्रणे ॥८३॥
विजेता युधि विक्रम्य पुरेव मघवान् वशी ।
अयञ्च शङ्खप्रवरो येन जेतासि दानवान् ॥८४॥

हे कौन्तेय ! अब तुम भी रण में इन निवात-कवच दैत्यों को पूर्व काल में महाबली इन्द्र के तुल्य, अपने पराक्रम से जीत लोगे । यह सारे शंखों में उत्तम शंख है, इसी से तू दानवों को जीतेगा ॥ ८३-८४॥

अनेन विजिता लोकाः शक्रेणापि महात्मना ।
प्रदीयमानं देवैस्तं देवदत्तं जलोद्भवम् ॥८५॥
प्रत्यगृह्णां जयायैनं स्तूयमानस्तदामरैः ।

इसी शंख से महात्मा इन्द्र ने सारे लोक जीते हैं । समुद्र में उत्पन्न हुए, इस देवदत्त शङ्ख को मुझे देवों ने दिया है ।

देवों से प्रशंसित होकर मैंने विजय के लिए इस शङ्ख को ग्रहण कर लिया ॥८५॥

सशङ्खी कवची बाणी प्रगृहीतशरासनः ।
दानवालयमत्युग्रं प्रयातोऽस्मि युयुत्सया ॥८६॥

इति श्रीमहाभारत आरण्यपर्वणि निवातकवचयुद्धपर्वणि अर्जुनवाक्ये अष्टषष्ठ्यधिकशततमोऽध्यायः

हे राजन् ! शङ्ख, कवच, बाण और धनुष ग्रहण करके युद्ध करने की इच्छा से मैं, दानवों के दुर्गम स्थान को चल दिया ॥८६॥

इति श्रीमहाभारत निवात-कवच-युद्ध-पर्व में अर्जुन के वाक्य का एक सौ अड़सठवाँ अध्याय समाप्त हुआ ।

एक सौ उनहत्तरवां अध्याय

अर्जुन उवाच—

ततोऽहं स्तूयमानस्तु तत्र तत्र महर्षिभिः ।
अपश्यमुदधिं भीममपाम्पतिमथाव्ययम् ॥१॥

अर्जुन बोला—हे भारत ! महर्षियों ने मेरी बार २ प्रशंसा की। अब मैंने नहीं क्षीण होनेवाले, जलधर, भीषण समुद्र को देखा ॥१॥

फेनवत्यः प्रकीर्णाश्च संहताश्चसमुत्थिताः ।
उर्मयश्चात्र दृश्यन्ते वल्गन्त इव पर्वताः ॥२॥

इस समुद्र में झागों-वाली, कभी बिखरी हुई और कभी इकट्ठी हुई, लहरें, पर्वत के समान होकर उछल रही थीं ॥२॥

नावः सहस्रशस्तत्र रत्नपूर्णाः समन्ततः ।
तिमिङ्गिलाः कच्छपाश्च तथा तिमितिमिङ्गलाः ॥३॥

इसमें चारों ओर रत्नों से भरी सहस्रों नावें घूम रही थीं और छोटी बड़ी मछली और कच्छप तैरते फिरते थे ॥३॥

मकराश्चात्र दृश्यन्ते जले मग्ना इवाद्रयः ।
शङ्खानाञ्च सहस्राणि मग्नान्यप्सु समन्ततः ॥४॥

इस समुद्र में पड़े हुए, मगर, पर्वतोंके समान दिखाई देते थे और सहस्रों शंख, पानी में डूबे पड़े हैं ॥४॥

दृश्यन्ते स्म यथा रात्रौ तारास्तन्वभ्रसंवृताः ॥
तथा सहस्रशस्तत्र रत्नसंघाः प्लवन्त्युत ॥५॥

पतले २ मेघों में ढके हुए तारे, जैसे रात में सुन्दर दिखाई देते हैं, वैसे ही सहस्रों रत्नों के संघ उस पानी में झलक रहे हैं ।

वायुश्च घूर्णते भीमस्तदद्भुतमिवाभवत् ।
तमुदीक्ष्य महावेगं सर्वाम्भोनिधिमुत्तमम् ॥६॥
अपश्यं दानवाकीर्णं तद्दैत्यपुरमन्तिकात् ।

भीषण पवन भी बड़े वेग से चलता था, जो एक अद्भुत सा दिखाई देता था। इस तरह महा-वेग से उछलते हुए, समुद्र को देखकर मैंने पास में ही दानवों से व्याप्त, दैत्यपुर को देखा ॥६॥

तत्रैव मातलिस्तूर्णं निपत्य पृथिवीतले ॥७॥
रथं तन्तु समाश्लिष्य प्राद्रवद्रथयोगवित् ।
त्रासयन्रथघोषेण तत् पुरं समुपाद्रवन् ॥८॥

रथ के चलाने में कुशल, मातलि सारथि, पृथिवी के नीचे पाताल में शीघ्र उतरा और उस रथ पर सावधानी से बैठकर दौड़ा। इस रथ के आघोष से इसने सारे दैत्यपुर को भयभीत कर दिया ॥७—८॥

रथघोषन्तु तं श्रुत्वा स्तनयित्नोरिवाम्बरे ।
मन्वाना देवराजं मामाविग्ना दानवाभवन् ॥९॥

आकाश में मेघ गर्जना के सदृश रथ के झनझनाहट को सुन कर मुझे देवराज इन्द्र मानते हुए सारे दानव, इधर उधर दौड़ने लगे ॥९॥

सर्वे संभ्रान्तमनसः शरचापधराः स्थिताः ।
तथासिशूलपरशुदामुसलपाणयः ॥१० ।
ततो द्वाराणि पिदधुर्दानवास्त्रस्तचेतसः ।
सविधाय पुरे रक्षां न स्म कश्चन दृश्यते ॥११॥

इन डरे हुए सारे दानवों ने घबराकर धनुष बाण, तलवार, शूल, परशु, गदा, मूसल, आदि शस्त्र उठा लिए और नगर के सारे द्वार वन्द कर लिए। इन्होंने पुर की रक्षा का प्रबन्ध कर लिया पर मुझे कोई भी दिखाई नहीं दिया ॥१०—११॥

ततः शङ्खमुपादाय देवदत्तं महास्वनम् ।
परमां मुदमाश्रित्य प्राधमन्तं शनैरहम् ॥१२॥

अब मैंने देवदत्त शङ्ख उठाया, जिसका बड़ा भारी शब्द होता था। मैंने बड़े उत्साह मे भरकर धीरे २ इस शङ्ख को बजाया ॥१२॥

स तु शब्दो दिवं स्तब्ध्वा प्रतिशब्दमजीजनत् ।
वित्रेसुश्च निलिल्युश्च भूतानि सुमहान्त्यपि ॥१३॥

इस शङ्ख के शब्द ने आकाश को घेर लिया और वह प्रतिध्वनि देने लगा। इसकी ध्वनि सुनकर बड़े २ प्राणी भी उठकर इधर उधर जा छुपे ॥१३॥

ततो निवातकवचाः सर्व एव स्वलंकृताः ।
दंशिता विविधैस्त्राणैर्विचित्रायुधपाणयः ॥१४॥
आयसैश्च महाशूलैर्गदाभिर्मुसलैरपि ।
पट्टिशैः करवालैश्च रथचक्रैश्च भारत ॥१५॥
शतघ्नीभिर्भुशुण्डीभिः खड्गैश्चित्रैः स्वलंकृतैः ।
प्रगृहीतैर्दितेः पुत्राः प्रादुरासन् सहस्रशः ॥१६॥

इसके अनन्तर सारे निवात-कवच राक्षस, भूषणों से भूषित होकर, अनेक प्रकार के कवच पहन कर और अद्भुत २ लोह के बने हुए महाशूल, गदा, मुसल, पट्टिश, तलवार, रथ, चक्र, तोप, बन्दूक, खड्ग, आदि तीक्ष्ण-शस्त्रों को लेकर सहस्रों की संख्या में सामने आए ॥१४-१६॥

ततो विचार्य्य बहुशो रथमार्गेषु तान् हयान् ।
प्राचोदयत् समे देशे मातलिर्भरतर्षभ ॥१७॥

हे भरतर्षभ ! मातलि सारथि ने बहुत विचार करके एक सी भूमि में रथ के मार्ग पर अपने रथ के घोड़ों को चलाया ॥१७॥

तेन तेषां प्रणुन्नानामाशुत्वाच्छीघ्रगामिनाम् ।
नान्वमपश्यं तदा किञ्चित्तन्मेऽद्भुतमिवाभवत् ॥१८॥
ततस्ते दानवास्तत्र वादित्राणि सहस्रशः ।
विकृतस्वररूपाणि भृशं सर्वाण्यवादयन् ॥१९॥

घोड़ों के चाबुक मार कर हांकते ही घोड़े बड़ी तेजी से दौड़ निकले । उस समय मुझे कुछ भी दिखाई नहीं दिया, जो एक चमत्कार सा था । अब उन दैत्यों ने विकृत शब्द करने वाले सहस्रों बाजे एक साथ बजाए ॥१९॥

तेन शब्देन सहसा समुद्रे पर्वतोपमाः ।
आप्लवन्त गतैः सत्त्वैर्मत्स्याः शतसहस्रशः ॥२०॥

इस शब्द से समुद्र में पर्वत के आकार के समान, सैकड़ों हजारों कीं संख्या में मछलियां मर गई और वे ऊपर तैरने लगी ॥२०॥

ततो वेगेन महता दानवा मामुपाद्रवन् ।
विमुञ्चन्तः शितान् बाणान् शतशोऽथ सहस्रशः॥२१

अब सारे दैत्यों ने लाखों की संख्या में तीक्ष्ण बाण चलाकर मेरे ऊपर बड़े वेग से आक्रमण किया ॥२१॥

स संप्रहारस्तुमुलस्तेषाञ्च मम भारत।
आवर्त्तत महाघोरो निवातकवचान्तकः ॥२२॥

हे भारत ! उन दैत्य और मेरा यह बड़ा भीषण युद्ध में निवात-कवच दानवों का बहुत नाश हुआ ॥२२॥

ततो देवर्षयश्चैव दानवर्षिगणाश्च ये।
ब्रह्मर्षयश्च सिद्धाश्च समाजग्मुर्महामृधे ॥२३॥
ते वै मामनुरूपाभिर्मधुराभिर्जयैषिणः।
अस्तुवन् मुनयो वाग्भिर्यथेन्द्रं तारकामये ॥२४॥

इति श्रीमहाभारत आरण्यपर्वणि निवताकवचयुद्धपर्वणि निवातकवचवधे एकोनसप्तत्यधिक शततमोऽध्यायः ॥१६६

इस महा-युद्ध के देखने के लिए, देवर्षि, दानवर्षि, ब्रह्मर्षि और सिद्धों के गण आए। मेरी विजय के अभिलाषी इन ऋषियों ने तारकासुर के वध के समय इन्द्र की स्तुति की तरह मधुर वाणी से मेरी स्तुति की ॥२३-२४॥

इति श्रीमहाभारत वनपर्वान्तर्गत निवात-कवच-युद्ध में
निवात-कवच-वध का एक सौ उनहत्तरवां अध्याय पूरा हुआ

एक सौ सत्तरवां अध्याय

अर्जुन उवाच—

ततो निवातकवचाः सर्वे वेगेन भारत ।
अभ्यद्रवन्मां सहिताः प्रगृहीतायुधा रणे ॥१॥

अर्जुन ने कहा—हे भारत ! इसके अनन्तर इस महा-युद्ध में सारे निवात कवच दैत्य, शस्त्र लेकर एक साथ मेरे ऊपर टूट पड़े ॥ १ ॥

आच्छाद्य रथपन्थानमुत्क्रोशन्तो महारथाः ।
आवृत्य सर्वतस्ते मां शरवर्षैरवाकिरन् ॥२॥

ये महारथी रथ के मार्ग को रोक कर बड़ी गर्जना करने लगे। इन्होंने मुझे चारों ओर से घेर लिया और बाणों की वर्षा करने लगे ॥ २ ॥

ततोऽपरे महावीर्य्याः शूलपट्टिशपाणयः ।
शूलानि च भुशुण्डीश्च मुमुचुर्दानवा मयि ॥३॥

कुछ महा-पराक्रमी दैत्यों ने शूल और पट्टिश शस्त्र उठा लिए और मेरे ऊपर शूल और बन्दूक चलाने लगे ॥ ३ ॥

तच्छूलवर्षं सुमहत् गदाशक्तिसमाकुलम् ।
अनिशं सृज्यमानं तैरपतन्मद्रथोपरि ॥४॥

गदा और शक्ति आदि शस्त्रों के साथ दानवों द्वारा की गई यह शूलों की वर्षा लगातार मेरे रथ के ऊपर पड़ने लगी ॥ ४ ॥

अन्ये मामभ्यधावन्त निवातकवचा युधि ।
शितशस्त्रायुधा रौद्राः कालरूपाः प्रहारिणः ॥५॥

महा-भयङ्कर, काल के समान आकार-धारी, तीक्ष्ण शस्त्रों से प्रहार करते हुए, कुछ निवात-कवच, दानव, इस युद्ध में मेरे ऊपर झपटने लगे ॥ ५ ॥

तानहं विविधैर्बाणैर्वेगवद्भिरजिह्मगैः ।
गाण्डीवमुक्तैरभ्यघ्नमेकैकं दशभिर्मृधे ॥६॥

अब मैंने भी इस युद्ध में वेग वाले, सीधे अनेक बाण गाण्डीव धनुष से छोड़े, जो एक २ दैत्य के दश २ जा गड़े ॥६ ॥

ते कृता विमुखाः सर्वे मत्प्रयुक्तैः शिलाशितैः ।
ततो मातलिना तूर्णं हयास्ते संप्रचोदिताः ॥७॥

शिला (शिल्ली) पर तेज किए हुए, इन मेरे बाणों से सारे दैत्य, उलटे भाग पड़े । अब मातलि सारथि ने बड़ी तेजी से अश्वों को चलाया ॥ ७ ॥

मार्गान् बहुविधांस्तत्र विचेरुर्वातरंहसः ।
सुसंयता मातलिना प्रामथ्नन्त दितेः सुतान्॥८॥

ये वात के समान वेग शील, मातलिके सधाये हुए अश्व, अनेक मार्गों (पैंतरों) से चले, जिससे वहुत से दैत्यों का मथन हो गया ॥ ८ ॥

शतंशतास्ते हरयस्तस्मिन् युक्ता महारथे ।
तदा मातलिना यत्ता व्यचरन्नल्पका इव ॥९॥

इस महारथ में एक सहस्र अश्व, जोड़े हुए थे, परन्तु मातलिके चलाने की चतुराई से वे थोड़े ही दिखते थे ॥ ६ ॥

तेषाञ्चरणपातेन रथनेमिस्वनेन च ।
मम बाणनिपातैश्च हतास्ते शतशोऽसुराः ॥१०

इन अश्वों के चरणों की चोट, रथ के नेमि के घोष और मेरे बाणों से सैकड़ों असुर मारे गए ॥ १० ॥

गतासवस्तथैवान्ये प्रगृहीतशरासनाः ।
हतसारथयस्तत्र व्यकृष्यन्त तुरङ्गमैः ॥११॥

कुछ धनुष धारी, मरे हुए महारथियों को रण में घोड़े, रथ में खैंचे फिरते थे, क्योंकि इन अश्वों के सारथि मर चुके थे ॥११

ते दिशो विदिशः सर्वे प्रतिरुध्य प्रहारिणः ।
अभ्यघ्नन् विविधैः शस्त्रैस्ततो मे व्यथितं मनः ॥१२

अब इन प्रहार करने वाले दैत्यों ने दिशा, विदिशाओं से आकर मुझे घेर लिया और ये प्रहार करने लगे, जिससे मेरा मन व्यथित सा होगया ॥ १२ ॥

ततोऽहं मातलेर्वीर्य्यमपश्यं परमाद्भुतम् ।
अश्वांस्तथा वेगवतो यदयत्नादधारयत् ॥१३॥

इस समय मैंने मातलि का बड़ा ही अद्भुत पराक्रम देखा, कि जो इतने वेग वाले अश्वों को भी बिना घबराहट के रोके रहा ॥ १३ ॥

ततोऽहं लघुभिश्चित्रैरस्त्रैस्तानसुरान्रणे ।
चिच्छेद सायुधान्राजञ्छतशोऽथ सहस्रशः ॥१४॥

हे राजन् ! इस समय मैंने भी उन शस्त्र-धारी लाखों दैत्यों को इस युद्ध में तेजी से जाने वाले अद्भुत अस्त्रों से बींध डाला ॥ १४ ॥

एवं मे चरतस्तत्र सर्वयत्नेन शत्रुहन् ।
प्रीतिमानभवद्वीरो मातलिः शक्रसारथिः ॥१५॥

हे शत्रुहन् ! इस युद्ध में बड़े भारी यत्न के साथ युद्ध करता हुआ मुझे देख कर इन्द्र का सारथि मातलि बड़ा प्रसन्न, हुआ ॥ १५ ॥

वध्यमानास्ततस्तैस्तु हयैस्तेन रथेन च ।
अगमन् प्रक्षयं केचिन्न्यवर्त्तन्त तथापरे ॥१६॥

उन अश्व और रथ से मारे हुए दैत्य, क्षीण होगए और कुछ भयभीत होकर भाग गए ॥ १६ ॥

स्पर्द्धमाना इवास्माभिर्निवातकवचा रणे ।
शरवर्षैः शरार्त्ता मां महद्भिः प्रत्यवारयन् ॥१७॥

इस युद्ध में निवात-कवच दैत्य, फिर मेरी स्पर्धा सी करके शरों से व्याकुल होकर भी मेरे ऊपर बड़ी भारी शरों की वर्षा करने लगे ॥ १७ ॥

ततोऽहं लघुभिश्चित्रैर्ब्रह्मास्त्रपरिमन्त्रितैः ।
व्यधमं सायकैराशु शतशोऽथ सहस्रशः ॥१८॥

फिर मैंने हल्के, तीव्र - गामी, अद्भुत बाण, ब्रह्मास्त्र से चलाए और जिन से सैंकड़ों हजारों दैत्य मार डाले ॥ १८ ॥

ततः संपीड्यमानास्ते क्रोधाविष्टा महासुराः ।
अपीडयन्मां सहिताः शक्तिशूलासिवृष्टिभिः ॥१९॥

इस प्रकार पीड़ित किए हुए महासुर, कुपित होगए और सारे इकट्ठे होकर मुझे शक्ति, शूल और खड्गों की वर्षा से व्याकुल करने लगे ॥ १९ ॥

ततोऽहमस्त्रमातिष्ठं परमं तिग्मतेजसम् ।
दयितं देवराजस्य माधवं नाम भारत ॥२०॥

हे भारत ! इस समय मैंने इन्द्र के वड़े प्रिय, बड़े तीक्ष्ण, माधव नामक अस्त्र को चलाया ॥ २० ॥

ततः खड्गत्रिशूलेन तोमरांश्च सहस्रशः ।
अस्त्रवीर्येण शतधा तैर्मुक्तानहमच्छिनम् ॥२१॥

इन दैत्यों ने मेरे ऊपर अनेक तोमर शस्त्र चलाए, जिनके मैंने खड्ग, त्रिशूल और अस्त्र की शक्ति से सैकड़ों टुकड़े कर डाले ॥ २१ ॥

छित्वा प्रहरणान्येषां ततस्तान्यपि सर्वशः ।
प्रत्यविध्यमहं रोषाद्दशभिर्दशभिः शरैः ॥२२॥

फिर मैंने क्रोध में भरकर इनके शस्त्र काट डाले और इन दैत्यों को भी दश दश वाणों से बींध दिया ॥ २२ ॥

गाण्डीवाद्धि तदा संख्ये यथा भ्रमरपङ्क्तयः ।
निष्पतन्ति महावाणास्तन्मातलिरपूजयत् ॥२३॥

उस समय युद्ध में गाण्डीव धनुष से भ्रमर की पंक्तियों के तुल्य अनेक बड़े २ बाण छोड़े। इन बाणों की मातलि ने बड़ी प्रशंसा की ॥ २३ ॥

तेषामपि तु बाणास्ते बहुत्वाच्छलभा इव।
अवाकिरन्मां बलवत्तानहं व्यधमं शरैः ॥२४॥

उनके भी शलभ पक्षी की तरह झपट कर आये हुए बाणोंने मुझे बुरी तरह बींध डाला। मैंने भी उनको जैसे तैसे अपने बाणों से काट गिराया ॥ २४ ॥

वध्यमानास्ततस्ते तु निवातकवचाः पुनः।
शरवर्षैर्महद्भिर्मां समन्तात् पर्य्यवारयन् ॥२५॥

जब फिर दुबारा मैंने निवात-कवच दैत्यों को इस तरह पीड़ित किया, तो उन्होंने बड़ी भारी बाणोंकी वर्षा से मुझे चारों ओर से ढक दिया ॥ २५ ॥

शरवेगान्निहत्याहमस्त्रैरस्त्रविघातिभिः।
ज्वलद्भिः परमैः शीघ्रैस्तानविध्यं सहस्रशः ॥२६॥

अस्त्रों के काटने वाले अस्त्रों से मैंने उनके बाणों के वेगों को नष्ट कर दिया और जाज्वल्यमान बड़े उत्तम २ शीघ्र-गामी अस्त्र से उन्हें छेद डाला ॥ २६ ॥

तेषां छिन्नानि गात्राणि विसृजन्ति स्म शोणितम्।
प्रावृषीवाभिवृष्टानि शृङ्गाण्यथ धराभृताम् ॥२७॥

जब उनके शरीर कट गए, तो उनसे रक्त बहने लगा-जैसे वर्षा ऋतु में पर्वतों के शृङ्गों से झरने वह चलते हैं ॥ २७ ॥

इन्द्राशनिसमस्पर्शैर्वेगवद्भिरजिह्मगैः ।
मद्बाणैर्वध्यमानास्ते समुद्विग्नाः स्म दानवाः ॥२८॥

इन्द्र के वज्र के समान तीक्ष्ण, वेगवान्, सीधे जाने वाले मेरे बाणों से विंध कर दैत्य बड़े व्याकुल हो गए ॥२८ ॥

शतधा भिन्नदेहास्ते तीक्ष्णप्रहरणौजसः ।
ततो निवातकवचा मामयुध्यन्त मायया ॥२९

इति श्रीमहाभारत आरण्यपर्वणि निवातकवचयुद्धपर्वणि
निवातकवचवधे सप्तत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥१७०॥

मेरे तीक्ष्ण शस्त्रों के प्रभाव से उन दैत्यों की देह सैकड़ों स्थान से छिद गई । अब निवात-कवच मुझ से माया द्वारा युद्ध करने लगे ॥ २९ ॥

इति श्रीमहाभारत निवात-कवच-युद्ध-पर्व में निवात कवच दैत्यों के वध का एकसौ सत्तरवां अध्याय समाप्त हुआ ।

एक सौ इकहत्तरवां अध्याय

अर्जुन उवाच—

ततोऽश्मवर्षं सुमहत् प्रादुरासीत् समन्ततः ।
नगमात्रैः शिलाखण्डैस्तन्मां दृढमपीडयत् ॥१॥

अर्जुन वोले—हे भारत ! अव इन दैत्यों ने पत्थर वरसाना आरम्भ किया। पर्वत या वृक्ष के वरावर शिला के खण्डों से इन्होंने मुझे वड़ी वुरी तरह जख्मी कर दिया ॥१॥

तदहं वज्रसंकाशैर्महेन्द्रास्त्रप्रचोदितैः ।
अचूर्णयं वेगवद्भिः शरजालैर्महाहवे ॥२॥

तव मैंने इस महा-युद्ध में वज्र के तुल्य, इन्द्र के दिए हुए अस्त्र से फैंके हुए, वेग वाले, वाणों के समूह से उनका चूरा कर दिया ॥२॥

चूर्ण्यमानेऽश्मवर्षे तु पावकः समजायत ।
तत्राश्मचूर्णान्यपतन् पावकप्रवरा इव ॥३॥

जव पत्थरों की वर्षा का चूर्ण कर दिया, तो आग पैदा हो गई। उस समय के टूटे हुए पत्थर के टुकड़े अङ्गारे से आकर लगने लगे ॥३॥

ततोऽश्मवर्षे विहते जलवर्षं महत्तरम् ।
धाराभिरक्षमात्राभिः प्रादुरासीन्ममान्तिके ॥४॥

जव यह पत्थरों की वर्षा भी शान्त हो गई, तो वड़ी भारी जल की वृष्टि होने लगी। मेरे पास अक्षों (पासों) के वरावर मोटी धारा से वर्षा होने लगी ॥४॥

नभसः प्रच्युता धारास्तिग्मवीर्य्याः सहस्रशः ।
आवृण्वन् सर्वतो व्योम दिशश्चोपदिशस्तथा ॥५॥

बड़ी शक्ति रखने वाली, आकाश से चली हुई, सहस्रों धाराओं ने सब ओर से आकाश और दिशा उपदिशाओं को ढक लिया ॥५॥

धाराणाञ्च निपातेन वायोर्विस्फूर्जितेन च ।
गर्जितेन च दैत्यानां न प्राज्ञायत किञ्चन ॥६॥
धारा दिवि च सम्बद्धा वसुधायाञ्च सर्वशः ।
व्यामोहयन्त मां तत्र निपतन्त्योऽनिशं भुवि ॥७॥

वर्षा की धारा के सन्नाटे, वायु के झन-झना-हट और दैत्यों की गर्जना के आगे कुछ भी सुनाई नहीं देता था। आकाश से पृथिवी पर पड़ती हुई, धाराओं ने मुझे अत्यन्त ही मोहित कर दिया। यह वर्षा लगातार पड़ रही थी ॥६-७॥

तत्रोपदिष्टमिन्द्रेण दिव्यमस्त्रं विशोषणम् ।
दीप्तं प्राहिणवं घोरमशुष्यत्तेन तज्जलम् ॥८॥

अब मैंने इन्द्र के सिखाये हुए, दिव्य, जाज्वल्यमान, घोर, जल सुखाने वाले, अस्त्र का प्रयोग किया, जिससे यह जल सूख गया ॥८॥

हतेऽश्मवर्षे च मया जलवर्षे च शोषिते ।
मुमुचुर्दानवा मायामग्निं वायुञ्च भारत ॥९॥

ततोऽहमग्निं व्यधमं सलिलास्त्रेण सर्वशः ।
शैलेन च महास्त्रेण वायोर्वेगमधारयम् ॥१०॥

हे भारत ! जब पत्थरों की वर्षा का नाश हो गया, जल वर्षा को मैंने सुखा डाला, तब दैत्यों ने माया से अग्नि और वायु फैलाई । मैंने भी इस आग को सलिल अस्त्र से नष्ट किया और शैलाख्य महान् अस्त्र से वायुके वेग को रोका ॥९-१०॥

तस्यां प्रतिहतायान्ते दानवा युद्धदुर्मदाः ।
प्राकुर्वन् विविधां मायां यौगपद्येन भारत ॥११॥

हे भारत ! इस माया के नष्ट कर देने पर युद्ध में पराक्रमी दैत्य, इकट्ठे होकर आए और अनेक माया करने लगे ॥११॥

ततो वर्षं प्रादुभूरत् सुमहल्लोमहर्षणम् ।
अस्त्राणां घोररूपाणामग्नेर्वायोस्तथाश्मनाम्॥१२॥
सा तु मायामयी वृष्टिः पीडयामास मां युधि ।
अथ घोरं तमस्तीव्रं प्रादुरासीत् समन्ततः ॥१३॥

इसके अनन्तर लोमों के खड़े कर देने वाली, भयङ्कर अस्त्र अग्नि, वायु और पत्थरों की वर्षा होने लगी । इस माया-मय वर्षा ने मुझे युद्ध में तंग कर डाला । इसके बाद सब दिशाओं में अन्धेरा छा गया ॥१२-१३॥

तमसा संवृते लोके घोरेण परुषेण च ।
हरयो विमुखाश्चासन् प्रास्खलच्चापि मातलिः॥१४॥
हस्ताद्धिरण्मयश्चास्य प्रतोदः प्रापतद्भुवि ।
असकृच्चाह मां भीतः क्वासीति भरतर्षभ ॥१५॥

इस घोर और कठोर अन्धकार से जगत् के ढक जाने पर रथ के घोड़े उलटे चल दिए और मातलि सारथि भी चकरा गया। इसके हाथ से सुवर्ण का चाबुक गिर पड़ा और यह भयभीत हुआ बार २ कहने लगा, कि हे भरतर्षभ! तुम कहां हो १४-१५

माञ्च भीराविशत्तीव्रा तस्मिन् विगतचेतसि।
स च मां विगतज्ञानः सन्त्रस्तमिदमब्रवीत् ॥१६॥

जब मातलि सारथि, घबरा गया, तो मुझपर भी तीव्र भय सवार हो गया। यह सारथि, होश हवाश भूल गया और अत्यन्त व्याकुल होकर मुझ से कहने लगा ॥१६॥

सुराणामसुराणाञ्च संग्रामः सुमहानभूत्।
अमृतार्थं पुरा पार्थ स च दृष्टो मयानघ ॥१७॥
शम्बरस्य वधे घोरः संग्रामः सुमहानभूत्।
सारथ्यं देवराजस्य तत्रापि कृतवानहम् ॥१८॥

हे पार्थ! पूर्वकाल में अमृत के लिए देव और असुरों में बड़ा भारी संग्राम हुआ। जब शम्बर दैत्य का वध हुआ उस दिन बड़ा घोर संग्राम हुआ था। उस समय भी इन्द्र का मैं ही सारथि था ॥ १८ ॥

तथैव वृत्रस्य वधे संगृहीता हया मया।
वैरोचनेर्महायुद्धं दृष्टञ्चापि सुदारुणम्।
बलिप्रह्लादयोश्चापि तथान्येषाञ्च पाण्डव ॥१९॥

वृत्रासुर के वध के युद्ध में भी मैंने ही घोड़े चलाये थे। विरोचन के पुत्र बलि का महाघोर युद्ध भी मैंने देखा है। बलि और प्रह्लाद तथा अन्य दैत्यों के भी युद्ध मेरे देखे हुए हैं।

एते मया महाघोरा संग्रामाः पर्य्युपासिताः ।
न चापि विगतज्ञानो भूतपूर्वोऽस्मि पाण्डव ॥२०॥

हे पाण्डव ! इन महाघोर संग्रामों में मैंने ही कार्य किया है, परन्तु मैं उन युद्धों में कभी अचेत नहीं हुआ ॥२०॥

पितामहेन संहारः प्रजानां विहितो ध्रुवम् ।
न हि युद्धमिदं युक्तमन्यत्र जगतः क्षयात् ॥२१॥

अब ब्रह्मा जी जगत् का संहार करना चाहते हैं, क्योंकि ऐसा भयानक युद्ध, जगत् के प्रलय करने के विना सम्भव नहीं है ॥

तस्य तद्वचनं श्रुत्वा संस्तभ्यात्मानमात्मना ।
मोहयिष्यन् दानवानामहं मायाबलं महत् ॥२२॥

मैंने मातलि के ये वचन सुनकर अपने आप को सम्भाला और दानवों की माया की महासेना को मोहित सा कर दिया ॥२२

अब्रुवं मातलिं भीतं पश्य मे भुजयोर्बलम् ।
अस्त्राणाञ्च प्रभावं वै धनुषो गाण्डीवस्य च॥२३॥

मैं भयभीत मातलि से कहने लगा--हे सारथि ! तुम मेरी भुजाओं का बल, अस्त्र और गाण्डीव धनुष का प्रभाव देखना ॥२३

अद्यास्त्रमाययैतेषां मायामेतां सुदारुणाम् ।
विनिहन्मि तमश्चोग्रं मा भैः सूत स्थिरो भव।।२४॥

हे सूत ! आज मैं अपने अस्त्रों की माया से इस दारुण माया को तथा उग्र अन्धकार को नष्ट करता हूं, तुम डरो मत—अपने को दृढ़ करो ॥२४॥

एवमुक्त्वाहमसृजमस्त्रमायां नराधिप ।
मोहनीं सर्वभूतानां हिताय त्रिदिवौकसाम् ॥२५॥

हे नराधिप ! इतना कहकर मैंने अस्त्र-माया प्रकट की, जो सारे प्राणियों को मोहित करने वाली और देवों की हित करने वाली थी ॥२५

पीड्यमानासु मायासु तासु तास्वसुरोत्तमाः ।
पुनर्बहुविधामायाः प्राकुर्वन्नमितौजसः ॥२६॥

जब उन दैत्यों की माया नष्ट होने लगी, तो उन महाबली दैत्यराजों ने फिर अनेक प्रकार की माया फैलानी आरम्भ की २६

पुनः प्रकाशमभवत्तमसा ग्रस्यते पुनः ।
भवत्यदर्शनो लोकः पुनरप्सु निमज्जति ॥२७॥

कभी तो प्रकाश हो जाता था और कभी फिर अन्धकार उस प्रकाश को ग्रस लेता था, जिस से जगत् ही दिखाई नहीं देता था और पानी में डूबता जाता था ॥२७॥

सुसंगृहीतैर्हरिभिः प्रकाशे सति मातलिः ।
व्यचरत् स्यन्दनाग्र्येण संग्रामे लोमहर्षणे ॥२८॥

जब कुछ प्रकाश हुआ, तो मातलि सारथि, अच्छी तरह चलाये हुए अश्वों से युक्त, रथ से इस लोमहर्षण युद्ध में घूमने लगा ॥२७॥

ततः पर्य्यपतन्नुग्रा निवातकवचा मयि ।
तानहं विवरं दृष्ट्वा प्राहिण्वं यमसादनम् ॥२९॥

अब उग्र-बली, निवात कवच दैत्य, मुझ पर टूट पड़े। मैंने भी मौका देखकर उनको यमराज के घर का अतिथि बना दिया ॥२६॥

वर्त्तमाने तथा युद्धे निवातकवचान्तके।
नापश्यं सहसा सर्वान् दानवान् मायया वृतान्॥३०॥

इति श्रीमहाभारत आरण्यपर्वणि निवातकवचयुद्धपर्वणि
मायायुद्धे एकसप्तत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥१७१॥

जब यह निवात-कवचों के वध का युद्ध आरम्भ हुआ, तो मैंने अचानक माया-धारी सारे दानवों को वहां नहीं देखा ॥३०॥

इति श्रीमहाभारत निवातकवचयुद्धपर्व में माया के युद्ध
का एक सौ इकहत्तरवाँ अध्याय पूरा हुआ।

एक सौ बहत्तरवां अध्याय

अर्जुन उवाच—

अदृश्यमानास्ते दैत्या योधयन्ति स्म मायया।
अदृश्येनास्त्रवीर्य्येण तानप्यहमयोधयम् ॥१॥

अर्जुन ने कहा—हे राजन्! अब माया के सहारे से दैत्य लोग, अदृश्य होकर युद्ध करने लगे। मैं भी उनसे अदृश्य शत्रु पर प्रभाव दिखाने वाले अस्त्रों से युद्ध करने लगा ॥१॥

गाण्डीवमुक्ता विशिखाः सम्यगस्त्रप्रचोदिताः।
अच्छिन्दन्नुत्तमाङ्गानि यत्र तत्र स्म तेऽभवन् ॥२॥

गाण्डीव से छोड़े हुए और अदृश्य प्रभाव रखने वाले अस्त्रों से अच्छी तरह प्रेरित, मेरे बाणों ने जहाँ-जहाँ शत्रु थे, वहीं उनके मस्तकों को छेद डाला ॥२॥

ततो निवातकवचा वध्यमाना मया युधि ।
संहृत्य मायां सहसा प्राविशन् पुरमात्मनः ॥३॥

इस प्रकार मुझसे वध पाकर निवात-कवच-दैत्य, अपनी माया का संहार करके अचानक अपने पुर में भाग गए ॥३॥

व्यपयातेषु दैत्येषु प्रादुर्भूते च दर्शने ।
अपश्यं दानवाँस्तत्र हताञ्छतसहस्रशः ॥४॥

जब दैत्य भाग गए और प्रकाश हुआ, तो मैंने सैंकड़ों की संख्या में मरे हुए दानव देखे ॥४॥

विनिष्पिष्टानि तत्रैषां शस्त्राण्याभरणानि च ।
शतशः स्म प्रदृश्यन्ते गात्राणि कवचानि च ॥५॥

इन दानवों के शस्त्र और आभूषणों के टुकड़े-टुकड़े होगए थे। उस युद्ध-भूमि में सैंकड़ों की संख्या में मृत दैत्यों के शरीर और कवच पड़े थे ॥५॥

हयानां नान्तरं ह्यासीत् पदाद्विचलितुं पदम् ।
उत्पत्य सहसा तस्थुरन्तरीक्षगमास्ततः ॥६॥

इस जगह अश्वों के चलाने के लिए एक पाद (क़दम) भी खाली नहीं थीं, जिससे एक पैर के आगे एक पैर भी और न बढ़ा सकें। अब घोड़े अचानक उछले और आकाश-मार्ग से चलने लगे

ततो निवातकवचा व्योम संछाद्य केवलम् ।
अदृश्या ह्यभ्यवर्त्तन्त विसृजन्तः शिलोच्चयान् ॥७॥

निवात-कवच-दैत्यों ने अब आकाश को घेर लिया और दिखाई न देते हुए, वड़े-वड़े पत्थर वरसाने लगे ॥७॥

अन्तरभूमिगताश्चान्ये हयानां चरणान्यथ ।
न्यगृह्णन् दानवा घोरा रथचक्रे च भारत ॥८॥

हे भारत ! वहुत से महाबली दैत्य, भूमि और रथ के पहियों के भीतर घुसकर अश्वों के चरणों को पकड़ रहे थे ॥८॥

विनिगृह्य हरीनश्वान्रथश्च मम युध्यतः ।
सर्वतो मामविध्यन्त सरथं धरणीधरैः ॥९॥

हे भारत ! जिस समय मैं युद्ध कर रहा था, उस समय मेरे अत्यन्त वेग-शील अश्वों को पकड़कर दैत्य, मुझे और रथ को शिलाओं से दावने का प्रयत्न करते थे ॥९॥

पर्वतैरुपचीयद्भिः पतमानैस्तथापरैः ।
स देशो यत्र वर्त्ताम गुहेव समपद्यत ॥१०॥

इस प्रकार पर्वत की शिलाओं के ढेर लगने और इधर-उधर विखरने से मेरे युद्ध करने का स्थान गुहा सा बन गया ।

पर्वतैश्छाद्यमानोऽहं निगृहीतैश्च वाजिभिः ।
अगच्छं परमामार्तिं मातलिस्तदलक्षयत् ॥११॥

अश्वों के पकड़ लेने और पर्वत के खण्डों से ढक देने पर मुझे वड़ा ही कष्ट हुआ । इस वात को मातलि सारथि ने लक्ष्य कर लिया ॥११॥

लक्षयित्वा च मां भीतमिदं वचनमब्रवीत् ।
अर्जुनार्जुन मा भैस्त्वं वज्रमस्त्रमुदीरय ॥१२॥

मुझे भयभीत देखकर मातलि बोला—हे अर्जुन ! डरो मत । इस समय तुम वज्रास्त्र का प्रयोग करो ॥१२॥

ततोऽहं तस्य तद्वाक्यं श्रुत्वा वज्रमुदैरयम् ।
देवराजस्य दयितं भीममस्त्रं नराधिप ॥१३॥

हे नराधिप ! मातलि के वाक्य को सुनकर मैंने देवराज इन्द्र के वड़े प्रिय, भयङ्कर अस्त्र वज्र का उपयोग किया ॥१३॥

अचलं स्थानमासाद्य गाण्डीवमनुमन्त्र्य च ।
अमुञ्चं वज्रसंस्पर्शानायसान्निशितान् शरान् ॥१४॥

मैंने दृढ़ स्थान पर पहुँचकर और गाण्डीव धनुष को सम्भाल कर उससे वज्र-तुल्य लोहे के तीक्ष्ण बाण छोड़े ॥१४॥

ततो मायाश्च ताः सर्वा निवातकवचांश्च तान् ।
ते वज्रचोदिता बाणा वज्रभूताः समाविशन् ॥१५॥

मेरे ये वज्र से छोड़े हुए बाण, वज्र-तुल्य होकर दैत्यों की सारी माया का विनाश करके निवात-कवच-दैत्यों के शरीरों में प्रवेश करने लगे ॥१५॥

ते वज्रवेगविहता दानवाः पर्वतोपमाः।
इतरेतरमाश्लिष्य न्यपतन् पृथिवीतले ॥१६॥

वज्र के वेग के तुल्य वेग वाले मेरे बाणों से मरे हुए, पर्वत के समान आकार-धारी, दानव, एक-दूसरे के लिपट कर भूतल पर पड़ने लगे ॥१६॥

अन्तर्भूमौ च येऽगृहणन् दानवा रथवाजिनः ।
अनुप्रविश्य तान् वाणाः प्राहिण्वन् यमसादनम् ॥१७॥

भूमि के भीतर घुसकर जिन दानवों ने रथ के अश्वों को पकड़ रखा था, उनके शरीरों के भीतर भी घुसकर वाणों ने उनको यमराज के घर पहुँचा दिया ॥१७॥

हतैर्निवातकवचैर्निरस्तैः पर्वतोपमैः ।
समाच्छाद्यत देशः स विकीर्णैरिव पर्वतैः ॥१८॥

मारे हुए और इधर-उधर पड़े हुए, पर्वत के समान आकार-धारी, दैत्यों से यह युद्ध प्रदेश, फैले हुए पर्वतों से ढक हुआ सा दिखाई देता था ॥१८॥

न हयानां क्षतिः काचिन्न रथस्य न मातलेः ।
मम चादृश्यत तदा तदद्भुतमिवाभवत् ॥१९॥

इस युद्ध में अश्व, रथ, मातलि और मेरी कुछ भी हानि नहीं हुई, यह एक बड़ा ही अद्भुत चमत्कार हुआ ॥१९॥

ततो मां प्रहसन्राजन् मातलिः प्रत्यभाषत ।
नैतदर्जुन देवेषु त्वयि वीर्य्यं यदीक्ष्यते ॥२०॥

हे राजन्! अब हँसकर मातलि ने मुझसे कहा—हे अर्जुन! जो पराक्रम आज तुझ में देखा गया है, वैसा तो देवों में भी दिखाई नहीं पड़ता है ॥२०॥

हतेष्वसुरसंघेषु दारास्तेषान्तु सर्वशः ।
प्राक्रोशन्नगरे तस्मिन् यथा शरदि सारसाः ॥२१॥

असुरों के मारे जाने पर उनकी स्त्रियाँ सब ओर से नगर में शरदृऋतु में सारसों की तरह चिल्लाने लगीं॥२१॥

ततो मातलिना सार्द्धं महन्तत् पुरमभ्ययाम् ।
त्रासयन्रथघोषेण निवातकवचास्त्रियः ॥२२॥

अब मैं भी मातलि के साथ उस पुर में घुसा। मेरे रथ के घोष से निवात-कवच दैत्यों की स्त्रियाँ भयभीत होगयीं ॥२२॥

तान् दृष्ट्वा दशसाहस्रान् मयूरसदृशान् हयान् ।
रथञ्च रविसङ्काशं प्राद्रवन् गणशः स्त्रियः ॥२३॥

मयूर के सदृश हरे-नीले दश हज़ार अश्वों को और सूर्य के सदृश चमकीले रथ को देखकर, स्त्रियों के झुण्ड के झुण्ड इधर-उधर भागने लगे ॥२३॥

ताभिराभरणैः शब्दस्त्रासिताभिः समीरितः ।
शिलानामिव शैलेषु पतन्तीनामभूत्तदा ॥२४॥

इन डरी हुई महिलाओं के आभूषणों से उठा हुआ शब्द, पर्वत पर ढलकती हुई, शिला के शब्द के सदृश मालूम पड़ता था ॥ २४ ॥

वित्रस्ता दैत्यनार्य्यस्ताः स्वानि वेश्मान्यथाविशन् ।
वहुरत्नविचित्राणि शातकुम्भमयानि च ॥२५॥

इस समय भयभीत हुई, दैत्यों की नारियाँ, अनेक रत्नोंसे विचित्र, सुवर्ण के बने हुए अपने घरों में घुसने लगीं ॥२५॥

तदद्भुताकारमहं दृष्ट्वा नगरमुत्तमम् ।
विशिष्टं देवनगरादपृच्छं मातलिं ततः ॥२६॥

इस अद्भुत आकार वाले देवों के नगर से भी श्रेष्ठ, इन दैत्यों के उत्तम नगर को देखकर मैंने मातलि से पूछा ॥२६॥

इदमेवंविधं कस्माद्देवा नावासयन्त्युत ।
पुरन्दरपुराद्धीदं विशिष्टमुपलक्षये ॥२७॥

हे मातलि ! यह तो बड़ा ही मनोहर नगर है, इसमें देवता अपना निवास क्यों नहीं करते हैं ? मुझे तो यह इन्द्र के नगर से भी अधिक मनोहर प्रतीत होता है ॥२७॥

मातलिरुवाच—

आसीदिदं पुरा पार्थ देवराजस्य नः पुरम् ।
ततो निवातकवचैरितः प्रच्याविताः सुराः ॥२८॥

मातलि ने कहा--हे पार्थ ! यह नगर प्रथम देवों के ही पास था, परन्तु निवात-कवच दैत्यों ने इस नगर से देवों को निकाल दिया ॥२८॥

तपस्तप्त्वा महत्तीव्रं प्रसाद्य च पितामहम् ।
इदं वृतं निवासाय देवेभ्यश्चाभयं युधि ॥२९॥

दैत्यों ने बड़ा भारी तप करके पितामह ब्रह्मा को प्रसन्न कर लिया और ब्रह्माजी से युद्ध में देवों से निर्भय रखने वाले इस नगरका निवास मांगा ॥२९॥

ततः शक्रेण भगवान् स्वयम्भूरिति चोदितः ।
विधत्तां भगवानन्तमात्मनो हितकाम्यया ॥३०॥

अब इन्द्र ने भगवान् ब्रह्मा से कहा--हे भगवन् ! अब आप अपने और देवों के हितके लिए निवात-कवचों का अन्त करो।

तत उक्तो भगवता दिष्टमत्रेति भारत।
भवितान्तस्त्वमप्येषां देहेनान्येन शत्रुहन् ॥३१॥

हे भारत ! तब ब्रह्माजी ने कहा--हे शत्रुहन् ! इस विषयमें यहीं होनहार है, कि तू ही अन्य देह से इन दानवोंका नाश करेगा ३१

तत एषां वधार्थाय शक्रोऽस्त्राणि ददौ तव।
न हि शक्याः सुरैर्हन्तुं य एते निहतास्त्वया॥३२॥

इन दैत्यों के वध के लिए ही इन्द्र ने तुमको ये अस्त्र प्रदान किए हैं। जिन दैत्यों को तुमने मारा है, उनको देवता भी नहीं मार सकते थे ॥ ३२ ॥

कालस्य परिणामेन ततस्त्वमिह भारत।
एषामन्तकरः प्राप्तस्तत्त्वया च कृतं तथा ॥३३॥

हे भारत ! काल के चक्कर से इनका अन्त करने वाला, तू आप ही यहाँ चला आया और जिस तरह होनहार थी, तू ने इनका नाश कर दिया ॥३३॥

दानवानां विनाशाय अस्त्राणां परमं बलम्।
ग्राहितस्त्वं महेन्द्रेण पुरुषेन्द्र तदुत्तमम् ॥३४॥

हे पुरुषोत्तम ! दानवों के विनाश के लिए अस्त्रों का ही बड़ा बल माना जाता है। वह बल तुमको इन्द्र ने समर्पण कर दिया, यह बड़ा ही अच्छा हुआ ॥३४॥

अर्जुन उवाच—

ततः प्रशाम्य नगरं दानवांश्च निहत्य तान् ।
पुनर्मातलिना सार्द्ध मगच्छं देवसद्म तत् ॥३५॥

इति श्रीमहाभारत आरण्यपर्वणि निवातकवच-युद्ध पर्वणि निवातकवचवधे द्विसप्तत्यधिकशततमोऽध्यायः

अर्जुन ने कहा--हे भारत ! मैं नगर में शान्ति स्थापना करके और उन दैत्यों का संहार तथा संस्कार करके, फिर मातलि के साथ स्वर्ग लोक को चला आया ॥३५॥

इति श्रीमहाभारत वनपर्वान्तर्गत निवातकवचयुद्धपर्व में निवात कवच दानवों के वध का एक सौ वहत्तरवां अध्याय समाप्त हुआ

एक सौ तेहत्तरवां अध्याय

अर्जुन उवाच—

निवर्त्तमानेन मया महद्दृष्टं यतोऽपरम् ।
पुरं कामचरं दिव्यं पावकार्कसमप्रभम् ॥१॥

अर्जुन कहने लगा--हे राजन् ! जव मैं युद्ध भूमि से लौट रहा था, मैंने उस समय एक अन्य वड़ा नगर देखा, जो कामना के अनुसार घूमने वाला, दिव्य तथा अग्नि और सूर्य के सदृश देदीप्यमान था ॥१॥

रत्नद्रुममयैश्चित्रैः सुस्वरैश्च पतत्रिभिः ।
पौलोमैः कालकञ्जैश्च नित्यहृष्टैरधिष्ठितम् ॥२॥

गोपुराट्टालकोपेतं चतुर्द्वारं दुरासदम् ।
सर्वरत्नमयं दिव्यमद्भुतोपमदर्शनम् ॥३॥

यह नगर, उत्तम वृक्ष और मीठे स्वर वाले पक्षियों से सुशोभित तथा नित्य हृष्ट पुष्ट रहने वाले, पौलोम और कालकञ्ज संज्ञक दानवों से अधिष्ठित एवं गोपुर (वड़े २ द्वार) और अट्टालिकाओं से समन्वित था। इसमें प्रवेश करने के वड़े दुर्गम चार दरवाजे थे। यह सब रत्नों से युक्त, दिव्य, अद्भुत नगर था।

द्रुमैः पुष्पफलोपेतैः सर्वरत्नमयैर्वृतम् ।
तथा पतत्रिभिर्दिव्यैरुपेतं सुमनोहरैः ॥४॥
असुरैर्नित्यमुदितैः शूलर्ष्टिमुसलायुधैः।
चापमुद्गरहस्तैश्च स्रग्विभिः सर्वतो वृतम् ॥५॥

यह नगर, पुष्प और फलों से लदे हुए, वृक्षों में रत्न भूत वृक्षों से सुशोभित एवं मनोहर दिव्य पक्षियों से समन्वित, शूल, ऋष्टि, मुसल, चाप और मुद्गर, आदि शस्त्रों के धारण करने वाले, नित्य आनन्द में भरे हुए, मालाधारी असुरों से आवृत था ॥५॥

तदहं प्रेक्ष्य दैत्यानां पुरमद्भुतदर्शनम् ।
अपृच्छं मातलिं राजन् किमिदं वर्त्ततेऽद्भुतम् ॥६॥

हे राजन्! इस दैत्यों के अद्भुत मनोहर, नगर को देखकर, मैंने मातलि से पूछा-हे सारथे! यह क्या अद्भुत दृश्य दिखाई दे रहा है ॥६॥

मातलिरुवाच—

पुलोमा नाम दैतेयी कालका च महासुरी।
दिव्यं वर्षसहस्रन्ते चेरतुः परमं तपः ॥७॥

मातलि ने कहा--हे भारत ! पुलोमा और कालका नाम की दो राक्षसी थीं। इन्होंने एक हजार दिव्य वर्ष तक बड़ा भारी तप किया ॥७॥

तपसोऽन्ते ततस्ताभ्यां स्वयम्भूरददद्वरम् ।
अगृह्णीतां वरन्ते तु सुतानामपदुःखिताम् ॥८॥
अवध्यताञ्च राजेन्द्र सुरराक्षसपन्नगैः ।
पुरं सुरमणीयञ्च खेचरं सुमहाप्रभम् ॥६॥
सर्वरत्नैः समुदितं दुर्द्धर्षममरैरपि ।
महर्षियक्षगन्धर्वपन्नगासुरराक्षसैः ॥१०॥
सर्वकामगुणोपेतं वीतशोकमनामयम् ।
ब्रह्मणा भरतश्रेष्ठ कालकेयकृते कृतम् ॥११॥

जब इनका तप सम्पूर्ण होगया, तो ब्रह्माजी ने वरदान दिया। इन्होंने अपने पुत्रों के दुःख का अभाव तथा सुर, राक्षस और सर्प जाति से उनका अवध्य रहना मांगा एवं रमणीक, आकाशचारी, जाज्वल्यमान सारे रत्नों से ऐश्वर्य शाली, देव, महर्षि, यक्ष, गन्धर्व, पन्नग, असुर और राक्षसों से आक्रमण के अयोग्य, सब इच्छाओं को पूर्ण करने वाला, शोक रोग से रहित, एक नगर मांगा। हे भरत-श्रेष्ठ ! यह नगर ब्रह्मा जी ने कालकेय राक्षसों के लिए रचा हैं॥ ८-११ ॥

तदेतत् खपुरं दिव्यं चरत्यमरवर्जितम् ।
पौलोमाध्युषितं वीर कालकञ्जैश्च दानवैः ॥१२॥

हिरण्यपुरमित्येवं ख्यायते नगरं महत्।
रक्षितं कालकेयैश्च पौलोमैश्च महासुरैः ॥१३॥
तत्र ते मुदिता राजन्नवध्याः सर्वदैवतैः।
निवसन्त्यत्र राजेन्द्र गतोद्वेगा निरुत्सुकाः ॥१४॥

यह दिव्य नगर आकाश में उड़ता है और इसमें देवों का प्रवेश नहीं हो सकता है। इस में पौलोम और कालकञ्ज नामक दैत्य रहते हैं। इस पुर का नाम हिरण्यपुर है। इसकी कालकेय और पौलोम जैसे बड़े २ असुर रक्षा करते हैं। हे राजन्! इनको देवता नहीं मार सकते हैं, इससे ये सब बड़े आनन्द से उद्वेग रहित होकर इस नगर में निवास करते हैं॥ १२--१४॥

मानुषान्मृत्युरेतेषां निर्दिष्टो ब्रह्मणा पुरा।
एतानपि रणे पार्थ कालकञ्जान् दुरासदान्।
वज्रास्त्रेण नयस्वाशु विनाशं सुमहाबलान् ॥१५॥

पूर्वकाल में ब्रह्माजी ने इनकी मृत्यु, मनुष्यों से निर्माण करदी है। हे पार्थ! अब तुम रण में इन अजेय, महाबली कालकञ्जों को वज्रास्त्र से शीघ्र नष्ट कर दो॥ १५॥

अर्जुन उवाच—

सुरासुरैरबध्यन्तदहं ज्ञात्वा विशाम्पते।
अब्रुवं मातलिं हृष्टो याह्येतत् पुरमञ्जसा।
त्रिदशेशद्विषो यावत् क्षयमस्त्रैर्नयाम्यहम् ॥१६॥
न कथञ्चिद्धि मे पापा न बध्या ये सुरद्विषः।

अर्जुन ने कहा—हे विशाम्पते ! जब मैंने यह जान लिया, कि यह नगर सुर असुरों से अवध्य है, तो प्रसन्न होकर मातलि से कहा—तुम शीघ्र इस नगर में चलो, मैं इन्द्र के शत्रुओं को अपने अस्त्रों से नष्ट करूंगा। इन सुर-द्वेषी पापी राक्षसों को मैं न मारूं-यह कभी नहीं हो सकता है ॥ १६ ॥

उवाह मां ततः शीघ्रं हिरण्यपुरमन्तिकात् ॥१७॥
रथेन तेन दिव्येन हरियुक्तेन मातलिः ।

इसके बाद मातलि सारथि मुझे शीघ्र ही हिरण्यपुर के समीप तीव्र-गति से चलने वाले अश्वों से युक्त, दिव्य रथ से ले गया ॥ १७ ॥

ते मामालक्ष्य दैतेया विचित्राभरणाम्बराः ॥१८॥
समुत्पेतुर्महावेगा रथानास्थाय दंशिताः ।

ये विचित्र आभूषण और वस्त्र-धारी, दैत्य, मुझे देख कर दांत पीसते हुए, रथों में बैठ कर बड़े वेग से मुझ पर दौड़े ॥१८॥

ततो नालीकनाराचैर्भल्लैः शक्त्यृष्टितोमरैः ॥१९॥
प्रत्यघ्नन् दानवेन्द्रा मां क्रुद्धास्तीव्रपराक्रमाः ।

बड़े क्रोध में भरे हुए तीव्र पराक्रमी, दानव, नालीक, नाराच (बाण) भाले, शक्ति, ऋष्टि और तोमरों से मुझे मारने लगे ।१९।

तदहं शरवर्षेण महता प्रत्यवारयम् ॥२०॥
शस्त्रवर्षं महद्राजन् विद्याबलमुपाश्रितः ।
व्यमोहयञ्च तान् सर्वान् रथमार्गैश्चरन् रणे ॥२१॥

हे राजन् ! विद्याबल का आश्रय लेकर मैंने भी बड़ी भारी बाणों की वर्षा से इन शस्त्रों की वर्षा को रोका और इस रण में रथ की अनेक चालों से चलकर सबको मोहित कर दिया ॥ २०—२१ ॥

तेऽन्योन्यमभिसम्मूढाः पातयन्ति स्म दानवाः ।
तेषामेवं विमूढानामन्योन्यमभिधावताम् ॥२२॥
शिरांसि विशिखैर्दीप्तैर्न्यहनं शतसङ्घशः ।

मोहित हुए ये राक्षस, अपने दैत्यों को आपस में मारने लगे। इस प्रकार मूढ़ हुए और एक दूसरे की ओर दौड़ते हुए, दैत्यों के सैकड़ों शिरों को मैंने अपने चमकते हुए बाणों से काट गिराया ॥ २२ ॥

ते वध्यमाना दैतेयाः पुरमास्थाय तत् पुनः॥२३॥
समुत्पेतुः स्वनगरान्मायामास्थाय दानवीम् ।

इस प्रकार मारे पीटे हुए दानव, उसी पुर में जा पहुँचे और दानवी माया का आश्रय लेकर फिर उस नगर से बाहर निकले ॥ २३॥

ततोऽहं शरवर्षेण महता कुरुनन्दन ॥२४॥
मार्गमावृत्य दैत्यानां गतिं चैषामवारयम् ।

हे कुरुनन्दन ! मैंने भी बड़ी भारी शरों की वर्षा से मार्ग रोक कर, दैत्यों की चालों को रोक दिया ॥२४॥

तत् पुरं खेचरं दिव्यं कामगं सूर्य्यसप्रभम् ॥२५॥
दैतेयैर्वरदानेन धार्य्यते स्म यथासुखम् ।

अन्तर्भूमौ निपतितं पुनरूर्ध्वं प्रतिष्ठते ॥२६॥
पुनस्तिर्य्यक् प्रयात्याशु पुनरप्सु निमज्जति ।

यह आकाशगामी, दिव्य, कामचारी, सूर्यके समान तेजधारी पुर था। ब्रह्माके वरदानसे सुख-पूर्वक दैत्यों के पास मौजूद था। यह कभी तो भूमि के भीतर जाता और कभी ऊपर उठ आता था। यह कभी टेढ़ा चल पढ़ता और कभी पानी में डूब जाता था ॥ २५—२६ ॥

अमरावतिसङ्काशं तत् पुरं कामगं महत् ॥२७॥
अहमस्त्रैर्वहुविधै प्रत्यगृह्णं परन्तप ।

हे परन्तप ! यह विशाल नगर, इन्द्र की अमरावती के तुल्य सुन्दर और कामचारी था। मैंने अनेक अस्त्रों से इस नगर पर आक्रमण किया ॥ २७ ॥

ततोऽहं शरजालेन दिव्यास्त्रमुदितेन च ॥२८॥
ब्यगृह्णं सह दैतेयैस्तत् पुरं पुरुषर्षभ ।

हे पुरुषर्षभ, बड़ी भारी वाणों की वर्षा और दिव्य अस्त्रों से मैंने दैत्यों के साथ उस पुर से युद्ध करना आरम्भ किया ॥ २८ ॥

विक्षतं चायसैर्बाणैर्मत्प्रयुक्तैरजिह्मगैः ॥२९॥
महीमभ्यपतद्राजन् प्रमुखं पुरमासुरम् ।

हे राजन, मेरे चलाये हुए सीधे लोहे के वाणों से यह नगर चकना-चूर होकर नीचे गिर पड़ा ॥ २९ ॥

वध्यमाना मद्बाणैर्वज्रवेगैरयस्मयैः ॥३०॥
पर्य्यभ्रमन्त वै राजन्नसुराः कालचोदिताः ।

हे राजन्, वज्र के तुल्य वेग वाले मेरे लोहे के बाणों से मारे हुए, काल के वशीभूत दैत्य, चक्कर खाने लगे ॥३०॥

ततो मातलिरारुह्य पुरस्तान्निपतन्निव ॥३१॥
महीमवातरत् क्षिप्रं रथेनादित्यवर्चसा ।

अब मातलि, आकाश में चढ़ा और आगे के भाग से गिरता हुआ सा सूर्य के समान चमकने वाले, रथ से शीघ्र पृथ्वी पर उतर पड़ा ॥३१॥

ततो रथसहस्राणि षष्टिस्तेषाममर्षिणाम् ॥३२॥
युयुत्सूनां मया सार्द्धं पर्य्यवर्त्तन्त भारत ।
तान्यहं निशितैर्बाणैर्व्यधमङ्गार्द्धराजितैः ॥३३॥

हे भारत, उन क्रोध-शील, युद्ध की इच्छा वाले, साठ हजार रथों में बैठे हुए, दैत्य, मेरे साथ भिड़ गए। मैंने भी गीध की पर से सुशोभित, तीक्ष्ण बाणों से उनको बींध डाला। ।३२-३३॥

ते युद्धे संन्यवर्त्तन्त समुद्रस्य यथोर्मयः ।
नेमे शक्या मानुषेण युद्धेनेति प्रचिन्त्य तत् ॥३४॥
ततोऽहमानुपूर्व्येण दिव्यान्यस्त्राण्ययोजयम् ।

ये राक्षस, समुद्र में उठने वाली, लहरों के सदृश, फिर लौट पड़े। अब मैंने सोचा, कि ये इस मनुष्यों के ढङ्ग के युद्ध से वश में नहीं आवेंगे। इस समय मैंने क्रम से दिव्य अस्त्रों को सम्हाला ॥-३४॥

महाभारत चित्रसंख्या ४०

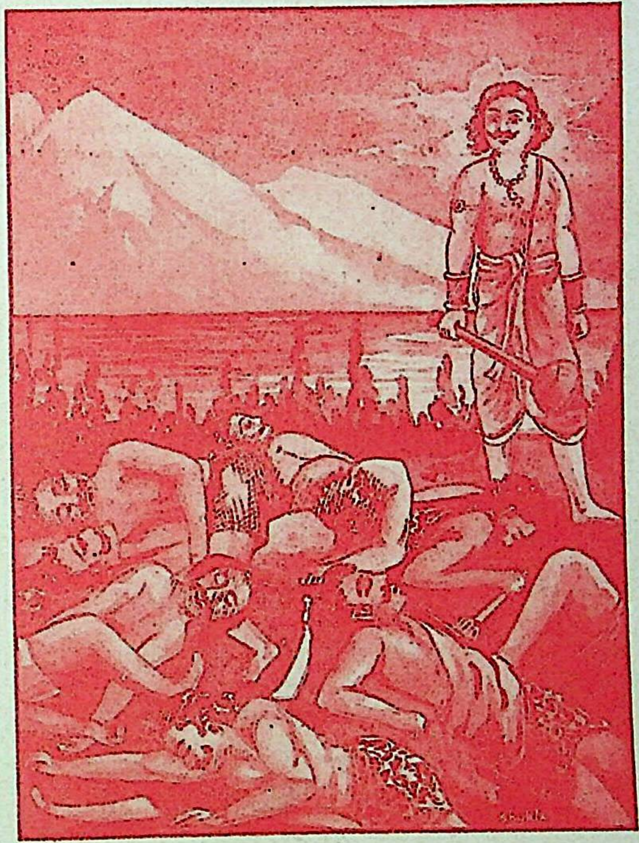

महावली भीम-द्वारा सहस्रों राक्षसों का वध
महा० वनपर्व अ० १६०--५२ पृष्ठ २६८

ततस्तानि सहस्राणि रथिनां चित्रयोधिनाम् ।।३५।।
अस्त्राणि मम दिव्यानि प्रत्यघ्नञ्छनकैरिव ।

इन अद्भुत युद्ध करने वाले, सहस्रों महारथियों ने, मेरे दिव्य अस्त्रों को धीरे २ काट डाला ।।३५।।

रथमार्गान् विचित्रास्ते विचरन्तो महावलाः ।।३६।।
प्रत्यदृश्यन्त संग्रामे शतशोऽथ सहस्रशः ।
विचित्रमुकुटापीड़ा विचित्रकवचध्वजाः ।।३७।।
विचित्राभरणाश्चैव नन्दयन्तीव मे मनः ।

ये महावली, अनेक रथ के मार्गों से चलते हुए । संग्राम में सैंकड़ों हजारों की संख्या में दिखाई पड़ रहे थे । इनके मुकुटों की माला, कवच, ध्वजा, बड़े २ विचित्र थे । ये सब विचित्र आभूषण पहने हुए थे, जिनको देखकर मेरा मन प्रसन्न होता था ।

अहन्तु शरवर्षैस्तानस्त्रप्रचुदितैरणे ।।३८।।
नाशक्नवं पीड़यितुं ते तु मां प्रत्यपीड़यन् ।

मैंने भी रण में अस्त्रों से फैंके हुए शरों के समूह से उनको पीड़ित करना चाहा, परन्तु मैं तो उनको पीड़ित नहीं कर सका, उन्होंने मुझे ही दुःखी कर दिया ।।३८।।

तैः पीड्यमानो वहुभिः कृतास्त्रैः कुशलैर्युधि ।।३९।।
व्यथितोऽस्मि महायुद्धे भयं चागान्महन्मम ।

युद्ध में कुशल, शस्त्र विद्या के ज्ञाता दैत्यों ने, मुझे वहुत ही पीड़ित किया । मैं इस महा-युद्ध में वड़ा ही व्यथित हुआ और मुझ पर वड़ा भारी भय सवार होगया ।।३९।।

ततोऽहं देवदेवाय रुद्राय प्रयतो रणे ।।४०।।
स्वस्ति भूतेभ्य इत्युक्त्वा महास्त्रं समचोदयम् ।
यत्तद्रौद्रमिति ख्यातं सर्वमित्रविनाशनम् ।।४१।।

अब रण में मैंने सावधानी से देवों के देव रुद्र को प्रणाम किया और प्राणीमात्र का कल्याण हो-यह कर उस दिव्य अस्त्र को छोड़ दिया, जो सारे शत्रुओं का नाशक है और रौद्रास्त्र जिसका नाम है ।।४०—४१।।

ततोऽपश्यं त्रिशिरसं पुरुषं नवलोचनम् ।
त्रिमुखं षड्भुजं दीप्तमर्कज्वलनमूर्द्धजम् ।।४२।।

अब मैंने तीन शिर, तीन मुख, नव नेत्र, और छः भुजा वाला पुरुष देखा । जिसके वाल अग्नि और सूर्य के सदृश चमक रहे थे ।।४२।।

लेलिहानैर्महानागैः कृतापीड़ममित्रहन् ।
विभीस्ततस्तदस्त्रन्तु घोरं रौद्रं सनातनम् ।।४३।।
दृष्ट्वा गाण्डीवसंयोगमानीय भरतर्षभ ।
नमस्कृत्वा त्रिनेत्राय शर्वायामिततेजसे ।।४४।।
मुक्तवान् दानवेन्द्राणामभावाय परन्तप ।

हे शत्रुनाशक ! इसने जीभ लपलपाते हुए, बड़े २ नागों की की मुकुट की माला वना रखी थी । इसको देखकर मैं निर्भय हो गया । हे भरतर्षभ ! अब मैंने उस सनातन, घोर रुद्रास्त्र की ओर देखा और उसको अपने गाण्डीव पर चढ़ाया । हे परन्तप !

दानवों के अभाव करने के लिए, मैंने अत्यन्त--तेजस्वी, त्रिनेत्र भगवान् शङ्कर को प्रणाम करके इस अस्त्र को छोड़ दिया ४३-४४

मुक्तमात्रे ततस्तस्मिन् रूपाण्यासन् सहस्रशः ।।४५
मृगाणामथ सिंहानां व्याघ्राणाञ्च विशाम्पते ।
ऋक्षाणां महिषाणाञ्च पन्नगानां तथा गवाम् ।।४६
शरभाणां गजानाञ्च वानराणांञ्च सङ्घशः ।
ऋषभाणां वराहाणां मार्जाराणां तथैव च ।।४७।।
शालावृकाणां प्रेतानां भुरुण्डानाञ्च सर्वशः ।
गृध्राणां गरुड़ानाञ्च चमराणां तथैव च ।।४८।।
वृकाणां पर्वतानाञ्च समुद्राणां तथैव च ।
देवानाञ्च ऋषीणाञ्च गन्धर्वाणाञ्च सर्वशः ।
पिशाचानां सयक्षाणां तथैव च सुरद्विषाम् ।।४९।।
गुह्यकानाञ्च संग्रामे नैऋतानां तथैव च ।
झषाणां गजवक्त्राणामुलूकानां तथैव च ।।५०।।
मीनवाजिसरूपाणां नानाशस्त्रासिपाणिनाम् ।
तथैव यातुधानानां गदामुद्गरधारिणाम् ।।५१।।

हे राजन्! इस अस्त्र को छोड़ते ही राक्षसों के हजारों रू निकल पड़े। मृग, सिंह, व्याघ्र, रीछ, भैंसे, सर्प, बैल, शरभ, गज, बानर, ऋषभ, (बड़े बैल) वराह, बिलाव, शालवृक, प्रेत, भुरुण्ड, गीध, गरुड़, चमर, वृक (भेड़िये) पर्वत, समुद्र, देव, ऋषि, गन्धर्व, पिशाच, यक्ष, असुर, गुह्यक, नैर्ऋत, मत्स्य, गजमुख (मकर) उलूक तथा मछली और घोड़े के सदृश रूप वाले,

यातुधान (राक्षस) उत्पन्न हुए। जिन्होंने अनेक शस्त्र, तलवार, गदा, मुद्गर, धारण कर रखे थे ।।४५—५१।।

एतैश्चान्यैश्च बहुभिर्नानारूपधरैस्तथा ।
सर्वमासीज्जगद्व्याप्तं तस्मिन्नस्त्रे विसर्जिते ।।५२।।

इस शस्त्र के छोड़ने के अनन्तर उपर्युक्त आकार-धारी, प्राणियों तथा अन्य बहुत से आकार-धारी दैत्यों से यह सारा जगत्, व्याप्त हो गया ।।५२।।

त्रिशिरोभिश्चतुर्दंष्ट्रैश्चतुरास्यैश्चतुर्भुजैः ।
अनेकरूपसंयुक्तैर्मांसमेदोवसास्थिभिः ।।५३।।

इनमें कोई तीन शिर वाले कोई चार दांत, चार मुख और चार २ भुजा वाले थे। माँस, मेद, वसा (चर्वी) और हड्डी लिए हुए, अनेक रूप धारी यातुधान, उस समय प्रकट हुए ।।५३।।

अभीक्ष्णं वध्यमानास्ते दानवा नाशमागताः ।
अर्कज्वलनतेजोभिर्वज्राशनिसमप्रभैः ।।५४।।
अद्रिसारमयैश्चान्यैर्बाणैरपि निबर्हणैः ।
न्यहनं दानवान् सर्वान् मुहूर्त्तेनैव भारत ।।५५।।

हे भारत ! अब मैंने सूर्य और अग्नि के सदृश तीक्ष्ण वज्र के तुल्य कठोर, अद्रिसार (लोहे) के बने हुए नाशकारी बाणों से लगातार दैत्यों को मारना आरम्भ किया। तब कहीं कुछ काल में जाकर इन दैत्यों का विनाश हुआ ।।५४—५५।।

गाण्डीवास्त्रप्रणुन्नांस्तान् गतासून्नभसश्च्युतान् ।
दृष्ट्वाहं प्रणमं भूयस्त्रिपुरघ्नाय वेधसे ।।५६।।

गाण्डीव धनुष से विक्षत, मरे हुए, दानव, आकाश से गिरने लगे । मैंने इस दृश्य को देखकर फिर त्रिपुर-नाशक, भगवान् शंकर को प्रणाम किया ।।५६।।

तथा रौद्रास्त्रनिष्पिष्टान् दिव्याभरणभूषितान् ।
निशम्य परमं हर्षमगमद्देवसारथिः ।।५७।।

दिव्य आभूषणों से विभूषित दानवों को इस रौद्रास्त्र से चकना-चूर हुए सुनकर, इन्द्र का सारथि मातलि. बड़ा ही हर्षित हुआ ।।५७।।

तदसह्यं कृतं कर्म देवैरपि दुरासदम् ।
दृष्ट्वा मां पूजयामास मातलिः शक्रसारथिः ।।५८।
उवाच वचनञ्चेदं प्रीयमाणः कृताञ्जलिः ।
सुरासुरैरसह्यं हि कर्म यत् साधितं त्वया ।।५९।।
न ह्येतत् संयुगे कर्त्तुमपि शक्तः सुरेश्वरः ।

अर्जुन ने देवों से भी नहीं किया जाने वाला, यह असह्य कर्म कर डाला है--यह देखकर इन्द्र के सारथि मातलि ने मेरा बड़ा आदर किया और हाथ जोड़कर प्रसन्नता के साथ कहा-हे अर्जुन ! आज तुमने सुर और असुरों से भी नहीं होने वाले कामको पूरा किया। इस कार्य कों युद्ध में स्वयं इन्द्र भी नहीं कर सकता था

सुरासुरैरवध्यं हि पुरमेतत् खगं महत् ।।६०।।
त्वया विमथितं वीर स्ववीर्य्यतपसो बलात् ।

यह आकाश-चारी विशाल नगर सुर और असुर दोनों से वध नहीं पा सकता था । हे वीर ! तुमने अपने पराक्रम और तप से बल पूर्वक इस नगरको मथ डाला।।५८-६०।।

विध्वस्तेऽथ पुरे तस्मिन् दानवेषु हतेषु च ॥६१॥
विनदन्त्यः स्त्रियः सर्वा निष्पेतुर्नगराद्बहिः ।
प्रकीर्णकेश्यो व्यथिताः कुरर्य्य इव दुःखिताः ॥६२॥

इस नगर के विध्वंस कर देने और दैत्यों के मार लेने पर उनकी सारीं स्त्रियां विलाप करती हुई नगर के बाहर आईं। इनके बाल विखरे हुए थे। ये व्याकुल और दुःखी हुई कुररी की भांति चिल्ला रही थी ॥६१-६२॥

पेतुः पुत्रान् पितॄन् भ्रातॄन् शोचमाना महीतले ।
रुदन्त्यो दीनकण्ठास्ता निनदन्त्यो हतेश्वराः ॥६३॥
उरांसि परिनिघ्नन्त्यो विस्रस्तस्रग्विभूषणाः ।

ये स्त्रियां, अपने पुत्र, पिता, भाइयों का शोक करके पृथिवी में गिरने लगी और जिनके पति मर चुके, वे दीन-कण्ठ से अपने पतियों की याद करके रोने चिल्लाने लगी। यह अपनी छाती पीट रहीं थीं और इनके माला और आभूषण-विखर कर गिर गए थे ॥६३॥

तच्छोकयुक्तमश्रीकं दुःखदैन्यसमाहतम् ॥६४॥
न बभौ दानवपुरं हतत्विट्कं हतेश्वरम् ।

शोक से व्याप्त, शोभा-रहित, निस्तेज, दुःख और दैत्य से परिपूर्ण, यह विशाल दानवपुर, अपने स्वामी के नष्ट हो जाने से उजाड़ दिखाई देता था ॥६४॥

गन्धर्वनगराकारं हतनागमिव ह्रदम् ॥६५॥
शुष्कवृक्षमिवारण्यमदृश्यमभवत् पुरम् ।

यह नगर, गन्धर्व नगर (बाजीगर के दिखाये हुए) की भांति अदृश्य हो गया और इसकी शोभा नष्ट हाथी वाले सरोवर तथा शुष्क वृक्षों वाले वन की तरह नष्ट हो गई ॥६५॥

मान्तु संहृष्टमनसं क्षिप्रं मातलिरानयत् ॥६६॥
देवराजस्य भवनं कृतकर्माणमाहवात् ।

अब मैं प्रसन्न हो रहा था। मुझे कृत-कार्य समझ कर मातलि इसी दशा में युद्ध से इन्द्र के भवन पर ले आया ॥६६॥

हिरण्यपुरमुत्सृज्य निहत्य च महासुरान् ॥६७॥
निवातकवचांश्चैव ततोऽहं शक्रमागमम् ।
मम कर्म च देवेद्रं मातलिर्विस्तरेण तत् ॥६८॥
सर्वं विश्रावयामास यथाभूतं महाद्युते ।
हिरण्यपुरपातञ्च मायानाञ्च निवारणम् ॥६९॥
निवातकवचानाञ्च वधं सङ्ख्ये महौजसाम् ।

हे महाद्युते! मैं उन निवात-कवच दानवों को मार कर और उस हिरण्यपुर को छोड़कर इन्द्र के पास आया। मेरे इस सारे काम को मातलि सारथि ने देवराज को विस्तार के साथ सुनाया, कि किस प्रकार हिरण्यपुर का पतन किया गया, किस प्रकार दैत्यों की माया का निवारण किया और किस तरह युद्ध में महा-ओजस्वी, निवात कवचों का वध किया गया ॥६७-६९॥

तच्छ्रुत्वा भगवान् प्रीतः सहस्राक्षः पुरन्दरः ॥७०॥
मरुद्भिः सहितः श्रीमान् साधु साध्वित्यथाब्रवीत्।

यह सुनकर सहस्र-नेत्र-धारी, ऐश्वर्य-शील, भगवान् देवराज इन्द्र ने, देवों के साथ, मेरी बड़ी प्रशंसा की और साधु शब्द का उच्चारण किया ॥-७०॥

ततो मां देवराजो वै समाश्वास्य पुनः पुनः ॥७१॥
अब्रवीद्विबुधैः सार्द्धमिदं सुमधुरं वचः।
अतिदेवासुरं कर्म कृतमेव त्वया रणे ॥७२॥
गुर्वर्थश्च कृतः पार्थ महाशत्रून् घ्नता मम।

अब देवराज ने मुझे बार २ सान्त्वना देकर देवों के साथ यह मधुर वचन कहा। हे पार्थ! तूने रण में देव और असुरों से भी नहीं होने वाला कार्य कर डाला है। तुमने मेरे शत्रुओं को मार कर गुरु-दक्षिणा समर्पण करदी है ॥७१-७२॥

एवमेव सदा भाव्यं स्थिरेणाजौ धनञ्जय ॥७३॥
असंमूढेन चास्त्राणां कर्त्तव्यं प्रतिपादनम्।
अविषह्यो रणे हि त्वं देवदानवराक्षसैः ॥७४॥
सयक्षासुरगन्धर्वैः सपक्षिगणपन्नगैः।

हे धनञ्जय! तू इसी तरह ही भविष्य में भी युद्ध में दृढ़ रहेगा। अब तुझे सावधानी से अस्त्र ग्रहण करने चाहिए। तुम देव, दानव, राक्षस, यक्ष, असुर, गन्धर्व, पक्षिगण, पन्नग आदि जाति के वीर,युद्ध में तुम्हारे वेग को नहीं सह सकते हैं ॥७३-७४

वसुधाञ्चापि कौन्तेय त्वद्बाहुबलनिर्जिताम्।
पालयिष्यति धर्मात्मा कुन्तीपुत्रो युधिष्ठिरः॥७५॥

इति श्रीमहाभारत आरण्यपर्वणि निवातकवचयुद्धपर्वणि हिरण्यपुरदैत्यवधे त्रिसप्तत्यधिकशततमोऽध्यायः॥१७३॥

हे कौन्तेय ! तुम्हारी भुजाओं के बल से जीती हुई पृथिवी को भी कुन्ती-पुत्र, धर्मराज युधिष्ठिर, धर्म से शासन करेंगे ॥७५॥

इति श्रीमहाभारत निवातकवचयुद्धपर्व में हिरण्यपुर और दैत्यों के वध का एक सौ तेहत्तरवां अध्याय पूरा हुआ।

एक सौ चौहत्तरवां अध्याय

अर्जुन उवाच —

ततो मामतिविश्वस्तं संरूढशरविक्षतम् ।
देवराजो विगृह्येदं काले वचनमब्रवीत् ॥१॥

अर्जुन कहने लगा—हे राजन्! जब मैंने अच्छी तरह विश्राम कर लिया और मेरे बाणों के घाव अच्छे हो गए, तो देवराज इन्द्र ने मुझे बुलाकर समय पर यह वचन कहा ॥१॥

दिव्यान्यस्त्राणि सर्वाणि त्वयि तिष्ठन्ति भारत ।
न त्वाभिभवितुं शक्तो मानुषो भुवि कश्चन ॥२॥

हे भारत ! तेरे पास सारे दिव्य अस्त्र, विद्यमान है। अब पृथिवी पर कोई भी मनुष्य, तुमको पराजित नहीं कर सकता ॥२॥

भीष्मो द्रोणः कृपः कर्णः शकुनिः सह राजभिः ।
संग्रामस्थस्य ते पुत्र कलां नार्हन्ति षोड़शीम् ॥३॥

हे पुत्र ! भीम, द्रोण, कृप, कर्ण और शकुनि तथा अन्य राजा लोग युद्ध-स्थल में खड़े होने पर तेरे सोलहवें भाग को भी नहीं पा सकेंगे । ॥३॥

इदञ्च मे तनुत्राणां प्रायच्छन्मघवान् प्रभुः ।
अभेद्यं कवचं दिव्यं स्रजश्चैव हिरण्मयीम् ॥४॥

शक्ति-शाली, इन्द्र ने मुझे यह अभेद्य, दिव्य, शरीर की रक्षा करने वाला, कवच और यह सुवर्ण की माला प्रदान की है ॥४॥

देवदत्तश्च मे शङ्खं पुनः प्रादान्महारवम् ।
दिव्यञ्चेदं किरीटं मे स्वयमिन्द्रो युयोज ह ॥५॥

यह महान् शब्द करने वाला; देवदत्त नामक शङ्ख दिया और यह दिव्य मुकुट, इन्द्र ने स्वयं अपने हाथ से मेरे मस्तक पर लगाया है ॥५॥

ततो दिव्यानि वस्त्राणि दिव्यान्याभरणानि च ।
प्रादाच्छक्रो ममैतानि रुचिराणि बृहन्ति च ॥६॥
एवं संपूजितस्तत्र सुखमस्म्युषितो नृप ।
इन्द्रस्य भवने पुण्ये गन्धर्वशिशुभिः सह ॥७॥

ये बड़े २ सुन्दर, दिव्य वस्त्र, और आभूषण मुझे इन्द्र ने ही अर्पण किए हैं । हे राजन् ! इस प्रकार मैं इन्द्र के भवन में गन्धर्व के बालकों के साथ बड़े आदर और सुख से रहा ॥६-७॥

ततो मामब्रवीच्छक्रः प्रीतिमानमरैः सह ।
समयोऽर्जुन गन्तु ते भ्रातरो हि स्मरन्ति ते ॥८॥

अब देवों के साथ प्रेम करनेवाले इन्द्र ने मुझ से कहा—हे अर्जुन ! यह समय तुम्हारे गमन करने का है, क्योंकि तुम्हारे भाई तुम्हें याद कर रहे हैं ॥८॥

एवमिन्द्रस्य भवने पञ्च वर्षाणि भारत ।
उषितानि मया राजन् स्मरतां द्यूतजं कलिम् ॥९॥

हे भारत ! इस प्रकार मैंने इन्द्र के भवन पर पांच वर्ष तक निवास किया, परन्तु मैं वहां भी उस जुआ के कलह या तिरस्कार को नहीं भूला, किन्तु इसका स्मरण ही करता रहता था ॥ ९ ॥

ततो भवन्तमद्राक्षं भ्रातृभिः परिवारितम् ।
गन्धमादनपादस्य पर्वतस्यास्य मूर्द्धनि ॥१०॥

आज मैंने गन्धमादन पर्वत की चोटी पर भाइयों के साथ बैठे हुए आपके दर्शन किए हैं ॥ १० ॥

युधिष्ठिर उवाच

दिष्ट्या धनञ्जयास्त्राणि त्वया प्राप्तानि भारत ।
दिष्ट्या चाराधितो राजा देवानामीश्वरः प्रभुः॥११॥

युधिष्ठिर बोले—हे भरत-वंश-श्रेष्ठ ! अर्जुन ! तुमने सारे अस्त्र ग्रहण कर लिए और देवों के स्वामी, शक्ति-शाली, इन्द्र को भी प्रसन्न कर लिया, यह बड़ा ही अच्छा किया ॥ ११ ॥

~~युधिष्ठिर उवाच~~—

दिष्ट्या च भगवान् स्थाणुर्देव्या सह परन्तप ।
साक्षाद्दृष्टः स्वयुद्धेन तोषितश्च त्वयानघ ॥१२॥

हे परन्तप ! अनघ ! पार्वती के साथ भगवान शंकर के दर्शन किए और युद्ध से उनको सन्तुष्ट किया, यह भी बड़ा ही अच्छा हुआ ॥ १२ ॥

दिष्ट्या च लोकपालैस्त्वं समेतो भरतर्षभ ।
दिष्ट्या वर्द्धामहे पार्थ दिष्ट्यासि पुनरागतः॥१३॥

हे भरतर्षभ ! तुम्हारी सारे लोक-पालों से मुलाकात हो गई, यह बड़ी अच्छी बात हुई। हे पार्थ ! आज तुम लौट आए-यह बड़ा ठीक हुआ, अब हम उन्नति को प्राप्त होंगे ॥ १३ ॥

अद्य कृत्स्नां महीं देवीं विजितां पुरमालिनाम् ।
मन्ये च धृतराष्ट्रस्य पुत्रानपि वशीकृतान् ॥१४॥

मैं तो आज सारे नगरों से सुशोभित सारी पृथिवी को जीती हुई सी मानता हूं और धृतराष्ट्र के पुत्र, वश में हुए प्रतीत होते हैं ॥ १४ ॥

इच्छामि तानि चास्त्राणि द्रष्टुं दिव्यानि भारत ।
यैस्तथावीर्य्यवन्तस्ते निवातकवचा हताः ॥१५॥

हे भारत ! अब मैं उन अस्त्रों को देखना चाहता हूं, जिन से तुमने महा पराक्रमी निवात-कवच दैत्यों को मारा है ॥ १५ ॥

श्वः प्रभाते भवान् द्रष्टा दिव्यान्यस्त्राणि सर्वशः ।
निवातकवचा घोरा यैर्मया विनिपातिताः ॥१७॥

अर्जुन ने कहा—अब आप इन सारे दिव्य अस्त्रों को कल अच्छी तरह देखना, जिनसे मैंने ये घोर निवात-कवच दैत्य मारे हैं ॥ १६ ॥

वैशम्पायन उवाच—

एवमागमनं तत्र कथयित्वा धनञ्जयः।
भ्रातृभिः सहितः सर्वैः रजनीं तामुवास ह ॥१७॥

इति श्रीमहाभारत आरण्यपर्वणि निवातकवचयुद्धपर्वणि अस्त्रदर्शने चतुःसप्तत्यधिकशततमोऽध्यायः॥१७४॥

वैशम्पायन बोले—हे राजन्! इस प्रकार अर्जुन ने इन सब भाइयों से अपने लौट कर आने की यात्रा का समाचार सुनाया। इसके बाद यह अपने भाइयों के साथ रात में सोने को चल दिया॥ १७॥

इति श्रीमहाभारत वनपर्वान्तर्गत निवात-कवच-युद्ध-पर्व में अस्त्र दर्शन का एक सौ चौहत्तरवां अध्याय समाप्त हुआ।

एक सौ पिचहत्तरवां अध्याय

वैशम्पायन उवाच—

तस्यां रात्र्यां व्यतीतायां धर्मराजो युधिष्ठिरः।
उत्थायावश्यकार्य्याणि कृतवान् भ्रातृभिः सह॥१॥

वैशम्पायन बोले—हे राजन्! उस रात के बीत जाने पर धर्मराज युधिष्ठिर ने उठ कर अपने भाइयों के साथ आवश्यक नित्य कर्म किए॥ १॥

ततः सञ्चोदयामास सोऽर्जुनं भ्रातृनन्दनम् ।
दर्शयास्त्राणि कौन्तेय यैर्जिता दानवास्त्वया ॥२॥

अब भाइयों को आनन्दित करने वाले, अर्जुन से धर्मराज ने कहा—हे कौन्तेय ! अब तुम अपने अस्त्र दिखाओ, जिनसे तुमने दानवों को जीता है ॥ २ ॥

ततो धनञ्जयो राजन् देवैर्दत्तानि पाण्डवः ।
अस्त्राणि तानि दिव्यानि दर्शयामास भारत ॥३॥

हे राजन् ! पाण्डु-पुत्र, अर्जुन ने देवों के दिये हुए, उन दिव्य अस्त्रों को, पाण्डवों के दिखाने का विचार किया ॥ ३ ॥

यथान्यायं महातेजाः शौचं परममास्थितः ।
गिरिकूबरपादाक्षं शुभवेणुत्रिवेणुमत् ॥४॥
पार्थिवं रथमास्थाय शोभमानो धनञ्जयः ।
दिव्येन संवृतस्तेन कवचेन सुवर्चसा ॥५॥

यह महातेजस्वी अर्जुन, प्रथम विधि-पूर्वक स्नान करके शुद्ध होगया और अब इसने सारे अस्त्र दिखाने का विचार किया। पर्वत, जिसके कूबर, (जूड़े का धारक काष्ठ) पाद (चक्र) हैं, अक्ष (चक्र धारक काष्ठ) सुन्दर बांसों के सदृश जिसके त्रिवेणु [अक्ष कूबर धारक काष्ठ] हैं, ऐसे रथ में पृथिवी की भावना करके अर्जुन, चढ़ गया। यह उसी इन्द्र-दत्त, दिव्य कवच से बड़ा ही सुशोभित हो रहा था ॥ ४—५ ॥

धनुरादाय गाण्डीवं देवदत्तं स वारिजम् ।

शोशुभ्यमानः कौन्तेय आनुपूर्व्या महाभुजेः ॥६॥
अस्त्राणि तानि दिव्यानि दर्शनायोपचक्रमे ।

अर्जुन ने गाण्डीव धनुष और देव-दत्त नामक शंख ले लिया। इस क्रम से अर्जुन, बड़ा ही मनोहर प्रतीत हो रहा था, अब इसने उन दिव्य अस्त्रों का दिखाना आरम्भ किया ॥६॥

अथ प्रयोद्यमाणेषु दिव्येष्वस्त्रेषु तेषु वै ॥७॥
समाक्रान्ता मही पद्भ्यां समाकम्पत सद्रुमा ।
क्षुभिताः सरितश्चैव तथैव च महोदधिः ॥८॥
शैलाश्चापि व्यदीर्य्यन्त न ववौ च ~~च~~ समीरणः ।
न बभासे सहस्रांशुर्न जज्वाल च पावकः ॥९॥

जब अर्जुन ने इस दिव्य अस्त्रों का प्रयोग किया, तो पृथिवी पर पैर रखते ही वह वृक्षों के सहित डगमगाने लगी। सारी नदियां और समुद्र उझलने लगे, पर्वत फट गए और वायु चलता २ रुक गया, सूर्य की चमक उड़ गई और आग बुझ गई ॥ ७—९ ॥

न वेदाः प्रतिभान्ति स्म द्विजातीनां कथञ्चन ।
अन्तर्भूमिगता ये च प्राणिनो जनमेजय ॥१०॥
पीड्यमानाः समुत्थाय पाण्डवं पर्य्यवारयन् ।
वेपमानाः प्राञ्जलयस्ते सर्वे विकृताननाः ॥११॥
दह्यमाकास्तदास्त्रैस्ते याचन्ति स्म धनञ्जयम् ।

हे जनमेजय ! इस समय द्विजातियों ने वेद-पाठ करके शान्ति करनी चाही, परन्तु उनके वेद, स्मृति में ही नहीं आए। जितने पृथिवी पर प्राणी हैं, वे बड़े क्लेशित होकर दौड़े और

अर्जुन को घेर कर खड़े हो गए। ये सारे कांप रहे थे और अस्त्र की अग्नि से जले जाते थे। इन सब के मुखों की आकृति बदल गई, ये सब हाथ जोड़ कर अर्जुन से याचना करने लगे ॥१०-११

ततो ब्रह्मर्षयश्चैव सिद्धा ये च महर्षयः ॥१२॥
जङ्गमानि च भूतानि सर्वाण्येवावतस्थिरे।
देवर्षयश्च प्रवरास्तथैव च दिवौकसः ॥१३॥
यक्षराक्षसगन्धर्वास्तथैव च पतत्रिणः।
खेचराणि च भूतानि सर्वाण्येवावतस्थिरे ॥१४॥

सारे ब्रह्मर्षि, सिद्ध, महर्षि, जङ्गम, जीव, देवर्षि, उत्तम देवता, यक्ष, राक्षस, गन्धर्व, पक्षी और आकाश-चारी प्राणी, खड़े के खड़े रह गए ॥१२--१४॥

ततः पितामहश्चैव लोकपालाश्च सर्वशः।
भगवांश्च महादेवः सगणोऽभ्याययौ तदा ॥१५॥

इसके अनन्तर ब्रह्माजी, सारे लोकपाल और भगवान् शङ्कर भी, अपने गणों के साथ वहां पधारे ॥१५॥

ततो ववुर्महाराज दिव्यैर्माल्यैः समन्वितः।
अभितः पाण्डवश्चित्रैरवचक्रे समन्ततः ॥१६॥

हे महाराज ! दिव्य. पुष्प-समूह के गन्ध का धारी वायु, चारों ओर से अर्जुन पर विचित्र पुष्पों की वर्षा करने लगा।

जगुश्च गाथा विविधा गन्धर्वाः सुरचोदिताः।
ननृतुः संघशश्चैव राजन्नप्सरसां गणाः ॥१७॥

हे राजन् ! इस समय अनेक गन्धर्व, देवों की प्रेरणा से गीत गाने लगे और अप्सराओं के झुंड के झुंड टोली बनाकर नाच रहे थे ॥१७॥

तस्मिंश्च तादृशे काले नारदश्चोदितः सुरैः ।
आगम्याह वचः पार्थ श्रवणीयमिदं नृप ॥१८॥

उस रमणीक समय में देवों की प्रेरणा से नारदजी ने आकर यह वचन कहा—हे अर्जुन ! तुम मेरा वचन सुनो ॥१८॥

अर्जुनार्जुन मा युङ्क्ष्व दिव्यान्यस्त्राणि भारत ।
नैतानि निरधिष्ठाने प्रयुज्यन्ते कथञ्चन ॥१९॥
अधिष्ठाने न चानार्त्तः प्रयुञ्जीत कदाचन ।
प्रयोगेषु महान् दोषो ह्यस्त्राणां कुरुनन्दन ॥२०॥

हे भारत ! तुम इस समय इन दिव्य अस्त्रों का प्रयोग न कर देना। ये अस्त्र किसी प्रबल शत्रु के लक्ष्य के बिना नहीं चलाये जा सकते हैं। यदि कोई शत्रु, लक्ष्यी-भूत भी हो-तो भी बिना आतुर हुए, इनका प्रयोग न करे। हे कुलनन्दन ! इन अस्त्रों के प्रयोग में तो बड़ी ही गड़बड़ है ॥१९--२०॥

एतानि रक्ष्यमाणानि धनञ्जय यथागमम् ।
बलवन्ति सुखार्हाणि भविष्यन्ति न संशयः ॥२१॥

हे धनञ्जय ! जिस तरह तुमने इन अस्त्रों का प्रयोग सीख लिया है, वैसे ही इनकी रक्षा करो, इस तरह ये बड़े ही सुखदायी होंगे, इसमें सन्देह नहीं है ॥२१॥

अरंक्ष्यमाणान्येतानि त्रैलोक्यस्यापि पाण्डव ।
भवन्ति स्म विनाशाय मैवं भूयः कृथाः क्वचित् ॥२२

हे पाण्डव ! यदि इनके प्रयोग को नहीं रोक रखा, तो ये त्रिलोकी के विनाश के कारण बन जायंगे । अब आगे तुम ऐसा न करना ॥२२॥

अजातशत्रो त्वञ्चैव द्रक्ष्यसे तानि संयुगे ।
योज्यमानानि पार्थेन द्विषतामवमर्दने ॥२३॥

हे धर्मराज ! तुम अस्त्रों का अर्जुन द्वारा किया हुआ प्रयोग, शत्रुओं के मर्दन के समय युद्ध में देखना ॥२३॥

वैशम्पायन उवाच—

निवार्य्याथ ततः पार्थं सर्वे देवा यथागतम् ।
जग्मुरन्ये च ये तत्र समाजग्मुर्नरर्षभ ॥२४॥

वैशम्पायन बोले—हे नर-श्रेष्ठ ! इस प्रकार सारे देवता, अर्जुन को रोककर अपनी इच्छा के अनुसार चले गए तथा जो कोई अन्य प्राणी वहां चले आए थे, वे भी चले गए ॥२४॥

तेषु सर्वेषु कौरव्य प्रतियातेषु पाण्डवाः ।
तस्मिन्नेव वने हृष्टास्त ऊषुः सह कृष्णया ॥२५॥

इति श्रीमहाभारत आरण्यपर्वणि निवातकवचयुद्धपर्वणि
अस्त्रदर्शने पञ्चसप्तत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥१७५॥

समाप्तं च निवातकवचपर्व

हे कुरु-वंश-श्रेष्ठ ! उन सब के चले जाने पर सारे पाण्डवों ने उस रात, उसी वन में बड़ी प्रसन्नता से द्रौपदी के साथ निवास किया ॥२५॥

इति श्रीमहाभारत वनपर्वान्तर्गत निवासकवचयुद्धपर्व में
अस्त्र-दर्शन का एकसौ पिचहत्तरवां अध्याय समाप्त हुआ
और यहीं पर निवात-कवच युद्धपर्व भी पूरा हो गया।

अथ आजगरपर्व

एक सौ छियत्तरवां अध्याय

जनमेजय उवाच—

तस्मिन् कृतास्त्रे रथिनां प्रवीरे प्रत्यागते भवनाद्वृत्रहन्तुः।
अतः परं किमकुर्वन्त पार्थाः समेत्य शूरेण धनञ्जयेन ॥१॥

जनमेजय बोले—हे ब्राह्मण ! महारथियों में श्रेष्ठ, अस्त्र विद्या में कुशल, अर्जुन के इन्द्र भवन से लौट आने पर इस शूरवीर अर्जुन के साथ, पाण्डवों ने क्या किया ॥१॥

वैशम्पायन उवाच—

वनेषु तेष्वेव तु ते नरेन्द्राः सहार्जुनेनेन्द्रसमेन वीराः।
तस्मिंश्च शैलप्रवरे सुरम्ये धनेश्वराक्रीड़गता विजह्रुः ॥२॥

वैशम्पायन ने कहा—हे राजन् ! ये महावीर, पाण्डव, इन्द्र तुल्य अर्जुन के साथ उसी, मनोहर शैल पर कुवेर के वगीचे में विहार करने लगे ॥२॥

वेश्मानि तान्यप्रतिमानि पश्यन् क्रीडाश्च नानाद्रुमसन्निबद्धाः
चचार धन्वी बहुधा नरेन्द्र सोऽस्त्रेषु यत्तः सततं किरीटी॥३॥

हे नरेन्द्र! उन अद्भुत २ भवनों तथा अनेक वृक्षों से युक्त, क्रीड़ा के वनों को देखता हुआ, अर्जुन, वहां घूमने लगा। इसने धनुष धारण कर रखा था और यह उन अस्त्रों के अभ्यास में प्रयत्न करता रहता था ॥३॥

अवाप्य वासं नरदेवपुत्राः प्रसादजं वैश्रवणस्य राज्ञः।
नप्राणिनांतेस्पृहयन्तिराजञ्छिवश्चकालःसबभूवतेषाम् ॥४॥

हे राजन्! ये राजपुत्र पाण्डव, राजा कुबेर के अनुग्रह से वहां निवास पाकर बड़े सुखी हुए। अब ये समस्त प्राणियों का राज्य भी नहीं चाहते थे। यह समय इनके लिए बड़ा ही सुन्दर रहा ॥४॥

समेत्य पार्थेन यथैकरात्रमूषुः समास्तत्र तदा चतस्रः।
पूर्वाश्चषट्तादशपाण्डवानां शिवाबभूवुर्वसतांवनेषु ॥५॥

ये अर्जुन के साथ वहां चार वर्ष तक रहे, परन्तु उनको यह समय एक दिन के सदृश ही प्रतीत हुआ। वन में वास करते हुए प्रथम छः वर्ष और कुबेर के भवन के चार वर्ष, बड़े ही कल्याणकारी होकर व्यतीत हुए। इस तरह इन पाण्डवों के दश वर्ष वन में पूरे हुए ॥५॥

ततोऽब्रवीद्वायुसुतस्तरस्वी जिष्णुश्चराजानमुपोपविश्य।
यमौ च वीरौ सुरराजकल्पावेकान्तमास्थाय हितं प्रियञ्च६

वायु के पुत्र, वेगशील, भीम, अर्जुन, देव तुल्य नकुल और सहदेव, राजा युधिष्ठिर के पास बैठ कर एकान्त में अपने प्रिय-हित के विषय में चर्चा करने लगे ॥६॥

तव प्रतिज्ञां कुरुराज सत्यां चिकीर्षमाणास्तदनुप्रियञ्च ।
ततो न गच्छाम वनान्यपास्य सुयोधनं सानुचरं निहन्तुम्॥७॥

हे कुरुराज ! हम, तुम्हारी प्रतिज्ञा को सत्य सिद्ध करने और तुम्हारे अभिप्राय को जानकर ही सेना सहित दुर्योधन के मारने को इन वनों को छोड़कर नहीं गए हैं ॥७॥

एकादशं वर्षमिदं वसामः सुयोधनेनात्तसुखा सुखार्हाः ।
तं वञ्चयित्वाधमबुद्धिशीलमज्ञातवासं सुखमाप्नुयामः॥८॥

हम भी सुख पाने योग्य हैं, परन्तु हमारा सुख दुर्योधन ने छीन लिया है। इस तरह क्लेश में हमारा यह ग्यारहवां वर्ष जा रहा है। इस मूर्ख दुर्योधन को धोखा देकर हम अज्ञातवास भी सुख से पूरा कर देंगे ॥८॥

तवाज्ञया पार्थिव निर्विशङ्का विहाय मानं विचरन् वनानि ।
समीपवासेनविलोभितास्ते ज्ञास्यन्तिनास्मानपकृष्टदेशान्९

हे राजन् ! आपकी आज्ञा से ही लज्जा-हीन होकर और मान छोड़ कर हम लोग वन में विचर रहे हैं। दुर्योधनादि ने हमको समीप देश में ही घूमता देखा है, इससे वह हमारे दूर देश में रहने को नहीं जान सकेगा ॥९॥

सम्वत्सरं तत्र विहृत्य गूढं नराधमं तं सुखमुद्धरेम ।
निर्यात्य वैरं सफलं सपुष्पं तस्मै नरेन्द्राधमपूरुषाय॥१०

सुयोधनायानुचरैर्वृताय ततो महीमावस धर्मराज ।
स्वर्गोपमं देशमिमं चरद्भिः शक्यो विहन्तुं नरदेव शोकः॥११

हे नरेन्द्र ! गुप्त स्थान में एक वर्ष गुप्त रूप से व्यतीत करके हम उस नीच दुर्योधन को सुख से मार लेंगे । इस प्रकार उस अधम व्यक्ति दुर्योधन से उसके अनुचरों के साथ हम अपने बैर का वदला पुष्प और फल सहित निकालेंगे । हे धर्मराज, इसके अनन्तर तुम, इस पृथिवी पर सुख से निवास करना । हे नरदेव! यह देश, स्वर्ग के समान सुखदायी है, तुम इसमें आनन्द से घूमकर अपने शोक की शान्ति करना ।।१०--११।।

कीर्त्तिस्तुतेभारतपुण्यगन्धा नश्येद्धि लोकेषु चराचरेषु ।
तत्प्राप्यराज्यंकुरुपुङ्गवानांशक्यंमहत्प्राप्तुमथक्रियाश्च१२

हे भारत ! यदि तुमने ऐसा नहीं किया, तो तुम्हारी पवित्र ार्ति, इस चराचर जगत् में नष्ट हो जावेगी और जो तुमने ारवों से राज्य छीन लिया, तो तुम बड़ा भारी यश पावोगे और तुम्हारी सारी क्रियाएँ सफल हो जावेंगी ।।१२।।

इदन्तु शक्यं सततं नरेन्द्र प्राप्तुं त्वया यल्लभसे कुबेरात् ।
कुरुष्व बुद्धिर्द्विषतांवधाय कृतागसां भारत निग्रहे च॥१३

हे नरेन्द्र ! जो सुख, तुमको आज कुवेर से प्राप्त हो रहा है, वह सदा पा सकोगे । हे भारत ! अब तुम अपराधी शत्रुओं के वध के लिए या पकड़ने के लिए बुद्धि पूर्वक प्रयत्न करो ।

तेजस्तवोग्रं न सहेत राजन् समेत्य साक्षादपिवज्रपाणिः ।
न हि व्यथांजातुकरिष्यतस्तौ समेत्य देवैरपि धर्मराज॥१४
तवार्थसिद्ध्यर्थमभिप्रवृत्तौ सुपर्णकेतुश्च शिनेश्चनप्ता ।

हे राजन् ! तुम्हारे उग्र तेज को रण में सम्मुख होकर साक्षात् इन्द्र भी नहीं सह सकता है । हे धर्मराज ! तुम्हारे कार्य की सिद्‌धि के लिए प्रवृत हुए गरुड़ध्वज, श्रीकृष्ण,और शिनिका नप्ता सात्यकि, देवों से भी भिड़कर कभी कष्ट नहीं मानेंगे ।।१४।।

तथैवकृष्णोऽप्रतिमो बलेन तथैवचाहं नरदेववर्य्य ।।१५।।
तवार्थसिद्ध्यर्थमभिप्रपन्नो यथैव कृष्णः सह यादवैस्तैः ।
तथैव चाहं नरदेववर्य्य यमौ च वीरौ कृतिनौ प्रयोगे ।
त्वदर्थयोगप्रभवप्रधानाः शमं करिष्याम परान् समेत्य।।१६

हे नरदेव ! जिस तरह बल में श्रीकृष्ण, अद्वितीय हैं, वैसे मैं भी हूं । जिस भांति श्रीकृष्ण, यादवों के साथ तुम्हारा कार्य सिद्‌ध करने का प्रयत्न कर रहे हैं, उसी तरह युद्‌ध में कुशल नकुल सहदेव मेरे साथ हैं । तुम्हारे धन का लाभ और ऐश्वर्य की वृद्‌धि ही उनका लक्ष्य है । हम युद्‌ध में पहुंच कर शत्रुओं को नष्ट करके हीं छोड़ेंगे ।। १५--१६ ।।

वैशम्पायन उवाच—

ततस्तदाज्ञाय मतं महात्मा तेषाञ्च धर्मस्य सुतो वरिष्ठः ।
प्रदक्षिणं वैश्रवणाधिवासं चकार धर्मार्थविदुत्तमौजाः ।
आमन्त्र्य वेश्मानि नदीः सरांसि सर्वाणि रक्षांसि च धर्मराजः

वैशम्पायन बोले—हे राजन् ! नर-श्रेष्ठ, धर्म, अर्थ के तत्व के जानने वाले, उत्तम तेजस्वी, महात्मा, धर्मपुत्र, धर्मराज, युधिष्ठिर ने, कुबेर के निवास-स्थान की प्रदक्षिणा की । इन्होंने उत्तम २ भवन, नदी, सरोवर और सारे राक्षसों से विदा मांगी १६

यथागतं मार्गमवेक्षमाणः पुनर्गिरिञ्चैव निरीक्षमाणः ।
ततो महात्मा स विशुद्धबुद्धिः संप्रार्थयामास नगेन्द्रवर्य्यम् ॥

धर्मराज ने अपने आने के मार्ग की ओर दृष्टि उठाई और फिर उस पर्वत की ओर देखा। अब शुद्ध-बुद्धिवाले, महात्मा धर्मराज ने पर्वतराज से विदा लेनी चाही ॥१८॥

समाप्तकर्मा सहितः सुहृद्भिर्जित्वा सपत्नान् प्रतिलभ्य राज्यम्
शैलेन्द्र भूयस्तपसे जितात्मा द्रष्टा तवास्मीति मतिश्चकार ॥

हे शैलेन्द्र ! अपने सहायकों की सहायता से सारे शत्रुओं को जीतकर, राज्य पाकर और कृत-कृत्य होकर, फिर जितेन्द्रियता के साथ तप करने के लिए तुम्हारे दर्शन करूंगा, इस समय मैं यही प्रतिज्ञा करता हूं।

वृतश्च सर्वैरनुजैर्द्विजैश्च तेनैव मार्गेण पतिः कुरूणाम् ।
उवाह चैतान् गणशस्तथैव घटोत्कचः पर्वतनिर्झरेषु ॥२०

कुरुराज युधिष्ठिर, अपने सारे छोटे भाई और ब्राह्मणों के साथ उसी मार्ग से चलने लगा, इस समय पर्वत के झरनों पर इन सब को घटोत्कच ने अपने कंधों पर उठा लिया ॥२०॥

तान् प्रस्थितान् प्रीतमना महर्षिः पितेव पुत्राननुशिष्य सर्वान्
स लोमशः प्रीतमना जगाम दिवौकसां पुण्यतमं निवासम् ॥

इन चलते हुए सारे पाण्डवों के पुत्रों को प्रेमसे पिता के सदृश शिक्षा देकर महर्षि लोमश, प्रीति-पूर्वक, देवों के पवित्र स्थान को चल दिए ॥२१॥

तेनार्ष्टिषेणेन तथानुशिष्टास्तीर्थानि रम्याणि तपोवनानि ।
महान्ति चान्यानि सरांसि पार्थाः संपश्यमानाः प्रययुर्नराग्र्याः

इति श्रीमहाभारत आरण्यपर्वणि आजगरपर्वणि
लोमशगमने षट्सप्तत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥१७६॥

राजर्षि आर्ष्टिषेण ने भी पाण्डवों को शिक्षा दी । ये नर श्रेष्ठ, पाण्डव, बड़े २ सुन्दर, तपोवन और सरोवरों को देखते हुए चल दिए ॥२२॥

इति श्रीमहाभारत वनपर्वान्तर्गत आजगरपर्व में लोमश
गमन का एक सौ छियत्तरवां अध्याय पूरा हुआ।

एक सौ सतहत्तरवां अध्याय

वैशम्पायन उवाच—

नगोत्तमं प्रस्रवणैरुपेतं दिशाङ्गजैः किन्नरपक्षिभिश्च ।
सुखं निवासं जहतां हि तेषां न प्रीतिरासीद्भरतर्षभाणाम् १

वैशम्पायन बोले—हे राजन् ! दिग्गज, किन्नर, पक्षी और उत्तम झरनों से युक्त, इस पर्वत के सुखदायी, निवास को छोड़ते हुए, भरत-वंश-श्रेष्ठ, पाण्डवों को कुछ आनन्द नहीं था ॥१॥

ततस्तु तेषां पुनरेव हर्षः कैलासमालोक्य महान् बभूव ।
कुबेरकान्तं भरतर्षभाणां महीधरं वारिधरप्रकाशम् ॥२॥

इसके आगे कुबेर के प्रिय, मेघों से सुशोभित, कैलास पर्वत को देखकर, भरत-वंश-श्रेष्ठ,पाण्डवों को बड़ा ही हर्ष हुआ ॥२॥

समुच्छ्रयान् पर्वतसन्निरोधान् गोष्ठान् हरीणां गिरिसेतुमालाः
बहून् प्रपातांश्च समीक्ष्य वीराः स्थलानि निम्नानि च तत्र तत्र॥३
तथैव चान्यानि महावनानि मृगद्विजानेकनिषेवितानि ।
आलोकयन्तोऽभिययुः प्रतीतास्ते धन्विनः खड्गधरा नराग्र्याः

ये खड्ग-धारी नर-श्रेष्ठ, वीर, धनुर्धर पाण्डव, बड़े ऊंचे पर्वत के छोटे २ मार्ग, सिंहोंके स्थान,पर्वतों की नदी पार करने के सेतु समूह, अनेक झरने गिरने के ऊंचे स्थान तथा जहां तहां ऊंचे नीचे प्रदेश एवं अनेक मृग और पक्षियों से युक्त और भी बड़े २ वनों को देखते हुए प्रसन्नता-पूर्वक आगे बढ़े चले जा रहे थे ॥३-४॥

वनानि रम्याणि नदीः सरांसि गुहा गिरीणां गिरिगह्वराणि।
एते निवासाः सततं बभूवुर्निशानिशं प्राप्य नरर्षभाणाम् ॥

मनोहर वन, नदी, सरोवर, पर्वतों की छोटी बड़ी गुफाओं में इन श्रेष्ठ पाण्डवों का रात दिन में आवश्यकता के अनुसार निवास होता था ॥५॥

ते दुर्गवासं बहुधा निरुष्य व्यतीत्य कैलासमचिन्त्यरूपम्।
आसेदुरत्यर्थमनोरमन्ते तमाश्रमाग्र्यं वृषपर्वणस्तु ॥६॥

ये इस पर्वत के दुर्गम वास से निकल कर और विचार में भी नहीं आने वाले सुन्दर कैलाशको उलांघ कर अत्यन्त चित्ताकर्षक, राजर्षि वृषपर्वा के उत्तम आश्रम में आए ॥६॥

समेत्य राज्ञा वृषपर्वणा ते प्रत्यर्चितास्तेन च वीतमोहाः ।
शशंसिरे विस्तरशः प्रवासं गिरौ यथावद्वृषपर्वणस्ते ॥७॥

ये सारे पाण्डव, राजर्षि वृष-पर्वा से मिले। इन मोह-रहित पाण्डवों का वृषपर्वा ने बड़ा सत्कार किया। पाण्डवों ने अपने निवास की कथा विस्तार से ठीक २ सुनादी ॥७॥

सुखोषितास्तस्य त एकरात्रं पुण्याश्रमे देवमहर्षिजुष्टे ।
अभ्याययुस्ते बदरीं विशालां सुखेन वीराः पुनरेववासम्॥८॥

ये पाण्डव, देव और महर्षियों से सेवित, पवित्र आश्रम में एक रात सुख से रहे। ये वीर, उसी विशाल बदरी के वृक्ष के नीचे निवास करने के लिए फिर वहीं आए ॥८॥

ऊषुस्ततस्तत्र महानुभावाः नारायणस्थानगताः समग्राः।
कुबेरकान्तां नलिनीं विशोकाः संपश्यमानाः सुरसिद्धजुष्टाम्॥९

नर-नारायण ऋषि के स्थान में इन सारे महानुभाव पाण्डवों ने निवास किया। कुबेर की प्रिय, शोक-नाशक, सुर और सिद्धों से समन्वित, सरसी को पाण्डव प्रेम से देख रहे थे ॥९॥

ताश्चाथदृष्ट्वानलिनींविशोकाः पाण्डोःसुताःसर्वनरप्रधानाः
ते रेमिरे नन्दनवासमेत्य द्विजर्षयो वीतमला यथैव ॥१०॥

सब मनुष्यों में श्रेष्ठ पाण्डव-पुत्र, उन कमलनियों से युक्त सरसी [तलाई] को देखकर इस भांति सन्तुष्ट हुए जैसे कषायों को जीतने वाले द्विज, स्वर्ग का वास पाकर प्रसन्न होते हैं ॥१०॥

ततः क्रमेणोपययुर्नृवीरा यथागतेनैव पथा समग्राः।
विहृत्यमासंसुखिनोवदर्य्यां किरातराज्ञोविषयंसुबाहोः॥११॥

इसके पीछे ये सारे नर-वीर, क्रम से जिस मार्ग से आए थे, उसी मार्ग से चल दिए। इन्होंने एक मास तक सुख-पूर्वक बदरी वृक्ष के प्रदेश में वास किया, फिर किरात-राज, सुबाहु के देश की ओर गमन किया ॥११॥

चीनांस्तुषारान्दरदांश्चसर्वान् देशान्कुलिन्दस्यचभूरिरत्नान्
अतीत्यदुर्गंहिमवत्प्रदेशं पुरंसुबाहोर्ददृशुर्नृवीराः ॥१२॥

चीन तुषार, दरद और कुलिङ्ग देश के रत्नोत्पादक प्रदेश, तथा बर्फीले दुर्गम पर्वत के भागों को उलांघ कर इन नर-श्रेष्ठ पाण्डवों ने, राजा सुबाहु का पुर देखा ॥ १२॥

श्रुत्वाचतान्पार्थिवपुत्रपौत्रान् प्राप्तान्सुबाहुर्विषयेसमग्रान्।
प्रत्युद्ययौप्रीतियुतःसराजा तश्चाभ्यनन्दन्नृषभःकुरूणाम्॥१३

इन सारे राज-पुत्रों को अपने देश में आया हुआ सुन कर राजा सुवाहु, इनके स्वागत को आगे वढ़ा। कुरु-वंश-श्रेष्ठ पाण्डवों ने भी उसका वड़ा सत्कार किया ॥ १३ ॥

समेत्य राज्ञा तु सुबाहुना ते सूतैर्विशोकप्रमुखैश्च सर्वैः ।
सहेन्द्रसेनैःपरिचारकैश्च पौरोगवैर्ये च महानसस्थाः ॥१४॥

पाण्डव, प्रथम राजा सुवाहु से मिले। इसके वाद विशोक आदि सारे सारथि, राजपुत्र इन्द्रसेन, सेवक, तम्बू आदि ले चलने वाले नौकर तथा रसोइयों से भी मिले ॥ १४ ॥

सुखोषितास्तत्र त एकरात्रं सूतान् समादाय रथांश्च सर्वान् ।
घटोत्कचं सानुचरं विसृज्य ततोऽभ्ययुर्यामुनमद्रिराजम्॥१५

यहां इन्होंने एक रात निवास किया। पाण्डवों ने सारे सारथि और रथों को साथ ले लिया और अनुचरों के सहित घटोत्कच को विदा कर दिया। अव ये यमुना के समीप पर्वत पर पहुँचे ॥ १५ ॥

तस्मिन् गिरौ प्रस्रवणोपपन्ने हिमोत्तरीयारुणपाण्डुसानौ ।
विशाखयूपं समुपेत्य चक्रुस्तदा निवासंपुरुषप्रवीराः॥१६॥

झरनों से सुशोभित, हिम रूपी वस्त्रों से लाल और श्वेत प्रदेशों वाले, उस पर्वत पर पुरुष-श्रेष्ठ, पाण्डवों ने विशाख यूप नामक स्थान पर पहुंच कर निवास किया ॥ १६ ॥

वराहनानामृगपक्षिजुष्टं महावनञ्चैत्ररथप्रकाशम् ।
शिवेनपार्थामृगयाप्रधानाः सम्वत्सरंतत्रवनेविजह्रुः॥१७॥

कुबेर के बगीचे चैत्र-रथ के सदृश सुन्दर, वराह, मृग, पक्षियों से समन्वित, इस महावन में पाण्डवों ने मृगया करते हुए, एक महीने तक सुख-पूर्वक निवास किया ॥ १७ ॥

तत्राससादातिबलं भुजङ्गं क्षुधार्दितं मृत्युमिवोग्ररूपम् ।
वृकोदरःपर्वतकन्दरायां विषादमोहव्यथितान्तरात्मा॥१८॥

वहां पर्वत की कन्दरा में भीमसेन ने अतिबली, भूखा, मृत्यु के तुल्य, भीषण अजगर देखा, जिसको देखते ही विषाद और मोह से भीम का आत्मा काँप उठा ॥ १८ ॥

द्वीपोऽभवद्यत्र वृकोदरस्य युधिष्ठिरो धर्मभृतां वरिष्ठः ।
अमोक्षयद्यस्तमनन्ततेजा ग्राहेण संवेष्टितसर्वगात्रम्॥१९॥

इस भय के समुद्र में डूबते हुए, भीमको द्वीपके तुल्य आश्रय देने वाला, धर्मात्माओं में श्रेष्ठ, अति-तेजस्वी, राजा युधिष्ठिर हुआ। इसने ही व्याकुल हुए भीम को उस भयंकर सर्प से छुड़ाया। इस सर्प ने भीम के सारे शरीर को लपेट लिया था ॥१९॥

ते द्वादशं वर्षमुपोपयातं वने विहर्तुं कुरवः प्रतीताः ।
तस्माद्वनाच्चैत्ररथप्रकाशाच्छ्रिया ज्वलन्तस्तपसाचयुक्ताः२०
ततश्च यात्वा मरुधन्वपार्श्वं सदा धनुर्वेदरतिप्रधानाः ।
सरस्वतीमेत्यनिवासकामाः सरस्ततोद्वैतवनंप्रतीयुः॥२१॥

अब इन पाण्डवों के वनवास का बारहवां वर्ष समीप आ गया था। इसको भी वन में व्यतीत करने को पाण्डव, उत्साही हो रहे थे। अपने तेज से देदीप्यमान और तप से युक्त, पाण्डव

चैत्ररथ के सदृश उस वन में चल दिए। ये धनुर्वेद के प्रेमी, पाण्डव. पर्वत के निर्जल प्रदेश के समीप सरस्वती नदी पर निवास की इच्छा से गए और यहाँ द्वैतवन में पहुँचे। यहीं द्वैतवन नामक सरोवर भी था ।। २१।।

समीक्ष्यतान्द्वैतवनेनिविष्टान् निवासिनस्तत्रततोऽभिजग्मुः ।
तपोदमाचारसमाधियुक्तास्तृणोदपात्रावरणाश्मकुट्टाः ।।२२।।

इनको द्वैतवन में आया हुआ सुनकर वहां के निवासी, उनके दर्शनों को दौड़े हुये आए। ये वान-प्रस्थी तप, दम, (इन्द्रियजय) आचार समाधि से युक्त थे और तृण, जलपात्र, आवरण तथा अश्मकुट्ट (फल फोड़ने के पत्थर) मात्र परिग्रह के धारण करने वाले थे ।।२२।।

प्लक्षाक्षरौहीतकवेतसाश्च तथा वदर्य्यः खदिराः शिरीषाः ।
विल्वेङ्गुदाः पीलुशमीकरीराः सरस्वतीतीररुहा वभूवुः २३

इस सरस्वती नदी के तीर पर पिलखन, बहेड़ा, रोहितक, वेंत, वेर, खदिर, सिरस, विल्व, इंगुदी, पीलु, शमी, कैर आदि वृक्ष खड़े थे। ।।२३।।

तां यक्षगन्धर्वमहर्षिकान्तामागारभूतामिव देवतानाम् ।
सरस्वतीं प्रीतियुताश्चरन्तः सुखं विजह्रुर्नरदेवपुत्राः।।२४।।

इति श्रीमहाभारत आरण्यपर्वणि आजगरपर्वणि पुनर्द्वैत
वनप्रवेशे सप्तसप्तत्यधिकशततमोऽध्यायः ।।१७७।।

यक्ष, गन्धर्व और महर्षियों को प्रिय, देवों का निवास स्थान इस सरस्वती नदी पर राजपुत्र, पाण्डव, बड़े प्रेम और सुख से घूमते थे ।।२४।।

इति श्रीमहाभारत वनपर्वान्तर्गत आजगरपर्व में फिर द्वैतवन के प्रवेश का एक सौ सतहत्तरवां अध्याय पूरा हुआ ।

एक सौ अठहत्तरवां अध्याय

जनमेजयउवाच—

कथं नागायुतप्राणो भीमो भीमपराक्रमः ।
भयमाहारयत्तीव्रं तस्मादजगरान्मुने ॥१॥

जनमेजय ने कहा—हे मुने ! एक हज़ार हाथियों के बल के धारी, भयङ्कर पराक्रम करने वाले भीम ने भी इस अजगर से तीव्र भय कैसे माना ॥१॥

पौलस्त्यं धनदं युद्धे य आह्वयति दर्पितः ।
नलिन्यां कदनं कृत्वा निहन्ता यक्षरक्षसाम् ॥२॥
तं शंससि भयाविष्टमापन्नमरिसूदनम् ।
एतदिच्छाम्यहं श्रोतुं परं कौतूहलं हि मे ॥३॥

जिस अभिमानी भीम ने पुलस्त्य-वंशोत्पन्न, कुबेर को भी युद्ध के लिए आह्वान किया और कुबेर की नलिनी (तलाई)

का नाश करके यक्ष-राक्षसों को नष्ट कर डाला, उसी अरि-मर्दन भीम को तुम भयाविष्ट कहते हो। मैं यह सब सुनना चाहता हूँ, मुझे इसकी बड़ी इच्छा है ॥ २-३ ॥

वैशम्पायन उवाच—

वह्वाश्चर्ये वने तेषां वसतामुग्रधन्विनाम् ।
प्राप्तानामाश्रमं राजन् राजर्षेर्वृषपर्वणः ॥४॥
यदृच्छया धनुष्पाणिर्बद्धखड्गो वृकोदरः ।
ददर्श तद्वनं रम्यं देवगन्धर्वसेवितम् ॥५॥

वैशम्पायन बोले—हे राजन्! अत्यन्त आश्चर्य-जनक, वन के निवासी, धनुष-धारी, राजर्षि वृषपर्वा के आश्रम में रहने वाले पाण्डवों में भीमसेन, धनुष और तलवार बाँधे वन को देखने निकला। यह अचानक देव गन्धर्वों से सुसेवित, रमणीक वन प्रदेश में पहुँचा ॥ ४-५ ॥

स ददर्श शुभान् देशान् गिरेर्हिमवतस्तदा ।
देवर्षिसिद्धचरितानप्सरोगणसेवितान् ॥६॥
चकोरैरुपचक्रैश्च पक्षिभिर्जीवजीवकैः ।
कोकिलैर्भृगराजैश्च तत्र तत्र निनादितान् ॥७॥
नित्यपुष्पफलैर्वृक्षैर्हिमसंस्पर्शकोमलैः ।
उपेतान् बहुलच्छायैर्मनोनयननन्दनैः ॥८॥

यह भीम, देवर्षि, सिद्धों से समन्वित, अप्सराओं के गण से सेवित, चकोर, उपचक्र, जीव-जीवक, कोयल, भ्रमर आदि

२७

पक्षियों के शब्दों से शब्दायमान, नित्य पुष्प और फलों से लदे हुए, हिम के स्पर्श से कोमल, गहरी छाया वाले, मन और नयनों के आनन्द-दायी, वृक्षों से युक्त, हिमालय के सुन्दर प्रदेशों को देखने लगा ॥६-८॥

स सम्पश्यन् गिरिनदीर्वैदूर्य्यमणिसन्निभैः ।
सलिलैर्हिमसङ्काशैर्हंसकारण्डवायुतैः ॥९॥
वनानि देवदारूणां मेघानामिव वागुराः ।
हरिचन्दनमिश्राणि तुङ्गकालीयकान्यपि ॥१०॥

इसने वैडूर्य मणि के सदृश, हिम (वर्फ) के तुल्य उज्ज्वल, हंस, कारण्डव पक्षियों से युक्त, जल से भरी हुई पर्वत की नदियों को तथा मेघों के समूह के समान, हरिचन्दन, तुङ्ग और कालीयक नामक वृक्षों के साथ देवदारु के वन को देखा ॥९-१०॥

मृगयां परिधावन् स समेषु मरुधन्वसु ।
विध्यन्मृगाञ्छरैः शुद्धैश्चचार सुमहाबलः ॥११॥

पर्वत के शुष्क और समतल प्रदेशों में मृगया (शिकार) करता हुआ, महाबली भीम घूम रहा था। यह शुद्ध बाणों से मृगों को वींध रहा था ॥११॥

भीमसेनस्तु विख्यातो महान्तं दंष्ट्रिणं बलात् ।
निघ्नन्नागशतप्राणो वने तस्मिन्महाभुजः ॥१२॥

इस वन में अनेक हाथियों के वल का धारी, वड़ी-वड़ी भुजा वाला, प्रसिद्ध भीमसेन, वल-पूर्वक बड़े दाँतों वाले सिंहादि प्राणियों को मार २ कर गिरा रहा था ॥ १२ ॥

मृगाणां स वराहाणां महिषाणां महाभुजः ।
विनिघ्नंस्तत्र तत्रैव भीमो भीमपराक्रमः ॥१३॥

महावली, भयङ्कर पराक्रम करने वाले भीम ने अनेक मृग, वराह और महिषों को मार गिराया ॥१३॥

स मातङ्गशतप्राणो मनुष्यशतवारणः ।
सिंहशार्दूलविक्रान्तो वने तस्मिन् महावलः ॥१४॥
वृक्षानुत्पाटयामास तरसा वै बभञ्ज च ।
पृथिव्याश्च प्रदेशान् वै नादयंस्तु वनानि च ॥१५॥
पर्वताग्राणि वै मृद्नन्नादयानश्च विज्वरः ।
प्रक्षिपन् पादपांश्चापि नादेनापूरयन्महीम् ॥१६॥

यह महावली भीम, सैंकड़ों हाथियों के वल का धारण करने वाला था और सैकड़ों मनुष्यों से युद्ध में अकेला ही लड़कर उनको जीत लेता था। इसका पराक्रम, सिंह और शार्दूल के समान था। इसने इस वन में अपने वेग से अनेक वृक्ष उखाड़ दिए और तोड़ मरोड़ डाले, पृथ्वी के अनेक प्रदेश और वन को अपने कोलाहल से भर दिया तथा पर्वतों की चोटियों को पीस डाला। यह निर्भय होकर गर्जता हुआ, वृक्षों को फैंक रहा था और अपनी गर्जना से पृथ्वी पर अशान्ति फैला रहा था १४-१६

वेगेन न्यपतद्भीमो निर्भयश्च पुनः पुनः ।
आस्फोटयन् क्ष्वेडयंश्च तलतालांश्च वादयन् ॥१७॥
चिरसम्बद्धदर्पस्तु भीमसेनो वने तदा ।
गजेन्द्राश्च महासत्त्वा मृगेन्द्राश्च महावलाः ॥१८॥
भीमसेनस्य नादेन व्यमुञ्चन्त गुहां भयात् ।

यह निर्भीक भीम, बड़े वेग से वार २ कूदता-फाँदता, जाँघें फटकारता, गर्जता और ताले बजाता फिर रहा था। वहुत काल से गजों के साथ स्पर्धा रखने वाले भीम ने यह सब कुछ उस वन में किया, जिसकी गर्जना के भय से महावली बड़े २ हाथी और सिंह भी गुफा छोड़कर भाग गए ॥१७--१८॥

क्वचित् प्रधावंस्तिष्ठंश्च क्वचिच्चोपविशंस्तथा ॥१९॥
मृगप्रेप्सुर्महारौद्रे वने चरति निर्भयः ।

यह कहीं भागकर जाता, कहीं ठहर जाता और कहीं बैठ जाता था। यह बनैले जीवों की खोज में उस महा-भयङ्कर, वन में निर्भीक घूम रहा था ॥१९॥

स तत्र मनुजव्याघ्रो वने वनचरोपमः ॥२०॥
पद्भ्यामपि समापेदे भीमसेनो महावलः ।
स प्रविष्टो महारण्ये नादान्नदति चाद्भुतान् ॥२१॥
त्रासयन् सर्वभूतानि महासत्वपराक्रमः ।

वन-वासी जीवों के सदृश, नर-श्रेष्ठ, महावली भीमसेन, उस वन में पैदल ही चक्कर लगा रहा था। यह महा-पराक्रमी, सारे जन्तुओं को भयभीत करता हुआ, उस महा-वन में अद्भुत शब्द कर रहा था ॥२०--२१॥

ततो भीमस्य शब्देन भीताः सर्पा गुहाशयाः ॥२२॥
अतिक्रान्तास्तु वेगेन जगामानुसृतः शनैः ।

इस भीम की गर्जना से गुहा-वासी सर्प भी, डर गए और वे बड़े वेग से भाग निकले। भीम भी धीरे २ इनके पीछे हो लिया ॥ २२ ॥

ततोऽमरवरप्रख्यो भीमसेनो महावलः ॥२३॥
स ददर्श महाकायं भुजङ्गं लोमहर्षणम्।
गिरिदुर्गे समापन्नं कायेनावृत्य कन्दरम् ॥२४॥

इसके वाद देव-तुल्य पराक्रमी, महावली, भीमसेन ने लोमों के खड़ा कर देने वाले, एक विशाल सर्प को देखा, जो पर्वत की दुर्गम गुफा में रहता था और जिसने अपनी देह से सारी गुफा रोक रखी थी ॥२३--२४॥

पर्वताभोगवर्ष्माणमतिकायं महावलम् ।
चित्राङ्गमङ्गजैश्चित्रैर्हरिद्रासदृशच्छविम् ॥२५॥
गुहाकारेण वक्त्रेण चतुर्दंष्ट्रेण राजता।
दीप्ताक्षेणातिताम्रेण लिहानं सृक्किणी मुहुः ॥२६॥
त्रासनं सर्वभूतानां कालान्तकयमोपमम् ।
निश्वासक्ष्वेडनादेन भर्त्सयन्तमिव स्थितम् ॥२७॥

इसका फन और देह पर्वत के सदृश था। यह विशाल काय बड़ा ही वली था। इसका अङ्ग टिमकनों से चित्र-विचित्र और हल्दी के समान पीला था। चमकते हुए चार दाँतों वाले, गुहा के सदृश मुख के धारी, अत्यन्त लाल और दीप्त नेत्र धारी, बार बार जीभ से होठों के भागों को चाटते हुए, सव प्राणियों के भय-

भीत करने वाले, काल और यम के तुल्य भयानक, अपनी श्वास की फुंकार से सब को भस्म से करते हुए सर्प को भीम ने देखा

स भीमं सहसाभ्येत्य पृदाकुः कुपितो भृशम् ।
जग्राहाजगरो ग्राहो भुजयोरुभयोर्बलात् ॥२८॥

यह सर्प. भीम को पाकर बड़ा ही कुपित हुआ और इस ग्राह अजगर ने बल-पूर्वक भीमसेन की दोनों भुजाएँ पकड़ लीं ।

तेन संस्पृष्टगात्रस्य भीमसेनस्य वै तदा ।
संज्ञा मुमोह सहसा वरदानेन तस्य हि ॥२६॥

ज्यों ही सर्प ने भीम को पकड़ा, त्यों ही भीमसेन की संज्ञा (होश) जाती रही, क्योंकि इस सर्प को एक वरदान था ॥२६॥

दशनागसहस्राणि धारयन्ति हि यद्बलम् ।
तद्बलं भीमसेनस्य भुजयोरसमं परैः ॥३०॥

जो भीमसेन की भुजाएँ दश हजार हाथी का बल धारण करती थी, वे ही भीमकी भुजाएँ आज दूसरे के बलके सामने फीकी पड़ गयीं ॥३०॥

स तेजस्वी तथा तेन भुजगेन वशीकृतः ।
विस्फुरन् शनकैर्भीमो न शशाक विचेष्टितुम् ॥३१॥

तेजस्वी भीमसेन,जब सर्प ने पकड़ लिया, तो वह धीरे-धीरे तड़फड़ाने लगा, परन्तु वह भीम बाल भर भी नहीं हिल सका ३१

नागायुतसमप्राणः सिंहस्कन्धो महाभुजः ।
गृहीतो व्यजहात् सत्वं वरदानविमोहितः ॥३२॥

दश हज़ार हाथियों के बल के धारी, सिंह के सदृश कंधों वाले, महाबली, भीम को सर्प ने पकड़ लिया, अब भीमसेन का सारा बल, वरदान के कारण नष्ट सा हो रहा था ॥ ३२ ॥

स हि प्रयत्नमकरोत्तीव्रमात्मविमोक्षणे ।
न चैनमशकद्वीरः कथञ्चित् प्रतिबाधितुम् ॥३३॥

इति श्रीमहाभारत आरण्यपर्वणि आजगरपर्वणि भीमस्याजगरग्रहणे अष्टसप्तत्यधिक शततमोऽध्यायः॥१७८॥

इस भीम ने अपने छुड़ाने का बड़ा ही प्रयत्न किया, परन्तु यह वीर, किसी प्रकार भी उस सर्प को बाधा नहीं पहुंचा सका ॥ ३३ ॥

इति श्रीमहाभारत वनपर्वान्तर्गत आजगरपर्व में भीमके अजगर के पकड़ने का एक सौ अठहत्तरवां अध्याय पूरा हुआ ।

* * *

एक सौ उनासीवां अध्याय

वैशम्पायन उवाच—

स भीमसेनस्तेजस्वी तथा सर्पवशङ्गतः ।
चिन्तयामास सर्पस्य वीर्य्यमत्यद्भुतं महत्॥१॥

वैशम्पायन बोले—हे राजन्! तेजस्वी भीमसेन इस तरह जब सर्प के वश में होगया, तो अब यह इस सर्प के महान् बल का विचार करने लगा ॥ १ ॥

उवाच च महासर्पं कामया ब्रूहि पन्नग ।
कस्त्वं भो भुजगश्रेष्ठ किं मया च करिष्यसि ॥२॥

भीमसेन ने उस महा-सर्प से कहा—हे पन्नगराज ! तुम अपनी इच्छा कहो । हे भुजग-श्रेष्ठ, आप कौन हैं और मेरा क्या करना चाहते हैं ?॥ २ ॥

पाण्डवो भीमसेनोऽहं धर्मराजादनन्तरः ।
नागायुतसमप्राणस्त्वया नीतः कथं वशम् ॥३॥

मैं पाण्डु-पुत्र भीमसेन, धर्मराज युधिष्ठिर का छोटा भाई हूं । मुझमें तो दश हजार हाथी का बल था, परन्तु न मालूम तुमने मुझे कैसे वश में कर लिया ॥ ३ ॥

सिंहाः केशरिणो व्याघ्रा महिषा वारणास्तथा ।
समागताश्च बहुशो निहताश्च मया युधि ॥४॥

इस वन मे अनेक सिंह, केशरी, व्याघ्र, भैंसे, हाथी, आए, परन्तु मैंने सब युद्ध में मार गिराए ॥ ४ ॥

राक्षसाश्च पिशाचाश्च पन्नगाश्च महाबलाः ।
भुजवेगमशक्ता मे सोढुं पन्नगसत्तम ॥५॥

हे पन्नग-राज ! राक्षस, पिशाच, महाबली सर्प, ये सब मेरे भुजाओं के बल के सहन करने में अशक्त ही प्रमाणित हुए ॥ ५ ॥

किन्नु विद्याबलं किन्नु वरदानमथो तव ।
उद्योगमपि कुर्वाणो वशगोऽस्मि कृतस्त्वया ॥६॥

न मालूम तुममें क्या विद्यावल है या वरदान मिला हुआ है, जो मैं वड़ा उद्योग कर रहा हूं,तो भी तेरे वशमें हो गया हूं ॥६॥

असत्यो विक्रमो नृणामिति मे धीयते मतिः ।
यथेदं मे त्वया नाग वलं प्रतिहतं महत् ॥७॥

मनुष्यों में कोई शक्ति है, यह वात असत्य ही है, इसका मुझे आज निश्चय हो गया, यही तो कारण है, जो तूने मेरे अप्रतिहत वल को नष्ट कर डाला ॥ ७ ॥

वैशम्पायन उवाच—

इत्येवं वादिनं वीरं भीममक्लिष्टकारिणम् ।
भोगेन महता गृह्य समन्तात् पर्य्यवेष्टयत् ॥८॥

वैशम्पायन ने कहा—हे राजन् ! भीम तो यह कह ही रहा था, उस अद्‌भुत पराक्रमी वीर भीम को सर्प ने अपने वड़े फन से पकड़ कर चारों ओर से जकड़ दिया ॥ ८ ॥

निगृह्यैनं महावाहुं ततः स भुजगस्तदा ।
विमुच्यास्य भुजौ पीनाविदं वचनमब्रवीत् ॥९॥

इस महावाहु भीम को जकड़ कर सर्पराज ने इस के पुष्ट भुजाओं को छोड़ दिया और यह वचन कहा ॥ ९ ॥

दिष्टस्त्वं क्षुधितस्याद्य देवैर्भक्ष्यो महाभुज ।
दिष्ट्या कालस्य महतः प्रियाः प्राणा हि देहिनाम् ॥

हे महा-भुजाओं के धारी भीम ! आज मुझ भूखे का देवोंने वहुत दिन में तुझे आहार वनाकर भेजा है, जिससे मैं वड़ा

ही प्रसन्न हो रहा हूं, क्योंकि प्राणियों को अपने प्राण बड़े ही प्रिय होते हैं ॥ १० ॥

यथा त्विदं मया प्राप्तं सर्परूपमरिन्दम ।
तथावश्यं मया ख्याप्यं तवाद्य शृणु सत्तम ॥११॥

हे अरि-मर्दन ! जिस कारण से मैंने यह सर्प रूप पाया है, वह कथा मैं तुमको अवश्य सुनाऊंगा । हे महात्मन् ! तुम उसको ध्यान से सुनो ॥ ११ ॥

इमामवस्थां सम्प्राप्तो ह्यहं कोपान्महर्षिणाम् ।
शापस्यान्तं परिप्रेप्सुः सर्वं तत् कथयामि ते ॥१२॥

मेरी यह दशा महर्षियों के शाप से हुई है । अब मैं शाप का अन्त चाहता हूं, इससे यह सारा वृत्तान्त सुनाता हूं ॥ १२ ॥

नहुषो नाम राजर्षिर्व्यक्तन्ते श्रोत्रमागतः ।
तवैव पूर्वः पूर्वेषामायोर्वंशधरः सुतः ॥१३॥

एक नहुष नाम का राजर्षि हुआ है, जो तुम्हारे भी कानों में आया होगा । वह तेरे ही पूर्वजों का पूर्वज, आयु के वंश का चलाने वाला पुत्र था ॥ १३ ॥

सोऽहं शापादगस्त्यस्य ब्राह्मणानवमन्य च ।
इमामवस्थामापन्नः पश्य दैवमिदं मम ॥१४॥

वही मैं नहुष, ब्राह्मणों का अपमान करता था, इससे अगस्त्य के शाप से मेरी यह दुर्दशा हुई है । तुम ज़रा मेरे भाग्य के चक्रों को देखो ॥ १४ ॥

त्वाञ्चेदवध्यं दायादमतीवप्रियदर्शनम् ।
अहमद्योपयोक्ष्यामि विधानं पश्य यादृशम् ॥१५॥

तू मेरा ही अत्यन्त सुन्दर वंशधर है, इससे मारने के अयोग्य है, परन्तु आज मैं तुझे अवश्य खाऊंगा, क्योंकि विधि का विधान ही ऐसा है, मैं क्या करूं ॥ १५ ॥

न हि मे मुच्यते कश्चित् कथञ्चित् प्रग्रहं गतः ।
गजो वा महिषो वापि षष्ठे काले नरोत्तम ॥१६॥

हे नरोत्तम ! अष्ट प्रहर के छटे भाग में जो कोई भी किसी भी तरह मेरे फंदे में फंस जाता है ! वह चाहे, हाथी हो या भैंसा, वह मुझ से छुट नहीं सकता है ॥ १६ ॥

नासि केवलवीर्येण तिर्य्यग्योनिषु वर्त्तता ।
गृहीतः कौरवश्रेष्ठ वरदानमिदं मम ॥१७॥

हे कौरव-श्रेष्ठ ! मैंने सर्प की तिर्यक् योनि में रहने के कारण ही तुझे नहीं पकड़ रखा है, किन्तु मुझे तो इस वात का वरदान मिला हुआ है ॥ १७ ॥

पतता हि विमानाग्रान्मया शक्रासनाद् द्रुतम् ।
कुरु शापान्तमित्युक्तो भगवान्मुनिसत्तमः ॥१८॥

इन्द्र के वैठने के विमान से गिरते हुए, मैंने ऐश्वर्य-शाली मुनि से प्रार्थना की । हे भगवन् ! इस शाप के अन्त की अवधि नियत करो ॥ १८ ॥

स मामुवाच तेजस्वी कृपयाभिपरिप्लुतः ।
मोक्षस्ते भविता राजन् कस्माच्चित् कालपर्य्ययात्॥१६॥

तब दयार्द्र, तेजस्वी मुनिराज ने मुझे कहा—हे राजन्! कुछ काल के व्यतीत हो जाने पर तेरा इस शाप से छुटकारा हो जावेगा ॥ १६ ॥

ततोऽस्मि पतितो भूमौ न च मामजहात् स्मृतिः।
स्मार्त्तमस्ति पुराणं मे यथैवाधिगतं तथा ॥२०॥

इसके वाद मैं भूतल पर गिर गया, परन्तु वह स्मरण ज्यों का त्यों चला आ रहा है। मुझे यह बहुत पुरानी वात, जैसी देखी ज्यों की त्यों याद है॥ २० ॥

यस्तु ते व्याहृतान् प्रश्नान् प्रतिब्रूयाद्विभागवित् ।
स त्वां मोक्षयित्वा शापादिति मामब्रवीदृषिः॥२१॥

जो विवेकी, तेरे कहे हुए प्रश्नों के उत्तर दे देगा, वही तुझे इस शाप से छुड़ा देगा-यह वात उस ऋषि ने मुझे कही थी ॥२१॥

गृहीतस्य त्वया राजन् प्राणिनोऽपि वलीयसः।
सत्वभ्रंशोऽधिकस्यापि सर्वस्याशु भविष्यति॥२२॥

हे राजन्! नहुप! जिस वलवान् प्राणी को भी तू पकड़ लेगा-उस महाबली का बल भी शीघ्र ही नष्ट हो जावेगा ॥ २२ ॥

इति चाप्यहमश्रौषं वचस्तेषां दयावताम् ।
मयि सञ्जातहार्दानामथ तेऽन्तर्हिता द्विजाः ॥२३॥

उन दयालु महर्षियों के ये वचन मैंने उसी समय सुने थे। इनको मेरे ऊपर दया आ गई थी। इसके बाद ये ब्राह्मण, चले गए॥ २३॥

सोऽहं परमदुष्कर्मा वसामि निरयेऽशुचौ।
सर्पयोनिमिमां प्राप्य कालाकाङ्क्षी महाद्युते ॥२४॥

हे महाद्युते ! तभी से मैं महा-दुष्ट इस सर्प-योनि को पाकर इस अशुचि नरक में पड़ा हूं। मैं तभी से इस काल की प्रतीक्षा कर रहा था ॥२४॥

तमुवाच महाबाहुर्भीमसेनो भुजङ्गमम्।
न च कुप्ये महासर्प न चात्मानं विगर्हये ॥२५॥

महाबाहु, भीमसेन उस सर्पराज से बोला—हे सर्पराज! न तो अब मुझे तुझ पर कोई क्रोध है और न मुझे अपने पर ही कोई ग्लानि है ॥२५॥

यस्मादभावी भावी वा मनुष्यः सुखःदुःखयोः।
आगमे यदि वापाये न तत्र ग्लपयेन्मनः ॥२६॥

मनुष्य, सुख दुःख में कभी सामर्थ्य वाला हो जाता है और कभी सामर्थ्य से हीन हो जाता है। इस तरह दैववश से आने वाले सुख दुःखमें मनुष्य कभी अपने मन को मैला न करे ॥२६॥

दैवं पुरुषकारेण को वञ्चयितुमर्हति।
दैवमेव परं मन्ये पुरुषार्थो निरर्थकः ॥२७॥

अपने उद्योग से कौन दैव को नष्ट कर सकता है। मैं तो पूर्व जन्म के कर्म दैव को ही सार्थक मानता हूं, पुरुषार्थ तो निरर्थक है ।।२७।।

पश्य दैवोपघाताद्धि भुजवीर्य्यव्यपाश्रयम् ।
इमामवस्थां सम्प्राप्तमनिमित्तमिहाद्य माम् ॥२८॥

दैव के विरुद्ध होने से ही मेरी भुजाओं का पराक्रम क्षीण हुआ है। मेरे इस दशा को प्राप्त करने का अन्य कोई कारण नहीं है। तुम मेरी इस दुर्दशा को देखो ।।२८।।

किन्तु नाद्यानुशोचामि तथात्मानं विनाशितम् ।
यथा तु विपिने न्यस्तान् भ्रातृन् राज्यपरिच्युतान्॥२९॥

मैं आज अपने नाश की चिन्ता नहीं करता हूँ। मुझे तो वन में भटकते हुए, राज्य-च्युत अपने भाइयों की ही विशेष चिन्ता है ।।२९।।

हिमवांश्च सुदुर्गोऽयं यक्षराक्षससङ्कुलः ।
मां समुद्वीक्ष्यमाणास्ते प्रपतिष्यन्ति विह्वलाः ॥३०॥

यह हिमालय यक्ष राक्षसों से भरा हुआ बड़ा दुर्गम प्रदेश है। मेरी यह दशा देख कर तो वे व्याकुल होकर भूमि में गिर जावेंगे ।।३०।।

विनिष्टमथ मां श्रुत्वा भविष्यन्ति निरुद्यमाः ।
धर्मशीला मया ते हि वाध्यन्ते राज्यगृद्धिना॥३१॥

मेरे इस विनाश को सुनकर सारे पाण्डव, निरुद्योगी हो जावेंगे। मैं ही राज्य का लालची उन धर्म-शीलों को राज्य-प्राप्त करने के लिए दबाया करता था ॥३१॥

अथवा नार्जुनो धीमान् विषादमुपयास्यति ।
सर्वास्त्रविदनाधृष्यो देवगन्धर्वराक्षसैः ॥३२॥

हां ? बुद्धिमान् अर्जुन, मेरे विषाद से व्याकुल नहीं होगा। क्योंकि वह सब शस्त्रों का ज्ञाता है और देव, गन्धर्व या राक्षस, कोई भी उस पर आक्रमण नहीं कर सकता ॥३२॥

समर्थः स महाबाहुरेकोऽपि सुमहाबलः ।
देवराजमपि स्थानात् प्रच्यावयितुमञ्जसा ॥३३॥
किं पुनर्धृतराष्ट्रस्य पुत्रं दुर्द्यूतदेविनम् ।
विद्विष्टं सर्वलोकस्य दम्भमोहपरायणम् ॥३४॥

यही महाबली, महा-बाहु अर्जुन, अकेला ही देवराज इन्द्र को भी अपने स्थान से क्षण भर में भ्रष्ट कर सकता है। फिर कपट की जुआ खेलने वाले, सारे लोक के वैरी, दम्भ और मोह में आसक्त, धृतराष्ट्र के पुत्रों की तो क्या चलाई है ॥३३-३४॥

मातरञ्चैव शोचामि कृपणां पुत्रगृद्धिनीम्
यास्माकं नित्यमाशास्ते महत्वमधिकं परैः ॥३५॥

मैं पुत्रों से प्रेम करने वाली, दीन, माता की बड़ी चिन्ता करता हूं, जो नित्य अन्य से अधिक हमारा महत्व चाहती रहती हैं ॥३५॥

तस्या कथं त्वनाथाया मद्विनाशाद्भुजङ्गम ।
अफलास्ते भविष्यन्ति मयि सर्वे मनोरथाः॥३६॥

हे भुजङ्गम ! मेरे नष्ट हो जाने पर तो उस दीन माता के मुझमें किये हुए सारे मनोरथ, एक दम निष्फल हो जावेंगे ॥३६॥

नकुलः सहदेवश्च यमौ च गुरुवर्त्तिनौ ।
मद्बाहुबलसंगुप्तौ नित्यं पुरुषमानिनौ ॥३७॥
भविष्यतो निरुत्साहौ भ्रष्टवीर्य्यपराक्रमौ ।
मद्विनाशात् परिद्यूनाविति मे वर्त्तते मतिः ॥३८॥

अपनी वीरता का अभिमान रखने वाले, मेरे भुजाओं के बल से संरक्षित, वृद्धों के सेवक, नकुल और सहदेव भी मेरे नष्ट हो जाने पर अपने बल और पराक्रम का अभिमान छोड़कर निरुत्साह और शक्ति हीन हो जावेंगे--यह मेरी बुद्धि मानती है ॥३७-३८॥

एवं बहुविधं तदा विललाप वृकोदरः।
भुजङ्गभोगसंरुद्धो नाशकच्च विचेष्टितुम् ॥३९॥

इस प्रकार सर्प के फन में जकड़ा हुआ भीमसेन, बहुत सा विलाप कर रहा था परन्तु वह इतना जकड़ा पड़ा था, कि टस से मस नहीं हो सकता था ॥३९॥

युधिष्ठिरस्तु कौन्तेयो बभूवास्वस्थचेतनः ।
अनिष्टदर्शनान् घोरानुत्पातान् परिचिन्तयन् ॥४०॥

कुन्ती-पुत्र, युधिष्ठिर भी इस समय अनर्थों के उत्पादक, घोर उत्पातों को सोचकर बड़ा व्याकुल हो रहा था ॥४०॥

दारुणं ह्यशिवं नादं शिवा दक्षिणतः स्थिता ।
दीप्तायां दिशि वित्रस्ता रौति तस्याश्रमस्य ह ॥४१

इस समय एक दिशा में आग लगने से घबड़ाई हुई, एक गीदड़ी, उसके आश्रम के दक्षिण की ओर खड़ी होकर दारुण, अशुभ, अपशकुन करने लगी ॥४१॥

एकपक्षाक्षिचरणा वर्त्तिका घोरदर्शना ।
रक्तं वमन्ती ददृशे प्रत्यादित्यमभास्वरा ॥४२॥

एक पक्ष, नेत्र और चरण वाली, बुरी सी सूरत की मैली कुचैली बटेर, सूर्य की ओर रक्त वमन करती हुई दिखाई दी ॥४२॥

प्रववौ चानिलो रूक्षश्चण्डः शर्करकर्षणः ।
अपसव्यानि सर्वाणि मृगपक्षिरुतानि च ॥४३॥

मिट्टी-धूल-धारी, प्रचण्ड, रूखा वायु, चलने लगा और मृग तथा पक्षियों के शव्द बांई ओर होने लगे ॥४३॥

पृष्ठतो वायसः कृष्णो याहि याहीति शंसति ।
मुहुर्मुहुः स्फुरति च दक्षिणोऽस्य भुजस्तदा ॥४४॥
हृदयं चरणश्चापि वामोऽस्य परिवर्त्तते ।
सव्यस्याक्ष्णो विकारश्चाप्यनिष्टः समपद्यत ॥४५॥

उस समय कौआ, पीछे से आकर "जाओ" "जाओ" इन शव्दों को कह रहा था और राजा युधिष्ठिर की दांई भुजा, हृदय और बांया चरण भी बार २ फड़कता था। बांई आंख में भी कुछ हलचल हुई, इस प्रकार अनेक अपशकुन हुए ॥४४-४५॥

धर्मराजोऽपि मेधावी मन्यमानो महद्भयम् ।
द्रौपदीं परिपप्रच्छ क्व भीम इति भारत ॥४६॥

हे भारत ! बुद्धिमान् धर्मराज ने समझ लिया, कि कोई महाभय उपस्थित हुआ है । इसने अब द्रौपदी से पूछा, भीम कहां है ॥४६॥

शशंस तस्मै पाञ्चाली चिरयातं वृकोदरम् ।
स प्रतस्थे महाबाहुर्धौम्येन सहितो नृपः ॥४७॥

द्रौपदी ने कहा—भीम को गए बहुत देर हो गई । अब महाबाहु, राजा युधिष्ठिर भी, अपने पुरोहित धौम्य के साथ भीम को खोजने चल दिए ॥४७॥

द्रौपद्या रक्षणं कार्य्यमित्युवाच धनञ्जयम् ।
नकुलं सहदेवञ्च व्यादिदेश द्विजान् प्रति ॥४८॥

राजा युधिष्ठिर ने अर्जुन, नकुल और सहदेव और ब्राह्मणों को आज्ञा दी, कि तुम द्रौपदी की रक्षा करते रहना ॥४८॥

स तस्य पदमुन्नीय तस्मादेवाश्रमात् प्रभुः ।
मृगयामास कौन्तेयो भीमसेनं महावने ॥४९॥

राजा युधिष्ठिर ने अपने आश्रम से भीमसेन के चरण चिन्ह (खोज) देखे। इस प्रकार राजा ने उस महावन में भीम की खोज लगाई ॥४९॥

स प्राचीं दिशमास्थाय महतो गजयूथपान् ।
ददर्श पृथिवीं चिह्नैर्भीमस्य परिचिह्निताम् ॥५०॥

यह प्रथम पूर्व दिशा को गया, जहां इसने बड़े २ हाथियों के झुंडों के अधिपतियों को पृथिवी में पड़ा देखा और यहीं पर भीम के चरण चिन्हों से युक्त भूमि देखी ।।५०।।

ततो मृगसहस्राणि मृगेन्द्राणां शतानि च ।
पतितानि वने दृष्ट्वा मार्गं तस्याविदन्नृपः ।।५१।।

अब राजा ने सहस्रों मृग और सैकड़ों सिहों को वन में पड़े देखा । इनको देखकर राजा को भीम के इधर ही जाने का निश्चय हो गया ।।५१।।

धावतस्तस्य वीरस्य मृगार्थं वातरंहसः ।
ऊरुवातविनिर्भग्ना द्रुमा व्यावर्त्तिताः पथि ।।५२।।

राजा युधिष्ठिर ने वायु के समान वेगशील, मृगों के वध के लिए दौड़ते हुए, वीर भीम की जाँघों की टक्कर से टूटे हुए, वृक्ष, मार्ग में औंधे पड़े देखे ५२।।

स गत्वा तैस्तदा चिह्नैर्ददर्श गिरिगह्वरे ।
रूक्षमारुतभूयिष्ठे निष्पत्रद्रुमसंकुले ।।५३।।
ईरिणे निर्जने देशे कण्टकिद्रुमसंकुले ।
अश्मस्थाणुक्षुपाकीर्णे सुदुर्गे विषमोत्कटे ।
गृहीतं भुजगेन्द्रेण निश्चेष्टमनुजन्तदा ।।५४।।

इति श्रीमहाभारत आरण्यपर्वणि आजगरपर्वणि
युधिष्ठिरभीमदर्शने एकोनाशीत्यधिकशततमोऽध्यायः

इन चरण-चिन्हों से गमन करते हुए, राजा युधिष्ठिर ने, रूक्ष वायु से व्याप्त, सूखे वृक्षों से भरे हुए ऊषर, निर्जन, कण्टक वाले वृक्षों से व्याप्त, पत्थर, लकड़ी और झाड़ियों से समाकीर्ण, दुर्गम, महा-भयानक, पर्वत के प्रदेश में सर्प से पकड़े हुए, निश्चेष्ट अपने छोटे भाई भीम को देखा ॥५३--५४॥

इति श्रीमहाभारत वनपर्वान्तर्गत आजगर पर्व में युधिष्ठिर के भीम के दर्शन का एक सौ उनासीवां अध्याय पूरा हुआ।

एक सौ अस्सीवां अध्याय

वैशम्पायन उवाच—

युधिष्ठिरस्तमासाद्य सर्पभोगेन वेष्टितम्।
दयितं भ्रातरं धीमानिदं वचनमब्रवीत् ॥१॥

वैशम्पायन बोले—हे राजन्! राजा युधिष्ठिर ने जब सर्प से लपेटे हुए, अपने प्रिय भाई भीम को देखा, तो यह बुद्धिमान् कहने लगा ॥१॥

कुन्तीमातः कथमिमामापदं त्वमवाप्तवान्।
कश्चायं पर्वताभोगप्रतिमः पन्नगोत्तमः ॥२॥

हे कुन्ती-पुत्र! भीम! तुम इस विपत्ति में कैसे फँस गए और यह पर्वत के तुल्य देह धारी सर्प कौन हैं ॥२॥

स धर्मराजमालक्ष्य भ्राता भ्रातरमग्रजम् ।
कथयामास तत् सर्वं ग्रहणादिविचेष्टितम् ॥३॥

भीमसेन ने भी अपने बड़े भाई धर्मराज को देखकर सर्प के पकड़ने का सारा वृत्तान्त सुना दिया ॥३॥

भीमसेन उवाच —

अयमार्य्य महासत्त्वो भक्ष्यार्थं मां गृहीतवान् ।
नहुषो नाम राजर्षिः प्राणवानिव संस्थितः ॥४॥

भीमसेन बोला—हे आर्य ! इस महाबली ने मुझे खाने के लिए पकड़ा है। यह नहुष नामक राजर्षि है और पूर्व देह की स्मृति से उन्हीं प्राणों वाला या सर्पाकार धारी सा स्थित है ॥४॥

युधिष्ठिर उवाच—

मुच्यतामयमायुष्मन् भ्राता मेऽमितविक्रमः ।
वयमाहारमन्यन्ते दास्यामः क्षुन्निवारणम् ॥५॥

युधिष्ठिर ने कहा—हे आयुष्मन् ! यह तो अत्यन्त-पराक्रम मेरा भाई है, आप इसको छोड़ दें। हम तुमको और कुछ आहार समर्पण करेंगे ॥ ५ ॥

सर्प उवाच—

आहारो राजपुत्रोऽयं मया प्राप्तो मुखागतः ।
गम्यतां नेह स्थातव्यं श्वो भवानपि मे भवेत् ॥६॥

सर्प ने कहा—यह राज-पुत्र तो मेरा आहार बन कर मेरे मुख में आ पड़ा है, अब तुम भाग जाओ, ठहरो नहीं; कल तुम्हारी भी यही दशा होगी ॥ ६ ॥

व्रतमेतन्महाबाहो विषयं मम यो व्रजेत् ।
स मे भक्ष्यो भवेत्तात त्वञ्चापि विषयेऽमम ।।७।।

हे महाबाहो ! यह मेरा व्रत है, कि जो मेरे इस प्रदेश में आ जाता है, वही मेरा भक्ष्य हो जाता है और तुम भी मेरे ही प्रदेश में आ गए हो ।। ७ ।।

चिरेणाद्य मयाहारः प्राप्तोऽयमनुजस्तव ।
नाहमेनं विमोक्ष्यामि न चान्यमभिकाङ्क्षये ।।८।।

बहुत काल की प्रतीक्षा के अनन्तर यह तुम्हारा छोटा भाई आहार रूप से प्राप्त हुआ है । मैं इसको छोड़ नहीं सकता और न अन्य आहार चाहता हूं ।। ८ ।।

युधिष्ठिर उवाच—

देवो वा यदि वा दैत्य उरगो वा भवान् यदि ।
सत्यं सर्प वचो ब्रूहि प्रच्छति त्वां युधिष्ठिरः ।।९।।

युधिष्ठिर बोले—हे सर्प ! तुम ऐश्वर्यशाली देव, दैत्य और उरग जाति में कौन हो ? मुझे सत्य २ बतादो, मैं राजा युधिष्ठिर, तुमसे यही पूछ रहा हूं ।। ९ ।।

किमर्थश्च त्वया ग्रस्तो भीमसेनो भुजङ्गम ।
किमाहृत्य विदित्वा वा प्रीतिस्ते स्याद्भुजङ्गम ।
किमाहारं प्रयच्छामि कथं मुञ्चेद्भवानिमम् ।।१०।।

हे भुजङ्गराज ! तुमने इस भीमसेन को किस लिए पकड़ा है । तुम क्या लेकर या जान कर प्रसन्न हो जावोगे । तुम्हें अन्य क्या आहार अर्पण किया जावे और तुम किस प्रकार इसे छोड़ सकते हो ।। १० ।।

सर्प उवाच—

नहुषो नाम राजाहमासं पूर्वस्तवानघ ।
प्रथितः पञ्चमः सोमादायोः पुत्रो नराधिप ॥११॥

सर्प बोला—हे महात्मन्! मैं नहुष नाम का राजा तुम्हारा पूर्वज हूं। हे नराधिप! मैं चन्द्रमा से पांचवां; आयु का पुत्र हूं-यह सब जानते हैं ॥ ११ ॥

क्रतुभिस्तपसा चैव स्वाध्यायेन दमेन च ।
त्रैलोक्यैश्वर्य्यमव्यग्रं प्राप्तोऽहं विक्रमेन च ॥ १२ ॥

मैंने यज्ञ, तप, स्वाध्याय, जितेन्द्रियता और पराक्रम से त्रिलोकी का सारा ऐश्वर्य प्राप्त किया है ॥ १२ ॥

तदैश्वर्य्यं समासाद्य दर्पो मामगमत्तदा ।
सहस्रं हि द्विजातीनामुवाह शिबिकां मम ॥ १३ ॥

उस ऐश्वर्य को पाकर मुझे घमण्ड होगया। मैंने एक सहस्त्र ब्राह्मणों से अपनी पालकी उठवाई ॥ १३ ॥

ऐश्वर्य्यमदमत्तोऽहमवमन्य ततो द्विजान् ।
इमामगस्त्येन दशामानीतः पृथिवीपते ॥१४॥
न तु मामजहात् प्रज्ञा यावदद्येति पाण्डव ।
तस्यैवानुग्रहाद्राजन्नगस्त्यस्य महात्मनः ॥ १५ ॥

हे पृथिवी-पते! ऐश्वर्य के मद से भरे हुए, मैंने ब्राह्मणों का अपमान किया, जिससे महर्षि अगस्त्य ने मेरी यह दशा कर दी। हे पाण्डव! उसी महर्षि अगस्त्य के अनुग्रह से वह मेरी पुरानी स्मृति अभी नष्ट नहीं हुई है ॥ १४-१५ ॥

षष्ठे काले मयाहारः प्राप्तोऽयमनुजस्तव ।
नाहमेनं विमोक्ष्यामि न चान्यदपि कामये ॥१६ ॥

रात दिन के छटे भाग में मुझे यह तुम्हारा छोटा भाई आहार रूप से प्राप्त हुआ है। अब मैं न तो इसे छोड़ूंगा और न अन्य आहार स्वीकार करूंगा ॥ १६ ॥

प्रश्नानुच्चारितानद्य व्याहरिष्यसि चेन्मम ।
अथ पश्चाद्विमोक्ष्यामि भ्रातरं ते वृकोदरम् ॥ १७ ॥

यदि तुम मेरे कहे हुए प्रश्नों का उत्तर दे दोगे-तो उनके पीछे मैं तुम्हारे भाई भीमसेन को छोड़ सकता हूं ॥ १७ ॥

युधिष्ठिर उवाच—

ब्रूहि सर्प यथाकामं प्रतिवक्ष्यामि ते वचः ।
अपि चेच्छक्नुयां प्रीतिमाहर्तुं ते भुजङ्गम॥ १८॥

राजा युधिष्ठिर ने कहा—हे भुजङ्गम ! तुम अपने प्रश्नों को कहो-मैं उनका यथा-शक्ति उत्तर दूंगा। सम्भव है, उन उत्तरों से मैं तुम्हें प्रसन्न कर सकूं ॥ १८ ॥

वेद्यञ्च ब्राह्मणेनेह तद्भवान् वेत्ति केवलम् ।
सर्पराज ततः श्रुत्वा प्रतिवक्ष्यामि ते वचः ॥ १९ ॥

जो कुछ ब्राह्मण के जानने योग्य है, उसे तुम जानते हो। हे सर्प राज ! मैं तेरे प्रश्नों को सुन कर उत्तर देने का प्रयत्न करूंगा ॥१९॥

सर्प उवाच—

ब्राह्मणः को भवेद्राजन् वेद्यं किञ्च युधिष्ठिर ।
ब्रवीह्यतिमतिं त्वां हि वाक्यैरनुमिमीमहे ॥ २० ॥

सर्प ने कहा—हे राजन् ! युधिष्ठिर ! ब्राह्मण कौन हो सकता है और वेद्य (जानने योग्य) किसे कहते हैं, तुम यही बताओ। तुम्हारे वाक्यों से तो तुम बुद्धिमान्, प्रतीत होते हो ॥२०।

युधिष्ठिर उवाच—

सत्यं दानं क्षमा शीलमानृशंस्यन्तपो घृणा ।
दृश्यन्ते यत्र नागेन्द्र स ब्राह्मण इति स्मृति ॥ २१ ॥

युधिष्ठिर ने कहा—हे नागेन्द्र ! सत्य, दान, क्षमा, शील, दया, तप और घृणा जिस पुरुष में दिखाई दे—वह ब्राह्मण है २१

वेद्यं सर्प परं ब्रह्म निर्दुःखमसुखञ्च यत् ।
यत्र गत्वा न शोचन्ति भवतः किं विवक्षितम् ॥२२॥

हे सर्प ! जानने योग्य वस्तु परब्रह्म है। जो सुख दुःखों से रहित है। इस ब्रह्म के प्राप्त हो जाने पर कोई भी शोक नहीं रहता है। अब आप आगे कहो—क्या कहना चाहते हो ॥२२॥

सर्प उवाच—

चातुर्वर्ण्यं प्रमाणञ्च सत्यञ्च ब्रह्म चैव हि ।
शूद्रेष्वपि च सत्यञ्च दानमक्रोध एव च ॥ २३ ॥
आनृशंस्यमहिंसा च घृणा चैव युधिष्ठिर ।
वेद्यं यच्चात्र निर्दुःखमसुखञ्च नराधिप ।
ताभ्यां हीनं पदञ्चान्यन्न तदस्तीति लक्षये ॥ २४ ॥

सर्प ने कहा—हे युधिष्ठिर ! सत्य और ब्रह्म को चारों वर्णों ने प्रमाण माना है। यह सत्य, दान, अक्रोध, अक्रूरता, अहिंसा, घृणा तो शूद्रों में भी दिखाई देती है। हे राजन् ! जो

तुमने जानने योग्य, सुख दुःख शून्य ब्रह्म को बताया, परन्तु मैं तो सुख दुःख से शून्य किसी चेतन वस्तु को देखता ही नहीं हूं ॥२३-२४॥

युधिष्ठिर उवाच—

शूद्रे तु यद्भवेल्लक्ष्म द्विजे तच्च न विद्यते ।
न वै शूद्रो भवेच्छूद्रो ब्राह्मणो न च ब्राह्मणः ॥२५॥

राजा युधिष्ठिर बोले—जो सत्य आदि के लक्षण शूद्र में हो और ब्राह्मण में दिखाई न दें, तो वह शूद्र, शूद्र नहीं है और सत्यादि से रहित ब्राह्मण, ब्राह्मण नहीं है ॥२५॥

यत्रैतल्लक्ष्यते सर्प वृत्तं स ब्राह्मणः स्मृतः ।
तत्रैतन्न भवेत् सर्प तं शूद्रमिति निर्दिशेत् ॥ २६ ॥

हे सर्प ! जिसमें सत्य आदि के व्यवहार दिखाई दे, वही ब्राह्मण है और जिसमें ये नहीं है, उसको शूद्र कहते हैं ॥२६॥

यत् पुनर्भवता प्रोक्तं न वेद्यं विद्यतीति च ।
ताभ्यां हीनमतोऽन्यत्र पदं नास्तीति चेदपि ॥ २७ ॥
एवमेतन्मतं सर्प ताभ्यां हीनं न विद्यते ।
यथा शीतोष्णयोर्मध्ये भवेन्नोष्णं न शीतता ॥ २८ ॥
एवं वै सुखदुःखाभ्यां हीनं नास्ति पदं क्वचित् ।
एषा मम मतिः सर्प यथा वा मन्यते भवान् ॥२९॥

इसके सिवा तुमने कहा, कि ऐसा कोई वेद्य (जानने योग्य वस्तु) नहीं है, जो सुख दुःख से रहित हो, यह ठीक है । लोक में कोई देवादि ऐसा प्राणी नहीं है, जो सुख दुःख से रहित हो ।

जैसे शीत और उष्ण के मध्य में रहने वाली वस्तु न तो शीत कहाती है और न उष्ण, ऐसे हीं ब्रह्म भी सुख दुःख के मध्य में हैं, इसके अतिरिक्त कोई भी सुख दुःख से हीन नहीं है। हे सर्प, मेरा मत तो यही है, अब तुम जैसा मानते हो वह कहो ॥२७-२६

सर्प उवाच—

यदि ते वृत्ततो राजन् ब्राह्मणः प्रसमीक्षितः।
वृथा जातिस्तदायुष्मन् कृतिर्यावन्न विद्यते॥ ३० ॥

सर्प ने कहा—हे राजन्! यदि तुमने आचरण से ही ब्राह्मण माना है, तो फिर जन्म से ब्राह्मण होना व्यर्थ है, जब तक कि वह ब्राह्मण के कर्म न करे ॥३०॥

युधिष्ठिर उवाच—

जातिरत्र महासर्प मनुष्यत्वे महामते।
सङ्करात् सर्ववर्णानां दुष्परीक्ष्येति मे मतिः ॥३१॥

युधिष्ठिर ने कहा—हे महामते! सर्पराज! मनुष्यों में जन्म से तो जाति की परीक्षा ही नहीं हो सकती है, क्योंकि सारे वर्णों की मिलावट हो चुकी है, ऐसी मेरी मति है॥३१॥

सर्वे सर्वास्वपत्यानि जनयन्ति सदा नराः।
वाङ्मैथुनमथो जन्म मरणञ्च समं नृणाम् ॥३२॥

पूर्वकाल से ही सारे मनुष्य, सब जातियों की स्त्रियों में सन्तान उत्पन्न करते चले आए हैं। वाणी, मैथुन, जन्म, मरण सब प्राणियों का समान ही है ॥३२॥

इदमार्षं प्रमाणञ्च ये यजामह इत्यपि ।
तस्माच्छीलं प्रधानेष्टं विदुर्य्ये तत्त्वदर्शिनः ॥३३॥

इसमें "ये यजामहे" यह वचन भी आर्ष प्रमाण है। इससे शील ही ब्राह्मणत्व का प्रधान कारण है। इस प्रकार जो जानता है, वही तत्वदर्शी है ॥३३॥

प्राङ्नाभिवर्द्धनात् पुंसो जातकर्म विधीयते ।
तदास्य माता सावित्री पिता त्वाचार्य्य उच्यते ॥३४॥

नालच्छेद के अनन्तर मनुष्यों का जातकर्म संस्कार होता है। फिर इसकी माता सावित्री (गायत्री) और आचाय पिता माना गया है ॥३४॥

तावच्छूद्रसमो ह्येष यावद्वेदे न जायते ।
तस्मिन्नेवं मतिद्वैधे मनुः स्वायम्भुवोऽब्रवीत् ॥३५॥

जब तक मनुष्य वेद को न पढ ले, तब तक वह शूद्र के समान ही है। इस जाति के सन्देह में स्वायम्भुव मनु का, यही निर्णय है ॥३५॥

कृतकृत्याः पुनर्वर्णा यदि वृत्तं न विद्यते ।
सङ्करस्तत्र नागेन्द्र बलवान् प्रसमीक्षितः ॥ ३६ ॥

हे नागेन्द्र! जो संस्कार करने वेद पढ़ने पर भी मनुष्य में आचरण या शील न आवे, तो उसमें बलवान् मिलावट समझनी चाहिए ॥३६॥

यत्रेदानीं महासर्प संस्कृतं वृत्तमिष्यते ।
तं ब्राह्ममहं पूर्वमुक्तवान् भुजगोत्तम ।। ३७ ।।

हे भुजगोत्तम ! जिसमें संस्कार के साथ शुद्ध आचरण और सदाचार का प्राबल्य हो, उसको तो मैंने पूर्व में ही ब्राह्मण कह दिया है ।।३७।।

सर्प उवाच—

श्रुतं विदितवेद्यस्य तव वाक्यं युधिष्ठिर ।
भक्षयेयमहं कस्माद् भ्रातरं ते वृकोदरम् ।।३८ ।।

इति श्रीमहाभारत आरण्यपर्वणि आजगरपर्वणि
अजगरयुधिष्ठिरसंवादे अशीत्यधिकशततमोऽध्यायः

सर्प ने कहा—हे युधिष्ठिर ! तुम जानने योग्य वस्तु के ज्ञाता हो । मैंने तुम्हारा वाक्य सुना । मेरे प्रश्नों का उत्तर हो गया, अब मैं तुम्हारे भाई को कैसे खा सकता हूं ।।३८।।

इति श्रीमहाभारत वनपर्वान्तर्गत आजगर पर्व में अजगर
युधिष्ठिर सम्वाद का एक सौ अस्सीवां अध्याय पूरा हुआ

एक सौ इक्यासीवां अध्याय

युधिष्ठिर उवाच—

भवानेतादृशो लोके वेदवेदाङ्गपारगः ।
ब्रूहि किं कुर्वतः कर्म भवेद्गतिरनुत्तमा ॥१॥

युधिष्ठिर बोले—हे सर्पोत्तम ! तुम वेद वेदांग के जानने वाले लोक में अद्वितीय ज्ञानी हो । अब तुम ही बताओ-किन कर्मों के करने से सर्वोत्तम गति प्राप्त होती है ॥ १ ॥

सर्प उवाच—

पात्रे दत्त्वा प्रियाण्युक्त्वा सत्यमुक्त्वा च भारत ।
अहिंसानिरतः स्वर्गं गच्छेदिति मतिर्मम ॥२॥

सर्प ने कहा—हे भारत ! सत्पात्र को दान देने, सत्य और हितकारी वचन कहने और अहिंसा परायण रहने से ही मनुष्य, स्वर्ग को प्राप्त करता है—यह मेरा मत है ॥ २ ॥

युधिष्ठिर उवाच—

दानाद्वा सर्प सत्याद्वा किमतो गुरु दृश्यते ।
अहिंसाप्रिययोश्चैव गुरुलाघवमुच्यताम् ॥३॥

युधिष्ठिर कहने लगे—हे सर्प ! दान और सत्य में कौन महत्वशाली है, तथा अहिंसा और प्रिय वचन में किस का महत्व है । इनके गुरु लाघव को सोचकर बताओ ॥ ३ ॥

सर्प उवाच—

दानञ्च सत्यं तत्वं वा अहिंसा प्रियमेव च ।
एषां कार्य्यगरीयस्त्वाद्दृश्यते गुरुलाघवम् ॥४॥

सर्प ने कहा----दान और सत्यतत्व, अहिंसा और प्रिय वचन, इनका कार्य के विचार से गौरव लाघव (हलका, भारीपन) देखा जाता है ॥ ४ ॥

कस्माच्चिद्दानयोगाद्धि सत्यमेव विशिष्यते ।
सत्यवाक्याच्च राजेन्द्र किञ्चिद्दानं विशिष्यते ॥५॥

हे राजेन्द्र ! किसी दान के योग से सत्य की विशेषता है और किसी मौके पर सत्य से विशेष दान का महत्व है ॥ ५ ॥

एवमेव महेष्वास प्रियवाक्यान्महीपते ।
अहिंसा दृश्यते गुर्वी ततश्च प्रियमिष्यते ॥६॥

हे धनुर्धर ! महीपते ! इसी तरह प्रिय वाक्य से अहिंसा बड़ी है और किसी स्थान पर अहिंसा से प्रिय वाक्य श्रेष्ठ है ॥६॥

एवमेतद्भवेद्राजन् कार्य्यापेक्षमनन्तरम् ।
यदभिप्रेतमन्यत्ते ब्रूहि यावद्ब्रवीम्यहम् ॥७॥

हे राजन्, इस प्रकार कार्य की अपेक्षा से इन में गौरव-लाघव का विचार किया जाता है । हे राजन् ! इसके सिवा अन्य कुछ पूछना हो तो पूछो-मैं तुमको उसका भी उत्तर दूंगा ॥ ७ ॥

युधिष्ठिर उवाच-

कथं स्वर्गे गतिः सर्प कर्मणाञ्च फलं ध्रुवम् ।
अशरीरस्य दृश्येत प्रब्रूहि विषयांश्च मे ॥८॥

युधिष्ठिर ने कहा--हे सर्प ! मनुष्य विना शरीर के स्वर्ग में कैसे जाता है और उसे कर्मों का फल कैसे मिलता हैं, इन विषयों को मुझे समझा कर कहो ॥ ८ ॥

सर्प उवाच—

तिस्रो वै गतयो राजन् परिदिष्टा स्वकर्मभिः।
मानुष्यं स्वर्गवासश्च तिर्य्यग्योनिश्च तत्त्रिधा ॥६॥
तत्र वै मानुषाल्लोकाद्दानादिभिरतन्द्रितः।
अहिंसार्थसमायुक्तैः कारणैः स्वर्गमश्नुते ॥१०॥

सर्प ने कहा--हे राजन् ! मनुष्यों की अपने कर्म के अनुसार तीन गतियां मानी गई हैं। (१) मनुष्य योनि (२) स्वर्गवास (३) तीर्यग्योनि। इन में जो मनुष्य, सावधानी से अहिंसा के साथ दान आदि देता है, वह इन कारणों से स्वर्ग लोक को पाता है ॥ ६-१० ॥

विपरीतैश्च राजेन्द्र कारणैर्मानुषो भवेत्।
तिर्य्यग्योनिस्तथा तात विशेषश्चात्र वत्यते ॥११॥

हे राजन् ! इन दानादि के विपरीत कर्मों से प्राणी, मनुष्य योनि या तिर्यग् योनि में जाता है। अब इस विषय में तुमको विशेष बात बताता हूं ॥ ११ ॥

कामक्रोधसमायुक्तो हिंसालोभसमन्वितः।
मनुष्यत्वात् परिभ्रष्टस्तिर्य्यग्योनौ प्रसूयते ॥१२॥
तिर्य्यग्योन्याः पृथग्भावो मनुष्यार्थे विधीयते।
गवादिभ्यस्तथाश्वभ्यो देवत्वमपि दृश्यते ॥१३॥

जो प्राणी, काम, क्रोध, हिंसा और लोभ से घिरा रहता है, वह मनुष्यत्व से नष्ट होकर तिर्यग्योनि (पशु योनि) में जाता है।

जब तिर्यग्योनि के भोग पूरे हो जाते हैं,तब प्राणी फिर मनुष्यत्व की ओर आ जाता हैं। गौ और अश्व आदि योनियों को भोग कर प्राणी, कभी २ देवयोनि में भी अपने भोग भोगने चला जाता है ॥ १२-१३॥

सोऽयमेता गतीस्तात जन्तुश्चरति कार्य्यवान्।
नित्ये महति चात्मानमवस्थापयते द्विजः ॥१४॥

हे तात ! कर्म फल में इच्छा रखने वाला प्राणी, इन गतियों में घूमता है और जो ज्ञानी है, वह नित्य ब्रह्म में अपने को लीन कर देता है ॥ १४॥

जातो जातश्च बलवान् भुङ्क्ते चात्मा स देहवान् ।
फलार्थस्तात निस्पृक्तः प्रजालक्षणभावनः ॥१५॥

हे तात ! कर्म फल के चक्कर में पड़ा हुआ जीवात्मा, देह द्वारा बार २ जन्म लेकर अपने कर्मों के फलों को भोगता है और जो कर्मों के फल में आसक्त नहीं है, वही जन्म मरण के चक्र को जान कर उससे छुट जाता है ॥ १५ ॥

युधिष्ठिर उवाच—

शब्दे स्पर्शे च रूपे च तथैव रसगन्धयोः ।
तस्याधिष्ठानमव्यग्रो ब्रूहि सर्प यथातथम् ॥१६॥

युधिष्ठिर ने कहा—हे सर्प! शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध इनका आधार क्या है । तुम इसका ठीक २ व्यग्रता छोड़कर तत्व बताओ ॥ १६ ॥ २६

किं न गृह्णासि विषयान् युगपत्त्वं महामते ।
एतावदुच्यतां चोक्तं सर्वं पन्नगसत्तम ॥१७॥

हे महामते ! तुम इन सारे विषयों को एक बार ही क्यों नहीं ग्रहण कर सकते हो। हे पन्नगराज, तुम मेरे इन प्रश्नों का ठीक २ उत्तर प्रदान करो ॥ १७ ॥

सर्प उवाच—

यदात्मद्रव्यमायुष्मन् देहसंश्रयणान्वितम् ।
करणाधिष्ठितं भोगानुपभुङ्क्ते यथाविधि ॥१८॥

सर्प ने कहा-हे आयुष्मन् ! यह आत्मा, देह का आश्रय लेकर इन्द्रियों के द्वारा अनेक कर्मों के भोगों को भोगता है ॥१८॥

ज्ञानञ्चैवात्र बुद्धिश्च मनश्च भरतर्षभ ।
तस्य भोगाधिकरणे करणानि निबोध मे ॥१९॥

हे भरतर्षभ ! ज्ञान (इन्द्रियां) बुद्धि और मन ये तीन ही इस देह में करण (भोग, साधन) माने हैं। इनको तुम समझ लो ॥१९॥

मनसा तात पर्य्येति क्रमशो विषयानिमान् ।
विषयायतनस्थेन भूतात्मा क्षेत्रनिःसृतः ॥२०॥

हे तात ! यह जीवात्मा-मन के द्वारा ही देह से बाहर होकर विषयों के आधार इन्द्रियों की सहायता से इन विषयों को भोगता है ॥२०॥

तत्र चापि नरव्याघ्र मनो जन्तोर्विधीयते ।
तस्माद्युगपदत्रास्य ग्रहणं नोपपद्यते ॥२१॥

हे नर-व्याघ्र ! इन विषयों के ग्रहण में मन ही प्रधान है, इसी कारण यह जीवात्मा एक दम सारे विषयों का ग्रहण नहीं कर सकता है।।२१।।

स आत्मा पुरुषव्याघ्र भ्रुवोरन्तरमाश्रितः।
बुद्धिं द्रव्येषु सृजति विविधेषु परावराम् ।।२२।।

हे पुरुष-श्रेष्ठ ! उस आत्मा का दर्शन भ्रकुटी में ध्यान लगान से होता है, इससे आत्मा इन भ्रुओं के बीच में स्थित है, ऐसा माना गया है। यही जीवात्मा, अनेक द्रव्यों में सत्व, राजस, तामस रूप से बुद्धि को लगाता है ।।२२।।

बुद्धे रुत्तरकालाच्च वेदना दृश्यते बुधैः।
एष वै राजशार्दूल विधिः क्षेत्रज्ञभावनः ।।२३।।

हे राज-शार्दूल ! विद्वानों को बुद्धि से भी आगे एक अन्य चिच्छक्ति का अनुभय होता है। यह विधि (ज्ञान) ही आत्मा के प्रकाश करने वाली है ।।२३।।

युधिष्ठिर उवाच—

मनसश्चापि बुद्धेश्च ब्रूहि मे लक्षणं परम्।
एतदध्यात्मविदुषां परं कार्य्यं विधीयते ।।२४।।

युधिष्ठिर बोले—हे सर्प-श्रेष्ठ ! अब तुम प्रथम मन और बुद्धि के लक्षण कहो। ये ही अध्यात्म ज्ञानियों के लिए मुख्य बात मानी गई है ।।२४।।

सर्प उवाच—

बुद्धिरात्मानुगातीव उत्पातेन विधीयते ।
तदाश्रिता हि सा ज्ञेया बुद्धिस्तस्यैषिणी भवेत्।।२५।।

सर्प ने कहा—बुद्धि ने आत्मा के साथ अत्यन्त ही एक रूप प्राप्त कर रखा है । इस आत्मा को उत्पात (उत्क्रान्ति) के द्वारा अर्थात् बुद्धि से पृथक् करके ही वश में किया जा सकता है । यह बुद्धि आत्मा के आश्रित है, परन्तु यह अपने अधिष्ठान, आत्मा की इच्छा करने वाली हो जाती है ।।२५।।

बुद्धिरुत्पद्यते कार्य्यान्मनस्तूत्पन्नमेव हि ।
बुद्धेर्गुणविधिर्नास्ति मनस्तद्गुणवद्भवेत् ।।२६।।

बुद्धि तो किसी कार्य की अपेक्षा से ही उत्पन्न होती है । मन तो पहले से ही उत्पन्न है अर्थात् मन के रागात्मक होने से ही बुद्धि स्वयं वासना वाली नहीं है, वासना वाला तो मन ही माना गया है ।।२६।।

एतद्विशेषणं तात मनोबुद्ध्योर्यदन्तरम् ।
त्वमप्यत्राभिसम्बुद्धः कथं वा मन्यते भवान्।।२७।।

हे तात ! मन और बुद्धि के बीच में जो भेद (फर्क) है, वह मैंने तुमको बता दिया है । इस विषय के तुम भी ज्ञाता हो, इस लिए आप किस तरह मानते हैं ।।२७।।

युधिष्ठिर उवाच—

अहो बुद्धिमतां श्रेष्ठो शुभा बुद्धिरियं तव ।
विदितं वेदितव्यन्ते कस्मात् मामनुपृच्छसि ।।२८।।

युधिष्ठिर ने कहा—हे सर्प ! तुम बुद्धिमानों में श्रेष्ठ हो तुम्हारी बुद्धि भी बड़ी उत्तम है। तुमने जानने योग्य वस्तु को जान लिया है। अब तुम मुझ से क्या पूछते हो ॥२८॥

सर्वज्ञं त्वां कथं मोह आविशत् स्वर्गवासिनम् ।
एवमद्भुतकर्माणमिति मे संशयो महान् ॥२९॥

हे सर्प ! तुम तो सर्वज्ञ हो। तुम स्वर्ग निवासी अद्भुत कार्य करने वाले को भी मोह ने कैसे घेर लिया, इसमें मुझे बड़ा संशय है ॥२९॥

सर्प उवाच—

सुप्रज्ञमपि चेच्छूरमृद्धिर्मोहयते नरम् ।
वर्त्तमानः सुखे सर्वो मुह्यतीति मतिर्मम ॥३०॥

सर्प ने कहा--हे राजन् ! बड़े बुद्धिमान् और शूर वीर नर को भी सम्पत्ति मोहित कर देती हैं। जो मनुष्य, प्रभुता के चक्कर में पड़ जाता है वह अवश्य मूढ़ हो जाता है, ऐसा मेरा मत है ॥३०॥

सोऽहमैश्वर्य्यमोहेन मदाविष्टो युधिष्ठिर ।
पतितः प्रतिसम्बुद्धस्त्वान्तु सम्बोधयाम्यहम् ॥३१॥

हे युधिष्ठिर ! इसी से मैं भी ऐश्वर्य के मद से मदोन्मत्त हो गया। जब मैं गिर गया, तभी मुझे चेत हुआ। अब मैं तुमको प्रथम ही सचेत किए देता हूँ ॥३१॥

कृतं कार्य्यं महाराज त्वया मम परन्तप ।
क्षीणः शापः सुकृच्छ्रो मे त्वया सम्भाष्य साधुना ॥३२

हे परन्तप ! महाराज ! तुमने मेरा कार्य किया है । तुम महात्मा से वार्तालाप करने से ही मेरा कठिन शाप क्षीण हो गया ॥३२॥

अहं हि दिवि दिव्येन विमानेन चरन् पुरा ।
अभिमानेन मत्तः सन् कश्चिन्नान्यमचिन्तयम् ॥३३॥

मैं पूर्व काल में दिव्य विमान से आकाश में घूमा करता था और अभिमान में चूर होकर किसी अन्य को गिनता ही नहीं था ॥३३॥

ब्रह्मर्षिदेवगन्धर्वयक्षराक्षसपन्नगाः ।
करान्मम प्रयच्छन्ति सर्वे त्रैलोक्यवासिनः ॥३४॥

ब्रह्मर्षि, देव, गन्धर्व, यक्ष, राक्षस, पन्नग आदि त्रैलोक्यवासी सारे जीव,मुझे ही कर दिया करते थे ॥३४॥

चक्षुषा यं प्रपश्यामि प्राणिनं पृथिवीपते ।
तस्य तेजो हराम्याशु तद्धि दृष्टेर्बलं मम ॥३५॥

हे पृथ्वीपते ! जिस प्राणी की ओर मैं आँख उठाकर देख लेता था, उसका तेज शीघ्र ही खींच लेता था, यह मेरी दृष्टि की शक्ति थी ॥३५॥

ब्रह्मर्षीणां सहस्रं हि उवाह शिविकां मम ।
स मामपनयो राजन् भ्रंशयामास वै श्रियः ॥३६॥

हे राजन् !एक सहस्र ब्रह्मर्षियों ने मेरी पालकी उठाई । मेरे इसी अन्याय ने मुझे राज्य-लक्ष्मी से भ्रष्ट किया है ॥३६॥

तत्र ह्यगस्त्यः पादेन वहन् स्पृष्टो मया मुनिः ।
अगस्त्येन ततोऽस्म्युक्तो ध्वंस सर्पेति वै रुषा ॥३७

जब अगस्त्य मुनि शिविका को ले जा रहे थे, तो मैंने उनके लात लगा दी । तब अगस्त्य ने मुझे रोष में भरकर कहा—हे सर्प ! तू नष्ट हो जा ॥३७॥

ततस्तस्माद्विमानाग्रात् प्रच्युतश्च्युतलक्षणः ।
प्रपतन् बुबुधेत्मानं व्यालीभूतमधोमुखम् ॥३८॥

इसके बाद राज्य-चिह्नों से हीन होकर, मैं उस श्रेष्ठ विमान से नीचे गिर पड़ा । जब नीचे गिर रहा था, तब मैंने अपने को जाना, कि मैं नीचे मुख किए हुए, सर्प होकर गिर रहा हूँ ३८

अयाचन्तमह विप्रं शापस्यान्तो भवेदिति ।
प्रमादात् संप्रमूढस्य भगवन् क्षन्तुमर्हसि ॥३९॥

अब मैंने उन्हीं अगस्त्य ऋषि से याचना की, कि मेरा शाप का अन्त निश्चित करो । हे भगवन ! मैंने यह अपराध, अज्ञान से किया है । मुझ अज्ञानी के अपराध को क्षमा कर देना चाहिए ॥३९॥

ततः स मामुवाचेदं प्रपतन्तं कृपान्वितः ।
युधिष्ठिरो धर्मराजः शापात्त्वां मोक्षयिष्यति॥४०॥

अब नीचे गिरते हुए मुझ पर उस मुनि ने कृपा करके कहा--राजा युधिष्ठिर, तुम्हें शाप से मुक्त करेगा ॥४०॥

अभिमानस्य घोरस्य पापस्य च नराधिप ।
फले क्षीणे महाराज फलं पुण्यमवाप्स्यसि ॥४१॥

हे नराधिप ! महाराज ! तुम्हारे इस घोर अभिमान और पाप का फल क्षीण हो जाने पर तुम पुण्य का फल प्राप्त करोगे।

ततो मे विस्मयो जातस्तद्दृष्ट्वा तपसो बलम् ।
ब्रह्म च ब्रह्मणत्वञ्च येन त्वाहमचूचुदम् ॥४२॥

जब मैंने उस ऋषि के तप का बल देखा, तो उस बल को देखकर मुझे बड़ा अचम्भा हुआ। इसी तरह उसके ज्ञान और ब्राह्मणत्व को देखकर भी मैं चकित हो गया, जिससे मैंने तुमसे ये प्रश्न किए हैं ॥४२॥

सत्यं दमस्तपो दानमहिंसा धर्मनित्यता ।
साधकानि सदा पुंसां न जातिर्न कुलं नृप ॥४३॥

हे नृप ! सत्य, दम, तप, दान, अहिंसा और धर्म-निष्ठा, ये ही मनुष्य के कार्यों के साधक हैं। जाति और कुल से कुछ नहीं बनता है ॥४३॥

अरिष्ट एष ते भ्राता भीमसेनो महाबलः ।
स्वस्ति तेऽस्तु महाराज गमिष्यामि दिवं पुनः ॥४४

अब यह तुम्हारा भाई महाबली भीमसेन, दुःख से मुक्त हो गया है। हे महाराज ! आपका कल्याण हो, अब मैं फिर स्वर्ग को जाता हूँ ॥४४॥

वैशम्पायन उवाच—

इत्युक्त्वाजगरं देहं मुक्त्वा स नहुषो नृपः ।
दिव्यं वपुः समास्थाय गतस्त्रिदिवमेव ह ॥४५॥

वैशम्पायन बोले—इतना कहकर और अजगर की देह छोड़कर राजा नहुष, दिव्य शरीर धारण करके स्वर्गलोक को चला गया ॥४५॥

युधिष्ठिरोऽपि धर्मात्मा भ्रात्रा भीमेन सङ्गतः ।
धौम्येन सहितः श्रीमानाश्रमं पुनरागमत् ॥४६॥

धर्मात्मा, श्रीमान् राजा युधिष्ठिर भी अपने भाई भीम तथा पुरोहित धौम्य के साथ अपने आश्रम में चला आया ॥४६॥

ततो द्विजेभ्यः सर्वेभ्यः समेतेभ्यो यथातथम् ।
कथयामास तत्सर्वं धर्मराजो युधिष्ठिरः ॥४७॥

यहाँ आकर सारे इकट्ठे ब्राह्मणों से धर्मराज युधिष्ठिर ने यह सारी कथा ज्यों की त्यों सुनाई ॥४७॥

तच्छ्रुत्वा ते द्विजाः सर्वे भ्रातरश्चास्य ते त्रयः ।
आसन् सुव्रीड़िता राजन् द्रौपदी च यशस्विनी ॥४८

हे राजन् ! यह कथा सुनकर सारे ब्राह्मण, तीनों भाई और द्रौपदी, बड़े ही चकित हुए ॥४८॥

ते तु सर्वे द्विजश्रेष्ठाः पाण्डवानां हितेप्सया ।
मैवमित्यब्रुवन् भीमं गर्हयन्तोऽस्य साहसम् ॥४९॥

अब सारे ब्राह्मणों ने पाण्डवों के हित की इच्छा से भीम के इस साहस की बड़ी निन्दा की और कहा— आगे कभी ऐसा न करना ॥४९॥

पाण्डवास्तु भयान्मुक्तं प्रेक्ष्य भीमं महाबलम् ।
हर्षमाहारयाञ्चक्रुर्विजह्रुश्च मुदा युताः ॥५०॥

इति श्रीमहाभारत आरण्यपर्वणिआजगरपर्वणि
भीममोचने एकाशीत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥
समाप्तश्चाजगरपर्व ॥१८१॥

जब पाण्डवों ने भय से मुक्त महाबली भीम को देखा, तो बड़े ही हर्षित हुए और बड़े आनन्द से उस वनस्थली में रहने लगे । ॥५०॥

इति श्रीमहाभारत वनपर्वान्तर्गत आजगरपर्व में भीम-
मोचन का एक सौ अस्सीवाँ अध्याय पूरा हुआ ।
और यहीं पर आजगरपर्व भी समाप्त होगया

* * *

अथ मार्कण्डेयसमास्यापर्व

एक सौ बयासीवां अध्याय

वैशम्पायन उवाच—

निदाघान्तकरः कालः सर्वभूतसुखावहः ।
तत्रैव वसतां तेषां प्रावृट् समभिपद्यत ॥१॥

वैशम्पायन बोले—हे राजन् ! पाण्डवों के इस आश्रम में रहने के समय में ही ग्रीष्म ऋतु का अन्त करने वाला, सब प्राणियों का सुखदायी, वर्षाकाल आ गया ॥१॥

छादयन्तो महाघोषा खं दिशश्च बलाहकाः ।
प्रववर्षुर्दिवारात्रमसिताः सततं तदा ॥२॥

उस समय काले २ बादलों ने सारा आकाश और दिशाएँ व्याप्त कर लीं। ये बड़ी भारी गर्जना करके रात-दिन वर्ष रहे थे।२।

तपात्ययनिकेताश्च शतशोऽथ सहस्रशः ।
अपेतार्कप्रभाजाला सविद्युद्विमलप्रभा ॥३॥

वर्षा ऋतु के सैंकड़ों हज़ारों भवन या वर्षा ऋतु में मण्डलाकार में छाये हुए मेघ, सूर्य की किरणों के प्रकाश से हीन और बिजली की निर्मल चमक से चमक रहे थे ॥३॥

विरूढशस्या धरणी मत्तदंशसरीसृपा ।
बभूव पयसा सिक्ता शान्ता सर्वमनोरमा ॥४॥

पृथ्वी पर घास जम गया और डास, मच्छर, कीड़े मकोड़े, सर्पादि, जन्तु, मस्त हो गए। यह भूमि, जल से सिक्त होकर बड़ी शान्त और मनोहर प्रतीत होने लगी ॥४॥

न स्म प्रज्ञायते किञ्चिदम्भसा समवस्तृते ।
समं वा विषमं वापि नद्यो वा स्थावराणि च ॥५॥

जल से सारी भूमि को आप्लावन कर लेने पर सम या विषम प्रदेश तथा नदी या भूतल आदि स्थावर वस्तुएं कुछ भी नजर नहीं आती थी ॥ ५ ॥

क्षुब्धतोया महावेगाः श्वसमाना इवाशुगाः ।
सिन्धवः शोभयाञ्चक्रुः काननानि तपात्यये ॥६॥

इस वर्षा ऋतु में नदी, बड़े वेग से वहने लगी, उनका जल उछलता था, जिससे श्वास लेती सी दिखाई देती थी। इस प्रकार नदियों ने वनों की वहुत ही शोभा वढ़ा दी ॥ ६॥

नदतां काननान्तेषु श्रूयन्ते विविधाः स्वनाः ।
वृष्टिभिश्छाद्यमानानां वराहमृगपक्षिणाम् ॥७॥

वर्षा से भीगे हुए शब्द करने वाले, वराह, मृग और पक्षियों के अनेक तरह के शव्द सुनाई दे रहे थे ॥ ७ ॥

स्तोककाः शिखिनश्चैव पुंस्कोकिलगणैः सह ।
मत्ताः परिपतन्ति स्म दर्दुराश्चैव दर्पिताः ॥८॥

चातक, मोर, कोयल और मस्त हुए, मैंडक, अनेक तरह से उछल और कूद रहे हैं ॥ ८ ॥

तथा वहुविधाकारा प्रावृण्मेघानुनादिता ।
अभ्यतीता शिवा तेषां चरतां मरुधन्वसु ॥९॥

पर्वत के शुष्क प्रदेश में निवास करके पाण्डवों ने बहुत प्रकार से सुन्दर मेघों से शव्दायमान, सुखकारी वर्षा ऋतु को व्यतीत कर दी ॥ ९ ॥

क्रौञ्चहंससमाकीर्णा शरत् प्रमुदिताभवत् ।
रूढकक्षवनप्रस्था प्रसन्नजलनिम्नगा ॥१०॥

विमलाकाशनक्षत्रा शरत्तेषां शिवाभवत् ।
मृगद्विजसमाकीर्णा पाण्डवानां महात्मनाम् ॥११॥

अब क्रौञ्च और हंस आदि पक्षियों से व्याप्त, वन और पर्वत के ऊंचे प्रदेश, अनेक भांति के तृणों से भर गए और नदियों में स्वच्छ जल वहने लगा। आकाश निर्मल हो गया, जिससे तारे चमकने लगे। यह मृग और पक्षियों से व्याप्त, शरद् ऋतु, उन महात्मा पाण्डवों को वड़ी ही कल्याण-कारी प्रतीत हुई ॥ १०-११ ॥

दृश्यन्ते शान्तरजसः क्षपा जलदशीतलाः ।
ग्रहनक्षत्रसङ्घैश्च सोमेन च विराजिताः ॥१२॥

धूल मिट्टी से रहित, मेघों से शीतल, रात्रि, ग्रह, नक्षत्रों के समूह और चन्द्रमा से वड़ी ही मनोहर प्रतीत हो रही थी ॥१२॥

कुमुदैः पुण्डरीकैश्च शीतवारिधराः शिवाः ।
नदीः पुष्करिणीश्चैव ददृशुः समलंकृताः ॥१३॥

कुमुद और कमलों से सुशोभित, शीतल जल के धारण करने वाली, कल्याणकारी नदियाँ या पुष्करिणी, (सरसी) वड़ी ही सुन्दर दिखाई दे रही थी ॥ १३ ॥

आकाशनीकाशतटां तीरवानीरसङ्कुलाम् ।
बभूव चरतां हर्षः पुण्यतीर्थां सरस्वतीम् ॥१४॥

आकाश के समान स्वच्छ, तीर के बैंत के वृक्षों से व्याप्त, पवित्र, सरस्वती नदी पर घूमते हुए, पाण्डवों को बड़ा ही हर्ष प्राप्त हो रहा था ॥ १४ ॥

ते वै मुमुदिरे वीराः प्रसन्नसलिलां शिवाम् ।
पश्यन्तो दृढधन्वानः परिपूर्णां सरस्वतीम् ॥१५॥

तेषां पुण्यतमा रात्रिः पर्वसन्धौ स्म शारदी ।
तत्रैव वसतामासीत् कार्तिकी जनमेजय ॥१६॥

दृढ़-धनुष-धारी, वीर, पाण्डव, स्वच्छ जल से भरी हुई, कल्याणकारी, सरस्वती नदी को देख कर बड़े ही प्रसन्न हो रहे थे। हे जनमेजय ! पाण्डवों के वहां निवास करने के समय ही शरद् ऋतु को पर्व सन्धि में होने वाली, पवित्र रात्रि, कार्तिक की पूर्णिमा, आ गई ॥ १५-१६ ॥

पुण्यकृद्भिर्महासत्त्वैस्तापसैः सह पाण्डवाः ।
तत् सर्वे भरतश्रेष्ठाः समूहुर्योगमुत्तमम् ॥१७॥

पुण्यात्मा, महाभाग, तपस्वियों के साथ भरत-वंश-श्रेष्ठ, पाण्डवों ने भी इस उत्तम योग पर उत्तम दान आदि कर्म किए; और वाहनादिकों को सुसज्जित किया ॥ १७ ॥

तमिस्राभ्युदये तस्मिन् धौम्येन सह पाण्डवाः।
सूतैः पौरोगवैश्चैव काम्यकं प्रययुर्वनम् ॥१८॥

इति श्रीमहाभारत आरण्यपर्वणि मार्कण्डेयसमास्यापर्वणि काम्यकप्रत्यागमने द्व्यशीत्यधिकशततमोऽध्यायः॥१८२॥

अब कृष्ण-पक्ष के आरम्भ होते ही, पुरोहित धौम्य, सूत और तम्बू आदि को लेकर आगे चलने वाले, सेवकों के साथ काम्यक वन को गए ॥ १८ ॥

इति श्रीमहाभारत वनपर्वान्तर्गत मार्कण्डेयसमस्यापर्व में काम्यक वन में प्रत्यागमन का एक सौ बयासीवां अध्याय पूरा हुआ।

एक सौ तिरासिवां अध्याय

वैशम्पायन उवाच—

काम्यकं प्राप्य कौरव्य युधिष्ठिरपुरोगमाः ।
कृतातिथ्या मुनिगणैर्निषेदुः सह कृष्णया ॥१॥

वैशम्पायन बोले—हे कुरुवंशोत्पन्न, जनमेजय ! ये युधिष्ठिर आदि पाण्डव, काम्यक वन में पहुंचे । यहां इनका मुनियों ने बड़ा सत्कार किया । ये भी द्रौपदी के साथ इनके पास बैठ गए ॥ १ ॥

ततस्तान् परिविश्वस्तान् वसतः पाण्डुनन्दनान् ।
ब्राह्मणा बहवस्तत्र समन्तात् पर्य्यवारयन् ॥२॥

वहां शान्ति के साथ वास करते हुए, पाण्डवों को एक दिन बहुत से ब्राह्मण, घेर कर बैठे हुए थे ॥ २ ॥

अथाब्रवीत् द्विजः कश्चिदर्जुनस्य प्रियः सखा।
स एष्यति महाबाहुर्वशी शौरिरुदारधीः ॥३॥

इसी समय अर्जुन के प्रियमित्र, किसी ब्राह्मण ने आकर कहा--कि महाबाहु, उदार- बुद्धि, जितेन्द्रिय, भगवान् श्रीकृष्ण, आ रहे हैं ॥ ३ ॥

विदिता हि हरेर्यूयमिहायाताः कुरूद्वहाः ।
सदा हि दर्शनाकांक्षी श्रेयोऽन्वेषी च वो हरिः॥४॥

हे कुरु-वंश श्रेष्ठ ! पाण्डवो ! श्रीकृष्ण को तुम्हारे यहां आने का समाचार मिल गया है । भगवान् कृष्ण, तुम्हारे कल्याण की कामना करते रहते हैं और सदा तुम्हारे मिलने को उत्कण्ठित रहते हैं ॥ ४ ॥

बहुवत्सरजीवी च मार्कण्डेयो महातपाः ।
स्वाध्यायतपसा युक्तः क्षिप्रं युष्मान् समेष्यति ॥५॥

बहुत वर्ष तक जीवित रहने वाला, तप, स्वाध्याय से युक्त, महातपस्वी, मार्कण्डेय मुनि भी तुम से मिलने शीघ्र ही आ रहे हैं, ऐसा सुना गया है ॥ ५ ॥

तथैव ब्रुवतस्तस्य प्रत्यदृश्यत केशवः ।
शैब्यसुग्रीवयुक्तेन रथेन रथिनाम्वरः ॥६॥

इतना कहते ही शैब्य, सुग्रीव नामक दो घोड़ों से युक्त, रथ में बैठे हुए, महारथी, भगवान् श्रीकृष्ण, वहां आ पहुंचे ॥ ६ ॥

मघवानिव पौलोम्या सहितः सत्यभामया ।
उपायाद्देवकीपुत्रो दिदृक्षुः कुरुसत्तमान् ॥७॥

इन्द्राणी के साथ इन्द्र के तुल्य, सत्यभामा सहित, देवकी पुत्र, भगवान् श्रीकृष्ण, इन पाण्डवों के मिलने को वहां आए ॥७॥

अवतीर्य्य रथात् कृष्णो धर्मराजं यथाविधि ।
ववन्दे मुदितो धीमान् भीमञ्च बलिनाम्वरम् ॥८॥

रथ से उतर कर बुद्धिमान् श्रीकृष्ण ने विधि-पूर्वक प्रसन्नता के साथ धर्मराज युधिष्ठिर को और फिर वीर-श्रेष्ठ, भीमसेन को प्रणाम किया ॥ ८ ॥

पूजयामास धौम्यं स यमाभ्यामभिवादितः ।
पर्य्यष्वज्य गुडाकेशं द्रौपदीं पर्य्यसान्त्वयत् ॥९॥

श्रीकृष्ण ने पुरोहित धौम्य की पूजा की, नकुल सहदेव ने श्रीकृष्ण को प्रणाम किया और श्रीकृष्ण ने अर्जुन से आलिङ्गन करके द्रौपदी को सान्त्वना दी ॥ ९ ॥

स दृष्ट्वा फाल्गुनं वीरं चिरस्य प्रियमागतम् ।
पर्य्यष्वजत दाशार्हः पुनः पुनररिन्दमम् ॥१०॥

अपने प्रिय मित्र, अरि-विजयी अर्जुन को बहुत दिन में आया हुआ देख कर श्रीकृष्ण ने वार २ आलिङ्गन किया ॥१०॥

तथैव सत्यभामापि द्रौपदीं परिषष्वजे ।
पाण्डवानां प्रियां भार्य्यां कृष्णस्य महिषी प्रिया॥११

अब सत्यभामा, पाण्डवों की प्रिय भार्या और श्रीकृष्ण की प्रिय-सखी, द्रौपदी से मिली ॥११॥

ततस्ते पाण्डवाः सर्वे सभार्य्याः सपुरोहिताः ।
आनर्चुः पुण्डरीकाक्षं परिवव्रुश्च सर्वशः ॥१२॥

पुरोहित और अपनी भार्या के साथ सारे पाण्डवों ने कमल-नेत्र, श्रीकृष्ण की पूजा की और उसको घेर कर बैठ गए ॥१२॥

कृष्णस्तु पार्थेन समेत्य विद्वान् धनञ्जयेनासुरतर्जनेन ।
बभौ यथा भूतपतिर्महात्मा समेत्य साक्षाद्भगवान् गुहेन १३

सब कुछ जानने वाले, भगवान् श्रीकृष्ण, असुर-विजयी कुन्ती-पुत्र, अर्जुन से मिल कर, गुह से मिलकर बैठे हुए, भूत-योनि महात्मा, भगवान् शंकर के सदृश प्रतीत होते थे ॥१३॥

ततः समस्तानि किरीटमाली वनेषु वृत्तानि गदाग्रजाय ।
उक्त्वा यथावत् पुनरन्वपृच्छत् कथं सुभद्रा च स चाभिमन्युः

अर्जुन ने वन में हुए सारे वृतान्त, ज्यों के त्यों श्रीकृष्ण को सुनाकर पीछे सुभद्रा और अभिमन्यु की कुशल पूछी ॥१४॥

स पूजयित्वा मधुहा यथावत् पार्थश्च कृष्णाश्च पुरोहितश्च ।
उवाच राजानमभिप्रशंसन् युधिष्ठिरं तत्र सहोपविश्य ॥१५॥

मधु-दैत्य-नाशक श्रीकृष्ण ने, अर्जुन, द्रौपदी और पुरोहित धौम्य का सत्कार करके राजा युधिष्ठिर की बड़ी प्रशंसा की और उन के पास बैठकर कहा ॥१५॥

धर्मः परः पाण्डव राज्यलाभात्तस्यार्थमाहुस्तप एव राजन्
सत्यार्जवाभ्यां चरता स्वधर्मं जितस्त्वयायश्च परश्च लोकः

हे पाण्डव ! राज्य के लाभ से भी अधिक धर्म का आचरण करना श्रेष्ठ है। इस धर्म की प्राप्ति के लिए ही तप करना बताया गया है। सत्य और सीधेपन के साथ अपने धर्म का आचरण करते हुए, तूने इसलोक और परलोक दोनोंको जीत लिया है ॥१६

अधीतमग्रे चरता व्रतानि सम्यग् धनुर्वेदमवाप्य कृत्स्नम् ।
क्षात्रेण धर्मेण वसूनि लब्ध्वा सर्वे ह्यवाप्ताःक्रतवः पुराणाः

तुमने व्रत धारण करके वेदाध्ययन किया और इसके बाद सारा धनुर्वेद सीखा। क्षात्र धर्म के अनुसार फिर राज्य पाकर सारे प्राचीन वैदिक यज्ञों का अनुष्ठान भी कर लिया ॥१७॥

न ग्राम्यधर्मेषु रतिस्तवास्ति कामान्न किञ्चित् कुरुषे नरेन्द्र
न चार्थलोभात् प्रजहासि धर्मं तस्मात् प्रभावादसि धर्मराजः

हे नरेन्द्र ! तुम्हारी भोग विलास में प्रवृत्ति नहीं है और न तुम कर्म में आसक्त होकर काम करते हो। तुम धन के लोभ से धर्म को नहीं छोड़ते हो, इसी से तुम्हरा नाम धर्मराज है ॥१८॥

दानञ्च सत्यञ्च तपश्च राजन् श्रद्धा च बुद्धिश्च क्षमा धृतिश्च
अवाप्य राष्ट्राणि वसूनि भोगानेषा परा पार्थ सदा रतिस्ते

हे राजन् ! दान, सत्य, तप श्रद्धा, बुद्धि, क्षमा और धृति ये सारी बातें तुम में विद्यमान हैं। तुमने राष्ट्र, धन और भोगों को पाकर भी इनमें बड़ी प्रीति दिखाई है ॥१९॥

यदा जनौघः कुरुजाङ्गलानां कृष्णां सभायामवशामपश्यत्
अपेतधर्मव्यवहारवृत्तं सहेत तत् पाण्डव कस्त्वदन्यः॥२०॥

हे पाण्डव ! जब कुरु-जाङ्गल प्रदेश की जनता ने सभा में परवश द्रौपदी को देखा, तो उस धर्म के व्यवहार से शून्य घटना को भी तुम चुपचाप देखते रहे, तुम्हारे सिवा कौन ऐसा धैर्यशाली धर्मात्मा हो सकता है ॥२०॥

असंशयं सर्वसमृद्धकामः क्षिप्रं प्रजाः पालयितासि सम्यक्
इमे वयं निग्रहणे कुरूणां यदि प्रतिज्ञा भवतः समाप्ता २१

इसमें सन्देह नहीं है, कि तुम अपनी सारी कामनाओं को पूर्ण करके शीघ्र ही प्रजा का पालन करोगे। जब तुम्हारी प्रतिज्ञा समाप्त हो जावेगी, तो हम सब कौरवों को दण्ड देने को तय्यार हैं ॥२१॥

धौम्यश्च भीमश्च युधिष्ठिरश्च यमौ च कृष्णाश्च दशार्हसिंहः।
उवाच दिष्ट्या भवता शिवेन प्राप्तः किरीटी मुदितः कृतास्त्रः

अब दशार्ह देश के सिंह श्रीकृष्ण ने पुरोहित धौम्य, भीम, युधिष्ठिर, नकुल, सहदेव और द्रौपदी से कहा--यह बड़ा अच्छा हुआ, जो अस्त्र-विद्या सीख कर अर्जुन आनन्द के साथ लौट आया है ॥२२॥

प्रोवाच कृष्णामपि याज्ञसेनीं दशार्हभर्त्ता सहितः सुहृद्भिः।
दिष्ट्या समग्रासि धनञ्जयेन समागतेत्येवमुवाच कृष्णः॥२३

यज्ञसेन की पुत्री, द्रौपदी से दशार्ह देश के भर्ता, श्रीकृष्ण ने अपने साथियों के साथ कहा-अब तुम परिपूर्ण शक्ति वाली हो चुकी हो, क्योंकि अस्त्र-विद्या में कुशल होकर अर्जुन, तुमसे आ मिले हैं ॥२३॥

कृष्णे धनुर्वेदरतिप्रधानास्तवात्मजास्ते शिशवः सुशीलाः।
सद्भिः सदैवाचरितं सुहृद्भिश्चरन्ति पुत्रास्तव याज्ञसेनि २४

हे द्रौपदी ! तुम्हारे सारे सुशील बच्चे, धनुर्वेद से बड़ा प्रेम रखते हैं और संसार का हित चाहने वाले, सज्जनों के आचरण का अनुकरण करते रहते हैं ॥२४॥

राज्येन राष्ट्रैश्च निमन्त्र्यमाणाःपित्रा च कृष्णे तव सोदरैश्च
न यज्ञसेनस्य न मातुलानां गृहेषु बाला रतिमाप्नुवन्ति२५

हे कृष्णे ! तुम्हारे बालकों को तुम्हारे पिता और भाई, राज्य और राष्ट्र के लोभ से अपने घर में रोक रखना चाहते हैं,

परन्तु तुम्हारे पिता यज्ञसेन और अपने मामाओं के घर पर उनका मन नहीं लगता है ॥२५॥

आनर्त्तमेवाभिमुखाः शिवेन गत्वा धनुर्वेदरतिप्रधानाः ।
तवात्मजा वृष्णिपुरं प्रविश्य तदैव तेभ्यः स्पृहयन्ति कृष्णे

हे द्रौपदी ! धनुर्वेद के प्रेम में तत्पर, तुम्हारे पुत्र, सुख-पूर्वक आनर्त देश में पहुंचे । यहां वृष्णियों (यादवों) की राजधानी में जब से प्रविष्ट हुए हैं, तभी से सारे वृष्णि, उनसे प्रेम करते हैं २६

यथा त्वमेवार्हसि तेषु वृत्तं प्रयोक्तुमार्य्या च यथैव कुन्ती
तेष्वप्रमादेन तथा करोति तथैव भूयश्च सदा सुभद्रा ॥२७॥

हे कृष्णे ! जैसे तुम और आर्या कुन्ती, उनको उत्तम आचरण में लगाती रहती हैं, वैसे ही सदा सावधानी से सुभद्रा उनको शिक्षा देती रहती हैं ॥२७॥

यथानिरुद्धस्य यथाभिमन्योर्यथा सुनीथस्य यथैव भानोः
तथा विनेता च गतिश्च कृष्णे तवात्मजानामपि रौक्मिणेयः

हे महाभागे ! प्रद्युम्न, जिस तरह अनिरुद्ध, अभिमन्यु, सुनीथ और भानु को शिक्षा देते रहते हैं, उसी तरह तेरे पुत्रों को वे सिखाते हैं और उनकी भी धनुर्वेद में उनके तुल्य ही गति है २८

गदासिचर्मग्रहणेषु शूरानस्त्रेषु शिक्षासु रथाश्वयाने ।
सम्यग्विनेताविनयेदतन्द्री तांश्चाभिमन्यु सततं कुमारः ॥२९॥

गदा, तलवार और ढाल के ग्रहण करने में शूरवीर, तुम्हारे पुत्रों को अस्त्र-शिक्षक कुमार अभिमन्यु, बड़ी सावधानी से अस्त्र, रथ और अश्वों की शिक्षा देता रहता है ॥२९॥

स चापिसम्यक् प्रणिधाय शिक्षां शस्त्राणिचैषांविधिवत्प्रदाय:
तवात्मजानांचतथाभिमन्योःपराक्रमैस्तुष्यति रौक्मिणेयः॥

प्रद्युम्न ने इनको युद्ध सम्बन्धी और अस्त्रों की अच्छी तरह शिक्षा देदी है। अब वह इन तुम्हारे पुत्रों और अभिमन्यु के पराक्रम से बड़ा ही सन्तुष्ट है ॥३०॥

यदा विहारं प्रसमीक्ष्यमाणाः प्रयान्ति पुत्रास्तव याज्ञसेनि ।
एकैकमेषामनुयान्ति तत्र रथाश्वयानानि च दन्तिनश्च ॥३१

हे याज्ञसेनि ! जब तुम्हारे पुत्र, विहारों के दर्शनों को जाते हैं, तब प्रत्येक के पीछे अनेक रथ, अश्वयान और हाथी चलते हैं ॥३१॥

अथाब्रवीद्धर्मराजन्तु कृष्णो दशार्हयोधाः कुकुरान्धकाश्च ।
एते निदेशं तव पालयन्तस्तिष्ठन्तु यत्रेच्छसि तत्र राजन्॥३२

धर्मराज से श्रीकृष्ण ने कहा—हे राजन् ! दशार्ह, कुकुर और अन्धक संज्ञक योद्धा, आपके आदेश (हुक्म) में तत्पर हैं और आप जहाँ उनको खड़ा करना चाहेंगे, वे वहां से नहीं हटेंगे ॥३२॥

आवर्त्ततां कार्मुक वेगवाता हलायुधप्रग्रहणा मधूनाम् ।
सेना तवार्थेषु नरेन्द्र यत्ता ससादिपत्यश्वरथा सनागा ।३३

हे नरेन्द्र ! धनुष के वेग से वायु के वेग को बढ़ाने और लायुध (बलराम) की आज्ञा में रहने वाली, कवायद करने वाले, मथुरा-निवासियों की सेना, तुम्हारे काम के लिए सवार, पैदल, अश्व, रथ और हाथियों के सहित सदा तय्यार रहती है।

प्रस्थाप्यतां पाण्डव धार्त्तराष्ट्रः सुयोधनः पापकृतांवरिष्ठः
सहानुबन्धः ससुहृद्गणश्च भौमस्य सौभाधिपतेश्च मार्गम्॥३४

हे पाण्डव ! महापापी, धृतराष्ट्र के पुत्र, सुयोधन को उसके साथी और मित्रों के साथ सौभनगर के स्वामी, शाल्व और भौमासुर के मार्ग को भेज दो ॥ ३४ ॥

कामं तथा तिष्ठ नरेन्द्र तस्मिन् यथा कृतस्ते समयः सभायाम्
दशार्हयोधैस्तु हतारियोधं प्रतीक्षतां नागपुरं भवन्तम् ॥३५

हे नरेन्द्र ! तुमने जो सभा में प्रतिज्ञा की है, उसके अनुसार ठहरे रहो। दशार्ह योधाओं से शत्रुओं के योधाओं को वध करा देने वाला हस्तिनापुर आपकी प्रतीक्षा कर रहा है ॥३५॥

अपेतमन्युर्व्यपनीतपाप्मा विहृत्य यत्रेच्छसि तत्र कामम् ।
ततः प्रसिद्धं प्रथमं विशोकः प्रपत्स्यसे नागपुरं सुराष्ट्रम्॥

हे राजन् ! तुम क्रोध और शोक को छोड़कर जहाँ चाहो, घूमते रहो। इसके बाद शोक रहित होकर सुन्दर प्रसिद्ध राष्ट्र हस्तिनापुर में पहुँच जाओगे ॥ ३६ ॥

ततस्तदाज्ञाय मतं महात्मा यथावदुक्तं पुरुषोत्तमेन ।
प्रशस्य विप्रेक्ष्य च धर्मराजः कृताञ्जलिः केशवमित्युवाच

महात्मा युधिष्ठिर ने पुरुष-श्रेष्ठ श्रीकृष्ण के कहे हुए वाक्य को अच्छी तरह समझ लिया। धर्मराज ने प्रशंसा करके श्रीकृष्ण की ओर देखा और हाथ जोड़कर उनसे कहा ॥ ३७॥

असंशयं केशव पाण्डवानां भवान् गतिस्त्वच्छरणा हि पार्थाः
कालोदये तच्च ततश्च भूयः कर्त्ता भवान् कर्म न संशयोऽस्ति

हे केशव ! तुम ही पाण्डवों के आश्रय और रक्षक हो, इसमें सन्देह नहीं है। जब समय आवेगा, तब तुम इस काम को कर दिखाओगे, यह निश्चय है ॥ ३८ ॥

यथाप्रतिज्ञं विहृतश्च कालः सर्वाः समा द्वादश निर्जनेषु ।
अज्ञातचर्य्यां विधिवत् समाप्य भवद्गताः केशव पाण्डवेयाः

हे केशव ! हमने अपनी प्रतिज्ञा के अनुसार बारह वर्ष तो निर्जन वन में व्यतीत से कर दिए हैं। अज्ञात वास का तेरहवाँ वर्ष व्यतीत करके फिर हम पाण्डव, आपकी शरण में आवेंगे।

एषैव बुद्धिर्जुषतां सदा त्वां सत्ये स्थिताः केशव पाण्डवेयाः
स दानधर्माः सजनाः सदारा सबान्धवास्त्वच्छरणा हि पार्थाः

हे कृष्ण ! आप को यह सदा ध्यान रहना चाहिए, कि पाण्डव सत्य पक्ष में स्थित हैं। ये दान धर्म में परायण पाण्डव, अपने सेवक, भार्या और बान्धवों के सहित आपकी शरण में हैं ॥४०॥

वैशम्पायन उवाच—

तथा वदति वार्ष्णेये धर्मराजे च भारत।
अथ पश्चात्तपोवृद्धो बहुवर्षसहस्रधृक् ॥४१॥
प्रत्यदृश्यत धर्मात्मा मार्कण्डेयो महातपाः।

अजरश्चामरश्चैव रूपौदार्य्यगुणान्वितः ॥४२॥
व्यदृश्यत तथा युक्तो यथा स्यात् पञ्चविंशकः ।

वैशम्पायन बोले—हे भारत ! श्रीकृष्ण और धर्मराज के इस प्रकार बातचीत करने के समय पर ही सहस्रों वर्षों की आयु वाला, तप में बढ़ा-चढ़ा हुआ, महा-तपस्वी, धर्मात्मा, मार्कण्डेय मुनि, वहाँ आ पहुँचा। यह अजर, अमर, रूप, उदारता आदि गुणों से समन्वित था। यह इस वृद्धावस्था में भी पच्चीस वर्ष का युवा सा दिखाई पड़ता था ॥ ४१--४२ ॥

तमागतमृषिं वृद्धं बहुवर्षसहस्रिणम् ॥४३॥
आनर्चुर्ब्राह्मणाः सर्वे कृष्णश्च सह पाण्डवैः ।

अनेक सहस्र वर्षके वृद्ध, ऋषि मार्कण्डेय को देखकर पाण्डवों के साथ श्रीकृष्ण और सारे ब्राह्मणों ने उनकी पूजा की ॥४३॥

तमर्चितं सुविश्वस्तमासीनमृषिसत्तमम् ।
ब्राह्मणानां मतेनाह पाण्डवानाञ्च केशवः॥४४॥

पूजा हो जाने और श्रम उतर जाने के बाद बैठे हुए, ऋषि-श्रेष्ठ, मार्कण्डेय से ब्राह्मण और पाण्डवों की इच्छा के अनुकूल भगवान् श्रीकृष्ण कहने लगे ॥ ४४ ॥

कृष्ण उवाच—

शुश्रूषवः पाण्डवास्ते ब्राह्मणाश्च समागताः ।
द्रौपदी सत्यभामा च तथाहं परमं वचः ॥४५॥

हे भगवन् ! पाण्डव, द्रौपदी, सत्यभामा, मैं और ये सारे ब्राह्मण, आपके श्रेष्ठ वचनों को सुनने के लिए आए हैं ॥४५॥

पुरावृत्ताः कथाः पुण्याः सदाचारान् सनातनान् ।
राज्ञां स्त्रीणामृषीणाञ्च मार्कण्डेय विचक्ष्व नः॥४६॥

हे मार्कण्डेय ! पुरानी, पवित्र कथाएँ सनातन सदाचार, राजा, स्त्री और ऋषियों के वृत्तान्त हमको सुनाइए ॥ ४६ ॥

वैशम्पायन उवाच—

तेषु तत्रोपविष्टेषु देवर्षिरपि नारदः ।
आजगाम विशुद्धात्मा पाण्डवानवलोककः॥४७॥

वैशम्पायन बोले—हे राजन् ! ये तो वहाँ बैठे ही थे, कि इतने में ही पाण्डवों से मिलने को विशुद्ध आत्मा वाले देवर्षि नारद आ पहुँचे ॥ ४७ ॥

तमप्यथ महात्मानं सर्वे ते पुरुषर्षभाः ।
पाद्यार्घ्याभ्यां यथान्यायमुपतस्थुर्मनीषिणः ॥४८॥

इन महात्मा नारद के लिए भी पाद्य और अर्घ्य लेकर नियम के अनुसार, सारे ब्राह्मण और युधिष्ठिर आदि ये पुरुष-श्रेष्ठ, उपस्थित हुए ॥४८॥

नारदस्त्वथ देवर्षिर्ज्ञात्वा तांस्तु कृतक्षणान् ।
मार्कण्डेयस्य वदतस्तां कथामन्वमोदत ॥४९॥

देवर्षि नारद ने इन सब मनुष्यों को शान्ति में सुनने की इच्छा से बैठे हुए और मार्कण्डेय को कथा कहना चाहते हुए देखकर उनकी कथा का अनुमोदन किया ॥ ४९ ॥

उवाच चैनं कालज्ञः स्मयन्निव सनातनः ।
ब्रह्मर्षे कथ्यतां यत्ते पाण्डवेषु विवक्षितम् ॥५०॥

यह देश काल के ज्ञाता, सनातन मुनि, नारद हँसते हुए कहने लगे—हे ब्रह्मर्षे ! तुम पाण्डवों से जो कुछ कहना चाहते हो, वह कहो ॥ ५० ॥

एवमुक्तः प्रत्युवाच मार्कण्डेयो महातपाः ।
क्षणं कुरुध्वं विपुलमाख्यातव्यं भविष्यति । ५१॥

इतना कहने पर महा-तपस्वी मार्कण्डेय मुनि ने कहा—ज़रा ठहरो, मुझे बहुत कुछ कहना है ॥ ५१ ॥

एवमुक्त्वा क्षणञ्चक्रुः पाण्डवाः सह तैर्द्विजैः ।
मध्यन्दिने यथादित्यं प्रेक्षन्तस्ते महामुनिम् ॥५२॥

मुनिराज के इतना कहने पर सारे द्विजों के साथ पाण्डव, ठहर गए । इन्होंने मध्याह्न काल तक महामुनि की प्रतीक्षा की ५२

वैशम्पायन उवाच—

तं विवक्षन्तमालक्ष्य कुरुराजो महामुनिम् ।
कथासञ्जननार्थाय चोदयामास पाण्डवः ॥५३॥

वैशम्पायन ने कहा—कुरुराज पाण्डु-पुत्र युधिष्ठिर ने, महामुनि मार्कण्डेय को कुछ कहने का अभिलाषी देखकर, प्राचीन कथा कहने के लिए प्रेरित किया ॥ ५३ ॥

भवान् दैवतदैत्यानामृषीणाञ्च महात्मनाम् ।
राजर्षीणाञ्च सर्वेषां चरितज्ञः पुरातनः ॥५४॥

हे महात्मन् ! आप सारे देव, दैत्य, महर्षि, महात्मा और राजर्षियों के चरित्रों के जानने वाले हो; क्योंकि आप बहुत ही प्राचीन वृद्ध हो ॥ ५४ ॥

सेव्यश्चोपासितव्यश्च मतो नः कांक्षितश्चिरम् ।
अयश्च देवकीपुत्रः प्राप्तोऽस्मानवलोककः ॥५५॥

सेवा और उपासना के योग्य, ये देवकी-पुत्र श्रीकृष्ण हमारे मिलने को पधारे हुए हैं। हम इनके मिलने की बहुत दिन से अभिलाषा कर रहे थे ॥ ५५ ॥

भवत्येव हि मे बुद्धिर्दृष्ट्वात्मानं सुखाच्च्युतम् ।
धार्त्तराष्ट्रांश्च दुर्वृत्तानृध्यतः प्रेक्ष्य सर्वशः ॥५६॥
कर्मणः पुरुषः कर्त्ता शुभस्याप्यशुभस्य वा ।
स फलं तदुपाश्नाति कथं कर्त्तास्विदीश्वरः ॥५७॥

हे महर्षे ! मैं अपने आपको सुखों से रहित और दुराचारी धृतराष्ट्र के पुत्र, दुर्योधनादि को ऐश्वर्य-शाली देखकर यही सोचता रहता हूं, कि शुभ या अशुभ कर्मों का कर्ता पुरुष है। यह इन का फल कैसे भोगता है और ईश्वर कर्मों का नियन्ता किस तरह है ॥ ५६-५७ ॥

कुतो वा सुखदुःखेषु नृणां ब्रह्मविदाम्वर ।
इह वा कृतमन्वेति परदेहेऽथ वा पुनः ॥५८॥

हे ब्रह्म ज्ञानियों में श्रेष्ठ ! मुने ! मनुष्यों के सुख दुःख का क्या करण है ? यह अपने किए हुए कर्मों का फल इस देह से ही भोगता है या इसे दूसरी देह में भोगने पड़ते हैं ॥ ५८ ॥

देही च देहं सन्त्यज्य मृग्यमाणः शुभाशुभैः ।
कथं संयुज्यते प्रेत्य इह वा द्विजसत्तम ॥५९॥

हे द्विजोत्तम ! जब यह जीवात्मा, देह को छोड़ देता है, तो शुभ और अशुभ कर्म इसका पीछा करते रहते हैं, फिर यह इन कर्मों का फल परलोक में भोगता है या इसलोक में भोगता है।

ऐहलौकिकमेवेह उताहो पारलौकिकम् ।
क्क च कर्माणि तिष्ठन्ति जन्तोः प्रेतस्य भार्गव॥६०॥

हे भार्गव ! कर्म इसलोक के लिए हो या परलोक के लिए, परन्तु ये कर्म, प्राणी के मर जाने पर किस स्थान में रहते हैं, यह भी बताओ ॥ ६० ॥

मार्कण्डेय उवाच—

त्वद्युक्तोऽयमनुप्रश्नो यथावद्वदताम्वर ।
विदितं वेदितव्यन्ते स्थित्यर्थं त्वन्तु पृच्छसि ।
अत्र ते कथयिष्यामि तदिहैकमनाःशृणु ॥६१॥
यथेहामुत्र च नरः सुखदुःखमुपाश्नुते ।

मार्कण्डेय बोले—हे भाषण शैली के जानने वाले युधिष्ठिर ! यह तुम्हारा प्रश्न, तुम्हारे योग्य ही है। तुम तो जानने योग्य पदार्थ को जानते हो, परन्तु लोक की मर्यादा के स्थित रखने को यह प्रश्न कर रहे हो। अब मैं तुमको सब का उत्तर सुनाता हूं, तुम मन को एकाग्र करके सुनो, जिस तरह मनुष्य, इसलोक और परलोक में सुख दुःख पाता है ॥ ६१ ॥

निर्मलानि शरीराणि विशुद्धानि शरीरिणाम्॥६२॥
ससर्ज धर्मतन्त्राणि पूर्वोत्पन्नः प्रजापतिः ।

सब से प्रथम उत्पन्न हुए प्रजापति ने जीवात्माओं के लिए निर्मल और विशुद्ध शरीर एवं उत्तम धर्म शास्त्र उत्पन्न किए ॥६२।

अमोघफलसङ्कल्पाः सुव्रताः सत्यवादिनः ॥६३॥
ब्रह्मभूता नराः पुण्याः पुराणाः कुरुसत्तम ।
सर्वे देवैः समायान्ति स्वच्छन्देन नभस्तलम्॥६४॥
ततश्च पुनरायान्ति सर्वे स्वच्छन्दचारिणः ।
स्वच्छन्दमरणाश्चासन् नराः स्वच्छन्दजीविनः॥६५॥

हे कुरु-सत्तम ! इस समय सारे मनुष्य, ब्रह्मभूत, पुण्यात्मा और दीर्घायु थे। ये सारे अपनी इच्छा के अनुसार आकाश में उड़ कर देवों से मिलने चले जाते थे। ये तो इच्छा के अनुसार उड़ने वाले ही ठहरे, जब इच्छा हुई सारे लौट आते थे। इसी तरह मनुष्य अपनी इच्छानुकूल मरते थे और इच्छानुकूल ही जीवित रहते थे ॥ ६३--६५ ॥

अल्पाबाधा निरातङ्काः सिद्धार्था निरुपद्रवाः ।
द्रष्टारो देवसङ्घानामृषीणाञ्च महात्मनाम् ॥६६॥

इनको किसी प्रकार की बाधा नहीं थी, ये सारे दुःखों से रहित, उपद्रव हीन और कृतार्थ थे। इन्होंने देव और महात्मा ऋषियों के दर्शन कर रखे थे ॥ ६६ ॥

प्रत्यक्षाः सर्वधर्माणां दान्ता विगतमत्सराः ।
आसन् वर्षसहस्रीयास्तथा पुत्रसहस्रिणः॥ ६७॥

ये सब धर्मों के प्रत्यक्ष करने वाले उदार, राग द्वेष रहित थे। इनकी एक २ सहस्र वर्ष की आयु होती थी और हजारों की संख्या में ही इनके पुत्र थे ।। ६७ ।।

ततः कालान्तरेऽन्यस्मिन् पृथिवीतलचारिणः ।
कामक्रोधाभिभूतास्ते मायाव्याजोपजीविनः॥६८॥
लोभमोहाभिभूतास्ते सक्ता देहैस्ततो नराः ।

कुछ काल के अनन्तर पृथ्वीतल पर घूमते हुए लोग, काम क्रोध से दबे हुए, माया तथा कपट से वृत्ति करने वाले और लोभ मोह से व्याप्त होकर इस देह में आसक्त हो गए ।। ६८ ।।

अशुभैः कर्मभिः पापास्तिर्यङ्निरयगामिनः॥६९॥
संसारेषु विचित्रेषु पच्यमानाः पुनः पुनः ।

ये पापी मनुष्य, अशुभ कर्मों के द्वारा संसार में अनेक तरह बार २ क्लेशित किए गए और अन्त में पशु पक्षी की योनियाँ नरक को प्राप्त हुए ।। ६९ ।।

मोघेष्टा मोघसङ्कल्पा मोघज्ञाना विचेतसः ॥७०॥
सर्वाभिशङ्किनश्चैव संवृत्ताः क्लेशदायिनः ।

इन अज्ञानियों की इच्छा, संकल्प और ज्ञान सब निष्फल होने लगे। ये सब बातों में शङ्का करने वाले अन्यों के क्लेशदायी बन गए ।। ७० ।।

अशुभैः कर्मभिश्चापि प्रायशः परिचिह्निताः ॥७१
दौष्कुल्या व्याधिबहुला दुरात्मानोऽप्रतापिनः ।

इनके अशुभ कर्मों के लक्षण इनमें प्रकट हो गए। कोई दुष्कुल में उत्पन्न, कोई रोगी, कोई दुष्ट और कोई क्लेश में उबलने लगा ॥७१॥

भवन्त्यल्पायुषः पापा रौद्रकर्मफलोदयाः॥७२॥
नाथन्तः सर्वकामानां नास्तिका भिन्नचेतसः।
जन्तोः प्रेतस्य कौन्तेय गतिः स्वैरिह कर्मभिः॥७३॥

इनके बुरे कर्मों के विपाक से ये पापी, अल्प वायु वाले हुए। ये अपनी कामनाओं की पूर्ति के लिए इधर उधर याचना करके भटकने लगे और नास्तिक होकर अविश्वासी बन गए। हे कौन्तेय ! जब भी कोई प्राणी मरता है, उसकी अपने कर्म के अनुसार ही गति होती है ॥७२-७३॥

युधिष्ठिर उवाच—

प्राज्ञस्य हीनबुद्धेश्च कर्मकोषः क्व तिष्ठति।
क्वस्थस्तत् समुपाश्नाति सुकृतं यदिवेतरत् ॥७४॥

युधिष्ठिर ने कहा—ज्ञानी या अज्ञानी मनुष्य के कर्म का कोष (खज़ाना) कहा सञ्चित रहता है और यह कहां स्थित होकर पुण्य या पाप को भोगता है ॥७४॥

मार्कण्डेय उवाच—

इति ते दर्शनं यच्च तत्राप्यनुनयं शृणु।
अयमादिशरीरेण देवसृष्टेन मानवः ॥७५॥
शुभानामशुभानाञ्च कुरुते सञ्चयं महत्।

महाभारत चित्रसंख्या ४१

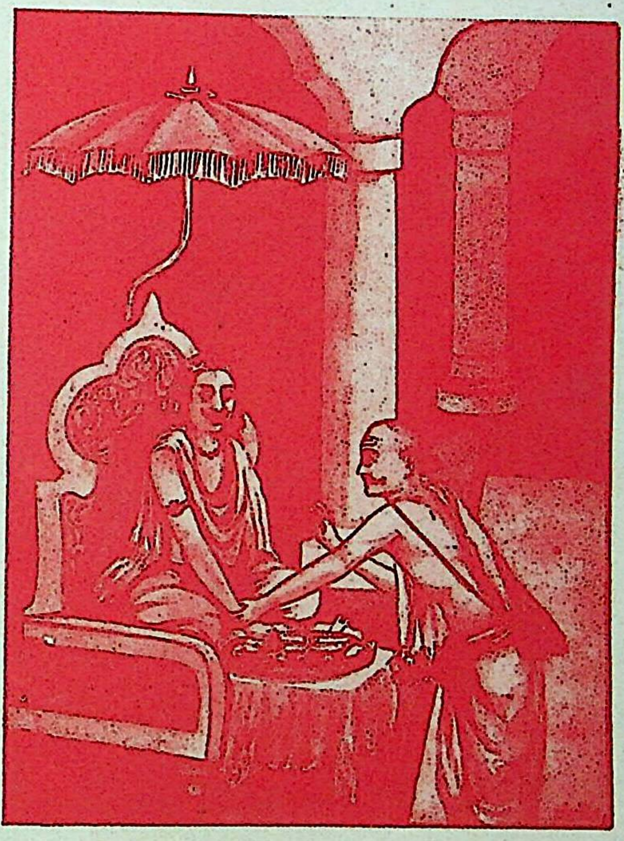

महाराज शिबि के व्रत की परीक्षा

ब्राह्मण—हे राजन्! तुमने क्रोध को जीत लिया है

महा० वनपर्व अ० १९७--२७ पृष्ठ ६४८

मार्कण्डेय बोले—हे राजन्! यह जो तुमको जानने की श्रद्धा हो रही है इसका उत्तर सुन। यह मनुष्य विधाता के रचे हुए सूक्ष्म शरीर में शुभ और अशुभ कर्मों का बहुत बड़ा कोश इकट्ठा कर लेता है ॥७५॥

आयुषोऽन्ते प्रहायेदं क्षीणप्रायं कलेवरम् ॥७६॥
सम्भवत्येव युगपद्योनौ नास्त्यन्तराभवः।
तत्रास्य स्वकृतं कर्म छायेवानुगतं तदा ॥७७॥
फलत्यथ सुखार्हो वा दुःखार्हो वाथ जायते।

जब मनुष्य की आयु समाप्त हो जाती है, तो यह इस जर्जर शरीर को छोड़ देता है और अन्य योनि में जन्म जा लेता है, एक क्षण भी शरीर शून्य नहीं रहता। इस योनि में भी इसके कर्म छाया की भांति इसके साथ जाकर फल देते हैं, जिससे प्राणी सुखी वा दुःखी होता है ॥७६-७७॥

कृतान्तविधिसंयुक्तः स जन्तुर्लक्षणैः शुभैः ॥७८॥
अशुभैर्वा निरादानो लक्ष्यते ज्ञानदृष्टिभिः।

जिस प्राणी के शुभ कर्म हैं, वह विधाता की विधि से युक्त होकर सुखी होता है और जो अशुभ कर्मों से युक्त है, वह सब गुणों से हीन होता है। इस बात को ज्ञान दृष्टि रखने वाले विद्वान् जानते हैं ॥७८॥

एषा तावदबुद्धीनां गतिरुक्ता युधिष्ठिर ॥७९॥
अतः परं ज्ञानवतां निबोध गतिमुत्तमाम्।

हे युधिष्ठिर ! यह गति अज्ञानियों की वताई है। अव तुम ज्ञानियों की उत्तम गति को सुनो ॥७९॥

मनुष्यास्तप्ततपसः सर्वागमपरायणाः ॥८०॥
स्थिरव्रताः सत्यपरा गुरुशुश्रूषणे रताः।
सुशीलाः शुद्धजातीयाः क्षान्ता दान्ताः सुतेजसः॥८१
शुचियोन्यन्तरगताः प्रायशः शुभलक्षणाः।
जितेन्द्रियत्वाद्वशिनः शुक्लत्वान्मन्दरोगिणः ॥८२॥
अल्पावाधपरित्रासाद्भवन्ति निरुपद्रवाः।

ज्ञानी मनुष्य, तप करने वाले और वेद शास्त्रों में परायण होते हैं, इनके व्रत स्थिर होते हैं। ये सत्य मार्ग पर चलने वाले और गुरु की सेवा में तत्पर रहते हैं। ये सुशील, शुद्ध जाति, क्षमा शील, उदार और तेजस्वी होते हैं। इनका पवित्र योनि में जन्म होता है और ये शुभ लक्षणों से समन्वित होते हैं। ये जितेन्द्रिय होने से वशी और शुद्ध कर्म करने वाले होने से रोग शून्य होते हैं। इनको थोड़ी भी वाधा नहीं होती और न कोई त्रास होता है। ये सदा निरुपद्रव रहते हैं ॥८०-८२॥

च्यवन्तं जायमानञ्च गर्भस्थञ्चैव सर्वशः ॥८३॥
स्वमात्मानं परञ्चैव वुध्यन्ते ज्ञानचक्षुषा।
ऋषयस्ते महात्मानः प्रत्यक्षागमवुद्धयः ॥८४॥
कर्मभूमिमिमां प्राप्य पुनर्यान्ति सुरालयम्।

ये अपने ज्ञान-चक्षु से अपनी या दूसरे की आत्मा के गर्भ से च्युत, उत्पन्न या स्थित दशा में कर्मों के परिपाकों को देखते रहते हैं। ये महात्मा ऋषियों की कोटि में गिने जाते हैं। इनको शास्त्र का ज्ञान प्रत्यक्ष होता है। ये इस कर्म भूमि मृत्यु लोक को पाकर फिर स्वर्ग लोक को ही चले जाते हैं ।।८३-८४।।

किञ्चिद् दैवाद्धठात् किञ्चित् किञ्चिदेव स्वकर्मभिः ८५
प्राप्नुवन्ति नरा राजन् मा तेऽस्त्वन्या विचारणा।

हे राजन्! कुछ कर्मों के फल दैव द्वारा, कुछ अचानक और कुछ अपने उद्योग से मनुष्य प्राप्त करते हैं। तुम्हें इस विषय में कर्म के सिवाय अन्य कुछ नहीं समझना चाहिए ।।८५।।

इमामत्रोपमाञ्चापि निबोध वदताम्वर ।।८६।।
मनुष्यलोके यच्छ्रेयः परं मन्ये युधिष्ठिर।

हे वाग्मी! युधिष्ठिर! मैं इस विषय में मनुष्य लोक में जो उत्तम उदाहरण मानता हूं, वह तुमको सुनाता हूं--तुम ध्यान से सुनो ।।८६।।

इह वै कस्य नामुत्र अमुत्रैकस्य नो इह।
इह चामुत्र वैकस्य नामुत्रैकस्य नो इह ।।८७।।

हे राजन्! किसी को इस लोक में सुख होता है और परलोक में सुख नहीं मिलता। किसी को परलोक : सुख मिलता है, यहां सुख नहीं है। किसी को दोनों लोकों में सुख है और किसी को दोनों में ही सुख नहीं है ।।८७।।

धनानि येषां विपुलानि सन्ति नित्यं रमन्ते सुविभूषिताङ्गाः ।
तेषामयं शत्रुवरघ्न लोको नासौ सदा देहसुखे रतानाम् ॥८८।

हे शत्रु-नाशक ! जिनके पास बहुत सा धन है, वे अपने शरीर को भूषित करके नित्य सुख से रहते हैं। इनको यह लोक सुखदायी है, परन्तु परलोक में देह के लालन पोषण करने वाले को सुख नहीं है ॥८८॥

ये योगयुक्तास्तपसि प्रसक्ताः स्वाध्यायशीला जरयन्ति देहान्
जितेन्द्रियाः प्राणिवधे निवृत्तास्तेषामसौ नायमरिघ्न लोकः ॥

हे अरि-मर्दन ! जो मनुष्य, योगपरायण, तपस्वी, स्वाध्याय शील, जितेन्द्रिय होकर प्राणियों के मारने से निवृत्त हो जाते हैं और इस तरह अपनी देह समाप्त करते हैं, उनको परलोक में बड़ा सुख मिलता है। इस लोक में लोग उनको सुखी नहीं कहते हैं ॥८९॥

ये धर्ममेव प्रथमं चरन्ति धर्मेण लब्ध्वा च धनानि काले ।
दारानवाप्य क्रतुभिर्यजन्ते तेषामयश्चैव परश्च लोकः ॥९०

जो अपनी आयु के प्रथम काल में धर्म का आचरण करते हैं और युवावस्था में धर्म से धन कमाकर स्त्री ग्रहण करते हैं और यज्ञादि में अपने द्रव्य का व्यय करते हैं, उनको इस लोक और परलोक दोनों में ही सुख है ॥९०॥

ये नैव विद्यां न तपो न दानं न चापि मूढाः प्रजने यतन्ति
न चानुगच्छन्ति सुखानुभोगांस्तेषामयं नैव परश्च लोकः ॥

जो मनुष्य न तो विद्या पढ़ते हैं, न कोई तप करते हैं, न दान देते हैं, प्रत्युत सन्तान उत्पन्न करने के कर्म मैथुन में लगे रहते हैं, उनको सच्चा सुख नहीं मिलता है। सत्य तो यह है, कि उनका न तो यही लोक सुधरता है और न परलोक में ही उनको कोई सुख मिलता है ॥६१॥

सर्वे भवन्तस्त्वतिवीर्य्यसत्वा दिव्यौजसः संहननोपपन्नाः ।
लोकादमुस्मादवनिं प्रपन्नाः स्वधीतविद्याः सुरकार्य्यहेतोः ॥

तुम सारे अत्यन्त बलवान्, दिव्य-ओजस्वी और दृढ़ देहधारी हो। तुमने उत्तम लोक से उतर कर देवों के कार्य करने के लिए इस भूतल पर अवतार धारण किया है, इसी से तुम महात्माओं ने सारी उत्तम २ विद्याएँ सीख लीं ॥६२॥

कृत्वैव कर्माणि महान्ति शूरास्तपोदमाचारविहारशीलाः ।
देवानृषीन् प्रेतगणांश्च सर्वान् सन्तर्पयित्वा विधिना परेण ॥

तुम शूरवीर, तप, इन्द्रिय दमन, आचार विचार से युक्त हो कर बड़े २ महान् कर्म करोगे। इसके सिवा शास्त्र विधि के द्वारा देव, ऋषि और सारे पितरों को तृप्त कर सकोगे ॥६३॥

स्वर्गं परं पुण्यकृतो निवासं क्रमेण सम्प्राप्स्यथ कर्मभिः स्वैः ।
मा भूद्विशङ्का तव कौरवेन्द्र दृष्ट्वात्मनः क्लेशमिमं सुखार्हम्

इति श्रीमहाभारत आरण्यपर्वणि मार्कण्डेयसमास्यापर्वणि
मार्कण्डेयकथायां त्र्यशीत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥१८३॥

इसके आगे अपने उत्तम २ कर्मों से पुण्यात्मा के निवास के योग्य उत्तम स्वर्ग लोक को क्रम से पा जाओगे। हे कौरवेन्द्र! युधिष्ठिर! तुम अपने लिए यह क्लेश देखकर कोई शंका मत करो। यह क्लेश तो सुख करने वाला है ॥६४॥

इति श्रीमहाभारत वनपर्वान्तर्गत मार्कण्डेयसमास्यापर्व
में मार्कण्डेय के कथा कहने का एक सौ
तिरासीवां अध्याय पूरा हुआ।

* * *

एक सौ चौरासीवां अध्याय

वैशम्पायन उवाच—

मार्कण्डेयं महात्मानमूचुः पाण्डुसुतास्तदा।
माहात्म्यं द्विजमुख्यानां श्रोतुमिच्छाम कथ्यताम्॥१॥

वैशम्पायन बोले—हे राजन्! अब पाण्डवों ने माहात्मा मार्कण्डेय से कहा—हे महर्षे! हम, उत्तम२ द्विजों के माहात्म्य को सुनना चाहते हैं, तुम अच्छी तरह कहो ॥१॥

एवमुक्तः स भगवान् मार्कण्डेयो महातपाः।
उवाच सुमहातेजाः सर्वशास्त्रविशारदः॥२॥

जब पाण्डवों ने महा-तपस्वी, भगवान्, मार्कण्डेय से यह कहा-तो सब शास्त्रों के ज्ञाता महातेजस्वी, मार्कण्डेय मुनि बोले २

मार्कण्डेय उवाच—

हैहयानां कुलकरो राजा परपुरञ्जयः ।
कुमारो रूपसम्पन्नो मृगयां व्यचरद्बली ॥३॥

हे राजन् ! हैहय संज्ञक क्षत्रियों के वंश का बढ़ाने वाला, रूपवान एक राजकुमार था। जिसका नाम परपुरञ्जय था। यह महाबली, एक बार मृगया (शिकार) के लिए वन में चला गया ३

चरमाणस्तु सोऽरण्ये तृणवीरुत्समावृते ।
कृष्णाजिनोत्तरासङ्गं ददर्श मुनिमन्तिके ॥४॥

घास झाड़ियों से आवृत वन में घूमते हुए राजकुमार ने अपने पास में ही एक कृष्ण-मृग-चर्म धारी मुनि को देखा ॥४॥

स तेन निहतोऽरण्ये मन्यमानेन वै मृगम् ।
व्यथितः कर्म तत् कृत्वा शोकोपहतचेतनः ॥५॥

राजकुमार परपुरञ्जय ने इसको कृष्ण मृग समझ कर वन में मार गिराया। जब इसको विदित हुआ, तो यह इस काम को करके बड़ा पछताया और शोक से अचेत सा हो गया ॥५॥

जगाम हैहयानां वै सकाशं प्रथितात्मनाम् ।
राज्ञां राजीवनेत्रोऽसौ कुमारः पृथिवीपतिः ॥६॥

अब यह, कमल के सदृश नेत्र-धारी राजकुमार, प्रसिद्ध हैहय वंशी क्षत्रियों के पास पहुंचा ॥६॥

तेषाञ्च तद्यथावृत्तं कथयामास वै तदा ।
तञ्चापि हिंसितं तात मुनिं मूलफलाशिनम् ॥७॥

श्रुत्वा दृष्ट्वा च ते तत्र बभूवुर्दीनमानसाः ।
कस्यायमिति ते सर्वे मार्गमाणास्ततस्ततः ॥८॥
जग्मुश्चारिष्टनेमेस्तेऽथ तार्क्ष्यस्याश्रममञ्जसा ।

हे तात ! इस राजकुमार ने उन राजाओं को यह सारा वृत्तान्त सुना दिया। ये राजा, उस मूल और फल भक्षी मुनि की मृत्यु का समाचार सुन कर बड़े ही व्याकुल हुए। यह मुनि, किस का सम्बन्धी था, यह जानने के लिए उन्होंने इधर उधर खोज लगाई। ये जल्दी से कश्यप पुत्र, अरिष्टनेमि के आश्रम में पहुँचे ॥७--८॥

तेऽभिवाद्य महात्मानं तं मुनिं नियतव्रतम् ॥९॥
तस्थुः सर्वे स तु मुनिस्तेषां पूजामथाहरत् ।

ये व्रत-शील, महात्मा मुनि को प्रणाम करके बैठ गए। मुनि ने भी इनका बड़ा आदर सत्कार किया ॥९॥

ते तमूचुर्महात्मानं न वयं सत्क्रियां मुने ॥१०॥
त्वत्तोऽर्हाः कर्मदोषेण ब्राह्मणो हिंसितो हि नः ।

इन्होंने उस महात्मा मुनि से कहा---हे मुने ! हम आपसे सत्कार पाने के योग्य नहीं हैं, हमने अपने कर्म-दोष से ब्राह्मण की हिंसा कर डाली है ॥१०॥

तानब्रवीत् स विप्रर्षिः कथं वो ब्राह्मणो हतः ॥११॥
क्व चासौ ब्रूत सहिताः पश्यध्वं मे तपोबलम् ।

ब्रह्मर्षि ने उन से कहा---हे क्षत्रियों ! तुमने किस तरह ब्राह्मण को मार दिया। तुम सब पहले यह बताओ, वह मृतक ब्राह्मण कहाँ है। इसके अनन्तर तुम मेरा तपोबल देखना ॥११॥

ते तु तत् सर्वमखिलमाख्यायास्मै यथातथम् ॥१२॥
नापश्यन् तमृषिं तत्र गतासुन्ते समागताः ।
अन्वेषमाणाः सव्रीड़ाः स्वप्नवद्गतचेतनाः ॥१३॥

ये सब, इस मुनिराज से यह सारा हाल ठीक-ठीक कहकर मृत मुनि के पास इकट्ठे ही पहुँचे, परन्तु उन्होंने वहाँ उस मृतक मुनि को नहीं देखा। ये लज्जित होकर इधर-उधर खोजने लगे और नींद में डूबे से अचेत हो गए ॥१२--१३॥

तानब्रवीत्तत्र मुनीस्तार्क्ष्यः परपुरञ्जय ।
स्यादयं ब्राह्मणःसोऽथ युष्माभिर्य्यो विनाशितः॥१४॥

उनसे उस कश्यप-पुत्र, मुनिराज अरिष्टनेमि ने कहा---हे परपुरञ्जय ! क्या यह वही ब्राह्मण तो नहीं है, जिसको तुमने मार दिया था ? ॥ १४॥

पुत्रो ह्ययं मम नृपास्तपोबलसमन्वितः ।
ते च दृष्ट्वैव तमृषिं विस्मयं परमं गताः ॥१५॥

हे महीपालो ! यह तपोबल से युक्त, मेरा पुत्र है। इस मुनि को जीवित देखकर ये राजा बड़े ही चकित हो गए ॥१५॥

महदाश्चर्य्यमिति वै ते ब्रुवाणा महीपते ।
मृतो ह्ययमुपानीतः कथं जीवितमाप्तवान् ॥१६॥

हे महीपते ! वे आपस में कहने लगे---यह तो बड़े ही आश्चर्य की बात हुई। यह मरा हुआ यहाँ कैसे लाया गया और कैसे जीवित हो गया ॥ १६॥

किमेतत्तपसो वीर्य्यं येनायं जीवितः पुनः ।
श्रोतुमिच्छामहे विप्र यदि श्रोतव्यमित्युत ॥१७॥

क्या यह कोई तप का प्रभाव है ? जिसने इसको जीवित कर दिया । हे ब्रह्मर्षे ! हम इस रहस्य को सुनना चाहते हैं, यदि आप सुना सको, तो सुना दो ॥ १७ ॥

तानुवाच नास्माकं मृत्युः प्रभवते नृपाः ।
कारणं वः प्रवक्ष्यामि हेतुयोगसमासतः॥१८॥

यह उन राजाओं से बोला--- हे नृपो ! मृत्यु, हम पर अपना प्रभाव नहीं दिखा सकती है, मैं तुमको इसका कारण तर्क और युक्ति के साथ सुना देता हूँ ॥ १८ ॥

सत्यमेवाभिजानीमो नानृते कुर्महे मनः ।
स्वधर्ममनुतिष्ठामस्तस्मान्मृत्युभयं न नः ॥१९॥

हे राजन् ! हम सत्य को ही जानते हैं। झूँठे व्यवहार में हमारा मन भूलकर भी नहीं जाता है । हम अपने धर्म का अनुष्ठान करते हैं, इससे हमको मृत्यु का भय नहीं है ॥ १९ ॥

यद्ब्राह्मणानां कुशलं तदेषां कथयामहे ।
नैषां दुश्चरितं ब्रूमस्तस्मान्मृत्यु भयं न नः ॥२०॥

हे महीपालो ! जिससे ब्राह्मणों की कुशल रहती है, हम उसी बात का प्रचार करते हैं । हम उन के दुर्व्यवहारों की चर्चा नहीं करते, इससे भी हमको मौत का भय नहीं है ॥ २० ॥

अतीथीनन्नपानेन भृत्यानत्यशनेन च ।
संभोज्य शेषमश्नीमस्तस्मान्मृत्यु भयं न नः ॥२१॥

हम अतिथियों को अन्न पान से और सेवकों को पर्याप्त (काफी) वृत्ति (भोजन) देकर स्वयं अन्त में भोजन करते हैं, इससे भी हमको मृत्यु का डर नहीं रह गया है ॥ २१ ॥

शान्ता दान्ताः क्षमाशीलास्तीर्थदानपरायणाः ।
पुण्यदेशनिवासाच्च तस्मान्मृत्यु भयं न नः॥२२॥
तेजस्विदेशवासाच्च तस्मान्मृत्यु भयं न नः ।
एतद्वै लेशमात्रं वः समाख्यातं विमत्सराः॥२३॥
गच्छध्वं सहिता सर्वे न पापाद्भयमस्ति वः ।

हम शान्त, उदार, क्षमाशील, तीर्थ और दान में परायण तथा पवित्र देश में रहने वाले हैं, यही कारण है, कि हम को मौत का डर नहीं है। हम लोग, योग शील महात्माओं के देशों में निवास करते हैं, इससे भी हमारा मृत्यु का भय नष्ट हो गया है। हे राग द्वेष रहित ! राजाओ ! ये सब बातें मैंने तुमको संक्षेप में सुनाई हैं। अब तुम इकट्ठे ही चले जाओ, तुमको ब्रह्म-हत्या के पाप का भय नहीं करना चाहिए॥ २२--२३ ॥

एवमस्त्विति ते सर्वे प्रतिपूज्य महामुनिम् ।
स्वदेशमगमन् हृष्टा राजानो भरतर्षभ ॥२४॥

इति श्रीमहाभारत आरण्यपर्वणि मार्कण्डेयसमास्यापर्वणि ब्राह्मणमहात्म्यकथनेचतुरशीत्यधिकशततमोऽध्यायः १८४

हे भरतर्षभ ! ये सारे क्षत्रिय, महीपाल मुनि के कथन को स्वीकार तथा इस मुनिराज की पूजा करके बड़ी प्रसन्नता से अपने देश को चले गए ॥ २४ ॥

इति श्रीमहाभारत वनपर्वान्तर्गत मार्कण्डेयसमास्यापर्व में ब्राह्मण महत्व कथन का एकसौ चौरासीवां अध्याय समाप्त हुआ ।

एक सौ पिच्यासीवां अध्याय

मार्कण्डेय उवाच—

भूय एव महाभाग्यं ब्राह्मणानां निबोध मे ।
वैन्यो नामेह राजर्षिरश्वमेधाय दीक्षितः ॥१॥

मार्कण्डेय बोले—हे राजन् ! अब तुम मुझसे और ब्राह्मणों के गौरव को सुनो । एक वैन्य नाम का राजा था । उसने अश्वमेध यज्ञ करना आरम्भ किया ॥१॥

तमत्रिर्गन्तुमारेभे वित्तार्थमिति नः श्रुतम् ।
भूयोऽर्थं नानुरुध्यत् स धर्मव्यक्तिनिदर्शनात् ॥२॥

इस राजा से अत्रि नामक ब्राह्मण ने धन की याचना करनी चाही, परन्तु इसने फिर धन ग्रहण करने से अपने को रोक लिया । क्योंकि धन से धर्म के नाश होने का भय था ॥२॥

स विचिन्त्य महातेजा वनमेवान्वरोचयत् ।
धर्मपत्नीं समाहूय पुत्रांश्चेदमुवाच ह ॥३॥

इस महा तेजस्वी मुनि ने कुछ सोच समझ कर वन में तप करना ही ठीक समझा। इसने अपनी धर्म पत्नी और पुत्रों को बुलाकर कहा ॥३॥

प्राप्स्यामः फलमत्यन्तं बहुलं निरुपद्रवम् ।
अरण्यगमनं क्षिप्रं रोचतां वो गुणाधिकम् ॥४॥

हे पुत्रो ! हम लोगों को क्लेश रहित, अत्यन्त उत्तम फल की प्राप्ति होगी---इससे तुम लोग अनेक गुणों से युक्त वन में चलने को तय्यार हो जाओ ॥४॥

तं भार्य्या प्रत्युवाचाथ धर्ममेवानुतन्वती ।
वैन्यं गत्वा महात्मानमर्थयस्व धनं बहु ॥५॥

धर्म के विस्तार को चाहने वाली, उसकी भार्या बोली—हे ब्रह्मन् ! तुम प्रथम महात्मा वैन्य के पास जाकर बहुत सा धन माँग लाओ ॥५॥

स ते दास्यति राजर्षिर्यजमानोऽर्थितो धनम्
तत आदाय विप्रर्षे प्रतिगृह्य धनं बहु ॥६॥
भृत्यान् सुतान् सम्विभज्य ततो व्रज यथेप्सितम् ।
एष वै परमो धर्मो धर्मविद्भिरुदाहृतः ॥७॥

हे ब्रह्मर्षे ! वह राजर्षि, यज्ञ कर रहा है। वह तुमको जितना धन माँगोगे-दे देगा। तुम उस धन को लेकर अपने सेवक और

पुत्रों में बांट देना और फिर अपनी इच्छा हो, वहां चले चलना। धर्म के जानने वाले विद्वानों ने यही धर्म माना है ।।६-७।।

अत्रिरुवाच—

कथितो मे महाभागे गौतमेन महात्मना ।
वैन्यो धर्मार्थसंयुक्तः सत्यव्रतसमन्वितः ।।८।।
किन्त्वस्ति तत्र द्वेष्टारो निवसन्ति हि मे द्विजाः ।
यथा मे गौतमः प्राह ततो न व्यवसाम्यहम् ।।९।।

अत्रि ने कहा-हे महाभागे ! मुझसे महात्मा गौतम ने भी कहा है, कि राजा वैन्य, धर्मात्मा और सत्यशील है। परन्तु वहां कुछ मुझसे द्वेष रखने वाले ब्राह्मण मौजूद हैं। गौतम के कथन से वहां जाने को मेरा चित्त नहीं चाहता है ।।८--९।।

तत्र स्म वाचं कल्याणीं धर्मकामार्थसंहिताम् ।
मयोक्तामन्यथा ब्रूयुस्ततस्ते वै निरर्थिकाम्।।१०।।

मैं धर्म, काम और अर्थ से संयुक्त कल्याणकारी वाणी का प्रयोग करूंगा, परन्तु वे पक्षपात से मेरी वाणी को निरर्थक ही बतावेंगे ।।१०।।

गमिष्यामि महाप्राज्ञे रोचते मे वचस्तव ।
गाश्च मे दास्यते वैन्यः प्रभूतञ्चार्थसञ्चयम् ।।११।।

हे महाभागे ! तो भी मैं जाता हूं, क्योंकि मुझे तेरी बात रुचिकर प्रतीत हो रही है। राजा वैन्य मुझे बहुत सी गायें और धन की राशि प्रदान कर सकता है ।।११।।

मार्कण्डेय उवाच—

एवमुक्त्वा जगामाशु वैन्ययज्ञं महातपाः ।
गत्वा च यज्ञायतनमत्रिस्तुष्टाव तं नृपम् ॥१२॥
वाक्यैर्मङ्गलसंयुक्तैः यजयानोऽब्रवीद्वचः ।

मार्कण्डेय वोले--हे राजन् ! इतना कह कर महा-तपस्वी अत्रि, वैन्य के यज्ञस्थल में गया और यज्ञमण्डप में पहुँच कर राजा वैन्य की प्रशंसा करने लगा और माङ्गलिक वाणी से राजा का आदर प्रदर्शित करके वोला ॥१२॥

अत्रिरुवाच—

राजन् धन्यस्त्वमीशश्च भुवि त्वं प्रथमो नृपः ।
स्तुवन्ति त्वां मुनिगणास्त्वदन्यो नास्ति धर्मवित् ।
तमब्रवीदृषिः क्रुद्धो वचनं वै महातपाः ॥१३॥

हे राजन् ! तुम धन्य हो और पृथिवी पर सर्व श्रेष्ठ, प्रजा पालक शासक हो । तुम्हारी मुनि लोग, प्रशंसा करते रहते हैं । तुम से अधिक अन्य कोई धर्मात्मा नहीं है । अत्रि के इतना कहते ही क्रोध में भरकर महा-तपस्वी गौतम ऋषि, कहने लगा ॥१३॥

गौतम उवाच—

मैवमत्रे पुनर्ब्रूया न ते प्रज्ञा समाहिता ।
अत्र नः प्रथमं स्थाता महेन्द्रो वै प्रजापतिः ।
अथात्रिरपि राजेन्द्र गौत्तमं प्रत्यभाषत ॥१४॥

हे अत्रि ! तुमको फिर कभी ऐसा नहीं कहना चाहिये, तुम्हारी वुद्धि समीचीन नहीं है क्योंकि सवसे प्रथम होने वाला, सर्व-

श्रेष्ठ, प्रजा पालक तो महेन्द्र है। हे राजेन्द्र ! यह सुनकर अत्रि गौतम से कहने लगा ॥१४॥

अत्रिरुवाच—

अयमेव विधाता हि यथैवेन्द्रः प्रजापतिः ।
त्वमेव मुह्यसे मोहान्न प्रज्ञानन्तवास्ति ह ॥१५॥

हे गौतम ! यह राजा भी पृथिवी पर प्रजापति इन्द्र जैसा ही है। तुम ही अपने मोह में डूब रहे हो। मुझे तो यही मालूम होता है, कि तुम में ज्ञान नहीं है ॥१५॥

गौतम उवाच—

जानामि नाहं मुह्यामि त्वमेवात्रे विमुह्यसे ।
स्तौषि त्वं दर्शनप्रेप्सू राजनं जनसंसदि ॥१६॥

गौतम ने कहा--हे अत्रि ! मैं सब कुछ जानता हूँ, भूल नहीं करता। यह तो तेरा ही अज्ञान है। तू ही राजा से मिलने के स्वार्थ में इस राजसभा में राजा की चाटुकारी [खुशामद] कर रहा है ॥१६॥

न वेत्थपरमं धर्मं न चावैषि प्रयोजनम् ।
बालस्त्वमसि मूढश्च वृद्धः केनापि हेतुना ॥१७॥

हे अत्रि ! न तो तुम धर्म के पूरे लक्षण जानते हो और न प्रयोजन (मौका) को समझते हो। तुम तो बड़े ही तुच्छ बुद्धि वाले मूर्ख मनुष्य हो। नहीं मालूम किस कारण वृद्ध बनते हो।

मार्कण्डेय उवाच—

विवदन्तौ तथा तौ तु मुनीनां दर्शने स्थितौ ।
ये तस्य यज्ञे संवृत्तास्तेऽपृच्छन्त कथन्त्विमौ।
प्रवेशः केन दत्तोऽयमुभयोर्वैण्यसंसदि ॥१८॥
उच्चैः समभिभाषन्तौ केन कार्य्येण धिष्ठितौ ।

मार्कण्डेय बोले—ये दोनों इस तरह झगड़ रहे थे, कि सारे मुनियों की इन पर दृष्टि पड़ी । जो मुनि, राजा के यज्ञ में कार्य-कर्ता थे । वे पूछने लगे—ये कौन हैं और इनको किसने घुसने दिया है ? ये तो बड़े जोर से बातें करते हैं । इनको किस काम पर नियुक्त किया है ॥ १८ ॥

ततः परमधर्मात्मा काश्यपः सर्वधर्मवित् ॥१९॥
विवादिनावनुप्राप्तौ तावुभौ प्रत्यवेदयत् ।
अथाब्रवीत् सदस्यांस्तु गौतमो मुनिसत्तमान् ॥२०॥

अब बड़ा धर्मात्मा, सब धर्मों की व्यवस्था का जानने वाला काश्यप मुनि, इन दोनों विवाद करने वालों के पास आया और पूछने लगा । इतना पूछने पर गौतम इन मुनि-श्रेष्ठ सदस्यों से कहने लगा ॥ १९--२० ॥

गौतम उवाच—

आवयोर्व्याहृतं प्रश्नं शृणुत द्विजसत्तमाः ।
वैण्यं विधातेत्याहात्रिरत्र नौ संशयो महान् ॥२१॥

हे द्विज-सत्तमो ! तुम प्रथम हमारे प्रश्न को सुनो, यह अत्रि, राजा वैण्य को विधाता बता रहा है और इस विषय में हम दोनों का विवाद है ॥ २१ ॥

मार्कण्डेय उवाच—

श्रुत्वैव तु महात्मानो मुनयोऽभ्यद्रवन् द्रुतम् ।
सनत्कुमारं धर्मज्ञं संशयच्छेदनाय वै ॥२२॥

मार्कण्डेय ने कहा—हे राजन्! महात्मा मुनि लोग, इस प्रश्न को सुनकर सारे इकट्ठे होगए और अपना सन्देह नष्ट करने के लिए धर्म के ज्ञाता, सनत्कुमार ऋषि के पास पहुँचे ॥ २२ ॥

स च तेषां वचः श्रुत्वा यथातत्त्वं महातपाः ।
प्रत्युवाचाथ तानेवं धर्मार्थसहितं वचः ॥२३॥

महा-तपस्वी सनत्कुमार भी इन मुनियों के वचन को अच्छी तरह समझ गया और फिर इन से इस प्रकार धर्म युक्त वचन बोला ॥ २३ ॥

सनत्कुमार उवाच—

ब्रह्म क्षत्रेण सहितं क्षत्रञ्च ब्रह्मणा सह ।
संयुक्तौ दहतः शत्रून् वनानीवाग्निमारुतौ ॥२४॥

हे मुनियो! ब्राह्मण, क्षत्रिय के साथ और क्षत्रिय ब्राह्मण के साथ जब एकता को प्राप्त करते हैं, तभी ये वन को अग्नि और वायु के सदृश, शत्रुओं को भस्म कर सकते हैं ॥ २४ ॥

राजा वै प्रथितो धर्मः प्रजानां पतिरेव च ।
स एव शक्रः शुक्रश्च स धाता च बृहस्पतिः ॥२५॥

यह प्रसिद्ध है, कि राजा, धर्म, प्रजापति, इन्द्र, शुक्र, ब्रह्मा और बृहस्पति आदि सब कुछ हैं ॥ २५ ॥

प्रजापतिर्विराट् सम्राट् क्षत्रियो भूपतिर्नृपः ।
य एभिः स्तूयते शब्दैः कस्तं नार्चितुमर्हति ॥२६॥

जो विद्वान्, क्षत्रिय नरेश को प्रजापति, विराट्, सम्राट्, भूपति आदि शब्दों से सम्मानित करता है, उसको कौन समझदार मनुष्य सम्मानित नहीं करेगा ॥ २६ ॥

पुरायोनिर्युधाजिच्च अभियामुदितो भवः ।
स्वर्णेता सहजिद्बभ्रुरिति राजाभिधीयते ॥२७॥

राजा, सब कार्यों का प्रधान कारण, उपद्रव-नाशक, पहरेदार की भाँति रक्षक, प्रसन्नता फैलाने वाला, शक्तिशाली, स्वर्ग को ले जाने वाला, दुष्टों का विजयी और विष्णु के समान रक्षक है ।

सत्ययोनिः पुराविच्च सत्यधर्मप्रवर्त्तकः ।
अधर्मादृषयो भीता बलं क्षत्रे समादधन् ॥२८॥

राजा ही सत्य का प्रचारक, प्राचीन धर्म का ज्ञाता, सत्य धर्म का प्रवर्तक होता है। अधर्म से डरकर ही ऋषियों ने क्षत्रियों में बल की स्थापना की है ॥ २८ ॥

आदित्यो दिवि देवेषु तमो नुदति तेजसा ।
तथैव नृपतिर्भूमावधर्मान्नुदते भृशम् ॥२९॥

द्युलोक में सूर्य. देवों का अन्धकार अपने तेज से नष्ट कर देता है, इसी तरह राजा भी भूमि पर अपने पराक्रम से अधर्म का बिल्कुल नाश करने वाला है ॥ २९ ॥

ततो राज्ञः प्रधानत्वं शास्त्रप्रामाण्यदर्शनात्।
उत्तरः सिध्यते पक्षो येन राजेति भाषितम् ॥३०॥

शास्त्र के प्रमाण को देखा जावे, तो राजा प्रधान माना गया है। इससे जिसने राजा को उत्तम कहा है, उसी अत्रि का पक्ष श्रेष्ठ माना जाना चाहिए ॥ ३० ॥

मार्कण्डेय उवाच—

ततः स राजा संहृष्टः सिद्धे पक्षे महामनाः।
तमत्रिमब्रवीत् प्रीतः पूर्वं येनाभिसंस्तुतः ॥३१॥

मार्कण्डेय बोला—हे महात्मन्! महा-मनस्वी राजा अपने पक्ष के सिद्ध होने पर जिस अत्रि ने राजा की स्तुति की थी, उससे प्रीति-पूर्वक कहने लगा ॥ ३१ ॥

यस्मात् पूर्वं मनुष्येषु ज्यायांसं मामिहाब्रवीः।
सर्वदेवैश्च विप्रर्षे सम्मितं श्रेष्ठमेव च ॥३२॥
तस्मात्तेऽहं प्रदास्यामि विविधं वसु भूरि च।
दासीसहस्रं श्यामानां सुवस्त्राणामलङ्कृतम् ॥३३॥
दशकोटिर्हिरण्यस्य रुक्मभारांस्तथा दश।
एतद्ददानि विप्रर्षे सर्वज्ञस्त्वं मतो हि मे ॥३४॥

हे ब्रह्मर्षे! तुमने मनुष्यों में मुझे सब से श्रेष्ठ सिद्ध किया है और इस बात को सारे ऋषि, मुनि, देवता मान गए, इससे मैं तुम को बहुत सा धन प्रदान करूंगा। मुझे वस्त्र आभूषणों से सुशोभित, सोलह वर्ष की एक सहस्र सुन्दर दासी, दश करोड़ मुहरें (सिक्के) दश भार सुवर्ण, इतना द्रव्य तुम्हें दान में देना है। मैं तुमको सब विद्याओं का विद्वान् मानता हूं ॥३२-३४॥

तदत्रिर्न्यायतः सर्वं प्रतिगृह्याभिसत्कृतः ।
प्रत्युज्जगाम तेजस्वी गृहानेव महातपाः ॥३५॥

अत्रि ने इस न्यायानुसार प्राप्त हुए द्रव्य को ग्रहण कर लिया। राजा ने अत्रि का बड़ा सत्कार किया। अब यह महातपस्वी, तेजस्वी, अपने घर चल दिया ॥३५॥

प्रदाय च धनं प्रीतः पुत्रेभ्यः प्रयतात्मवान् ।
तपः समभिसन्धाय वनमेवान्वपद्यत ॥३६॥

इति श्रीमहाभारत आरण्यपर्वणि मार्कण्डेयसमास्यापर्वणि
ब्राह्मणमाहात्म्यकथने पञ्चाशीत्यधिकशततमोऽध्यायः

यह मनस्वी, जितेन्द्रिय, प्रीति-पूर्वक पुत्रों के लिए धन प्रदान करके तप के ध्यान से वन में चल दिया ॥३६॥

इति श्रीमहाभारत मार्कण्डेयसमास्यापर्व में ब्राह्मणमाहात्म्य
कथन का एक सौ पिच्यासीवां अध्याय समाप्त हुआ

एक सौ छियासीवां अध्याय

मार्कण्डेय उवाच—

अत्रैव च सरस्वत्या गीतं परपुरञ्जय ।
पृष्टया मुनिना वीर शृणु तार्क्ष्येण धीमता ॥१॥

मार्कण्डेय ने कहा— हे पर पुरञ्जय ! बुद्धिमान् तार्क्ष्य मुनि द्वारा पूछे जाने पर सरस्वती ने जो जो धर्म रक्षा के विषय में उत्तर दिया है, वह मैं तुम को सुनाता हूं, तुम ध्यान से सुनो ॥१॥

तार्क्ष्य उवाच—

किन्नु श्रेयः पुरुषस्येह भद्रे कथं कुर्वन्न च्यवते स्वधर्मात् ।
आचक्ष्व मे चारुसर्वाङ्गि कुर्य्यां त्वया शिष्टो न च्यवेयं स्वधर्मात्

हे भद्रे ! इस लोक में पुरुष के लिए क्या कल्याण कारी है और किन कर्मों के करने से मनुष्य, अपने धर्म से च्युत नहीं होता है । हे सुन्दरी ! तुम इसका वर्णन करो, मैं उसको करूंगा, जिसके करने से मैं भी अपने धर्म से पृथक् नहीं होऊंगा ॥२॥

कथं वाग्नि जुहुयां पूजये वा कस्मिन् काले केन धर्मो न नश्येत्
एतत् सर्वं सुभगे प्रब्रवीहि यथा लोकान् विरजाः सञ्चरेयम्

मैं किस भांति किस काल में हवन करूं या पूजन करूं । हे सुभगे ! तुम यह सारी विधि मुझे बताओ, जिससे लोकों में रजोगुण से रहित होकर विचरण कर सकूं ॥३॥

मार्कण्डेय उवाच—

एवं पृष्टा प्रीतियुक्तेन तेन शुश्रूषुमीक्ष्योत्तमबुद्धियुक्तम् ।
तार्क्ष्यं विप्रं धर्मयुक्तं हितञ्च सरस्वती वाक्यमिदं वभाषे ॥४॥

मार्कण्डेय ने कहा- इस प्रकार प्रेम पूर्वक तार्क्ष्य के पूछने पर तार्क्ष्य मुनि को धर्मात्मा, उत्तम बुद्धि संयुक्त देखकर सरस्वती हितकारी वाक्य कहने लगी ॥४॥

सरस्वत्युवाच—

यो ब्रह्म जानाति यथाप्रदेशं स्वाध्यायनित्यः शुचिरप्रमत्तः
स वै पारे देवलोकस्य गन्ता सहामरैः प्राप्नुयात् प्रीतियोगम्

जो मनुष्य, ब्रह्म प्राप्ति के मार्गों से ब्रह्म को जान लेता है और पवित्र रहकर सावधानी से स्वाध्याय शील होता है, वही देवलोक से भी आगे ब्रह्मलोक पा लेता है और देवों के साथ उसकी प्रीति (मित्रता) हो जाती है ॥५॥

तत्रस्मरम्याविपुलाविशोकाःसुपुष्पिताःपुष्करिण्याःसुपुण्याः
अकर्दमा मीनवत्यः सुतीर्था हिरण्मयैरावृताः पुण्डरीकैः॥

इस लोक में सुन्दर, विशाल, दुःखरहित, पवित्र, पुष्पोंवाली, कीचड़ से शून्य, मछली आदि जल जन्तुओं से समन्वित, सुनहरी कमलों से व्याप्त, पुष्करिणी (छोटे २ सरोवर) हैं ॥६॥

तासां तीरेष्वासते पुण्यभाजो महीयमानाः पृथगप्सरोभिः
सुपुण्यगन्धाभिरलंकृताभिर्हिरण्यवर्णाभिरतीव हृष्टाः ॥७॥

इन पुष्करिणियों के तीर पर पुण्यात्मा, पूज्य मनुष्य, अलग अलग उत्तम गन्ध और सुवर्ण के सदृश वर्ण वाली, अप्सराओं के साथ बड़ी प्रसन्नता से विहार करते रहते हैं ॥७॥

परं लोकंगोप्रदास्त्वाप्नुवन्ति दत्वानड्वाहंसूर्य्यलोकंव्रजन्ति
वासो दत्वा चान्द्रमसन्तु लोकं दत्वा हिरण्यममरत्वमेति॥

गोदान करने वाले, उत्तम (स्वर्ग) लोक और वृषभ दान करने वाले, सूर्य लोक, वस्त्र दान करने वाले, चन्द्र लोक और सुवर्ण के दाता, देव-पदवी पाते हैं ॥८॥

धेनुं दत्वा सुप्रभां सुप्रदोहां कल्याणवत्सामपलायिनीश्च ।
यावन्तिरोमाणिभवन्ति तस्यास्तावन्तिवर्षाण्यासतेदेवलोके

जो पुरुष अच्छा रंग, उत्तम दूध और सुन्दर बछड़े वाली, गौ का दान करता है, वह जितने गो के रोम होते हैं, उतने वर्ष देव-लोक में निवास करता है ॥९॥

अनड्वाहं सुव्रतं यो ददाति हलस्य वोढारमनन्तवीर्य्यम् ।
धुरन्धरं वलवन्तं युवानं प्राप्नोति लोकान् दश धेनुदस्य ॥

जो मनुष्य, शक्तिशाली, हल चलाने में समर्थ्य, सुन्दर धुरके धारण करने वाले, युवा वृषभ का दान करता है, वह दश दूध देने वाली गौ के दान का फल पाता है ॥१०॥

ददाति यो वै कपिलां सचेलां कांस्योपदोहां द्रविणैरुत्तरीयैः
तैस्तैर्गुणैः कामदुघाथ भूत्वा नरं प्रदातारमुपैति सा गौः॥

जो धार्मिक, वस्त्रसहित, कांसी की दोहनी के साथ, कपिला गौ का दान करता है और द्रव्य, वस्त्र आदि, दक्षिणा में दान देता है, उसके पास वह धेनु, उन-उन गुणों को लेकर कामधेनु के रूप में उपस्थित होती है ॥ ११ ॥

यावन्ति रोमाणि भवन्ति धेन्वास्तावत् फलं भवति गोप्रदाने
पुत्रांश्च पौत्रांश्च कुलञ्च सर्वमासप्तमं तारयते परत्र ॥१२॥

इस प्रकार गौदान करने से गौ के रोमों की संख्या के तुल्य वर्षों तक गौदान के पुण्य का फल प्राप्त होता रहता है। यह दान, पुत्र, पौत्र तथा सारे कुल की सात पीढ़ी का परलोक में उद्धार कर देता है ॥ १२ ॥

सदक्षिणां काञ्चनचारुशृङ्गीं कांस्योपदोहां द्रविणैरुत्तरीयैः।
धेनुं तिलानां ददतो द्विजाय लोका वसूनां सुलभा भवन्ति ॥

सुवर्ण के सींग, कांसी की दोहनी और पीछे देने के द्रव्य के साथ, जो दक्षिणा सहित तिल धेनु, ब्राह्मणों को देता है, वह वसुओं के लोकों को सुलभ रीति से पा लेता है ॥ १३ ॥

स्वकर्मभिर्दानवसंनिरुद्धे तीव्रान्धकारे नरके पतन्तम् ।
महार्णवे नौरिव वातयुक्ता दानं गवां तारयते परत्र ॥१४॥

अपने-अपने कर्मों से काम, क्रोध आदि के वश में तथा तीव्र अन्धकार वाले नरक में पड़ते हुए, प्राणियों को वायु से प्रेरित नौका की भाँति गौओं का दान परलोक में उद्धार कर देता है ॥ १४ ॥

यो ब्राह्मदेयान्तु ददाति कन्यां भूमि प्रदानञ्च करोति विप्रे
ददाति दानं विधिना च यश्च स लोकमाप्नोति पुरन्दरस्य ॥

जो ब्राह्म विवाह की रीति से कन्या-दान या ब्राह्मण को भूमि-दान करता है एवं विधि-पूर्वक श्रद्धा से दान देता है, वह मनुष्य इन्द्रलोक को प्राप्त कर लेता है ॥ १५ ॥

यः सप्तवर्षाणि जुहोति तार्क्ष्य हव्यन्त्वग्नौ नियतः साधुशीलः
सप्तावरान् सप्तपूर्व्वान्पुनाति पितामहानात्मनः कर्मभिः स्वैः

हे तार्क्ष्य ! जो नियम-शील रहकर सदाचार से सात वर्ष तक अग्नि में हवन करता है, वह सात नीचे और सात ऊपर की पीढ़ियों को पवित्र करता है और अपने पूर्वजों का अपने शुभ कर्म से उद्धार कर देता है ॥ १६ ॥

तार्क्ष्य उवाच—

किमग्निहोत्रस्य व्रतं पुराणमाचक्ष्व मे पृच्छतश्चानुरूपे ।
त्वयानुशिष्टोऽहमिहाद्य विद्यां यदग्निहोत्रस्य व्रतं पुराणम् ॥

तार्क्ष्य ने कहा-- हे सुन्दरि ! अग्नि होत्र के प्राचीन नियम क्या हैं, मैं तुम से पूछता हूं, तुम मुझे बताओ। तुम्हारे समझा देने से आज मैं भी अग्निहोत्र के प्राचीन नियमों को समझ लूंगा ॥१७॥

सरस्वत्युवाच—

न चाशुचिर्नाप्यनिर्णिक्तपाणिर्ना ब्रह्मविज्जुहुयान्नाविपश्चित् ।
बुभुक्षवः शुचिकामा हि देवा नाश्रद्दधानाद्धि हविर्जुषन्ति ॥

सरस्वती बोली--अशुद्ध और बिना हाथ पैर धोए, वेद के पाठ और अर्थ से वञ्चित पुरुष, यज्ञ या हवन का अधिकारी नहीं है। देवता भूखे भी हों, तो भी पवित्रता को चाहते हैं। ये अश्रद्धालु पुरुष की प्रदान की हुई, हवि को ग्रहण नहीं करते हैं ॥१८॥

नाश्रोत्रियं देवहव्ये नियुञ्ज्यान्मोघं पुरा सिञ्चति तादृशो हि ।
अपूर्वमश्रोत्रियमाह तार्क्ष्य न वै तादृग्जुहुयादग्निहोत्रम् ॥

देवता के हविः प्रदान करने के कार्य में वेद विहीन पुरुष को नियुक्त न करे। अज्ञानी मनुष्य, जो हवन करेगा, वह व्यर्थ ही जावेगा। हे तार्क्ष्य! वेद विहीन पुरुष को अकुलीन माना है। ऐसा पुरुष अग्निहोत्र नहीं कर सकता है ॥१९॥

कृशाश्च ये जुह्वति श्रद्धानाः सत्यव्रता हुतशिष्टाशिनश्च ।
गवां लोकं प्राप्यते पुण्यगन्धं पश्यन्ति देवं परमश्चापिसत्यम्.

जो श्रद्धालु, सत्यवादी, धन और गर्व से हीन पुरुष, हवन करता है और हवन शेष हवि का ही भक्षण करता है- वह पुण्य गन्ध वाले गौओं के लोकों को पा लेता है और देव-लोक में पहुच कर परम सत्य ब्रह्म को प्राप्त करता है ॥२०॥

तार्क्ष्य उवाच—

क्षेत्रज्ञभूतां परलोकभावे कर्मोदये बुद्धिमतिप्रविष्टाम् ।
प्रज्ञाश्च देवीं सुभगे विमृश्यपृच्छामि त्वां का ह्यसि चारुरूपे॥

तार्क्ष्य ने कहा--हे सुन्दरि। तुम पारमात्मस्वरुप हो, क्योंकि तुम आत्मा के स्वरूप और कर्म फल विषयक बुद्धि को धारण किये हुए हो। हे सुभगे ! मैं तुम को प्रज्ञा देवी समझ कर पूछता हूं, कि तुम कौन हो ॥२१॥

सरस्वत्युवाच--

अग्निहोत्रादहमभ्यागतास्मि विप्रर्षभाणां संशयच्छेदनाय ।
त्वत्संयोगादहमेतमब्रुवं भावे स्थिता तथ्यमर्थं यथावत् ॥

सरस्वती बोली--मैं ब्रह्मर्षियों के अग्निहोत्र से तेरे संशय छेदन करने के लिए आई हूं। तेरे संयोग को पाकर मैंने यह ठीक २

सत्य बात कह डाली है। मैं कर्मों के परम्परा से प्राप्त होने वाले मोक्ष ज्ञान, तथा कर्म, उपासना और ज्ञान के भाव में स्थित हो रही हूं ॥२२॥

तार्क्ष्य उवाच--

न हि त्वया सदृशी काचिदस्ति विभ्राजसेऽत्यतिमात्रंयथाश्रीः
रूपञ्च ते दिव्यमनन्तकान्ति प्रज्ञाञ्च देवीं सुभगे बिभर्षि ॥

तार्क्ष्य ने कहा--हे सुभगे! तेरे समान सुन्दर कोई नहीं है। तुम लक्ष्मी के समान अत्यन्त सुशोभित हो रही हो। तुम्हारा दिव्य रूप अनन्त सौंदर्य से युक्त है और तुम दिव्य बुद्धि की धारण करने वाली हो ॥२३॥

सरस्वत्युवाच--

श्रेष्ठानि यानि द्विपदां वरिष्ठ यज्ञेषु विद्वन्नुपपादयन्ति।
तैरेव चाहं सम्प्रवृद्धा भवामि चाप्यायिता रूपवती च विप्र॥

सरस्वती बोली-हे विद्वन्! पुरुषोत्तम! यज्ञों में जो श्रेष्ठ कर्म ब्रह्म दृष्टि आदि की जाती हैं, उन्हीं से मेरी वृद्धि होती है और उन ही से आनन्दित और रूपवती होती हूँ ॥२४॥

यच्चापि द्रव्यमुपयुज्यते स वानस्पत्यमायसं पार्थिवं वा।
दिव्येन रूपेण च प्रज्ञया च तवैव सिद्धिरिति विद्धि विद्वन्॥

हे विद्वान्! लकड़ी, सुवर्ण और भूमि से उत्पन्न चांवल आदि जो कुछ वस्तुएं यज्ञ में व्यवहार में लाई जाती हैं, मैं उन से भी दिव्य रूप और बुद्धि पाकर वृद्धि पाती हूँ। हे महात्मन्! इस सारे ज्ञान से तेरी ही सिद्धि है ॥२५॥

तार्क्ष्य उवाच—

इदं श्रेयः परमं मन्यमाना व्यायच्छन्ते मुनयः सम्प्रतीताः
आचक्ष्व मे तं परभं विशोकंमोक्षं परं यं प्रविशन्ति धीराः
साङ्ख्या योगाः परमं यं विदन्ति परं पुराणं तमहं न वेद्मि

तार्क्ष्य बोला—जो मुनि, प्रसन्न होकर और इन्द्रियों को जीत कर यह जान लेते हैं, कि यह अन्तिम श्रेय है उसी अत्यन्त शोक शून्य उत्कृष्ट मोक्ष का मुझे उपदेश करो। इसी मोक्ष में विद्वान् लोग, संलग्न हुए रहते हैं। ज्ञानी और कर्म-योगी, जिस परम तत्व को जान लेते हैं, मैं उसी सनातन तत्व को नहीं जानता हूं।

सरस्वत्युवाच—

तं वै परं वेदविदः प्रपन्ना परं परेभ्यः प्रथितं पुराणम्।
स्वाध्यायवन्तो व्रतपुण्ययोगैस्तपोधना वीतशोका विमुक्ताः॥

सरस्वती कहने लगी--हे मुने! उस सर्वोत्कृष्ट, सनातन प्रसिद्ध पर ब्रह्म को, वेद के ज्ञाता, स्वाध्यायशील, व्रत, पुण्यं और योग के करने वाले, शोक रहित, जीवन्मुक्त तपस्वी ही पा सकते हैं ॥२७॥

तस्याथ मध्ये वेतसः पुण्यगन्धः सहस्रशाखो विपुलो विभाति।
तस्य मूलात् सरितः प्रस्रवन्ति मधूदकप्रस्रवणाः सुपुण्याः २८

उसी परमात्म तत्व से वेंत के वृक्ष के तुल्य ब्रह्माण्ड का वृक्ष निकलता है। जिस में ज्ञान वैराग्य की पवित्र गन्ध है। जिस में भोगस्थान रूप अनेक शाखाएँ हैं। यह ब्राह्मण रूपी विशाल वृक्ष, बड़ा ही सुन्दर प्रतीत होता है। इस वृक्ष की जड़ अविद्या से नदियों के सदृश भोग वासनाएँ

निकलती रहती हैं। जिनमें भोगो के सुखों का मीठा जल भरा है और बड़ी पवित्र हैं ॥ २८ ॥

शाखां शाखां महानद्यः संयान्ति सिकताशयाः ।
धानापूपा मांसशाकाः सदा पायसकर्दमाः ॥२९॥

ये वासना की नदियां, उन २ भोग स्थानों में इस प्राणी को बहाया करती है, ये वासनाएँ पुत्र पशु आदि की ओर दौड़ती रहती है, ये धानों को तरह भूनी हुई, अपूप (पूओं) के समान अनेक छिद्रों वाली, मांस के सदृश ग्लानि या हिंसा-जनक, शाक के समान निःसार, खीर की भांति मीठी और कीचड़ की तरह चित्त को मैला करने वाली है ॥ २९ ॥

यस्मिन्नग्निमुखा देवाः सेन्द्राः सहमरुद्गणाः ।
ईजिरे क्रतुभिः श्रेष्ठैस्तत्पदं परमं मम ॥३०॥

इति श्रीमहाभारत आरण्यपर्वणि मार्कण्डेयसमास्यापर्वणि सरस्वतीतार्क्ष्यसंवादे षड़शीत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥१८६

मरुद्गण और इन्द्र के साथ अग्नि आदि देवता, उत्तम २ यज्ञों से जिसकी प्राप्ति के लिए प्रयत्न करते हैं, वही मेरा सर्वोत्कृष्ट स्थान है ॥ ३० ॥

इति श्रीमहाभारत मार्कण्डेयसमास्यापर्व में सरस्वतो तार्क्ष्य सम्वाद का एक सौ छियासीवां अध्याय समाप्त हुआ।

* * *

एक सौ सत्तासीवां अध्याय

वैशम्पायन उवाच—

ततः स पाण्डवो विप्रं मार्कण्डेयमुवाच ह ।
कथयस्वेति चरितं मनोर्वैवस्वतस्य च ॥१॥

वैशम्पायन बोले—हे राजन्! राजा युधिष्ठिर, मार्कण्डेय मुनि से बोले-हे ब्रह्मर्षे! अब तुम, वैवस्वत मनु के चरित को सुनाओ ॥ १ ॥

मार्कण्डेय उवाच—

विवस्वतः सुतो राजन् महर्षिः सुप्रतापवान् ।
बभूव नरशार्दूल प्रजापतिसमद्युतिः ॥२॥
ओजसा तेजसा लक्ष्म्या तपसा च विशेषतः ।
अतिचक्राम पितरं मनुः स्वञ्च पितामहम् ॥३॥

मार्कण्डेय बोले-हे राजन्! विवस्वान् के महा प्रतापी, महर्षि, प्रजापति के समान कान्तिमान् एक पुत्र था। इस वैवस्वत मनु ने ओज तेज, लक्ष्मी और तप से अपने पिता और पितामह को भी उलांघ लिया था ॥ २-३ ॥

ऊर्द्ध्वबाहुर्विशालायां बदर्य्यां स नराधिपः ।
एकपादस्थितस्तीव्रं चचार सुमहत्तपः ॥४॥
अवाक्शिरास्तथा चापि नेत्रैरनिमिषैर्दृढम् ।
सोऽतप्यत तपो घोरं वर्षाणामयुतं तदा ॥५॥

इस राजा ने विशाल वदरी वृक्ष के नीचे भुजा उठाकर और एक चरण से खड़े होकर बड़ा भारी तप कर डाला। इसने अपना शिर नीचे को लटका दिया और आंखें झपकाना रोक दिया। इस प्रकार इसने दश हज़ार वर्ष तक बड़ा घोर तप किया॥ ४-५ ॥

तं कदाचित्तपस्यन्तमार्द्रचीरं जटाधरम्।
चीरिणीतीरमागम्य मत्स्यो वचनमब्रवीत्॥६॥

यह जटाधारी मनु, भीगे कपड़े पहने हुए चीरिणी नदी के तीर पर तप कर रहा था। उस समय उसके पास आकर एक मत्स्य ने यह वचन कहा॥ ६ ॥

भगवन् क्षुद्रमत्स्योऽस्मि वलवद्भ्यो भयं मम।
मत्स्येभ्यो हि ततो मां त्वं त्रातुमर्हसि सुव्रत॥७॥

हे भगवन्! मैं छोटी मछली हूं और मुझे सदा बड़ी मछलियों से भय बना रहता है। आप मेरी रक्षा का प्रवन्ध कर दीजिए॥ ७॥

दुर्वलं वलवन्तो हि मत्स्या मत्स्यं विशेषतः।
आस्वदन्ति सदा वृत्तिर्विहिता नः सनातनी।८॥

जो दुर्वल मछली होती है, उसको वलवान् मत्स्य खा जाता है-यह तरीका सनातन काल से चला आ रहा है॥ ८॥

तस्माद्भयौघान्महतो मज्जन्तं मां विशेषतः।
त्रातुमर्हसि कर्त्तास्मि कृते प्रतिकृतं तव॥९॥

मैं इस भय के प्रवाह में विशेष (खास तौर) रूप से डूब रही हूं। तुम मेरी रक्षा करो, मैं इसके वदले में तुम्हारा कुछ उपकार कर दूंगी ॥ ९ ॥

स मत्स्यवचनं श्रुत्वा कृपयाभिपरिप्लुतः ।
मनुर्वैवस्वतोऽगृह्णात्तं मत्स्यं पाणिना स्वयम् ॥१०

यह वैवस्वत मनु, मत्स्य के ये वचन सुन कर करुणार्द्र हो गया और उस मत्स्य को अपने हाथ से उठा लिया ॥ १० ॥

उदकान्तमुपानीयं मत्स्यं वैवस्वतो मनुः ।
अलिञ्जरे प्राक्षिपत्तं चन्द्रांशुसदृशप्रभम् ॥११॥

वैवस्वत मनु, इस मत्स्य को जल से वाहर तट पर ले आया और चन्द्र के समान उज्ज्वल उस मत्स्य को मटके में डाल दिया ॥ ११ ॥

स तत्र ववृधे राजन् मत्स्यः परमसत्कृतः ।
पुत्रवत् स्वीकरोत्तस्मै मनुर्भावं विशेषतः ॥१२॥

हे राजन् ! बड़ी देखभाल करने से यह मत्स्य, उस मटके में बढ़ने लगा। मनु का इस मत्स्य में विशेष रूप से पुत्र भाव हो गया ॥ १२ ॥

अथ कालेन महता स मत्स्यः सुमहानभूत् ।
अलञ्जिरे यथा चैव नासौ समभवत् किल ॥१३॥

कुछ दिनों के अनन्तर यह मत्स्य बहुत बड़ा होगया और इतना बढ़ा कि इस मटके में नहीं समा सका ॥ १३ ॥

अथ मत्स्यो मनुं दृष्ट्वा पुनरेवाभ्यभाषत ।
भगवन् साधु मेऽद्यान्यत् स्थानं संप्रतिपादय ॥१४

मत्स्य ने मनु को देख कर फिर कहा—हे भगवन्, अब आप मुझे किसी अन्य सुन्दर स्थान पर पहुंचा दें ॥ १४ ॥

उद्धृत्यालिञ्जरात्तस्मात्ततः स भगवान् मनुः ।
तं मत्स्यमनयद्वापीं महतीं स मनुस्तदा ॥१५॥
तत्र तं प्राक्षिपच्चापि मनुः परपुरञ्जय ।

हे शत्रु-विजयी ! भगवान् मनु ने उस मछली को मटके से निकाल लिया और किसी विशाल बावड़ी में ले जाकर डाल दिया ॥ १५ ॥

अथावर्द्धत मत्स्यः स पुनर्वर्षगणान् बहून् ॥१६॥
द्वियोजनायता वापी विस्तृता चापि योजनम् ।
तस्यां नासौ समभवन्मत्स्यो राजीवलोचन ॥१७॥
विचेष्टितुञ्च कौन्तेय मत्स्यो वाप्यां विशाम्पते ।
मनुं मत्स्यस्ततो दृष्ट्वा पुनरेवाभ्यभाषत ॥१८॥

यह मत्स्य, यहां अनेक वर्ष तक बढ़ता रहा । यह वापी दो योजन लम्बी और एक योजन चौड़ी थी । हे कमल-लोचन ! राजन् ! यह मत्स्य, अब इस वापी में भी नहीं समाया । हे विशाम्पते ! यह मत्स्य, इस बावड़ी में उलट पलट नहीं सकता था । मत्स्य ने मनु को देख कर फिर कहा ॥१६-१८॥

नय मां भगवन् साधो समुद्रमहिषीं प्रियाम् ।
गङ्गां तत्र निवत्स्यामि यथा वा तात मन्यसे ॥१६

हे भगवन् ! तुम मुझे समुद्र गामिनी, प्रियतम, गङ्गा नदी पर ले चलो, मैं वहां सुख से निवास करूंगा या जैसी आपकी इच्छा हो, वहीं मुझे पहुंचा दो ॥१९॥

निदेशे हि मया तुभ्यं स्थातव्यमनसूयता ।
वृद्धिर्हि परमा प्राप्ता त्वत्कृते हि मयानघ ॥२०॥

हे अनघ ! मैं रागद्वेष से रहित होकर आपकी आज्ञा में रहूंगा । मैंने तुम्हारे ही कारण से यह बहुत बड़ी वृद्धि पाई है २०

एवमुक्तो मनुर्मत्स्यमनयद्भगवान् वशी ।
नदीं गङ्गां तत्र चैनं स्वयं प्राक्षिपदच्युतः ॥२१॥

इतना कहने पर जितेन्द्रिय मनु इस मत्स्य को लेकर गङ्गा नदी पर पहुंचा और दृढ़विचार-धारी मनु ने इस मत्स्य को गङ्गा नदी में डाल दिया ॥२१॥

स तत्र ववृधे मत्स्यः कञ्चित्कालमरिन्दम ।
ततः पुनर्मनुं दृष्ट्वा मत्स्यो वचनमब्रवीत् ॥२२॥

हे अरिमर्दन ! कुछ काल तक यह मत्स्य, वहां भी बढ़ा—अब फिर मनु को देखकर मत्स्य ने कहा ॥२२॥

गङ्गायां हि न शक्नोमि बृहत्त्वाच्चेष्टितुं प्रभो ।
समुद्रं नय मामाशु प्रसीद भगवन्निति ॥२३॥

हे प्रभो ! अब मेरी देह और बड़ी हो गई है, इससे मैं अब गङ्गा में भी चल फिर नहीं सकता हूं । हे भगवन् ! आप कृपा करें और मुझे शीघ्र समुद्र में ले चलें ॥२३॥

उद्धृत्य गङ्गासलिलात्ततो मत्स्यं मनुः स्वयम् ।
समुद्रमनयत् पार्थ तत्र चैनमवासृजत् ॥२४॥

हे पार्थ ! अब वैवस्वत मनु ने स्वयं उस मत्स्य को गङ्गा के जल से निकाल लिया और समुद्र पर ले जाकर उसको समुद्र में छोड़ दिया ॥२४॥

सुमहानपि मत्स्यस्तु स मनोर्नयतस्तदा ।
आसीद्यथेष्टहार्य्यश्च स्पर्शगन्धसुखश्च वै ॥२५॥

यह मत्स्य, यद्यपि बहुत विशाल था, तो भी मनु के ले जाने के समय वह ले जाने योग्य हल्का सा हो गया और इस का स्पर्श तथा गन्ध भी सुख-कारी प्रतीत हुआ ॥२५॥

यदा समुद्रे प्रक्षिप्तः स मत्स्यो मनुना तदा ।
तत एनमिदं वाक्यं स्मयमान इवाब्रवीत् ॥२६॥

जब मनु ने इस मत्स्य को समुद्र में फैंका, तो यह मत्स्य मुस्कुरा कर मनु से यह वाक्य कहने लगा ॥२६॥

भगवन् हि कृता रक्षा त्वया सर्वा विशेषतः ।
प्राप्तकालन्तु यत्कार्यं त्वया तच्छ्रूयतां मम ॥२७॥

हे भगवन् ! आपने मेरी विशेष रूप से सब तरह रक्षा की है । अब जो कार्य सम्मुख आ गया है, वह मैं तुमको बताता हूँ--- तुम ध्यान से सुनो ॥२७॥

अचिराद्भगवन् भौममिदं स्थावरजङ्गमम् ।
सर्वमेव महाभाग प्रलयं वै गमिष्यति ॥२८॥

हे महाभाग ! थोड़े ही समय में पृथिवी पर इस सारे स्थावर जङ्गम जगत् का प्रलय होने वाला है ।।२८।।

संप्रक्षालनकालोऽयं लोकानां समुपस्थितः ।
तस्मात्त्वां बोधयाम्यद्य यत्ते हितमनुत्तमम् ।।२९।।

यह समय तो सारे लोकों के डूब जाने का उपस्थित हुआ है। इसलिए अब मैं तुमको तुम्हारे सर्वोत्तम हित का उपदेश करता हूँ ।।२९।।

त्रसानां स्थावराणाञ्च यच्चेङ्गं यच्च नेङ्गति ।
तस्य सर्वस्य सम्प्राप्तः कालः परमदारुणः ।।३०।।

इस स्थावर जङ्गम जगत् में जो चेष्टा करता है या जो चेष्टा नहीं करता, उस सबके लिए यह बड़ा दारुण समय उपस्थित हो गया है ।।३०।।

नौश्च कारयितव्या ते दृढा युक्तवटारका ।
तत्र सप्तर्षिभिः सार्द्धमारुहेथा महामुने ।।३१।।

हे महामुने ! तुमको एक दृढ़ नौका बनानी चाहिये, जिसमें मजबूत बटी हुई रस्सी बंधी हुई हो। उस नौका में तुम सप्तर्षियों के साथ चढ़ जाओ ।।३१।।

बीजानि चैव सर्वाणि यथोक्तानि द्विजैः पुरा ।
तस्यामारोपयेर्नावि सुसंगुप्तानि भागशः ।।३२।।

जो द्विजों ने प्रथम बता रखे हैं, तुम उन सारे बीजों को अलग२ लेकर उस नौका में चढ़ जाओ और उन बीजों को अच्छी तरह सुरक्षित रखो ।।३२।।

नौस्थश्च मां प्रतीक्षेथास्ततो मुनिजनप्रिय ।
आगमिष्याम्यहं शृङ्गी विज्ञेयस्तेन तापस ॥३३॥

हे मुनिजनों के प्रेमी ! तुम उस नौका में बैठे हुए मेरी प्रतीक्षा करना । हे तापस ! उस समय मैं सींगों से युक्त होकर आऊंगा, जिससे तुम मुझे पहिचान लेना ॥३३॥

एवमेतत्त्वया कार्य्यमापृष्टोऽसि व्रजाम्यहम् ।
ता न शक्या महत्यो वै आपस्तर्त्तुं मया विना ॥३४॥

तुमको मेरे कथनानुसार ही सब कुछ करना चाहिये । अब मैं तुमसे अनुज्ञा (इजाजत) ले चुका हूँ और जाता हूँ । तुम उस जल-प्लावन को मेरी सहायता के विना पार नहीं कर सकोगे ॥३४॥

नाभिशङ्क्यमिदञ्चापि वचनं मे त्वया विभो ।
एवं करिष्य इति तं स मत्स्यं प्रत्यभाषत ॥३५॥
जग्मतुश्च यथाकाममनुज्ञाप्य परस्परम् ।

हे विभो ! तुम को मेरे वचन पर अविश्वास नहीं करना चाहिए । मनु ने भी मत्स्य से कह दिया-कि अच्छी वात है, ऐसा हीं करूंगा अब ये दोनों आपस में एक दूसरे से विदा लेकर चल दिए ॥ ३५ ॥

ततो मनुर्महाराज यथोक्तं मत्स्यकेन ह ॥३६॥
वीजान्यादाय सर्वाणि सागरं पुप्लुवे तदा ।
नौकया शुभया वीर महोर्मिणमरिन्दम ॥३७॥

हे महाराज ! वीर ! अरि-मर्दन ! इसके अनन्तर मनु ने मत्स्य के कथनानुसार सारे वीज ले लिए और वड़ी सुन्दर नौका से उसने वड़ी २ लहरों वाले समुद्र को पार किया ॥ ३६-३७ ॥

चिन्तयामास च मनुस्तं मत्स्यं पृथिवीपते ।
स च तच्चिन्तितं ज्ञात्वा मत्स्यः परपुरञ्जय ॥३८॥
शृङ्गी तत्राजगामाशु तदा भरतसत्तम ।

हे पृथिवी-पते ! बीज इकट्ठे कर लेने पर जब जलप्लावन आया, तो मनु ने उसी मत्स्य का स्मरण किया । हे शत्रुओं के पुरों के विजेता ! युधिष्ठिर ! इस मनु के स्मरण का ध्यान करके वही मत्स्य वहां फौरन आया । इसके मस्तक में दो सींग लगे हुए थे ॥ ३८ ॥

तं दृष्ट्वा मनुजव्याघ्र मनुर्मत्स्यं जलार्णवे ॥३९॥
शृङ्गिणं तं यथोक्तेन रूपेणाद्रिमिवोच्छ्रितम् ।

हे मनुज-व्याघ्र ! इस जलप्लावन के समय मनु ने पूर्व में की हुई प्रतिज्ञा के अनुसार, उठे हुए पर्वत के तुल्य, उस सींग धारी मत्स्य को देखा ॥ ३९ ॥

वटारकमयं पाशमथ मत्स्यस्य मूर्द्धनि ॥४०॥
मनुर्मनुजशार्दूल तस्मिन् शृङ्गे न्यवेशयत् ।
संयतस्तेन पाशेन मत्स्यः परपुरञ्जय ॥४१॥
वेगेन महता नावं प्राकर्षल्लवणाम्भसि ।
स च तांस्तारयन्नावा समुद्रं मनुजेश्वर ॥४२॥
नृत्यमानमिवोर्मीभिर्गर्जमानमिवाम्भसा ।

हे मनुज-शार्दूल ! उस मनु ने बटी हुई, रस्सी लेकर उस मत्स्य के मस्तक में डाल कर सींगों में अटका दी । हे शत्रु-विजयी, राजन् ! यह मत्स्य, इस पाश से बिल्कुल बंध गया और उस

नौका को समुद्र में बड़े वेग से खैंचने लगा। हे मनुजेश्वर, इस मत्स्य ने नौका द्वारा उस सारे समुद्र से उन सब को पार कर दिया, जो समुद्र, लहरों से नांच सा रहा था और जल के वेग से गर्ज रहा था ॥ ४०--४२ ॥

क्षोभ्यमाणा महावातैः सा नौस्तस्मिन्महोदधौ ॥४३॥
घूर्णिते चपलेव स्त्री मत्ता परपुरञ्जय ।

हे परपुरञ्जय, यह नौका, वायु के बड़े वेग से उछलते हुए समुद्र में इधर उधर डगमगाने लगी—जैसे कोई मदोन्मत्त चञ्चल स्त्री इधर की उधर घूमती है ॥ ४३ ॥

नैव भूमिर्न च दिशः प्रदिशो वा चकाशिरे ॥४४॥
सर्वमाम्भसमेवासीत् खं द्यौश्च नरपुङ्गव ।

हे नर-श्रेष्ठ! इस समय न तो भूमि, न दिशा और न विदिशाएं ही चमकती थी। यह द्युलोक और आकाश सारा जलमय हो रहा था ॥ ४४ ॥

एवम्भूते तदा लोके संकुले भरतर्षभ ॥४५॥
अदृश्यन्तर्षयः सप्त मनुर्मत्स्यस्तथैव ह ।

हे भरतर्षभ! जब इस प्रकार सारे लोकों में जल भर गया, तो उस समय सात ऋषि, एक मनु और एक मत्स्य ही दिखाई देता था ॥ ४५ ॥

एवं बहून् वर्षगणांस्तां नावं सोऽथ मत्स्यकः ॥४६॥
चकर्षातन्द्रितो राजंस्तस्मिन् सलिलसञ्चये ।

हे राजन् ! इस प्रकार वह मत्स्य अनेकों वर्ष तक उस नौका को, उस जल-राशि में बड़ी सावधानी से खैंचता रहा ॥ ४६ ॥

ततो हिमवतः शृङ्गं यत्परं भरतर्षभ ॥४७॥
तत्राकर्षतत्तो नावं स मत्स्यः कुरुनन्दन ।
अथाब्रवीत्तदा मत्स्यस्तानृषीन् प्रहसन् शनैः ॥४८॥

हे भरतर्षभ ! इसके बाद वह मत्स्य, हिमालय की सब से ऊँची चोटी पर इस नौका को खैंचकर ले गया। अब यह मत्स्य हँसकर उन ऋषियों से बोला ॥ ४७--४८ ॥

अस्मिन् हिमवतः शृङ्गे नावं बध्नीत मा चिरम् ।
सा बद्धा तत्र तैस्तूर्णमृषिभिर्भरतर्षभ ॥४९॥
नौर्मत्स्यस्य वचः श्रुत्वा शृङ्गे हिमवतस्तदा ।
तच्च नौबन्धनं नाम शृङ्गं हिमवतः परम् ॥५०॥
ख्यातमद्यापि कौन्तेय तद्विद्धि भरतर्षभ ।

हे ऋषियों ! तुम इस नौका को हिमालय की चोटी से बाँध दो, देर मत करो। हे भरतर्षभ ! हिमालय के शिखर पर नौका और मत्स्य की यह घटना हुई। हे कौन्तेय ! वह हिमालय का शिखर आज भी नौ-बन्धन के नाम से प्रसिद्ध है। हे भरतर्षभ ! शायद यह तुमने सुना होगा ॥ ४९--५० ॥

अथाब्रवीदनिमिषस्तानृषीन् सहितांस्तदा ॥५१॥
अहं प्रजापतिर्ब्रह्मा मत्परं नाधिगम्यते ।
मत्स्यरूपेण यूयश्च मयास्मान्मोक्षिता भयात् ॥५२॥

मनुना च प्रजाः सर्वाः सदेवासुरमानुषाः ।
स्रष्टव्याः सर्वलोकाश्च यच्चेङ्गं यच्च नेङ्गति ॥५३॥

अब इन सब मुनियों से यह मत्स्य कहने लगा—मैं प्रजापति और ब्रह्मा हूँ, मुझसे आगे अन्य कोई नहीं है। मैंने ही मत्स्य का रूप धारण करके इस भय से छुड़ाया है ॥ ५१--५३ ॥

तपसा चापि तीव्रेण प्रतिभास्य भविष्यति ।
मत्प्रसादात् प्रजासर्गे न च मोहं गमिष्यति ॥५४॥

अब मनु को ही सारे देव, असुर और मनुष्य तथा सारी प्रजा की रचना करनी चाहिए। इसी तरह सारे लोक, जो चेष्टा करते हैं या नहीं करते, उनको भी रचना चाहिए ॥ ५४ ॥

इत्युक्त्वा वचनं मत्स्यः क्षणेनादर्शनङ्गतः ।
स्रष्टुकामः प्रजाश्चापि मनुर्वैवस्वतः स्वयम् ॥५५॥
प्रमूढोऽभूत् प्रजासर्गे तपस्तेपे महत्ततः ।

बड़े भारी तप के प्रभाव से इसकी प्रतिभा चमक उठेगी और मेरे अनुग्रह से प्रजा की रचना करने में यह नहीं घबरावेगा ॥ ५५ ॥

तपसा महता युक्तः सोऽथ स्रष्टुं प्रचक्रमे ॥५६॥
सर्वाः प्रजा मनुः साक्षाद्यथावद्भरतर्षभ ।

हे राजन्! मत्स्य इतना कह कर क्षण भर में अलक्षित होगया। अब वैवस्वत मनु ने भी प्रजा रचने का विचार किया। यह प्रजा की रचना करने में मोहित हो गया, इससे बड़ा घोर तप करने लगा ॥ ५६ ॥

इत्येतन्मात्स्यकं नाम पुराणं परिकीर्तितम् ॥५७॥
आख्यानमिदमाख्यातं सर्वपापहरं मया ।

हे भरतर्षभ ! उस महान् तप के कारण ही मनु, सारी प्रजा के ठीक-ठीक रचने में समर्थ होगए। यह मात्स्यक नाम का प्राचीन उपाख्यान है। यह सारे पापों का नाशक आख्यान मैंने तुमको सुना दिया है ॥ ५७ ॥

य इदं शृणुयान्नित्यं मनोश्चरितमादितः ।
स सुखी सर्वपूर्णार्थः स्वर्गलोकमियान्नरः ॥५८॥

इति श्रीमहाभारत आरण्यपर्वणि मार्कण्डेयसमास्यापर्वणि वैवस्वतोपाख्याने सप्ताशीत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥१८७

जो इस मनु के चरित को आरम्भ से सुनेगा, वह सुखी हो जावेगा तथा उसके सारे मनोरथ सफल होंगे और अन्त में वह नर, स्वर्ग लोक को चला जावेगा ॥ ५८ ॥

इति श्रीमहाभारत वनपर्वान्तर्गत मार्कण्डेयसमास्यापर्व में वैवस्वतोपाख्यान का एक सौ सत्तासीवाँ अध्याय सम्पूर्ण हुआ ।

एक सौ अट्ठासीवां अध्याय

वैशम्पायन उवाच—

ततः स पुनरेवाथ मार्कण्डेयं यशस्विनम् ।
पप्रच्छ विनयोपेतो धर्मराजो युधिष्ठिरः ॥१॥

वैशम्पायन ने कहा—हे राजन्! इसके अनन्तर यशस्वी मार्कण्डेय से विनयशील, धर्म-राज युधिष्ठिर ने पूछा ॥१॥

नैके युगसहस्रान्तास्त्वया दृष्टा महामुने ।
न चापीह समः कश्चिदायुष्मान् दृश्यते तव ॥२॥

हे महामुने! तुमने अनेक सहस्र युगों का प्रलय देखा है, क्योंकि इस जगत् में तुम्हारे समान आयु वाला कोई दिखाई नहीं देता है ॥२॥

वर्ज्जयित्वा महात्मानं ब्रह्माणं परमेष्ठिनम् ।
न तेऽस्ति सदृशः कश्चिदायुषा ब्रह्मवित्तम ॥३॥

हे ब्रह्मज्ञानी! एक परम पूज्य, महात्मा ब्रह्माजी को छोड़कर तुम्हारी आयु के बराबर कोई भी नहीं है ॥३॥

अनत्तरीक्षे लोकेऽस्मिन् देवदानववर्ज्जिते।
त्वमेव प्रलये विप्र ब्रह्माणमुपतिष्ठसे ॥४॥

हे विप्र! जब आकाश का प्रलय होकर देव दानवों से रहित यह लोक होता है, तब तुम ही प्रलय में ब्रह्माजी की उपासना करते हो ॥४॥

प्रलये चापि निर्वृत्ते प्रबुद्धे च पितामहे ।
त्वमेकः सृज्यमानानि भूतानीह प्रपश्यसि ॥५॥

चतुर्विधानि विप्रर्षे यथावत् परमेष्ठिना ।
वायुभूता दिशः कृत्वा विक्षिप्यापस्ततस्ततः ॥६॥

जब प्रलय का समय पूरा हो जाता है और ब्रह्मा जाग उठता है, तब तुम ही एक ऐसे हो जो ब्रह्मा की चारों प्रकार (जरायुज, अण्डज, स्वदेज, और उद्भिज्ज) की सृष्टि देख सकते हो । सारी दिशाओं में वायु को फैलाकर और स्थान २ पर जल की रचना करके ब्रह्मा सृष्टि रचता है ॥५-६॥

त्वया लोकगुरुः साक्षात् सर्वलोकपितामहः ।
आराधितो द्विजश्रेष्ठ तत्परेण समाधिना ॥७॥

हे द्विज—श्रेष्ठ ! लोक पूज्य, सब लोक के पितामह, साक्षात ब्रह्मा की समाधि द्वारा तुम ही उपासना करने की शक्ति रखते हो ।

स्वप्रमाणमथो विप्र त्वया कृतमनेकशः ।
घोरेणाविश्य तपसा वेधसो निर्जितास्त्वया ॥८॥

हे विप्रर्षे ! तुमने इस ब्रह्माण्ड का अनेक वार साक्षात्कार किया है । तुमने घोर तप करके मरीचि आदि ऋषियों को जीत लिया है ॥८॥

नारायणाङ्कप्रख्यस्त्वं साम्परायेऽतिपठ्यसे ।
भगवानेकशः कृत्वा त्वया विष्णोश्च विश्वकृत् ॥९॥
कर्णिकोद्धरणं दिव्यं ब्रह्मणः कामरूपिणः ।
रत्नालङ्कारयोग्याभ्यां दृग्भ्यां दृष्टस्त्वया पुरा ॥१०॥

हे महात्मन् ! तुम नारायणके अनुचरोंमें विख्यातहो और पर लोकमें तुम्हारी बड़ी स्तुति की जाती है । तुमने कामरूपी, सर्वव्यापक,

ब्रह्म के प्राप्ति स्थान, हृदय कमल को योग की कला से खोलकर संसार के उत्तम भोग के निवारण रूप वैराग्य और अभ्यास की आँखों द्वारा विश्वकर्मा भगवान् के अनेक बार दर्शन किये हैं।

तस्मात् सर्वान्तको मृत्युर्जरा वा देहनाशिनी।
न त्वां विशति विप्रर्षे प्रसादात् परमेष्ठिनः ॥११॥

हे ब्रह्मर्षे ! इसी से सबका अन्त करने वाली मौत या देह के क्षीण करने वाली जरा, ब्रह्माजी के अनुग्रह से तुमको व्याप्त नहीं होती है ॥११॥

यदा नैव रविर्नाग्निर्न वायुर्न च चन्द्रमाः।
नैवान्तरीक्षं नैवोर्वी शेषं भवति किञ्चन ॥१२॥
तस्मिन्नेकार्णवे लोके नष्टे स्थावरजङ्गमे।
नष्टे देवासुरगणे समुत्सन्नमहोरगे ॥१३॥
शयानममितात्मानं पद्मोत्पलनिकेतनम्।
त्वमेकः सर्वभूतेशं ब्रह्माणमुपतिष्ठसे ॥१४॥

जब सूर्य, अग्नि, वायु, चन्द्रमा, अन्तरीक्ष, पृथिवी आदि कुछ भी शेष नहीं रहते। सारे लोक जलमय हो जाते हैं, स्थावर, जङ्गम, देव, असुरों के गण और सर्प जाति नष्ट हो जाती है, तब तुम अकेले ही सर्वव्यापक, पद्म पत्र पर सोते हुए सब प्राणियों के स्वामी, परमात्मा की उपासना करते हो ॥१२-१४॥

एतत् प्रत्यक्षतः सर्वं पूर्ववृत्तं द्विजोत्तम।
तस्मादिच्छाम्यहं श्रोतुं सर्वहेत्वात्मिकां कथाम् ॥१५

अनुभूतं हि बहुशस्त्वयैकेन द्विजोत्तम।
न तेऽस्त्यविदितं किञ्चित् सर्वलोकेषु नित्यदा ॥१६

हे द्विजोत्तम ! यह सारा पूर्व कालीन इतिहास, तुमने प्रत्यक्ष देखा है, इसलिए मैं सम्पूर्ण कारणों सहित, इन कथाओं को सुनना चाहता हूँ। तुम अकेले ने ही बहुत बार इन सारी घटनाओं को देखा है। नित्य रहने वाले आप से सब लोकों में कुछ भी छुपा हुआ नहीं है ॥१५-१६॥

मार्कण्डेय उवाच—

हन्त ते वर्त्तयिष्यामि नमस्कृत्वा स्वयम्भुवे।
पुरुषाय पुराणाय शाश्वतायाव्ययाय च ॥१७॥
अव्यक्ताय सुसूक्ष्माय निर्गुणाय गुणात्मने।
य एष पुरुषव्याघ्र पीतवासा जनार्दनः ॥१८॥
एष कर्त्ता विकर्त्ता च भूतात्मा भूतकृत् प्रभुः।
अचिन्त्यं महदाश्चर्य्यं पवित्रमिति चोच्यते ॥१९॥

मार्कण्डेय बोले—हे पुरुष श्रेष्ठ ! मैं स्वयम्भू, पुराण पुरुष, सनातन, अविनश्वर, निराकार, सूक्ष्म, निर्गुण, गुणात्मा, एक रस भगवान् विष्णु को नमस्कार करके तुमसे यह कथा कहता हूं। यह जनार्दन पुरुष, पीत वस्त्रों का धारण करने वाला है। यही शक्तिशाली, भूतों का अन्तर्यामी, भूतों का रचने वाला है। यही सृष्टि की रचना और प्रलय का करने वाला है। यह विचार में नहीं आने वाला, महा आश्चर्य-जनक और पवित्र कहा जाता है।

अनादिनिधनं भूतं विश्वमव्ययमक्षयम् ।
एष कर्त्ता न क्रियते कारणञ्चापि पौरुषे ॥२०॥

यह आदि और अन्त से रहित, सर्वव्यापक, नहीं क्षीण होने वाला एक रस है । यह सब का कर्ता है, इसका करने वाला कोई नहीं है । यही मोक्ष रूपी पुरुषार्थ की प्राप्ति का एक मात्र कारण है ॥२०॥

यद्येष पुरुषो वेद वेदा अपि न तं विदुः ।
सर्वमाश्चर्य्यमेवैतन्निर्वृत्तं राजसत्तम ॥२१॥
आदितो मनुजव्याघ्र कृत्स्नस्य जगतः क्षये ।
चत्वार्य्याहुः सहस्राणि वर्षाणां तत् कृतं युगम् ॥२२॥

हे राज-सत्तम ! यह परमात्मा इस वेद को जानता है, परन्तु परमात्मा को वेद भी नहीं जान सकते हैं । हे मनुज-श्रेष्ठ ! उस परमात्मासे सारे जगत्के प्रलय कर देने पर उससे ही यह सारा ब्रह्माण्ड इन्द्र-जालवत् फिर उत्पन्न होता है । यह एक बड़ा ही आश्चर्य है ॥२१--२२॥

तस्य तावच्छती सन्ध्या सन्ध्यांशश्च तथाविधः ।
त्रीणि वर्षसहस्राणि त्रेतायुगमिहोच्यते ॥२३॥
तस्य तावच्छती सन्ध्या सन्ध्यांशश्च ततः परम ।
तथा वर्षसहस्रे द्वे द्वापरं परिमाणतः ॥२४॥
तस्यापि द्विशती सन्ध्या सन्ध्यांशश्च तथाविधः ।
सहस्रमेकं वर्षाणां तथा कलियुगं स्मृतम् ॥२५॥

तस्य वर्षशतं सन्धिः सन्ध्यांशश्च ततः परम् ।
सन्धिसध्यांशयोस्तुल्यं प्रमाणमुपधारय ॥२६॥

हे राजन् ! चार सहस्त्र दिव्य वर्षों का एक सत्युग होता है और उसकी चार सौ वर्ष की सन्धि और उतने ही काल का सन्ध्यांश होता है। तीन सहस्त्र वर्ष का योग और उसकी तीन सौ वर्ष की सन्धि और सन्ध्यांश माना गया है। दो सहस्त्र दिव्य वर्षों का द्वापर का परिमाण है। इनकी भी सन्धि, दो सौ और सन्ध्यांश भी दो सौ ही वर्ष का होता है। कलियुग एक हज़ार वर्ष का होता है और इसकी सन्धि और सन्ध्यांश भी एक सौ वर्ष का माना गया है। सन्धि और सन्ध्यांश का बराबर का प्रमाण है ॥२३-२६॥

क्षीणे कलियुगे चैव प्रवर्त्तति कृतं युगम् ।
एषा द्वादशसाहस्री युगाख्या परिकीर्त्तिता ॥२७॥
एतत् सहस्रपर्य्यन्तमहर्ब्राह्ममुदाहृतम् ।
विश्वं हि ब्रह्मभवने सर्वतः परिवर्त्तते ॥२८॥
लोकानां मनुजव्याघ्र प्रलयन्तं विदुर्बुधाः ।

जब कलियुग क्षीण हो जाता है, तो सत्युग प्रवृत होता है। इस प्रकार बारह हज़ार वर्ष की युग संख्या मानी गई है। इन सहस्त्र वर्षों का ब्रह्मा का एक दिन माना गया है। यह सारा विश्व ब्रह्मा के दिन में रहता है और फिर परिवर्तित हो जाता है। हे मनुज-व्याघ्र ! इसी को बुद्धिमान् प्रलय कहते हैं २७-२८॥

अल्पावशिष्टे तु तदा युगान्ते भरतर्षभ ॥२६॥
सहस्रान्ते नराः सर्वे प्रायशोऽनृतवादिनः ।

हे भरतर्षभ ! जब युग का थोड़ा भाग शेष रहता है, तो उस सहस्त्र वर्ष के अन्तिम पाद में सारे मनुष्य प्रायः मिथ्याभाषण करने लग जाते हैं ॥२६॥

यज्ञप्रतिनिधिः पार्थ दानप्रतिनिधिस्तथा ॥३०॥
व्रतप्रतिनिधिश्चैव तस्मिन् काले प्रवर्त्तते ।
ब्राह्मणाः शूद्रकर्माणस्तथा शूद्रा धनार्जकाः ॥३१॥

हे पार्थ ! इस काल में यज्ञ-दान और व्रत के स्थान में अन्य अधर्म ही अपना स्वामीपन जमा लेंगे । ब्राह्मण लोग, शूद्रकर्म करेंगे और शूद्र अधर्म से बहुत से धन का सञ्चय कर लेंगे ॥३०--३१॥

क्षत्रधर्मेण चाप्यत्र वर्त्तयन्ति गते युगे ।
निवृत्तयज्ञस्वाध्याया दण्डाजिनविवर्जिताः ॥३२॥
ब्राह्मणाः सर्वभक्ष्याश्च भविष्यन्ति कलौ युगे ।
अजपा ब्राह्मणास्तात शूद्रा जपपरायणाः ॥३३॥

इस युग की समाप्ति में ब्राह्मण क्षत्रिय के धर्मों को भी स्वीकार करेंगे । ये लोग यज्ञ, स्वाध्याय, दण्ड,मृगचर्म आदि का परित्याग कर देंगे । हे तात ! इस कलियुग में ब्राह्मण, सब कुछ भक्षण कर जावेंगे । ब्राह्मण तो जप हीन और शूद्र, जप तप करने वाले होंगे ॥३२--३३॥

विपरीते तदा लोके पूर्वरूपं क्षयस्य तत् ।
बहवो म्लेच्छराजानः पृथिव्यां मनुजाधिप ॥३४॥
मृषानुशासिनः पापा मृषावादपरायणाः ।
आन्ध्रा शका पुलिन्दाश्च यवनाश्च नराधिपाः ॥३५॥
काम्बोजा बाह्लिकाः शूरास्तथाभीरा नरोत्तम ।
युगान्ते मनुजव्याघ्र तथाकाराश्च भारत ।

इस प्रकार जब लोक में उलटे व्यवहार दिखाई दें, तो इसे प्रलय का पूर्वरूप समझना चाहिये। हे राजन्! इस समय पृथ्वी पर बहुत से म्लेच्छ राजा हो जावेंगे! जो छल से राज्य का शासन करेंगे। ये पापी राजा, मिथ्यावादी होंगे। हे नरोत्तम! आन्ध्र, शक, पुलिन्द, यवन, काम्बोज, वाल्हिक और आभीर जाति के म्लेच्छ राजा, बड़े-बड़े शूरवीर होंगे। हे भारत, युग के अन्त में ये सब कुछ लक्षण दिखाई देंगे ॥३४--३५॥

न तदा ब्राह्मणः कश्चित् स्वधर्ममुपजीवति ॥३६॥
क्षत्रियाश्चापि वैश्याश्च विकर्मस्था नराधिप ।

हे नराधिप! उस समय कोई भी ब्राह्मण, अपने धर्म का आचरण नहीं करेगा। क्षत्रिय और वैश्य भी अपने धर्मों को छोड़ कर अधर्म के कार्य करने लगेंगे ॥३६॥

अल्पायुषः स्वल्पबला स्वल्पवीर्य्यपराक्रमाः ॥३७॥
अल्पसाराल्पदेहाश्च तथा सत्याल्पभाषिणः ।
बहुशून्या जनपदा मृगव्यालावृता दिशः ॥३८॥

इस कलि काल में मनुष्य, स्वल्प आयु बल, वीर्य और पराक्रम वाले होंगे। इनका आत्मबल कुछ भी नहीं होगा और इनके शरीर भी छोटे-छोटे होंगे। ये मनुष्य, बहुत ही थोड़े सत्य का भाषण करेंगे। देश प्रायः खाली हो जायेंगे और दिशाएं वनैले पशु तथा सर्पादि जन्तुओं से भर जावेंगी ॥३७--३८॥

युगान्ते समनुप्राप्ते वृथा च ब्रह्मवादिनः ।
भोवादिनस्तथा शूद्रा ब्राह्मणाश्चर्य्यवादिनः ॥३९॥

इस युग की समाप्ति में अनेक मनुष्य, ब्रह्मवादी होने का पाखण्ड रचेंगे और शूद्र लोग असभ्यता के साथ भाषण करने वाले होंगे तथा ब्राह्मण अचम्भे में आने वाली गप्प उड़ाया करेंगे ॥३९॥

युगान्ते मनुजव्याघ्र भवन्ति बहुजन्तवः ।
न तथा घ्राणयुक्ताश्च सर्वगन्धा विशाम्पते ॥४०॥
रसाश्च मनुजव्याघ्र न तथा स्वादुयोगिनः ।
बहुप्रजा ह्रस्वदेहाः शीलाचारविवर्ज्जिता ॥४१॥

हे मनुज-श्रेष्ठ ! इस युग के अन्त में अनेक भांति के जन्तु उत्पन्न होंगे। सब प्रकार के गन्ध नासिका को उतना गन्ध नहीं दे सकेंगे। सारे मिष्ट आदि रस भी उतने स्वाद वाले नहीं होंगे। लोग सन्तान बहुत पैदा करेंगे, जिन के शरीर छोटे २ और शील सदाचार से शून्य होंगे ॥४०-४१॥

मुखेभगाः स्त्रियो राजन् भविष्यन्ति युगक्षये ।
अट्टशूला जनपदाः शिवशूलाश्चतुष्पथाः ॥४२॥

हे राजन्, इस कलि कालमें स्त्रियां अपने मुखसे भी भग का काम देंगी। देश में अन्न का व्यापार होने लगेगा और ब्राह्मण वेद के वेचने वाले होंगे अर्थात् मिथ्या धर्म व्यवस्था देंगे ॥४२॥

केशशूलाः स्त्रियो राजन् भविष्यन्ति युगक्षये।
अल्पक्षीरास्तथा गावो भविष्यन्ति जनाधिप ॥४३॥

हे राजन्! इस युग क्षय में स्त्रियां अपनी भगों को वेच २ कर विषयों में लिपट जावेंगी और गायें बहुत ही थोड़ा दूध देने लगेगी ॥४३॥

अल्पपुष्पफलाश्चापि पादपा बहुवायसाः।
ब्रह्मवध्यानुलिप्तानां तथा मिथ्याभिशंसिनाम् ॥४४॥
नृपाणां पृथिवीपाल प्रतिगृह्णन्ति वै द्विजाः।
लोभमोहपरीताश्च मिथ्याधर्मध्वजावृताः ॥४५॥
भिक्षार्थं पृथिवीपाल चञ्चूर्यन्ते द्विजैर्दिशः।
करभारभयाद्भीता गृहस्थाः परिमोषकाः ॥४६॥

हे मही-पाल! वृक्षों में पुष्प और फल बहुत ही कम उत्पन्न होंगे, उनमें उत्तम २ पक्षियों के स्थान में कौए रहा करेंगे। ब्राह्मणों के वध करने वाले मिथ्याचारी राजाओं से भी ब्राह्मण दान ग्रहण करेंगे। ब्राह्मण, लोभ मोह में फंस कर मिथ्या धर्म का ढोंग रचा करेंगे। हे राजन्! इस समय भिक्षा मांगने वाले ब्राह्मणों से दिशाएं भर कर क्लेशित हो जावेंगी। लोग राज्य के करों से इतने दब जावेंगे, कि उसके देने के लिए वे भी दूसरे के धन को छीना करेंगे ॥४४-४६॥

मुनिच्छद्माकृतिच्छन्ना वाणिज्यमुपजीविनः ।
मिथ्या च नखरोमाणि धारयन्ति तदा द्विजाः॥४७॥
अर्थलोभान्नरव्याघ्र तथा च ब्रह्मचारिणः।
आश्रमेषु वृथाचाराः पानपा गुरुतल्पगाः ॥४८॥

ब्राह्मण लोग, मिथ्या ही मुनि का सा वेष और आचार दिखावेंगे और व्यापार से जीविका करेंगे। ये द्विज, मिथ्या तप दिखाने को नख और बाल बढ़ावेंगे। हे नर-व्याघ्र, धन के लोभ से ब्रह्मचर्य का पाखण्ड रचेंगे। सारे ही आश्रमों में लोग मिथ्याचारी होंगे। ये मद्य-पान और गुरु की स्त्री तक के साथ सम्भोग करेंगे ॥४१-४८॥

ऐहलौकिकमीहन्ते मांसशोणितवर्द्धनम् ।
बहुपाषण्डसंकीर्णाः परान्नगुणवादिनः॥४९॥

लोगों को इस लोक के सुख बढ़ाने की ही इच्छा रह जावेगी और मांस तथा रक्त का प्रचार बढ़ जावेगा। ये लोग, अनेक पाखण्ड से भर कर दूसरे के अन्न के गुणों को कहने लगेंगे अर्थात् परान्न भोजन या अपहरण से ही तृप्ति मानेंगे ॥४९॥

आश्रमा मनुजव्याघ्र भविष्यन्ति युगक्षये ।
यथर्त्तुवर्षी भगवान्न तथा पाकशासनः ॥५०॥

हे मनुज-व्याघ्र, युग के क्षय में आश्रमों की यह दशा होगी। ऋतु के ऊपर भगवान् इन्द्र भी वर्षा नहीं करेंगे ॥५०॥

न चापि सर्वबीजानि सम्यग्रोहन्ति भारत ।
हिंसाभिरामश्च जनस्तथा सम्पद्यतेऽशुचिः॥५१॥

अधर्मफलमत्यर्थं तदा भवति चानघ ।
तदा च पृथिवीपाल यो भवेद्धर्मसंयुतः ॥५२॥
अल्पायुः स हि मन्तव्यो न हि धर्मोऽस्ति कश्चन ।
भूयिष्ठं कूटमानैश्च पण्यं विक्रीणते जनाः ॥५३॥

हे भारत, इस कलि काल में सारे बीज अच्छी तरह अंकुर ही नहीं देंगे। लोगों की हिंसा में रुचि बढ़ जावेगी और सारे अपवित्र आचार के होने लगेंगे। हे अनघ, इस काल में अधर्म का फल भी अच्छा सा दिखाई पड़ता है, अर्थात् अधर्मी लोग ही सुख पाते हैं। इस समय जो मनुष्य धर्म से युक्त होता हैं, वह दुःखी या थोड़ी आयु वाला होता है। अनेक प्रकार का झूंठ बोल कर और झूंठा तोलकर लोग वस्तुओं को बेचेंगे ॥ ५१--५२ ॥

वणिजश्च नरव्याघ्र बहुमाया भवन्त्युत ।
धर्मिष्ठाः परिहीयन्ते पापीयान् वर्द्धते जनः ॥५४॥
धर्मस्य बलहानिः स्यादधर्मश्च बली तथा ।
अल्पायुषो दरिद्राश्च धर्मिष्ठा मानवास्तथा ॥५५॥

हे नरव्याघ्र ! व्यापारी बड़े ही मायावी हो जावेंगे, धर्मात्माओं का पतन दिखाई पड़ेगा और पापी मनुष्य, बहुत ही बढ़ जावेंगे। धर्म के बल की हानि और अधर्म के बल की वृद्धि होगी। धार्मिक लोग थोड़ी आयु वाले और दरिद्री होंगे ५४-५५

दीर्घायुषः समृद्धाश्च विधर्माणो युगक्षये ।
नगराणां विहारेषु विधर्माणो युगक्षये ॥५६॥

अधर्मिष्ठैरुपायैश्च प्रजा व्यवहरन्त्युत ।
सञ्चयेन तथाल्पेन भवन्त्याढ्यमदान्विताः ॥५७॥

इस युग के क्षय में विधर्मी लोग, दीर्घ-आयु के धारी और समृद्धशाली होंगे। इस काल में नगर के धार्मिक स्थानों में भी नास्तिकों का ही अधिकार होगा। और अधार्मिक उपायों से ही प्रजा के साथ व्यवहार करेंगे तथा थोड़े से धन के इकट्ठा होते ही बड़े ही मदोन्मत्त हो जावेंगे ॥ ५६--५७ ॥

धनं विश्वासतो न्यस्तं मिथो भूयिष्ठशो नराः ।
हर्त्तुं व्यवसिता राजन् पापाचारसमन्विताः ॥५८॥
नैतदस्तीति मनुजा वर्त्तन्ते निरपत्रपाः ।

हे राजन्! आपस में घनिष्ठ प्रेम रखने वाले मनुष्य, विश्वास में आकर धरोहर रख देंगे, परन्तु ये पापी मनुष्य, उसके भी अपहरण करने का प्रयत्न करेंगे और हमारे यहाँ तुम्हारा कुछ नहीं है—यह कहकर निर्लज्ज निःशङ्क घूमते रहेंगे ॥ ५८ ॥

पुरुषादीनि सत्वानि पक्षिणोऽथ मृगास्तथा ॥५९॥
नगराणां विहारेषु चैत्येष्वपि च शेरते ।

पुरुषों के खा जाने वाले व्याघ्र आदि जन्तु, मृग तथा पक्षी, नगरों के विहार और चैत्य (मठ) स्थानों में सोते रहा करेंगे ५९

सप्तवर्षाष्टवर्षा च स्त्रियो गर्भधरा नृप ॥६०॥
दशद्वादशवर्षाणां पुंसां पुत्रः प्रजायते ।
भवन्ति षोडशे वर्षे नराः पलितिनस्तथा ॥६१॥

आयुःक्षयो मनुष्याणां क्षिप्रमेव प्रपद्यते ।
क्षीणायुषो महाराज तरुणा वृद्धशीलिनः ॥६२॥
तरुणानाञ्च यच्छीलं तद्वृद्धेषु प्रजायते ।

हे नृप ! इस समय में सात या आठ वर्ष की स्त्रियाँ ही गर्भ धारण के कर्म करेंगी और दश-वारह वर्ष के पुरुषों के पुत्र उत्पन्न हो जावेंगे। सोलह वर्ष के पुरुषों के वाल सफेद होंगे और मनुष्यों की आयु का क्षय वहुत शीघ्र होगा। हे महाराज, क्षीण आयु वाले तरुण पुरुषों की वृद्धों की सी चेष्टा हो जावेगी। जो युवा पुरुषों की कामादि में प्रवृत्ति होनी चाहिए—वह वृद्धों की दिखाई देगी ॥ ६०--६२ ॥

विपरीतास्तदा नार्य्यो वञ्चयित्वाहतः पतीन् ॥६३॥
व्युच्चरन्त्यपि दुःशीला दासैः पशुभिरेव च ।

हे राजन्, नारियों के सारे आचरण उलटे होंगे। वे दुष्टा अपने सुयोग्य पतियों को भी छोड़ कर, दास या पशुओंके साथ व्यभिचार करेंगी ॥६३॥

वीरपत्न्यस्तथा नार्य्यः संश्रयन्ति नरान्नृप ॥६४॥
भर्त्तारमपि जीवन्तमन्यान् व्यभिचरन्त्युत ।

हे राजन् ! सम्भोग शक्ति रखने वाले वीर पुरुषों की भी स्त्रियां, पर पुरुषों से सम्भोग करेगी। ये अपने भर्ता के जीवित रहने पर भी अन्यों से व्यभिचार करने में लज्जित नहीं होंगी।६४

तस्मिन् युगसहस्रान्ते सम्प्राप्ते चायुषः क्षये ॥६५॥
अनावृष्टिर्महाराज जायते बहुवार्षिकी ।
ततस्तान्यल्पसाराणि सत्वानि क्षुधितानि वै ॥६६॥

हे महाराज, इस सहस्र युगी के अन्त में आयु के क्षय होने पर बहुत वर्षों तक अनावृष्टि रहेगी। इससे प्राणियों में बहुत थोड़ी शक्ति हो जावेगी और वे भूखे मरेंगे ॥६५-६६॥

प्रलयं यान्ति भूयिष्ठं पृथिव्यां पृथिवीपते ।
ततो दिनकरैर्दीप्तैः सप्तभिर्मनुजाधिप ॥६७॥
पीयते सलिलं सर्वं समुद्रेषु सरित्सु च ।

हे पृथिवी-पते, इस काल में पृथिवी के बहुत भाग का प्रलय हो जावेगा। सात सूर्य अपने तेज से चमकेंगे, जो समुद्र और नदियों के सारे जल को सुखा डालेंगे ॥६७॥

यच्च काष्ठं तृणञ्चापि शुष्कमार्द्रञ्च भारत ॥६८॥
सर्वं तद्भस्मसाद्भूतं दृश्यते भरतर्षभ ।

हे भरतर्षभ, जो काष्ठ या तृण सूखा या हरा है, वह सब भस्म होकर दिखाई देगा ॥६८॥

ततः सम्वर्त्तको वह्निर्वायुना सह भारत ॥६९॥
लोकमाविशते पूर्वमादित्यैरुपशोषितम् ।
ततः स पृथिवीं भित्वा प्रविश्य च रसातलम् ॥७०॥
देवदानवयक्षाणां भयं जनयते महत् ।
निर्दहन्नागलोकञ्च यच्च किञ्चित् क्षिताविह ॥७१॥

अधस्तात् पृथिवीपाल सर्वं नाशयते क्षणात् ।
ततो योजनविंशानां सहस्राणि शतानि च ॥७२॥
निर्दहत्यशिवो वायुः स च सम्वर्त्तकोऽनलः ।

हे भारत , इसके बाद सम्वर्तक अग्नि, वायु के साथ, सूर्यों से उपशोषित, लोक में बड़े जोर से चलेगा-फिर यह पृथिवी को फाड़ कर रसातल में घुस जावेगा, जिससे सारे देव दानव और यक्षों को भारी भय खड़ा होगा । हे राजन् , यह वायु, जो कुछ पृथिवी पर होगा-उस को जला कर नाग लोक को जलाता हुआ, पाताल में भी सबको क्षण भर में नष्ट कर देगा । यह सम्वर्तक अग्नि और भीषण वायु, वीस लाख योजन तक को जलाकर खाक कर डालेंगे ॥६९-७२॥

स देवासुरगन्धर्वं सयक्षोरगराक्षसम् ॥७३॥
ततो दहति दीप्तः स सर्वमेव जगद्विभुः ।

यह प्रदीप्त, अग्नि, देव, असुर, गन्धर्व, यक्ष, उरग और राक्षसों सहित सारे जगत् को जलावेगा ॥७३॥

ततो गजकुलप्रख्यास्तडिन्मालाविभूषिताः ॥७४॥
उत्तिष्ठन्ति महामेघा नभस्यद्भुतदर्शनाः ।
केचिन्नीलोत्पलश्यामाः केचित् कुमुदसन्निभाः॥७५॥
केचित् किञ्जल्कसङ्काशाः केचित्पीताः पयोधराः ।
केचिद्धरिद्रासङ्काशाः काकाण्डकनिभास्तथा॥ ७६॥
केचित्कमलपत्राभाः केचिद्धिङ्गुलसमप्रभाः ।
केचित् पुरवराकाराः केचिद्गजकुलोपमाः ॥७७॥

केचिदञ्जनसङ्काशाः केचिन्मकरसन्निभाः ।
विद्युन्मालापिनद्धाङ्गाः समु तिष्ठन्ति वै घनाः॥७८॥

इसके बाद हाथियों के यूथ के सदृश, बिजली की माला से विभूषित, अद्भुत-आकार-धारी महामेघ, आकाश में छा जावेंगे। इनमें कुछ मेघ तो नीले कमल के समान, कुछ कुमद के रंग के तुल्य, कुछ पुष्पों के केसरों के सदृश और कुछ पीले, कुछ हल्दी के समान अधिक पीत वर्ण वाले, कुछ काक के अण्डों के सदृश भूरे, कुछ कमल के पत्तों के आकार धारी, कुछ हिंगुल के समान लाल, कोई बड़े २ शहरों के समान विशाल और कुछ हाथियों के झुण्ड के तुल्य फैले हुए एवं कुछ अञ्जन के सदृश काले और कुछ मकर के समान कहीं २ भूरे और बिजली की माला पहने हुए होंगे ॥७४-७८॥

घोररूपा महाराज घोरस्वननिनादिताः ।
ततो जलधराः सर्वे व्याप्नुवन्ति नभस्तलम्॥७९॥
तैरियं पृथिवी सर्वा सपर्वतवनाकरा ।
आपूर्य्यते महाराज सलिलौघपरिप्लुता ॥८०॥

हे महाराज, इन भीषण रूप धारी, भयानक शब्द करने वाले मेघों से सारा नभस्तल भर जावेगा। सारे पर्वत और वन के समूहों से भरी हुई पृथिवी, जल के प्रवाह से भर जावेगी ॥७९-८०॥

ततस्ते जलदा घोरा राविणः पुरुषर्षभ ।
सर्वतः प्लावयन्त्याशु चोदिताः परमेष्ठिना ॥८१॥

वर्षमाणा महत्तोयं पूरयन्तो वसुन्धराम् ।
सुघोरमशिवं रौद्रं नाशयन्ति च पावकम् ।।८२।।

हे पुरुषर्षभ,परमात्माकी प्रेरणासे प्रेरित, महाघोर शब्द करने वाले मेघ, सारे जगत् को सब ओर से डुबा देंगे। ये बहुत से जल को वर्षा कर सारी भूमि को भर देंगे और अकल्याण कारी, घोर भयानक,आग को भी नष्ट कर देंगे ।।८१-८२।।

ततो द्वादशवर्षाणि पयोदास्त उपप्लवे ।
धाराभिः पूरयन्तो वै चोद्यमाना महात्मना।।८३।।
ततः समुद्रः स्वां वेलामतिक्रामति भारत ।
पर्वताश्च विदीर्य्यन्ते मही चाप्सु निमज्जति ।।८४।।

परमात्मा की प्रेरणा से ये मेघ, बारह वर्ष तक इस उपद्रव में लगे रहेंगे और अपनी धाराओं से जगत् को भर देंगे। हे भारत, अब समुद्र अपनी मर्यादा को छोड़ देंगे । पर्वत, फट जावेंगे और पृथ्वी पानी में डूब जावेगी ।।८३--८४।।

सर्वतः सहसा भ्रान्तास्ते पयोदा नभस्तलम् ।
संवेष्टयित्वा नश्यन्ति वायुवेगपराहताः।।८५।।

ये बादल, आकाश में सब ओर घूम कर वायु के वेग से एक-दूसरे से टकरा कर एक दम विलीन हो जावेंगे ।।८५।।

ततस्तं मारुतं घोरं स्वयम्भूर्मनुजाधिप ।
आदिः पद्मालयो देवः पीत्वा स्वपिति भारत।।८६।।
तस्मिन्नेकार्णवे घोरे नष्टे स्थावरजङ्गमे ।
नष्टे देवासुरगणे यक्षराक्षसवर्जिते ।।८७।।

निर्मनुष्ये महीपाल निःश्वापदमहीरुहे ।
अनन्तरिक्षे लोकेस्मिन् भ्रमाम्येकोऽहमाहतः ॥८८॥

हे मनुजाधिप, इसके वाद इस घोर वायु को सबका आदि-कारण, कमल-निवासी, ब्रह्मदेव, पीकर सो जावेगा। इन देव असुर, यक्ष, राक्षस, मनुष्य, वनैले जीव-जन्तु, पर्वतों से रहित, स्थावर, जंगम रूप जगत् के और पञ्च भूतों तक के नष्ट हो जाने पर मैं (मार्कण्डेय) ही अकेला इस घोर समुद्र में घूमता हूं ॥८६--८८॥

एकार्णवजले घोरे विचरन् पार्थिवोत्तम ।
अपश्यन् सर्वभूतानि वैक्लव्यमगमं ततः॥८६॥

हे राज-श्रेष्ठ ! इस जलमय समुद्र-रूप घोर संसार में अकेले विचरते हुए मैंने प्राणियों का प्रभाव देखा है। जिसको देख कर मैं बड़ा ही व्याकुल सा हो गया ॥८६॥

ततः सुदीर्घं गत्वाहं प्लवमानो नराधिप ।
श्रान्तः क्वचिन्न शरणं लभाम्यहमतन्द्रितः ॥६०॥

हे नराधिप, जल में तैरते हुए, मैं, बहुत दूर निकल गया, परन्तु मुझे कोई शान्ति देने वाला नहीं मिला। मैं वहुत थक चुका था और वड़ी सावधानी से तैर रहा था ॥६०॥

ततः कदाचित् पश्यामि तस्मिन् सलिलसञ्चये ।
न्यग्रोधं सुमहान्तं वै विशालं पृथिवीपते ॥६१॥

हे पृथ्वीपते, फिर कुछ दिन के वाद मैंने उस समुद्र में एक बहुत विशाल बड़ का वृक्ष देखा ॥६१॥

शाखायां तस्य वृक्षस्य विस्तीर्णायां नराधिप ।
पर्य्यङ्के पृथिवीपाल दिव्यास्तरणसंस्तृते ॥६२॥
उपविष्टं महाराज पद्मेन्दुसदृशाननम् ।
फुल्लपद्मविशालाक्षं बालं पश्यामि भारत ॥६३॥

हे पृथ्वी और मनुष्यों के पालक, भरत-वंश-श्रेष्ठ ! महाराज, उस वृक्ष की विस्तीर्ण शाखा में मैंने दिव्य विस्तरों से युक्त, पलंग के सदृश पत्ते पर बैठे हुए, कमल और चन्द्र के तुल्य मुख वाले, खिले हुए कमल के सदृश नेत्रधारी, एक अनुपम, दिव्य, बालक को देखा ॥६२--६३॥

ततो मे पृथिवीपाल विस्मयः सुमहान्भूत् ।
कथन्त्वयं शिशुः शेते लोके नाशमुपागते ॥६४॥
तपसा चिन्तयंश्चापि तं शिशुं नोपलक्षये ।
भूतं भव्यं भविष्यञ्च जानन्नपि नराधिप ॥६५॥

हे महीपाल, इसको देख कर मुझे बड़ा ही अचम्भा हुआ कि सारे ब्रह्माण्ड के नष्ट होने पर भी यह बालक यहां कैसे सो रहा है। हे नराधिप, मैं भूत-भविष्यत् और वर्तमान का जानने वाला था, मैंने तप के बल से इस बालक को भी जानना चाहा, परन्तु जान नहीं सका ॥६४--६५॥

अतसीपुष्पवर्णाभः श्रीवत्सकृतभूषणः ।
साक्षाल्लक्ष्म्या इवावासः स तदा प्रतिभाति मे॥६६॥

यह बालक अतसी के पुष्प के समान नील-वर्ण-धारी और श्रीवत्स नामक चिन्ह से विभूषित था। इस समय तो यह मुझे साक्षात् लक्ष्मी का निवास सा प्रतीत हुआ ॥९६॥

ततो मामब्रवीद्बालः स पद्मनिभलोचनः।
श्रीवत्सधारी द्युतिमान् वाक्यं श्रुतिसुखावहम् ॥९७॥

कमल के सदृश लोचन वाले, श्रीवत्स के चिन्ह से अलंकृत, कान्तिमान्, इस बालक ने कर्णों को सुख देने वाला वाक्य, मुझ से कहा ॥९७॥

जानामि त्वां परिश्रान्तं तात विश्रामकांक्षिणम्।
मार्कण्डेय इहास्स्व त्वं यावदिच्छसि भार्गव ॥९८॥

हे भार्गव, मार्कण्डेय, मैं यह जानता हूं कि तू थक चुका है और विश्राम करना चाहता है। हे तात, तुम जितनी देर चाहो—यहां बैठ जाओ ॥९८॥

अभ्यन्तरशरीरं मे प्रविश्य मुनिसत्तम।
आस्स्व भो विहितो वासः प्रसादस्ते कृतो मया ॥९९॥

हे मुनिसत्तम, तुम मेरे शरीर के भीतर घुस कर भी बैठ सकते हो। हे मार्कण्डेय, मैंने तुम पर कृपा की है, इससे तुम्हारा यह निवास निश्चित किया है ॥९९॥

ततो बालेन तेनैवमुक्तस्यासीत्तदा मम।
निर्वेदो जीविते दीर्घे मनुष्यत्वे च भारत ॥१००॥
ततो बालेन तेनास्यं सहसा विवृतं कृतम्।
तस्याहमवशो वक्त्रे दैवयोगात् प्रवेशितः ॥१०१॥

हे भारत, वालक ने मुझे इतना ही कहा—मैं भी इस लम्बे जीवन से तंग आ गया था और मुझे अपने मनुष्यपन पर वैराग्य हो रहा था। अव इस वालक ने अपना मुंह खोला। मैं दैव की प्रेरणा से इस वालकके मुखमें जवर्दस्ती घुस गया॥१०१॥

ततः प्रविष्टस्तत्कुक्षिं सहसा मनुजाधिप ।
सराष्ट्रनगराकीर्णां कृत्स्नां पश्यामि मेदिनीम् ॥१०२

हे मनुजाधिप, अव मैं अचानक उसकी कुक्षि (वगल) में घुस गया, तो वहां मैंने राष्ट्र और नगरों से व्याप्त सारी भूमि देखी ॥१०२॥

गङ्गां शतद्रुं सीताञ्च यमुनामथ कौशिकीम् ।
चर्मण्वतीं वेत्रवतीं चन्द्रभागां सरस्वतीम् ॥१०३॥
सिन्धुञ्चैव विपाशाञ्च नदीं गोदावरीमपि ।
वस्वोकसारां नलिनीं नर्मदाञ्चैव भारत ॥१०४॥
नदीं ताम्राञ्च वेणाञ्च पुण्यतोयां शुभावहाम् ।
सुवेणां कृष्णवेणाञ्च इरामाञ्च महानदीम् ॥१०५॥
वितस्ताञ्च महाराज कावेरीञ्च महानदीम् ।
शोणञ्च पुरुषव्याघ्र विशल्यां किम्पुनामपि ॥१०६
एताश्चान्याश्च नद्योऽहं पृथिव्यां या नरोत्तम ।
परिक्रामन् प्रपश्यामि तस्य कुक्षौ महात्मनः ॥१०७॥

हे भरत-वंश और पुरुषों में श्रेष्ठ महाराज, उस कुक्षि में चक्कर लगाते हुए, मैंने गङ्गा, शतद्रु (सतलज) सीता, यमुना, कौशिकी चर्मण्वती, वेत्रवती, चन्दभागा, सरस्वतीं, सिन्धु, विपाशा,

गोदावरी, वस्वोकसारा, नर्मदा, ताम्रा नदी,पवित्र जल वाली वेणा, कल्याण-कारिणी, सुवेणा, कृष्णा वेणा, महानदी इरामा, वितस्ता, महानदी कावेरी, शोण, विशल्या, किम्पुना आदि जितनी ये और अन्य नदियां हैं, वे सब वहां देखी ॥१०३-१०७॥

ततः समुद्रं पश्यामि यादोगणनिषेवितम् ।
रत्नाकरममित्रघ्न पयसोनिधिमुत्तमम् ॥१०८॥

हे अरि-विजयी, वहां मैंने जल जन्तुओं से भरे हुए, रत्नों की खान, जलनिधि, उत्तम, समुद्र को देखा ॥१०८॥

तत्र पश्यामि गगनं चन्द्रसूर्यविराजितम् ।
जाज्वल्यमानं तेजोभिः पावकार्कसमप्रभम् ॥१०९॥

वहीं पर मैं, अपने तेज से जाज्वल्यमान, अग्नि और सूर्य के सदृश चमकीला, चन्द्र और सूर्य से सुशोभित, आकाश को देखने लगा ॥१०९॥

पश्यामि च महीं राजन् काननैरुपशोभिताम् ।
यजन्ते हि तदा राजन् ब्राह्मणा बहुभिर्मखैः॥११०॥

हे राजन्,वहां वन, उपवनों से उपशोभित, पृथिवी,मेरी दृष्टिगोचर हुई, जिस पर ब्राह्मण, अनेक भांति के यज्ञों से यजन कर रहे थे ॥११०॥

क्षत्रियाश्च प्रवर्त्तन्ते सर्ववर्णानुरञ्जनैः ।
वैश्याः कृषिं यथान्यायं कारयन्ति नराधिप ॥१११॥
शुश्रूषायाञ्च निरता द्विजानां वृषलास्तदा ।

हे नराधिप, वहां क्षत्रिय लोग भी,सारे वर्णोंके पालन पोषण में प्रवृत्त हो रहे थे और वैश्य लोग न्यायानुसार खेती कराते थे । शूद्र, द्विजों की सेवा में लगे हुए थे ॥१११॥

ततः परिपतन् राजंस्तस्य कुक्षौ महात्मनः ॥११२॥
हिमवन्तञ्च पश्यामि हेमकूटञ्च पर्वतम्।
निषधञ्चापि पश्यामि श्वेतञ्च रजतान्वितम् ॥११३॥

हे राजन् , इसके बाद मैं फिर उसी महान् आत्मा की कुक्षि में घूमने लगा। वहां मैंने हिमालय हेम कूट, निषध, चान्दी से परिपूर्ण श्वेत गिरि को देखा ॥११२-११३॥

पश्यामि च महीपाल पर्वतं गन्धमादनम् ।
मन्दरं मनुजव्याघ्र नीलञ्चापि महागिरिम् ॥११४॥
पश्यामि च महाराज मेरुं कनकपर्वतम् ।
महेन्द्रञ्चैव पश्यामि विन्ध्यञ्च गिरिमुत्तमम् ॥११५
मलयञ्चैव पश्यामि पारिपात्रञ्च पर्वतम् ।
एते चान्ये च बहवो यावन्तः पृथिवीधराः ॥११६
तस्योदरे मया दृष्ट्वाः सर्वे रत्नविभूषिताः ।

हे मनुष्यों में श्रेष्ठ, महीपाल, इस बालक के उदर में गन्धमादन , मन्दराचल, महागिरि नील, सुवर्ण का बना हुआ मेरु, महेन्द्र, उत्तम पर्वत विन्ध्य, मलयाचल और पारि-पात्र आदि पर्वत तथा जो पृथिवी पर अन्य पर्वत हैं, वे सब देखे। यह पर्वत अनेक भांति के रत्नों से विभूषित थे।॥११५--११६॥

सिंहान् व्याघ्रान् वराहांश्च पश्यामि मनुजाधिप ११७
पृथिव्यां यानि चान्यानि सत्वानि जगतीपते ।
तानि सर्वाण्यहं तत्र पश्यन् पर्य्यचरं तदा ॥११८॥

हे पृथिवी-पते, मैंने वहां इधर उधर दिशाओं में घूमते हुए, सिंह, व्याघ्र, वराह आदि जितने वनैले पशु हैं, वे सब देखे।

कुक्षौ तस्य नरव्याघ्र प्रविष्टः सञ्चरन् दिशः।
शक्रादींश्चापि पश्यामि कृत्स्नान् देवगणानहम् ११९
साध्यान् रुद्रांस्तथादित्यान् गुह्यकान् पितरस्तथा।
सर्पान्नागान् सुपर्णांश्च वसूनप्यश्विनावपि ॥१२०॥
गन्धर्वाप्सरसो यक्षानृषींश्चैव महीपते।
दैत्यदानवसङ्घांश्च कालेयांश्च नराधिप ॥१२१॥
सिंहिकातनयांश्चापि ये चान्ये सुरशत्रवः।
यच्च किञ्चिन्मया लोके दृष्टं स्थावरजङ्गमम् ॥१२२
सर्वं पश्याम्यहं राजंस्तस्य कुक्षौ महात्मनः।
चरमाणः फलाहारः कृत्स्नं जगदिदं विभो ॥१२३॥
अन्तः शरीरे तस्याहं वर्षाणामधिकं शतम्।
न च पश्यामि तस्याहं देहस्यान्तं कदाचन ॥१२४॥

हे नरव्याघ्र, उस बालक की कांख में इन्द्रादि सारे देवगण साध्य, रुद्र, आदित्य, गुह्यक, पितर, सर्प, नाग, सुपर्ण, वसु, अश्विन, गन्धर्व, अप्सरा, यक्ष, ऋषि, दैत्य, दानव, कालेय तथा सिंहिका के अन्य सुर द्वेषी पुत्र देखे। हे राजन्! जो कुछ मैंने इस लोक में स्थावर जङ्गम पदार्थ देखे हैं, वे सब उस महात्मा की कुक्षि में विद्यमान थे। हे विशाम्पते। मैं फलाहारी होकर इस सारे जगत् में चक्कर लगाता रहा और इस बालक की

कुक्षि में दिखाई देने वाले, इस संसार में चक्कर लगाते, मुझे सौ से अधिक वर्ष बीत गए परन्तु, मैंने उस बालक की देह का अन्त नहीं पाया ॥११९—१२४॥

सततं धावमानश्च चिन्तयानो विशाम्पते।
आसादयानि नैवान्तं तस्य राजन्महात्मनः ॥१२५॥

हे राजन् ! मैं बड़े ध्यान से उस की देह में घूम रहा था, परन्तु मैंने उस महात्मा का अन्त नहीं देखा ॥१२५॥

ततस्तमेव शरणं गतोऽस्मि विधिवत्तदा ।
वरेण्यं वरदं देवं मनसा कर्मणैव च ॥१२६॥

हे विभो ! इसके अनन्तर मैं उसी वरदायी, सर्व-श्रेष्ठ, देव की विधि-पूर्वक मन और वाणी से शरण में पहुँचा ॥१२६॥

ततोऽहं सहसा राजन् वायुवेगेन निःसृतः ।
महात्मनो मुखात्तस्य विवृतात् पुरुषोत्तम ॥१२७॥

हे पुरुषोत्तम ! फिर उस महात्मा बालक ने अपना मुख खोला। उसके खुले हुए मुख से मैं वायु के वेग से बाहर आया ॥ १२७ ॥

ततस्तस्यैव शाखायां न्यग्रोधस्य विशाम्पते ।
आस्ते मनुजशार्दूल कृत्स्नमादाय वै जगत् ॥१२८॥

हे मनुज-शार्दूल ! वह बालक, उसी बड़ के वृक्ष की शाखा में सारे जगत् को अपनी कुक्षि में लेकर बैठा था ॥ १२८ ॥

तेनैव बालवेशेन श्रीवत्सकृतलक्षणम् ।
आसीनं तं नरव्याघ्र पश्याम्यमिततेजसम् ॥१२९।

हे नर-व्याघ्र ! यह महात्मा अब भी बालक के रूप में ही था इनके श्रीवत्स का चिह्न दिखाई देता था। मैं इन नरों में श्रेष्ठ, अत्यन्त तेजस्वी, बैठे हुए बालक की ओर देखने लगा ॥ १२६ ॥

ततो मामब्रवीद्बालः स प्रीतः प्रहसन्निव ।
श्रीवत्सधारी द्युतिमान् पीतवासा महाद्युतिः ॥१३०॥

इसके अनन्तर मुझ पर प्रसन्न हुए, श्रीवत्स-चिह्न के धारी, महा-कान्तिमान्, महात्मा, पीत-वस्त्र-धारी, उस बालक ने हंसते हुए कहा ॥१३०॥

अपीदानीं शरीरेऽस्मिन्मामके मुनिसत्तम ।
उषितस्त्वं परिश्रान्तो मार्कण्डेय ब्रवीमि ते ॥१३१॥

हे मुनि-श्रेष्ठ ! तुम अब मेरी देह के भीतर घुस चुके और थक गये हो । हे मार्कण्डेय ! इससे मैं तुमसे कहता हूँ ॥ १३१॥

मुहूर्त्तादथ मे दृष्टिः प्रादुर्भूता पुनर्नवा ।
यया निर्मुक्तमात्मानमपश्यं लब्धचेतसम् ॥१३२॥

हे राजन् ! थोड़ी ही देर में मुझे एक नई दृष्टि प्राप्त हुई। जिससे मैंने अपने को स्वतन्त्र और सचेत देखा ॥ १३२॥

तस्य ताम्रतलौ तात चरणौ सुप्रतिष्ठितौ ।
सुजातौ मृदुरक्ताभिरङ्गुलीभिर्विराजितौ ॥१३३॥

हे तात ! उस बालक के लाल हाथ और चरण, बड़े सुन्दर थे, जो कोमल और लाल अंगुलियों से बड़े ही मनोरम प्रतीत होते थे ॥ १३३ ॥

प्रयत्नेन मया मूर्द्ध्ना गृहीत्वा ह्यभिवन्दितौ।
दृष्ट्वापरिमितं तस्य प्रभावममितौजसः ॥१३४॥
विनयेनाञ्जलि कृत्वा प्रयत्नेनोपगम्य ह ।
दृष्टो मया स भूतात्मा देवः कमललोचनः ॥१३५॥

प्रयत्न करने पर मैं उन चरणों तक पहुँच सका। अब मैंने वे दोनों चरण पकड़ लिए। मैं, उस अत्यन्त तेजस्वी, बालक के बहुत अधिक प्रभाव को देखकर हाथ जोड़ने लगा। जब मैं बड़े प्रयत्न से उन चरणों तक पहुँच गया, तो मैंने सब प्राणियों के आत्मा, कमल-लोचन देव के दर्शन किए॥ १३४-१३५॥

तमहं प्राञ्जलिर्भूत्वा नमस्कृत्येदमब्रुवम् ।
ज्ञातुमिच्छामि देव त्वां मायाञ्चैतां तवोत्तमाम्१३६
आस्येनानुप्रविष्टोऽहं शरीरे भगवंस्तव ।
दृष्टवानखिलान् सर्वान् समस्तान् जठरे हि ते ॥१३७।
तव देव शरीरस्था देवदानवराक्षसाः ।
यक्षा गन्धर्वनागाश्च जगत् स्थावरजङ्गमम्॥१३८॥

हे राजन्! मैंने हाथ जोड़कर नमस्कार किया और कहा—हे देव! मैं तुम्हें और तुम्हारी सर्वोत्तम माया को जानना चाहता हूँ। हे भगवन्! मैं तुम्हारे शरीर में तुम्हारे मुख के मार्ग से घुस गया। वहाँ मैंने तुम्हारे उदर में समस्त देव, मनुष्य और पशु-पक्षी देखे। हे देव! तुम्हारे शरीर में देव, दानव, राक्षस, यक्ष, गन्धर्व, नाग एवं चराचर जगत् निविष्ट है ॥ १३६-१३८॥

त्वत् प्रसादाच्च मे देव स्मृतिर्न परिहीयते ।

द्रुतमन्तःशरीरे ते सततं परिवर्त्तिनः ॥१३९॥
निर्गतोऽहमकामस्तु इच्छया ते महाप्रभो ।
इच्छामि पुण्डरीकाक्ष ज्ञातुं त्वाहमनिन्दितम्॥१४०॥

हे देव ! आपके अनुग्रह से मेरी स्मृति भी नष्ट नहीं हुई है। मैंने तुम्हारे शरीर के भीतर शीघ्र २ अनेक चक्कर लगाए। हे महाप्रभो ! मेरी इच्छा न होने पर भी आपकी इच्छा के अनुसार मैं वाहर निकल आया। हे कमल-लोचन ! तुम सर्व-श्रेष्ठ को मैं जानना चाहता हूँ ॥ १३९-१४० ॥

इह भूत्वा शिशुः साक्षात् किं भवानवतिष्ठते ।
पीत्वा जगदिदं सर्वमेतदाख्यातुमर्हसि ॥१४१॥

हे भगवन् ! तुम यहाँ वालक वनकर और सारे जगत् को पीकर क्या कर रहे हो ? आप प्रथम मुझे यही वताइए ॥१४१॥

किमर्थञ्च जगत्सर्वं शरीरस्थं तवानघ ।
कियन्तञ्च त्वया कालमिह स्थेयमरिन्दम ॥१४२॥

हे सर्व-श्रेष्ठ ! तुमने इस सारे जगत् को अपने शरीर में क्यों प्रविष्ट कर रखा है और आप कितनी देर यहाँ और ठहरेंगे? ॥१४२॥

एतदिच्छामि देवेश श्रोतुं ब्राह्मणकाम्यया ।
त्वत्तः कमलपत्राक्ष विस्तरेण यथातथम् ॥१४३॥
महद्ध्येतदचिन्त्यञ्च यदहं पृष्टवान् प्रभो ।

हे देवेश्वर ! मैं यह ब्राह्मणों के महत्व के जानने के लिए तुम से यह सारी घटना सुनना चाहता हूँ। हे कमल के पत्र के

समान नेत्र-धारी, भगवन्, आप विस्तार के साथ कहिए। प्रभो, यह बहुत बड़ी बात है, जो हमारे तो विचार में भी नहीं आती है, इसीलिए मैंने तुम से यह पूछा है ॥ १४३ ॥

इत्युक्तः स मया श्रीमान् देवदेवोः महाद्युतिः ।
सान्त्वयन् मामिदं वाक्यमुवाच वदताम्वरः॥१४४॥

इति श्रीमहाभारत आरण्यपर्वणि मार्कण्डेयसमास्यापर्वणि मार्कण्डेयप्रश्ने अष्टाशीत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥१८८॥

मैंने यह देवों के देव, अत्यन्त कान्ति-धारी, ऐश्वर्यशील, परमात्मरूप उस बालक से कहा, तो वह वाग्मी, मुझे सान्त्वना सी देता हुआ कहने लगा ॥ १४४ ॥

इति श्रीमहाभारत वनपर्वान्तर्गत मार्कण्डेयसमास्यापर्व में मार्कण्डेय प्रश्न का एक सौ अट्ठासीवाँ अध्याय समाप्त हुआ।

* * *

एक सौ नवासीवां अध्याय

देव उवाच—

कामं देवापि मां विप्र न हि जानन्ति तत्वतः ।
त्वत्प्रीत्या तु प्रवक्ष्यामि यथेदं विसृजाम्यहम् ॥१॥

देव बोला—हे ब्रह्मर्षे! देवता भी मुझे अच्छी तरह नहीं जान पाते हैं। मेरी तुझ पर कृपा है, इससे मैं किस प्रकार इस जगत् को रचता हूँ, वह तुमको ठीक २ सुनाता हूँ ॥ १ ॥

पितृभक्तोऽसि विप्रर्षे माञ्चैव शरणङ्गतः।
ततो दृष्टोऽस्मि ते साक्षात् ब्रह्मचर्य्यञ्च ते महत् ॥२॥

हे विप्रर्षे! तुम पितरों के भक्त हो और मेरी शरण में आ गए हो, मैंने प्रत्यक्ष तुम्हारे इस महान् ब्रह्मचर्य को भी देखा है ॥२॥

अपां नारा इति पुरा संज्ञाकर्म कृतं मया।
तेन नारायणोऽप्युक्तो मम तत् त्वयनं सदा ॥३॥

मैंन जल की ही नारा संज्ञा पूर्व काल में की है। ये जल मेरे अयन (निवास-स्थान) है, इससे मुझे नारायण कहा जाता है।

अहं नारायणो नाम प्रभवो शाश्वतोऽव्ययः।
विधाता सर्वभूतानां स हर्त्ता च द्विजोत्तम ॥४॥

हे द्विजोत्तम! मैं, नारायण, स्वयम्भू, सनातन और एक रस रहने वाला ब्रह्म हूं। मैं सब का रचने वाला और मैं ही संहार कर्ता हूं ॥४॥

अहं विष्णुरहं ब्रह्मा शक्रश्चाहं सुराधिपः।
अहं वैश्रवणो राजा यमः प्रेताधिपस्तथा ॥५॥
अहं शिवश्च सोमश्च काश्यपोऽथ प्रजापतिः।
अहं धाता विधाता च यज्ञश्चाहं द्विजोत्तम ॥६॥

मैं ही विष्णु, ब्रह्मा, देवों का अधीश्वर इन्द्र, कुवेर, प्रेतपति यम, शिव, सोम, काश्यप, प्रजापति, धाता, विधाता और यज्ञ हूं ॥५-६॥

अग्निरास्यं क्षितिः पादौ चन्द्रादित्यौ च लोचने ।
द्यौर्मूर्द्धा खं दिशः श्रोत्रे तथापः स्वेदसम्भवाः ॥७॥
सदिशश्च नभः कायो वायुर्मनसि मे स्थितः ।
मया क्रतुशतैरिष्टं बहुभिः स्वाप्तदक्षिणैः ॥८॥
यजन्ते वेदविद्वांसो मां देवयजने स्थितम् ।
पृथिव्यां क्षत्रियेन्द्राश्च पार्थिवाः स्वर्गकांक्षिणः॥८॥
यजन्ते मां तथा वैश्याः स्वर्गलोकजिगीषवः ।

यह अग्नि, मेरा मुख, पृथिवी, चरण, चन्द्र और सूर्य नेत्र, द्युलोक मस्तक, आकाश और दिशाएं कान, जल, स्वेद (पसीना) दिशाओं सहित आकाश, देह, वायु, मन है। मैंने बड़ी दक्षिणा वाले यज्ञों से यजन किया है। वेद के विद्वान्, यज्ञ मण्डप में बैठ कर मेरी ही उपासना करते रहते हैं। पृथिवी पर जितने क्षत्रिय-श्रेष्ठ, स्वर्ग के चाहने वाले राजा हैं या स्वर्ग की इच्छा वाले वैश्य हैं, वे मेरा ही यजन करते हैं ॥७-६॥

चतुः समुद्रपर्य्यन्तां मेरुमन्दरभूषणाम् ॥१०॥
शेषो भूत्वाहमेवैतां धारयामि वसुन्धराम् ।
वाराहं रूपमास्थाय मयेयं जगती पुरा ॥११॥
मज्जमाना जले विप्र वीर्य्येणासीत् समुद्धृता ।

मेरु और मन्दराचल से विभूषित, चारों समुद्र पर्यन्त भूमि को मैं ही शेष रूप से धारण करता हूं। हे प्रिय ! मैंने ही वाराह-रूप धारण करके जल में निमग्न, इस भूमि का अपनी शक्ति से उद्धार किया है ॥१०-११॥

अग्निश्च वड़वावक्त्रो भूत्वाहं द्विजसत्तम ॥१२॥
पिबाम्यपः समाविद्धास्ताश्चैव विसृजाम्यहम् ।

मैं ही वड़वाग्नि को मुख बनाकर सब ओर फैले हुए जल को पीता हूं और मैं ही ो रच देता हूं ॥१२॥

ब्रह्म वक्त्रं भुजौ क्षत्रमूरू मे संस्थिता विशः ॥१३॥
पादौ शूद्रा भवन्तीमे विक्रमेण क्रमेण च ।

हे ब्रह्मन् ! ब्राह्मण मेरा मुख, क्षत्रिय, बाहु, वैश्य जंघा और शूद्र पाद हैं। ये सब मैंने अपनी शक्ति माया के विकास से रचे है ॥१३॥

ऋग्वेदः सामवेदश्च यजुर्वेदोऽप्यथर्वणः ॥१४॥
मत्तः प्रादुर्भवन्त्येते मामेव प्रविशन्ति च ।

ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्व वेद, मुझ से ही उत्पन्न होते हैं, और मुझ में ही लीन हो जाते हैं ॥१४॥

यतयः शान्तिपरमा यतात्मानो बुभुत्सवः ॥१५॥
कामक्रोधद्वेषमुक्ता निःसङ्गा वीतकल्मषाः ।
सत्वस्था निरहङ्कारा नित्यमध्यात्मकोविदाः॥१६॥
मामेव सततं विप्राश्चिन्तयन्त उपासते ।

शान्ति-शील, जितेन्द्रिय, ज्ञानी, काम,क्रोध और द्वेप से रहित विषय पराङ् मुख, पाप रहित, सत्व गुण के कर्म करने वाले, निरभिमानी, आत्म विद्या के विद्वान, मेधावी मुनि, मेरा ही ध्यान रौ उपासना करते रहते हैं ॥१५-१६॥

अहं सम्वर्त्तको वह्निरहं सम्वर्त्तकोऽनिलः ॥१७॥
अहं सम्वर्त्तकः सूर्य्यस्त्वहं सम्वर्त्तकोऽनलः।
तारारूपाणिदृश्यन्ते यान्येतानि नभस्तले ॥१८॥
मम वै रोमकूपाणि विद्धि त्वं द्विजसत्तम।

हे द्विज-सत्तम! मैं सम्वर्तक अग्नि और मैं ही सम्वर्तक वायु हूं। ये जो आकाश में तारे दिखाई दे रहे हैं, वे सब मेरे ही रोम कूप हैं, तुम यह समझ लो ॥१७-१८॥

रत्नाकराः समुद्राश्च सर्वे एव चतुर्दिशम् ॥१९॥
वसनं शयनञ्चैव निलयञ्चैव विद्धि मे।
मयैवसुविभक्तास्ते देवकार्य्यार्थसिद्धये ॥२०॥

सारे रत्नों की खान समुद्र और चारों दिशाएँ वस्त्र, शयन स्थान या निवास स्थान समझो। मैंने ही देवों के कार्य सम्पादन करने के लिए इनको पृथक् २ रचा है ॥१९-२०॥

कामक्रोधश्च हर्षश्च भय मोहं तथैव च
ममैव विद्धि रोमाणि सर्वाण्येतानि सत्तम ॥२१॥

हे ब्रह्मन्! काम, क्रोध, हर्ष, भय, मोह आदि सारी वस्तुओं को मेरे ही रोम जानो ॥२१॥

प्राप्नुवन्ति नरा विप्र यत् कृत्वा कर्म शोभनम्।
मद्विधानेन विहिता मम देहविहारिणः।
मयाभिभूतविज्ञाना विचेष्टन्ते न कामतः ॥२३॥

हे विप्र! मनुष्य, उत्तम कर्म करके जिन सत्य, दान, उग्र तप,

प्राणियों में अहिंसा, भाव को प्राप्त करते हैं, ये सब मेरे नियम से चल रहे हैं और मेरी देह में विहार करने वाले हैं। सारे प्राणी मेरी प्रेरणा से कार्य करते हैं, वे अपनी कामना या स्वतन्त्रता से कुछ नहीं कर सकते हैं ॥२२-२३॥

सम्यग्वेदमधीयाना यजन्ते विविधैर्मखैः।
शान्तात्मानो जितक्रोधाः प्राप्नुवन्ति द्विजातयः॥२४॥
प्राप्तुं न शक्यो यो विद्वन्नरैर्दुष्कृतकर्मभिः।
लोभाभिभूतैः कृपणैरनार्यैरकृतात्मभिः॥२५॥

अच्छी तरह वेद के जानने वाले ब्राह्मण, अनेक यज्ञों से मेरी उपासना करते हैं। ये शान्ति-शील, क्रोध-शून्य, द्विजाति ही मुझे प्राप्त कर सकते हैं। हे विद्वन्! दुष्कर्म करने वाले लोभाक्रान्त, कृपण, अनार्य, अज्ञानी मनुष्य, मेरे दिव्य धाम को नही पा सकते ॥२४-२५॥

तस्मान्महाफलं विद्धि नराणां भावितात्मनाम्।
सुदुष्प्रापं विमूढानां मार्गं योगैर्निषेवितम्॥२६॥

जिन मनुष्यों ने आत्म-ज्ञान, प्राप्त कर लिया है, उनको यह धाम बड़े फल का देने वाला है। अज्ञानी मनुष्यों को यह योगयुक्त मार्ग बड़ा ही दुष्प्राप्य है ॥२६॥

यदा यदा च धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम्॥२७॥

हे भारत! जब २ धर्म की हानि होती है और अधर्म बढ़ जाता है, तब मैं अपने आपको रचता हूं ॥२७॥

दैत्या हिंसानुरक्ताश्च अवध्याः सुरसत्तमैः ।
राक्षसाश्चापि लोकेऽस्मिन् यदोत्पत्स्यन्ति दारुणाः२८
तदाहं संप्रसूयामि गृहेषु शुभकर्मणाम् ।
प्रविष्टो मानुषं देहं सर्वं प्रशमयाम्यहम् ॥२९॥

जव हिंसा प्रेमी, दैत्यों की वृद्धि होती है और वे देवों से भी नहीं मारे जाते हैं, तथा इस लोक में दारुण, राक्षस उत्पन्न हो जाते हैं, तव मैं पुण्यात्माओं के घर पर मनुष्य देह धारण करके उत्पन्न होता हूं और उन सारे दुष्ट दैत्यों का नाश करता हूं ।

सृष्ट्वा देवमनुष्यांस्तु गन्धर्वोरगराक्षसान् ।
स्थावराणि च भूतानि संहराम्यात्ममायया ॥३०॥

हे ब्रह्मन् ! मैं प्रथम देव, मनुष्य, गन्धर्व, उरग, राक्षस और स्थावर भूतों की रचना करके फिर अपनी योग, माया से उन सवका संहार कर लेता हूँ ॥३०॥

कर्मकाले पुनर्देहमविचिन्त्यं सृजाम्यहम् ।
आविश्य मानुषं देहं मर्य्यादाबन्धकारणात् ॥३१॥

मैं सृष्टि रचना के कर्म करने के समय संसार की मर्यादा बाँधने को मनुष्य देह का अवलम्बन करके विचार में नहीं आने वाली देह की रचना करता हूँ ॥३१॥

श्वेतः कृतयुगे वर्णः पीतस्त्रेतायुगे मम ।
रक्तो द्वापरमासाद्य कृष्णः कलियुगे तथा ॥३२॥

सत्युग में मेरा श्वेत वर्ण, त्रेता में पीला, द्वापर युग को पाकर लाल और कलियुग में कृष्ण वर्ण हो जाता है ॥३२॥

त्रयो भागा ह्यधर्मस्य तस्मिन् काले भवन्ति च ।
अन्तकाले च संप्राप्ते कालो भूत्वातिदारुणः ॥३३॥

इस सहस्त्र युगी के अन्त काल में बड़ा दारुण समय हो जावेगा । इस काल में अधर्म के तीन चरण होंगे और धर्म के केवल एक ही चरण रह जावेगा ॥३३॥

त्रैलोक्यं नाशयाम्येकः कृत्स्नं स्थावरजङ्गमम् ।
अहं त्रिवर्त्मा विश्वात्मा सर्वलोकसुखावहः ॥३४॥
अभिभूः सर्वगोऽनन्तो हृषिकेश उरुक्रमः ।
कालचक्रं नयाम्येको ब्रह्मन्नहमरूपकम् ॥३५॥
शमनं सर्वभूतानां सर्वलोककृतोद्यमम् ।

हे ब्रह्मन् ! मैं अकेला ही सारे चराचर जगत् का नाश करता हूँ । मैं तीनों लोकों में व्याप्त, विश्व की आत्मा और सबका सुख देने वाला हूँ । मैं स्वयम्भू सर्व व्यापक, अनन्त, इन्द्रियों का पति और महा-शक्ति-शाली हूं । मैं ही इस आकार-हीन, काल चक्र को घुमाता हूं । यह काल-चक्र, सब प्राणियों का संहारक और सबके उद्योग का कारण है ॥३४-३५॥

एवं प्रणिहितः सम्यक् ममात्मा मुनिसत्तम ॥३६॥
सर्वभूतेषु विप्रेन्द्र न च मां वेत्ति कश्चन ।
सर्वलोके च मां भक्ताः पूजयन्ति च सर्वशः ॥३७॥

हे मुनि--सत्तम ! इस प्रकार मेरा आत्मा सब प्राणियों में विद्यमान है, परन्तु मुझे कोई जानता नहीं है । सारे लोकों में मेरे भक्त ही मेरी सब भाँति से पूजा करते रहते हैं ॥ ३६-३७ ॥

यच्च किञ्चित् त्वया प्राप्तं मयि क्लेशात्मकं द्विज ।
सुखोदयाय तत्सर्वं श्रेयसे च तवानघ ॥३८॥

हे पापरहित, ब्रह्मन्! मेरी कुक्षि में जो कुछ तुझे क्लेश हुआ, वह सब तुम्हारे सुख और कल्याण के लिए होगा ॥३८॥

यच्च किञ्चित् त्वया लोके दृष्टं स्थावरजङ्गमम् ।
विहितं सर्वथैवासौ ममात्मा भूतभावनः ॥३९॥

हे मुने! इस लोक में जो तूने स्थावर जङ्गम सृष्टि देखी है, वह भूतों के सुख देने वाले मेरे आत्मा का ही विकास है ॥३९॥

अर्द्धं मम शरीरस्य सर्वलोकपितामहः ।
अहं नारायणो नाम शङ्खचक्रगदाधरः ॥४०॥

समस्त लोकों का रचने वाला ब्रह्म, मेरा आधा शरीर है। शङ्ख-चक्र-गदा-धारी नारायण मैं ही हूँ ॥४०॥

यावद्युगानां विप्रर्षे सहस्रपरिवर्त्तनात् ।
तावत् स्वपिमि विश्वात्मा सर्वभूतानि मोहयन् ॥४१॥

हे विप्रर्षे,! जितनी युगों की सहस्रों सख्या व्यतीत होती है, उतने ही वर्ष, सब प्राणियों को मोहित करके मैं विश्वात्मा, जल में शयन सा करता हूँ ॥४१॥

एवं सर्वमहं कालमिहास्से मुनिसत्तम ।
अशिशुः शिशुरूपेण यावद्ब्रह्मा न बुध्यते ॥४२॥
मया च दत्तो विप्राग्र्य वरस्ते ब्रह्मरूपिणा ।
असकृत् परितुष्टेन विप्रर्षिगणपूजित ॥४३॥

हे मुनि-सत्तम, मैं अशिशु होकर भी शिशु रूप से इस जल में जब तक ब्रह्मा नहीं जागता है, तब तक स्थित रहता हूं हे ब्रह्मर्षे, मैंने वार २ प्रसन्न होकर ब्रह्म रूप से तुमको वरदान दिया है। क्योंकि तुम ब्रह्मर्षियों के समूह में आदर पा चुके हो ॥४२--४३॥

सर्वमेकार्णवं दृष्ट्वा नष्टस्थावरजङ्गमम् ।
विक्लवोऽसि मया ज्ञातस्ततस्ते दर्शितं जगत् ॥४४॥
अभ्यंतरं शरीरस्य प्रविष्टोऽसि यदा मम ।
दृष्ट्वा लोकं समस्तञ्च विस्मितो नाववुध्यसे ॥४५॥

स्थावर जङ्गम के नाश होने पर समुद्र मय सारे जगत् को देखकर जब तुम घबरा गए, तब मैंने यह जानकर ही तुमको सारा जगत् दिखाया। जब तुम मेरे उदर के भीतर प्रविष्ट हुए, तब तुम वहां सारे जगत् को देखकर अचम्भित हो गए और कुछ भी नहीं जान सके ॥४४-४५॥

ततोऽसि वक्त्राद्विप्रर्षे द्रुतं निःसारितो मया ।
आख्यातस्ते मया चात्मा दुर्ज्ञेयो हि सुरासुरैः ४६

हे विप्रर्षे, तब मने तुमको अपने मुख से शीघ्र बाहर निकाला और देव तथा असुरों से नहीं जानने योग्य आत्मा का स्वरूप तुमको वता दिया ॥४६॥

यावत्स भगवान् ब्रह्मा न बुध्येत महातपाः ।
तावत्त्वमिह विप्रर्षे विश्रब्धश्चर वै सुखम् ॥४७॥

हे विप्रर्षे! जव तक महा-तपस्वी, भगवान् ब्रह्मा, चेत में नहीं आते हैं, तब तक तुम निःशङ्क होकर सुख से इस जल में विहार करते रहो ॥४७॥

ततो विबुद्धे तस्मिंस्तु सर्वलोकपितामहे ।
एकीभूतो हि स्रक्ष्यामि शरीराणि द्विजोत्तम ॥४८॥
आकाशं पृथिवी ज्योतिर्वायुः सलिलमेव च ।
लोके यच्च भवेच्छेषमिह स्थावरजङ्गमम् ॥४९॥

हे द्विजोत्तम, सब लोकके पितामह ब्रह्मा के जाग उठने पर मैं, उसके साथ एक रूप प्राप्त करके सारे शरीरों आकाश, पृथिवी, ज्योतिः, वायु, जल आदि शेष स्थावर जङ्गम सृष्टि की रचना करूंगा ॥४८-४९॥

मार्कण्डेय उवाच—

इत्युक्त्वान्तर्हितस्तात स देवः परमाद्भुतः ।
प्रजाश्चेमाः प्रपश्यामि विचित्रा विविधाः कृताः॥५०॥

मार्कण्डेय ने कहा है--तात, वह अद्भुत आकार-धारी, देव, यह कहकर अलक्षित हो गया और मैं इस विचित्र, अनेक रूप धारी, प्रजा को देखने लगा ॥५०॥

एवं दृष्टं मया राजंस्तस्मिन् प्राप्ते युगक्षये ।
आश्चर्य्यं भरतश्रेष्ठ सर्वं धर्मभृताम्वर ॥५१॥

हे सब धर्मात्माओं में श्रेष्ठ, राजन् ! उस युग क्षयके प्राप्त होने पर, मैंने इस तरह की आश्चर्य जनक घटना देखी ॥५१॥

यः स देवो मया दृष्टः पुरा पद्मायतेक्षणः ।
स एष पुरुषव्याघ्रः सम्बन्धी ते जनार्दनः ॥५२॥

हे राजन्! मैंने जो कमलके समान विशाल नेत्र वाला देवता, सृष्टि के आदि में देखा था, ये वही तेरे सम्बन्धी, पुरुषोत्तम भगवान् श्रीकृष्ण हैं ॥५२॥

अस्यैव वरदानाद्धि स्मृतिर्न प्रजहाति माम् ।
दीर्घमायुश्च कौन्तेय स्वच्छन्दमरणं मम ॥५३॥

हे कौन्तेय! इसी के वरदान से मेरी स्मृति ने मुझे नहीं छोड़ा है और मैं इनके ही अनुग्रह से दीर्घायु और अपनी इच्छा के अनुसार मरने वाला हो सका है ॥५३॥

स एष कृष्णो वार्ष्णेयः पुराणः पुरुषो विभुः ।
आस्ते हरिरचिन्त्यात्मा क्रीडन्निव महाभुजः ॥५४॥

यह शक्ति-शाली, वृष्णि कुलोद्भव, सनातन पुरुष, श्रीकृष्ण ही हैं। ये ही अचिन्त्य स्वरूप वाले, महाभुज, भगवान् श्रीकृष्ण, क्रीड़ा सी करते रहते हैं ॥५४॥

एष धाता विधाता च संहर्त्ता चैव शाश्वतः ।
श्रीवत्सवक्षा गोविन्दः प्रजापतिपद्धिः प्रभुः ॥५५॥

ये ही सदा से सृष्टि के रचने पालने और संहार करने वाले हैं। इनकी छाती में श्रीवत्स का चिन्ह है। ये इन्द्रियों के स्वामी, प्रजापतियों के भी पति और प्रभु हैं ॥५५॥

दृष्ट्वेमं वृष्णिप्रवरं स्मृतिर्मामिवमागता ।
आदिदेवमजं विष्णुं पुरुषं पीतवाससम् ॥५६॥

इन वृष्णि-वंश-श्रेष्ठ आदि देव, अज, विष्णु, पीताम्बर-धारी पुरूषोत्तम श्रीकृष्ण को देख कर मुझे वह स्मृति उठ आई है ॥५६॥

सर्वेषामेव भूतानां पिता माता च माधवः ।
गच्छध्वमेनं शरणं शरण्यं कौरवर्षभाः ॥५७॥

ये श्रीकृष्ण, सारे प्राणियों के माता-पिता हैं। हे भरत-वंश-श्रेष्ठ, पाण्डवों! तुम इन शरणागत-वत्सल भगवान् कृष्ण की शरण में जाओ ॥५७॥

वैशम्पायन उवाच—

एवमुक्ताश्च ते पार्था यमौ च भरतर्षभौ ।
द्रौपद्या सहिताः सर्वे नमश्चक्रुर्जनार्दनम् ॥५८॥

वैशम्पायन बोले—हे राजन्! जब मार्कण्डेय ने इतना कहा—तो कुन्ती-पुत्र, भरत-वंश-श्रेष्ठ, नकुल सहदेव ने द्रौपदी के साथ श्रीकृष्ण को बड़ी नम्रता से प्रणाम किया ॥५८॥

स चैतान् पुरुषव्याघ्र साम्ना परमवल्गुना ।
सान्त्वयामास मानार्हो मन्यमानो यथाविधि ॥५९॥

इति श्रीमहाभारत आरण्यपर्वणि मार्कण्डेयसमास्यापर्वणि मार्कण्डेयनारायणसंवादेएकोननवत्यधिकशततमोऽध्यायः

हे पुरुष-व्याघ्र! मान के योग्य श्रीकृष्ण ने जैसे उचित समझा, बड़े सुन्दर शान्ति के वचनों से उन पाण्डवों को सान्त्वना दी ॥५९॥

इति श्रीमहाभारत वनपर्वान्तर्गत मार्कण्डेयसमस्यापर्व में मार्कण्डेय और नारायण के सम्वाद का एकसौ नवासीवां अध्याय सम्पूर्ण हुआ।

एक सौ नब्वेवां अध्याय

वैशम्पायन उवाच—

युधिष्ठिरस्तु कौन्तेयो मार्कण्डेयं महामुनिम् ।
पुनः पप्रच्छ साम्राज्ये भविष्यां जगतो गतिम् ॥१॥

वैशम्पायन कहने लगे—हे जनमेजय ! अब कुन्ती-पुत्र, युधिष्ठिर ने महामुनि मार्कण्डेय से जगत् और अपने राष्ट्र में भविष्य में होने वाली घटनाओं के विषय में पूछा ॥१॥

युधिष्ठिर उवाच—

आश्चर्य्यभूतं भवतः श्रुतं नो वदताम्वर ।
मुने भार्गव यद्वृत्तं युगादौ प्रभवात्ययम् ॥२॥

युधिष्ठिर ने कहा—हे वाग्मिन् ! मुने ! हमने आपके मुख से बड़ी आश्चर्य-कारक, युग को आदि में होने वाली सृष्टि और प्रलय की कथा सुनी ॥२॥

अस्मिन् कलियुगे त्वस्ति पुनः कौतूहलं मम ।
समाकुलेषु धर्मेषु किन्नु शेषं भविष्यति ॥३॥

हे ब्रह्मन्! इस कलियुग में धर्म के छिन्न-भिन्न हो जाने पर अब आगे क्या होने वाला है । इसके सुनने की मुझे बड़ी ही उत्कट इच्छा है ॥३॥

किंवीर्य्या मानवास्तत्र किमाहारविहारिणः ।
किमायुषः किंवसना भविष्यन्ति युगक्षये ॥४॥

इस युग-क्षण में मनुष्यों के कैसे पराक्रम और कैसे आहार विहार होंगे तथा कितनी आयु और कैसे वस्त्र होंगे ॥४॥

काश्च काष्ठां समासाद्य पुनः समपत्स्यते कृतम् ।
विस्तरेण मुने ब्रूहि विचित्राणीह भाषसे ॥५॥

इसके बाद कितनी अवधि हो जाने पर फिर सत्युग आवेगा। हे मुने ! तुम यह सब विस्तार के साथ कहो। आप बोलने का बड़ा ही विचित्र ढंग रखते हैं ॥५॥

इत्युक्तः स मुनिश्रेष्ठः पुनरेवाभ्यभाषत ।
रमयन् वृष्णिशार्दूलं पाण्डवांश्च महानृषिः ॥६॥

राजा युधिष्ठिर के इतना कहने पर मुनियों में श्रेष्ठ, महर्षि मार्कण्डेय, वृष्णिवंशोत्पन्न श्रीकृष्ण और पाण्डवों को प्रसन्न करता हुआ कहने लगा ॥६॥

मार्कण्डेय उवाच—

श्रृणु राजन्मया दृष्टं यत् पुरा श्रुतमेव च ।
अनुभूतश्च राजेन्द्र देवदेवप्रसादजम् ॥७॥
भविष्यं सर्वलोकस्य वृत्तान्तं भरतर्षभ ।
कलुं कालमासाद्य कथ्यमानं निबोध मे ॥८॥

हे राजेन्द्र! देवों के देव भगवान् की कृपा से जो देखा, सुना और अनुभव किया है---वह सब तुमको सुनाता हूं, तुम ध्यान से सुनो। हे भरतर्षभ ! बुरे काल को पाकर जो आगे सारे लोकों में होने वाला है, वह सारा वृत्तान्त तुम से कहता हूं, अच्छी तरह सुनो ॥८॥

कृते चतुष्पात् सकलो निर्व्याजोपाधिवर्जितः ।
वृषः प्रतिष्ठितो धर्मो मनुष्ये भरतर्षभ ॥९॥

अधर्मपादविद्धस्तु त्रिभिरंशैः प्रतिष्ठितः ।
त्रेतायां द्वापरेऽर्द्धेन व्यामिश्रो धर्म उच्यते ॥१०॥
त्रिभिरंशैरधर्मस्तु लोकानाक्रम्य तिष्ठति ।
तामसं युगमासाद्य तदा भरतसत्तम ॥११॥
चतुर्थांशेन धर्मस्तु मनुष्यानुपतिष्ठति ।

हे भरतवंशोत्पन्न, युधिष्ठिर ! सत्युग में सब अंग-उपाङ्गों सहित, छल कपट से रहित, धर्म, बैल, की भांति चारों पाद वाला होकर मनुष्यों में स्थित था, फिर त्रेता युग में अधर्म के एक चरण से युक्त होकर तीन अंशो से धर्म की स्थिति रही । द्वापर में धर्म के दो ही चरण रह गये । हे भरतसत्तम ! इस तामस युग कलिकाल को पाकर अधर्म तीन, पादों से लोकों में छा गया और धर्म चतुर्थ भाग से मनुष्यों में रह गया ॥६--११॥

आयुर्वीर्य्यमथो बुद्धिर्बलन्तेजश्च पाण्डव ॥१२॥
मनुष्याणामनुयुगं ह्रसतीति निबोध मे ।

हे पाण्डव ! प्रत्येक युग में मनुष्यों की आयु, पराक्रम, बुद्धि बल और तेज घटता ही चला जाता है, तुमको यह मुझ से समझ लेना चाहिए ॥ १२ ॥

राजानो ब्राह्मणा वैश्या शूद्राश्चैव युधिष्ठिर ॥१३॥
व्याजैर्धर्मश्चरिष्यन्ति धर्मवैतंसिका नराः ।

हे युधिष्ठिर! ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र ये सब ऊपर धर्म का आचरण करेंगे और धर्म का जाल बनाकर लोगों को फ़ाँसते रहेंगे ॥ १३ ॥

सत्यं संक्षेप्स्यते लोके नरैः पण्डितमानिभिः ॥१४॥
सत्यहान्या ततस्तेषामायुरल्पं भविष्यति ।
आयुषः प्रक्षयाद्विद्यां न शक्ष्यन्त्युपजीवितुम् ॥१५॥
विद्याहीनानविज्ञानाल्लोभोऽप्यभिभविष्यति ।
लोभक्रोधपरा मूढाः कामासक्ताश्च मानवाः ॥१६॥
वैरबद्धा भविष्यन्ति परस्परवधैषिणः ।
ब्राह्मणाःक्षत्रिया वैश्याः संकीर्य्यन्ते परस्परम् ॥१७॥
शूद्रतुल्या भविष्यन्ति तपःसत्यविवर्जिताः ।

अपने को पण्डित कहने वाले मनुष्य भी सत्य की अवहेलना करेंगे और सत्य की हानि से ही फिर उनकी आयु कम हो जावेगी। जब इनकी आयु ही हीन होजावेगी, तो ये विद्या का उपार्जन नहीं कर सकेंगे और विद्याहीन जनों को अज्ञान के कारण लोभ आकर दबा लेगा। लोभ और क्रोध के वश में हुए अज्ञानी मनुष्य, कामनाओं में फँस जावेंगे और इस से इनमें वैर बढ़कर ये एक दूसरे का वध करने लगेंगे। ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य वर्ण परस्पर सङ्कर होकर एक दूसरे से मिल जावेंगे। ये सारे वर्ण तप और सत्य को छोड़कर शूद्रों के तुल्य हो जावेंगे

अन्त्या मध्या भविष्यन्ति मध्याश्चान्त्या न संशयः॥
ईदृशो भविता लोको युगान्ते पर्य्युपस्थिते ।

अन्त वर्ण के लोग, मध्य (उत्तम) वर्ण के और मध्य (उत्तम) वर्ण वाले अन्त वर्ण के हो जावेंगे, इसमें सन्देह नहीं है। जब युग का अन्त उपस्थित होगा, तब लोगों की यह दशा अवश्य होगी॥ १८॥

वस्त्राणां प्रवरा शाणी धन्यानां कोरदूषकाः ॥१९॥
भार्य्यामित्राश्च पुरुषा भविष्यन्ति युगक्षये ।

वस्त्रों में सण आदि की बनी हुई साड़ी का पहनना ही उत्तम माना जावेगा। धान्यों में कोदों को अच्छा कहेंगे। इस युग क्षय में लोग अपनी ही सम्मति मानेंगे अर्थात् माता-पिता का अनादर करेंगे ॥ १९ ॥

मत्स्यामिषेन जीवन्तो दुहन्तश्चाप्यजैडकम् ॥२०॥
गोषु नष्टासु पुरुषा येऽपि नित्यं धृतव्रताः ।
तेऽपि लोभसमायुक्ता भविष्यन्ति युगक्षये ॥२१॥

जो बड़े २ व्रतों के धारण करने वाले हैं, वे भी इस युगक्षय में मछली का मांस खायेंगे और भेड़ बकरी का दूध पीवेंगे। गायें प्रायः नष्ट हो जावेंगी और महात्मा भी लोभ से युक्त हो जावेंगे ॥२०-२१॥

अन्योऽन्यं परिमुष्णन्तो हिंसयन्तश्च मानवाः ।
अजपा नास्तिकस्स्तेना भविष्यन्ति युगक्षये ॥२२॥

इस कलि काल में मनुष्य, एक दूसरे को धोखा देंगे तथा प्राण तक लेलेंगे। ये जप से हीन नास्तिक, कोरे ठग के समान होंगे ॥२२॥

सरित्तीरेषु कुद्दालैर्वापयिष्यन्ति चौषधीः ।
ताश्चाप्यल्पफलास्तेषां भविष्यन्ति युगक्षये ॥२३॥

इस समय लोग नदियों के तटों पर कुदालों से खोद २ कर ओषधी (अन्न) बो देंगे, परन्तु वहां भी वे फल बहुत ही कम देंगी ॥२३॥

श्राद्धे दैवेऽपि पुरुषा येऽपि नित्यं धृतव्रताः ।
तेऽपि लोभसमायुक्ता भोक्ष्यन्तीह परस्परम् ॥२४॥

जो पुरुष अपने को धर्माचारी कहते हैं, वे भी लोभ के वश में हुए देव कार्य और श्राद्ध में आपस में ही भोजन कर लेंगे ॥२४॥

पिता पुत्रस्य भोक्ता च पितुः पुत्रस्तथैव च ।
अतिक्रान्तानि भोज्यानि भविष्यन्ति युगक्षये ॥२५॥

पिता, पुत्र के धन और पुत्र पिता के धन का अपहरण करेंगे। इस युग के क्षय में लोग अभक्ष्य भक्षण में कोई शंका ही नहीं करेंगे ॥२५॥

न व्रतानि चरिष्यन्ति ब्राह्मणा वेदनिन्दकाः ।
न यक्ष्यन्ति न होष्यन्ति हेतुवादविमोहिताः ॥२६॥

ब्राह्मण वेद के निन्दक होकर किसी धर्म कार्य में संलग्न नहीं होंगे। ये यज्ञ, हवन कुछ भी न करके व्यर्थ कुतर्क करते रहेंगे ॥२६॥

निम्नेष्वीहां करिष्यन्ति हेतुवादविमोहिताः।
निम्ने कृषिं करिष्यन्ति योक्ष्यन्ति धुरि धेनुकाः॥२७॥
एकहायनवत्सांश्च योजयिष्यन्ति मानवाः ।

ये लोग, नीच कार्यों में अपनी प्रवृत्ति लगावेंगे और उसकी सिद्धि में हेतुवाद देते रहेंगे, नीच कार्यों में यहां तक होगा, कि लोग खेती करने में गायों तथा एक वर्ष के बछड़े तक को हल में जोड़ देंगे ॥२७॥

पुत्रः पितृवधं कृत्वा पिता पुत्रवधं तथा ॥२८॥
निरुद्वेगो बृहद्वादी न निन्दामुपलप्स्यते ।
म्लेच्छभूतं जगत् सर्वं निष्क्रियं यज्ञवर्जितम्॥ २९॥
भविष्यति निरानन्दमनुत्सवमथो तथा ।

स्वार्थ पड़ने पर पुत्र, पिता और पिता, पुत्र का वध करने में भी नहीं घबरावेंगे। ऐसे मनुष्य, निःशंक हो कर बड़ी-बड़ी डींग मारेंगे और लोक-निन्दा की कुछ भी परवाह नहीं करेंगे सारा जगत् धर्म क्रिया और यज्ञादि से हीन होकर म्लेच्छ हो जायगा और इस जगत् में कोई भी आनन्द तथा उत्सव का नाम भी नहीं रहेगा। ॥२८--२९॥

प्रायशः कृपणानां हि तथा बन्धुमतामपि ॥३०॥
विधवानाञ्च वित्तानि हरिष्यन्तीह मानवाः ।

लोग, प्रायः कृपण, भाई, बन्धु और विधवाओं को लोभ देकर उनका धन छीनने लगेंगे ॥३०॥

स्वल्पवीर्य्यबलास्तब्धा लोभमोहपरायणाः ॥३१॥
तत्कथादानसंतुष्टा दुष्टानामपि मानवाः ।
प्रतिग्रहं करिष्यन्ति मायाचारपरिग्रहाः ॥३२॥

लोग, स्वल्पशक्ति वाले, होकर लोभ मोह में लिप्त हो जावेंगे। ये सदा अकड़े रह कर दुष्टों की कथा करने और उनसे दान लेने में बड़ी प्रसन्नता मानेंगे। माया और कपट का आश्रय लेकर विद्वान्, दान लेंगे ॥३१--३२॥

समाह्वयन्तः कौन्तेय राजानः पापबुद्धयः ।
परस्परवधोद्युक्ता मूर्खाः पण्डितमानिनः ॥३३॥

हे कौन्तय ! पापबुद्धि, राजा लोग, मूर्ख होकर भी अपने को बुद्धिमान् समझेंगे और एक-दूसरे के वध में तत्पर होकर व्यर्थ युद्ध का निमन्त्रण देंगे ॥३३॥

भविष्यन्ति युगस्यान्ते क्षत्रिया लोककण्टकाः ।
अरक्षितारो लुब्धाश्च मानाहङ्कारदर्पिताः ॥३४॥
केवलं दण्डरुचयो भविष्यन्ति युगक्षये ।

इस कलिकाल में क्षत्रिय लोग, संसार का कांटा बन जावेंगे। ये प्रजा की कोई रक्षा न करके लोभ में फंसे हुए प्रजा, का धन छीनेंगे और अभिमान, अहङ्कार और घमण्ड में सदा चकनाचूर रहेंगे। इस युग के क्षय में राजाओं को केवल दण्ड देनें में ही प्रीति होगी ॥३४॥

आक्रम्याक्रम्य साधूनां दारांश्चापि धनानि च ॥३५॥
भोक्ष्यन्ते निरनुक्रोशा रुदतामपि भारत ।

हे भारत ! ये निर्दयी, राजा लोग, श्रेष्ठ पुरुषों पर आक्रमण करके, उनकी स्त्री और धन का निर्दयता के साथ भोग करेंगे। ये लोग, उनके रोनें चिल्लानें पर भी कोई दया नहीं दिखावेंगे ॥३५॥

न कन्यां याचते कश्चिन्नापि कन्या प्रदीयते॥३६॥
स्वयंग्राहा भविष्यन्ति युगान्ते समुपस्थिते ।

इस कलिकाल में न तो कोई योग्य कन्या की याचना करेंगे और न कोई कन्यादान करेगा। इस समय तो वर और कन्या अपना स्वयम्वर आप ही कर लेंगे ॥३६॥

राजानश्चाप्यसंतुष्टाः परार्थान् मूढ़चेतसः ॥३७॥
सर्वोपायैर्हरिष्यन्ति युगान्ते समुपस्थिते।

इस समय मूढ़बुद्धि, राजा लोग, सन्तोष का त्याग करके अन्य के धन के छीनने में सारे उपाय लगा देंगे और अन्त में उस धन को छीन कर ही छोड़ेंगे ॥३७॥

म्लेच्छीभूतं जगत् सर्वं भविष्यति न संशयः ॥३८॥
हस्तो हस्तं परिमुषेद्युगान्ते समुपस्थिते।

इस कलियुग के उपस्थित होने पर हाथ को हाथ खा जावेगा अर्थात् देखते-देखते लोग वस्तुओं का अपहरण करेंगे और सारा जगत् म्लेच्छ हो जावेगा---इसमें सन्देह नहीं है ॥३८॥

सत्यं संक्षिप्यते लोके नरैः पण्डितमानिभिः ॥३९॥
स्थविरा बालमतयो बालाः स्थविरबुद्धयः।
भीरुस्तथा शूरमानी शूरा भीरुविषादिनः ॥४०॥

अपने को पण्डित मानने वाले भी मनुष्य, सचाई का लोप करेंगे। वृद्धजन बच्चों की सी बातें करेंगे और बच्चे वृद्धों की सी डींग मारेंगे। डरपोक अपने को शूरवीर कहेंगे और सच्चे शूरवीर, डर से क्लेशित हुआ करेंगे ॥३९--४०॥

न विश्वसन्ति चान्योऽन्यं युगान्ते पर्य्युपस्थिते।
एकाहार्य्यं युगं सर्वं लोभमोहव्यवस्थितम् ॥४१॥

इस युग-क्षय के उपस्थित हो जाने पर कोई किसी का विश्वास नहीं करेगा। इस सारे युग में भक्ष्य और अभक्ष्य भक्षण का कुछ भी ध्यान नहीं होगा। सबकी प्रवृत्ति लोभ और मोह में हो जावेगी ॥४१॥

अधर्मो वर्द्धते तत्र न तु धर्मः प्रवर्त्तते ।
ब्राह्मणाः क्षत्रिया वैश्या न शिष्यन्ति जनाधिप॥४२॥
एकवर्णस्तदा लोको भविष्यति युगक्षये ।

हे नराधिप! इस समय अधर्म बढ़ जावेगा और धर्म की प्रवृत्ति नहीं रहेंगी। इस समय सच्चा ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य कोई नहीं मिलेगा। इस युग में सारे मनुष्य, एक वर्ण के हो जावेंगे ॥४२॥

न क्षंस्यति पिता पुत्रं पुत्रश्च पितरं तथा ॥४३॥
भार्य्याश्च पतिशुश्रूषां न करिष्यन्ति संक्षये ।

इस युग-क्षय में पिता, पुत्र के और पुत्र, पिता के अपराध को क्षमा नहीं करेंगे। भार्या अपने पति की सेवा नहीं करेंगी ॥४३॥

ये यवान्ना जनपदा गोधूमान्नास्तथैव च ॥४४॥
तान् देशान् संश्रयिष्यन्ति युगान्ते पर्य्युपस्थिते ।

जिस देश में जौ गेहूँ उत्पन्न होंगे, लोग वहीं जाकर रहना चाहेंगे, इस युग में धर्म अधर्म का कोई कुछ ध्यान नहीं रखेगा।

स्वैराचाराश्च पुरुषा योषितश्च विशाम्पते ॥४५॥
अन्योऽन्यं न सहिष्यन्ति युगान्ते पर्य्युपस्थिते ।

हे विशाम्पते ! इस कलियुग के आने पर पुरुष और स्त्रियां सब उच्छृङ्खल हों जावेंगे और इन में कोई भी एक दूसरे का आतङ्क नहीं मानेगा ।।४५।।

म्लेच्छीभूतं जगत् सर्वं भविष्यति युधिष्ठिर ।।४६।।
न श्राद्धैस्तर्पयिष्यन्ति दैवतानीह मानवाः ।

हे युधिष्ठिर, यह सारा जगत् म्लेच्छों के आचार से युक्त हो जावेगा । इसमें मनुष्य, श्राद्ध से पितरों और देवों की तृप्ति नहीं करेंगे ।।४६।।

न कश्चित् कस्यचिच्छ्रोता न कश्चित् कस्यचिद्गुरुः ।।४७
तमोग्रस्तस्तदा लोको भविष्यति जनाधिप ।

हे जनाधिप, इस समय न तो कोई किसी का उपदेश सुनेगा और न कोई किसी का गुरु ही होगा । इस समय में तो सार जगत् अन्धकार में डूब जावेगा ।।४७।।

परमायुश्च भविता तदा वर्षाणि षोडश ।।४८।।
ततः प्राणान् विमोक्ष्यन्ति युगान्ते समुपस्थिते ।
पञ्चमे वाथ षष्ठे वा वर्षे कन्या प्रसूयते ।।४९।।
सप्तवर्षाष्टवर्षाश्च प्रजास्यन्ति नरास्तदा ।

इस कलियुग में बड़ी से बड़ी आयु, सोलह वर्ष की होगी । और इसके बाद वे अपने प्राणों को छोड़ देंगे । कन्या भी पाँचवे और छटे वर्ष में गर्भ धारण करेंगी । और पुरुष, सातवें या आठवें वर्ष गर्भ धारण कर सकेंगे ।।४८-४९।।

पत्यौ स्त्री तु तदा राजन् पुरुषो वा स्त्रियं प्रति ।।५०।।
युगान्ते राजशार्दूल न तोषमुपयास्यति ।

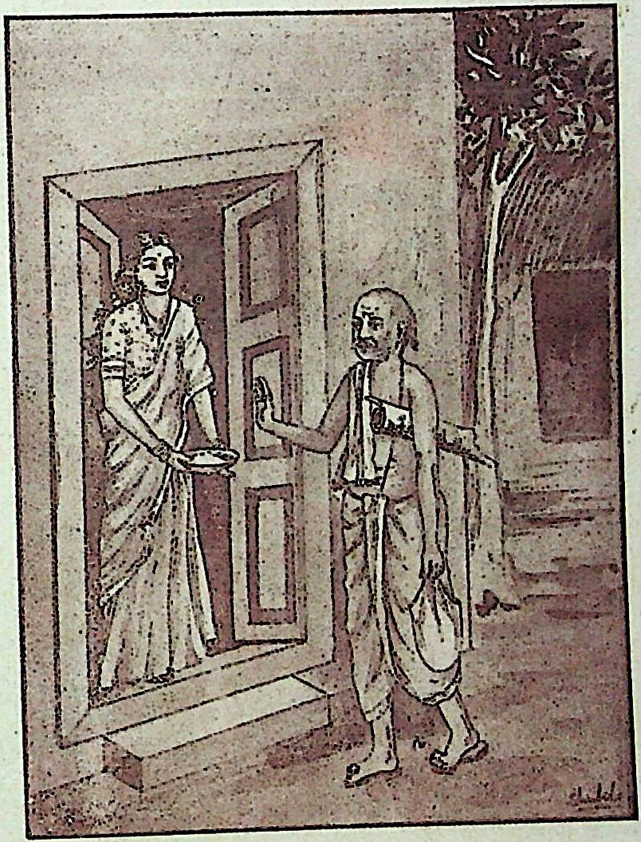

पतिव्रता स्त्री और कौशिक ब्राह्मण का सम्वाद
महा० वनपर्व अ० २०५--२३ पृष्ठ ७३२

हे राजाओं में श्रेष्ठ, युधिष्ठिर, इस समय पति, स्त्री से और स्त्री, पति से सन्तुष्ट नहीं होंगी ॥५०॥

अल्पद्रव्या वृथालिङ्गा हिंसा च प्रभविष्यति ॥५१॥
न कश्चित् कस्यचिद्दाता भविष्यति युगक्षये ।

इस युगक्षय में लोगों के पास द्रव्य थोड़ा होगा, परन्तु द्रव्य का आडम्बर बहुत करेंगे । हिंसा का ज़ोर बढ़ जावेगा और कोई किसी को समय पर भी कुछ दान नहीं देगा ॥५१॥

अट्टशूला जनपदाः शिवशूलाश्चतुष्पथाः॥५२॥
केशशूलाः स्त्रियश्चापि भविष्यन्ति युगक्षये ।

सारे देश अन्न का व्यापार करेंगे, ब्राह्मण वेद की झूँठी व्यवस्था धन लेकर दे देंगे और स्त्रियां अपनी भगों को वेच कर आनन्द उड़ावेंगी ॥५२॥

म्लेच्छाचाराः सर्वभक्षा दारुणाः सर्वकर्म्मसु॥५३॥
भाविनः पश्चिमे काले मनुष्या नात्र संशयः ।

इस पिछले समय में सारे मनुष्य म्लेच्छ आचार वाले, अभक्ष्य भक्षक और सव कर्मों में कठोर हो जावेंगे--इसमें संशय नहीं है ॥५३॥

क्रयविक्रयकाले च सर्वः सर्वस्य वञ्चनम् ॥५४॥
युगान्ते भरतश्रेष्ठ वित्तलोभात् करिष्यति ।

हे भरत-श्रेष्ठ ! इस युगान्त काल में वस्तुओं के वेचने और खरीदने में धन के लालच से लोग एक दूसरे को ठगेंगे ॥५४॥

ज्ञानानि चाप्यविज्ञाय करिष्यन्ति क्रियास्तथा॥५५॥
आत्मच्छन्देन वर्त्तन्ते युगान्ते समुपस्थिते।

लोग, किसी क्रिया के तत्व के जाने विना उसके करने में प्रवृत्त होंगे और अपनी इच्छा के अनुसार स्वेच्छाचारी होकर घूमेंगे ॥५५॥

स्वभावात् क्रूरकर्माणश्चान्योऽन्यमभिशंसिनः ॥५६॥
भवितारो जनाः सर्वे संप्राप्ते तु युगक्षये।

इस युग-क्षय में मनुष्य, बड़े-बड़े क्रूर कर्म करेंगे और एक दूसरे की झूँठी प्रशंसा करने वाले होंगे ॥५६॥

आरामांश्चैव वृक्षांश्च नाशयिष्यन्ति निर्व्यथाः॥५७॥
भविता संशयो लोके जीवितस्य हि देहिनाम्
तथा लोभाभिभूताश्च भविष्यन्ति नरा नृप ॥५८॥

इस युग में लोग वगीचे और वृक्षों को वृथा उजाड़ डालेंगे और प्राणियों को अपने जीवन तक में सन्देह हो जावेगा तथा मनुष्यों की प्रवृत्ति, लोभ की ओर वढ़ जावेगी ॥५८॥

ब्राह्मणांश्च हनिष्यन्ति ब्राह्मणस्वोपभोगिनः।
हाहाकृता द्विजाश्चैव भयार्त्ता वृषलार्दिताः॥५९॥
त्रातारमलभन्तो वै भ्रमिष्यन्ति महीमिमाम्।

ब्राह्मण के धन के छीनने वाले ब्राह्मणों को मार डालेंगे। अधर्मियों से दवाये हुए द्विज, बड़े भयभीत होकर हाहा-कार मचावेंगे और इस पृथ्वी पर रक्षक की खोज में इधर-उधर घूमेंगे, परन्तु कोई रक्षक नहीं मिलेगा ॥५९॥

जीवितान्तकराः क्रूरा रौद्राः प्राणिविहिंसकाः ॥६०।
प्रधावमाना वित्रस्ता द्विजाः कुरुकुलोद्वह।

हे कौरव, जब लोग क्रूर, भयङ्कर, प्राणि हिंसक और लोगों के जीवन के नाशक होंगे, तब इस जगत् का प्रलय होने लगेगा ॥६०॥

यदा भविष्यन्ति नरास्तदा संक्षेप्स्यते युगम्।
आश्रयिष्यन्ति च नदीः पर्वतान् विषमाणि च ॥६१

हे कुरु-वंश-श्रेष्ठ! राजन्! क्लेशित होकर इधर-उधर भागते हुए, ब्राह्मण बड़े-बड़े विषम नदी और पर्वतों में जा बसेंगे ॥६१॥

दस्युभिः पीड़िता राजन् काका इव द्विजोत्तमाः ॥६२
कुराजभिश्च सततं करभारप्रपीड़िताः।

हे राजन्! कौओं की तरह डाकू-चोर द्विजों को पीड़ित करेंगे। दुष्ट राजाओं के बढ़ाए हुए कर के बोझों से भी द्विज दुःखी हो जावेंगे ॥६२॥

धैर्य्यं त्यक्त्वा महीपाल दारुणे युगसंक्षये ॥६३॥
विकर्माणि करिष्यन्ति शूद्राणां परिचारकाः।

हे महीपाल! इस दारुण युग के क्षय में ब्राह्मण अपने धैर्य को छोड़ बैठेंगे और नीच कर्म तथा शूद्रों की सेवा करने लगेंगे ॥६३॥

शूद्रा धर्मं प्रवक्ष्यन्ति ब्राह्मणाः पर्य्युपासकाः ॥६४॥
श्रोतारश्च भविष्यन्ति प्रामाण्येन व्यवस्थिताः।
विपरीतश्च लोकोऽयं भविष्यत्यधरोत्तरः ॥६५॥

इस समय शूद्र, धर्म की व्याख्या करेंगे और ब्राह्मण उनके सेवक होंगे। ये ब्राह्मण ही इन शूद्रों के उपदेशों को सुनेंगे और उनको प्रमाणों से सिद्ध करेंगे। नीच मनुष्य, उच्च और उच्च, नीच हो जावेंगे, जिससे इस संसार में बिलकुल उथल-पुथल मच जावेगी ॥६४-६५॥

एडूकान् पूजयिष्यन्ति वर्जयिष्यन्ति देवताः ।
शूद्राः परिचरिष्यन्ति न द्विजान् युगसंक्षये ॥६६॥

इस कलियुग में लोग एडूकों (बौद्धमठों) की सेवा करेंगे और देवों की पूजा छोड़ देंगे तथा शूद्र लोग, द्विजों की सेवा से इनकार कर देंगे॥६६॥

आश्रमेषु महर्षीणां ब्राह्मणावसथेषु च ।
देवस्थानेषु चैत्येषु नागानामालयेषु च ॥६७॥
एडूकचिह्ना पृथिवी न देवगृहभूषिता ।
भविष्यति युगे क्षीणे तद्युगान्तस्य लक्षणम् ॥६८॥

इस युग में महर्षियों के आश्रम, ब्राह्मणों के भवन, देवों के स्थान, चैत्य (धर्म-स्थान) और नागदेवों के स्थानों की भूमि, एडूकों (बुद्ध की अस्थि पर बने हुए मन्दिरों) के चिन्होंसे युक्त हो जावेगी, देव मन्दिरों से सुशोभित नहीं रह सकेगी । यही प्रलय का लक्षण होगा ॥६७-६८॥

तदा रौद्रा धर्महीना मांसादा पानपास्तथा ।
भविष्यन्ति नरा नित्यं तदा संक्षेप्स्यते युगम् ॥६९॥

जब भयानक प्रकृतिवाले, धर्महीन, मांसाहारी जन मद्य-पान करने लगें, तब विनाश ही समझना चाहिये ॥६६॥

पुष्पं पुष्पे यदा राजन् फले वा फलमाश्रितम् ।
प्रजास्यति महाराज तदा संक्षेप्स्यते युगम् ॥७०॥

हे राजन्! पुष्पों में पुष्प, और फलों में फल निकलने लगेंगे—तब समझ लेना चाहिये कि अब युग का अन्त आ गया ॥७०॥

अकालवर्षी पर्जन्यो भविष्यति गते युगे ।
अक्रमेण मनुष्याणां भविष्यन्ति तदा क्रियाः ॥ ७१॥
विरोधमथ यास्यन्ति वृषला ब्राह्मणैः सह ।
मही म्लेच्छजनाकीर्णा भविष्यति ततोऽचिरात् ॥७२

इस युग के प्राप्त होने पर अकाल में मेघ, वर्षा करने लगेंगे और मनुष्यों के कामों का कोई सिलसिला नहीं रहेगा। शूद्रों का ब्राह्मणों के साथ विरोध हो जावेगा और पृथ्वी थोड़े ही समय में म्लेच्छों से व्याप्त हो जावेगी ॥७१-७२॥

करभारभयाद्विप्रा भजिष्यन्ति दिशो दश ।
निर्विशेषा जनपदास्तदा विष्टिकरार्दिताः ॥७३॥
आश्रमानुपलप्स्यन्ति फलमूलोपजीविनः ।
एवं पर्य्याकुले लोके मर्य्यादा न भविष्यति ॥७४॥

ब्राह्मण राज्य के कर्मचारी और कर के बोझ से दब कर दशों दिशाओं को भाग निकलेंगे। सारे देशों के एक से ही

खान-पान और वेष-भूषा होगी। ये लोग, फल-फूलों से निर्वाह करके आश्रमों में रहने लगेंगे। इस प्रकार लोक में उथल-पुथल मच जाने पर कुछ भी मर्यादा नहीं रहेगी ॥७३-७४॥

न स्थास्यन्त्युपदेशे च शिष्या विप्रियकारिणः।
आचार्य्योऽपनिधिश्चैव भर्त्स्यते तदनन्तरम् ॥७५॥

शिष्य गुरु की आज्ञा में नहीं रहेंगे, बल्कि समय पर गुरु का ही अहित कर डालेंगे। आचार्य निर्धन हो जावेंगे और शिष्य ही उनकी निन्दा या तिरस्कार करेंगे ॥७५॥

अर्थयुक्त्या प्रवर्त्स्यन्ति मित्रसम्बन्धिबान्धवाः।
अभावः सर्वभूतानां युगान्ते सम्भविष्यति ॥७६॥

धन के लालच से ही मित्र, सम्बन्धी और भाई-बन्धु पास रहेंगे। स्नेह से कोई किसी का कुछ नहीं करेगा। इस युगान्त में प्राणियों का अभाव सा हो जावेगा ॥७६॥

दिशः प्रज्वलिता सर्वा नक्षत्राण्यप्रभाणि च।
ज्योतींषि प्रतिकूलानि वाताः पर्य्याकुलास्तथा॥७७॥

इस समय सारी दिशाएं जल उठेंगी और नक्षत्रों की चमक निकल जायगी। सारी ज्योतियाँ उलटी होंगी और वायु, व्याकुल करने वाला चल पड़ेगा ॥७७॥

उल्कापाताश्च बहवो महाभयनिदर्शकाः।
षड्भिरन्यैश्च सहितो भास्करः प्रतपिष्यति ॥७८॥

बड़े-बड़े भय के दिखाने वाले, उल्कापात (तारे टूटना) होंगे और छः अन्य सूर्यों के साथ यह सूर्य, आग उगलेगा ॥७८॥

तुमुलाश्चापि निर्ह्रादा दिग्दाहाश्चापि सर्वशः ।
कबन्धान्तर्हितो भानुरुदयास्तमने तदा ॥७९॥
अकालवर्षी भगवान् भविष्यति सहस्रदृक् ।
शस्यानि च न रोक्ष्यन्ति युगान्ते पर्य्युपस्थिते ॥८०

इस समय बड़े २ जोर से बिजली गिरेगी और सब ओर से दिशा जलने लग जायेंगी । उदय तथा अस्त होने के समय सूर्य, राहु से ग्रसित सा दिखाई देगा । इन्द्र, असमय में वर्षा करेगा और अन्न के अंकुर नहीं उग सकेंगे ॥७९-८०॥

अभीक्ष्णं क्रूरवादिन्यः परुषा रुदितप्रियाः ।
भर्तृणां वचने चैव न स्थास्यन्ति तदा स्त्रियः॥८१॥

इस युगान्त के उपस्थित होने पर स्त्रियाँ क्रूर और कठोर बातें करेंगी। इनको रोना बड़ा पसन्द होगा और ये अपने पतियों की आज्ञा में नहीं रहेंगी ॥८१॥

पुत्राश्च मातापितरौ हनिष्यन्ति युगक्षये ।
सूदयिष्यन्ति च पतीन् स्त्रियः पुत्रानपाश्रिताः ॥८२॥

इस कलि में पुत्र, अपने माता पिताओं को पीटा करेंगे और स्त्रियां पुत्र का आश्रय लेकर पतियों को पीटेंगी ॥८२॥

अपर्वणि महाराज सूर्य्यं राहुरुपेष्यति ।
युगान्ते हुतभुक् चापि सर्वतः प्रज्वलिष्यति ॥८३॥

हे महाराज ! अमावस्यादि पर्व के विना ही राहु सूर्य को ग्रस लेगा और इस युगान्त में आग सब ओर लगा करेंगी ॥८३॥

पानीयं भोजनञ्चापि याचमानास्तदाध्वगाः ।
न लप्स्यन्ते निवासञ्च निरस्ताः पथि शेरते ॥८४॥

पथिक लोग, अन्न और जल की याचना करेंगे-परन्तु इनको भोजन पान तो क्या, कोई निवास भी नहीं देगा और वे मार्गों में सोवेंगे॥८४॥

निर्घाता वायसा नागाः शकुनाः समृगद्विजाः ।
रूक्षा वाचो विमोक्ष्यन्ति युगान्ते पर्य्युपस्थिते ॥८५॥

इस युगान्त के आने पर निर्घात् कौआ हाथी, मृग पक्षी और वनैले जन्तु, रूखी वाणी बोलने लगेंगे॥ ८५ ॥

मित्रं सम्बन्धिनश्चापि सन्त्यक्ष्यन्ति नरास्तदा ।
जनं परिजनश्चापि युगान्ते पर्य्युपस्थिते ॥८६॥

अथ देशान् दिशश्चापि पत्तनानि पुराणि च ।
क्रमशः संश्रयिष्यन्ति युगान्ते पर्य्युपस्थिते ॥८७॥

इस कलियुग में मनुष्य, समय पड़ने पर अपने मित्र, सेवक और कुटुम्बी जनों को भी छोड़ देंगे। लोग अपने घरों को छोड़ कर अन्य देश, दिशा, नगर और पुरों में चले जावेंगे ॥८६-८७॥

हा तात हा सुतेत्येवं तदा वाचः सुदारुणाः ।
विक्रोशमानश्चान्योऽयं जनो गां पर्य्यटिष्यति ॥८८॥

कहीं तो हा ? तात ! कहीं हा ? पुत्र ! इस प्रकार की करुणामयी वाणी बोलते हुए, एक दूसरे को पुकारते हुए, मनुष्य, भूमि पर भटकते फिरेंगे॥८८॥

ततस्तुमुलसङ्घाते वर्त्तमाने युगक्षये ।
द्विजातिपूर्वको लोकः क्रमेण प्रभविष्यति ।।८९।।

जब इस प्रकार भीषण नाश होवेगा, तब ब्राह्मणादि वर्ण, क्रम से फिर शक्तिशाली होने लगेंगे ।।८९।।

ततः कालान्तरेऽन्यस्मिन् पुनर्लोकविवृद्धये ।
भविष्यति पुनर्दैवमनुकूलं यदृच्छया ।।९०।।
यदा सूर्य्यश्च चन्द्रश्च तथा तिष्यवृहस्पती ।
एकराशौ समेष्यन्ति प्रवर्त्स्यति तदा कृतम् ।।९१।।

कालान्तर में जाकर जगत् की वृद्धि के लिए फिर दैव अनुकूल हो जावेगा । जब सूर्य, चन्द्र और बृहस्पति, एक ही पुष्प नक्षत्र पर आजावेंगे, तब फिर सत्युग की प्रवृत्ति होगी ।।

कालवर्षी च पर्जन्यो नक्षत्राणि शुभानि च ।
प्रदक्षिणाः ग्रहाश्चापि भविष्यन्त्यनुलोमगाः ।।९२।।
क्षेमं सुभिक्षमारोग्यं भविष्यति निरामयम् ।

इस समय मेघ बरसने लगेगा और नक्षत्र, चमकने लग जावेंगे और ग्रह सीधी चाल से चलकर नियमानुकूल प्रदक्षिणा करने लगेंगे। इस समय कल्याण, सुभिक्ष, आरोग्य फैल जावेगा तथा सारी प्रजा दुःखों से रहित होगी ।।९२।।

कल्की विष्णुयशा नाम द्विजः कालप्रचोदितः।।९३।।
उत्पत्स्यते महावीर्य्यो महाबुद्धिपराक्रमः ।
सम्भूतः सम्भलग्रामे ब्राह्मणावसथे शुभे।।९५।।

मनसा तस्य सर्व्वाणि वाहनान्यायुधानि च ।
उपस्थास्यन्ति योधाश्च शस्त्राणि कवचानि च ॥६५॥

इस समय काल की प्रेरणा से ब्राह्मण के घर पर संभल ग्राम में महा-शक्ति-शाली और बड़ा बुद्धिमान् विष्णुयश नामक कल्की अवतार होगा। इसकी इच्छा के अनुसार सारे वाहन, शस्त्र, योद्धा और कवच प्राप्त होजावेंगे ॥६३-६५॥

स धर्म्मविजयी राजा चक्रवर्त्ती भविष्यति ।
स चेमं संकुलं लोकं प्रसादमुपनेष्यति ॥६६॥

यह राजा होकर धर्मानुसार विजय करके चक्रवर्ती राजा होगा। वही इस व्याकुल संसार को आनन्दित करेगा ॥६६॥

उत्थितो ब्राह्मणो दीप्तः क्षयान्तकृदुदारधीः ।
संक्षेपको हि सर्वस्य युगस्य परिवर्त्तकः ॥६७॥

कलियुग का अन्त करने वाला, उदार तेजस्वी, यह कल्की ब्राह्मण, सब दुष्टों का संहार करेगा और सत्युग का प्रवर्तक होगा।

स सर्वत्र गतान् क्षुद्रान् ब्राह्मणैः परिवारितः ।
उत्सादयिष्यति तदा सर्वम्लेच्छगणान् द्विजः ॥६८॥

इति श्रीमहाभारत आरण्यपर्व्वणि मार्कण्डेयसमास्यापर्व्वणि कलियुगकृत्यकथने नवत्यधिकशततमोऽध्यायः॥

यह द्विज कल्की, ब्राह्मणों से युक्त होकर जहाँ पर क्षुद्र, म्लेच्छ गण पहुँच जावेंगे---वहीं पहुँच कर उनका नाश कर देगा ॥६८॥

इति श्रीमहाभारत वनपर्वान्तर्गत मार्कण्डेयसमास्या पर्व में कलियुग के कृत्य के वर्णन का एकसौ नव्वेवां अध्याय समाप्त हुआ

एक सौ इक्यानवेवां अध्याय

मार्कण्डेय उवाच—

ततश्चोरक्षयं कृत्वा द्विजेभ्यः पृथिवीमिमाम् ।
वाजिमेधे महायज्ञे विधिवत् कल्पयिष्यति ॥१॥

मार्कण्डेय बोले--हे राजन् ! यह कल्की इस वड़े भारी म्लेच्छों के नाश को करके अश्वमेघ महायज्ञ करेगा और उसमें इस पृथिवी को ब्राह्मणों के लिए दान कर देगा ॥१॥

स्थापयित्वा च मर्य्यादाः स्वयम्भूविहिताः शुभाः ।
वनं पुण्ययशःकर्मा रमणीयं प्रवेक्ष्यति ॥२॥

पुण्य और यश के कर्म करने वाला यह कल्की, ब्रह्माजी द्वारा स्थापित की हुई, सुन्दर मर्यादा को स्थापित करके फिर वन में चला जावेगा ॥२॥

तच्छीलमनुवर्त्स्यन्ति मनुष्या लोकवासिनः ।
विप्रैश्चौरक्षये चैव कृते क्षेमं भविष्यति ॥३॥

संसार के निवासी लोग, अब इसके कर्मों का अनुसरण करेंगे। ब्राह्मणों द्वारा किये हुए इस विध्वसं के अनन्तर सत्युग में फिर सब सुखी हो जावेंगे ॥३॥

कृष्णाजिनानि शक्तीश्च त्रिशूलान्यायुधानि च ।
स्थापयन् द्विजशार्दूलो देशेषु विजितेषु च ॥४॥

यह द्विज-श्रेष्ठ, कृष्ण मृग चर्म, और शक्ति, त्रिशूल, आदि शस्त्रों को अपने जीते हुए देशों में फिर से प्रचलित करेंगा ॥४॥

संस्तूयमानो विप्रेन्द्रैर्मानयानो द्विजोत्तमान् ।
कल्किश्चरिष्यति महीं सदा दस्युवधे रतः ॥५॥

ब्राह्मण लोग, इसकी स्तुति करेंगे और यह भी अच्छे २ द्विजों का बड़ा सत्कार करेगा। इस प्रकार यह कल्कि अवतार, दुष्टों के वध में संलग्न होकर सारी पृथिवी पर घूमेगा ॥५॥

हा मातस्तात पुत्रेति तास्तास्वाचः सुदारुणाः ।
विक्रोशमानान् सुभृशं दस्यून्नेष्यति संक्षयम् ॥६॥

यह कल्की, हा ? माता, हा ? पिता, हा ? पुत्र, इस प्रकार की करुणा भरी वाणी से रोते चिल्लाते हुए दुष्टों का विध्वंस कर डालेगा ॥६॥

ततोऽधर्म्मविनाशो वै धर्म्मवृद्धिश्च भारत ।
भविष्यति कृते प्राप्ते क्रियावांश्च जनस्तथा ॥७॥

हे भारत ! इस समय अधर्म का विनाश और धर्म की वृद्धि होगी। इस समय सत्युग को पाकर लोग धार्मिक क्रियाएँ करने लगेंगे ॥७॥

आरामाश्चैव चैत्याश्च तड़ागावसथास्तथा ।
पुष्करिण्यश्च विविधा देवतायतनानि च ॥८॥

इस कृत युग में बगीचे, चैत्य (मठ), तालाब, धर्मशाला, पुष्करिणी, (तलाई) देवालय बनने लगेंगे और अनेक यज्ञ क्रियाएँ होने लगेगी ॥८॥

यज्ञक्रियाश्च विविधा भविष्यन्ति कृते युगे।
ब्राह्मणाः साधवश्चैव मुनयश्च तपस्विनः ॥६॥
आश्रमाः सहपाषण्डाः स्थिताः सत्यजनाः प्रजाः।
प्रयन्ति सर्वबीजानि रोप्यमाणानि चैव ह ॥१०॥

ब्राह्मण, साधु, तपस्वी, मुनि, उत्पन्न होंगे और जिन आश्रमों में पूर्व में पाखण्डी लोग रहते थे, उनमें सत्यवादी, जन रहन लगेंगे तथा सारी प्रजा सत्य का अनुसरण करेंगी। बड़ी दृढ़ता के साथ किये गए कर्मों से जमे हुए बुरे संस्कार, ज्ञान द्वारा नष्ट हो जावेंगे ॥६-१०॥

सर्वेष्वृतुषु राजेन्द्र सर्वं शस्यं भविष्यति।
नरा दानेषु निरता व्रतेषु नियमेषु च ॥११॥

हे राजेन्द्र! इस समय सारी ऋतुओं में, सारी अन्न औषधियाँ होने लगेंगी, मनुष्य, दान, व्रत और नियमों में परायण हो जावेंगे ॥११॥

जप्ययज्ञपरा विप्रा धर्म्मकामा मुदायुताः।
पालयिष्यति राजानो धर्मेणेमां वसुन्धराम् ॥१२॥
व्यवहाररता वैश्या भविष्यन्ति कृते युगे।

हे राजन्! इस सत्युग में ब्राह्मण, जप, तप और आनन्द युक्त होकर धर्म वृद्धि की कामना करते रहेंगे। राजा लोग, धर्म से इस पृथिवी का पालन करेंगे और वैश्य लोग, सत्य व्यवहार में परायण होंगे ॥१२॥

षट्कर्मनिरता विप्राः क्षत्रिया विक्रमे रताः ॥१३॥
शुश्रूषायां रताः शूद्रास्तथा वर्णत्रयस्य च।

एष धर्म्मः कृतयुगे त्रेतायां द्वापरे तथा ॥१४॥
पश्चिमे युगकाले च यः स ते संप्रकीर्त्तितः ।
सर्वलोकस्य विदिता युगसङ्ख्या च पाण्डव ॥१५॥
एतत्ते सर्वमाख्यातमतीतानागतं तथा ।
वायुप्रोक्तमनुस्मृत्य पुराणमृषिसंस्तुतम् ॥१६॥

ब्राह्मण अपने षट् कर्मों में संलग्न होंगे, क्षत्रिय पराक्रम के कर्म करेंगे। तीनों वर्णों की सेवा में शूद्र तत्पर हो जावेंगे। इस प्रकार सत्युग, त्रेता और द्वापर में धर्म की स्थिति होगी और अन्तिम काल कलियुग में जो स्थिति हो जावेगी, उसका तुम से वर्णन कर ही दिया है। हे पाण्डव! तुमको सारे युगों की वर्ष संख्या का पता हो ही चुका है। यह भूत और भविष्य के सारे वृतान्त तुम को सुना दिए। यह सब कुछ वर्णन, ऋषियों से अभिमत, वायु द्वारा कहे हुए, पुराण के आधार पर लिखा है ॥१३-१६॥

एवं संसारमार्गा मे बहुशश्चिरजीविना ।
दृष्टाश्चैवानुभूताश्च तांस्ते कथितवानहम् ॥१७॥

इस प्रकार बहुत काल से जीवन धारण करने वाले मैंने संसार के अनेक मार्ग देखे और जाने हैं। मैं अब तुम से उस अपने अनुभव को सुनाता हूं ॥१७॥

इदश्चैवापरं भूयः सह भ्रातृभिरच्युत ।
धर्म्मसंशयमोक्षार्थं निबोध वचनं मम ॥१८॥

हे अच्युत ! यह तथा अन्य, धर्म के संशय के निवृत्त करने वाले मेरे वचन को अपने भाइयों के साथ अच्छी तरह से समझ लो ॥१८॥

धर्मे त्वयात्मा संयोज्यो नित्यं धर्म्मभृताम्वर ।
धर्मात्मा हि सुखं राजन् प्रेत्य चेह च विन्दति ॥१९॥

हे धर्मात्मन् ! तुमको अपने आपको धर्म में लगा देना चाहिए । हे राजन् ! जो धर्मात्मा होता है, वही इस लोक और परलोक में सुख पाता है ॥१९॥

निबोध च शुभां वाणीं यां प्रवक्ष्यामि तेऽनघ ।
न ब्राह्मणे परिभवः कर्त्तव्यस्ते कदाचन ।
ब्राह्मणः कुपितो हन्यादपि लोकान् प्रतिज्ञया ॥२०॥

हे अनघ ! अब मैं तुम से जो वाणी कहता हूं, उसको ध्यान से सुनो । तुमको कभी ब्राह्मण का तिरस्कार नहीं करना चाहिए । यदि सच्चा ब्राह्मण कुपित हो गया, तो वह अपनी प्रतिज्ञा से तीनों लोकों को भस्म कर सकता है ॥२०॥

वैशम्पायन उवाच—

मार्कण्डेयवचः श्रुत्वा कुरूणां प्रवरो नृपः ।
उवाच वचनं धीमान् परमं परमद्युतिः ॥२१॥

वैशम्पायन बोले—हे राजन ! मार्कण्डेय के वचन सुनकर कुरु-वंश-श्रेष्ठ, बुद्धिमान्, परम तेजस्वी राजा युधिष्ठिर, यह वचन कहने लगा ॥२१॥

युधिष्ठिर उवाच—

कस्मिन् धर्मे मया स्थेयं प्रजा संरक्षता मुने ।
कथञ्च वर्त्तमानो वै न च्यवेयं स्वधर्म्मतः ॥२२॥

हे मुने ! प्रजा की रक्षा करते हुए मुझे किस धर्म में स्थित होना चाहिए और किस तरह व्यवहार करना चाहिए, जिससे अपने धर्म से च्युत न हो सकूं ॥२२॥

मार्कण्डेय उवाच—

दयावान् सर्वभूतेषु हितो रक्तोऽनसूयकः ।
सत्यवादी मृदुर्दान्तः प्रजानां रक्षणे रतः ॥३२॥
चर धर्म्मं त्यजाधर्म्मं पितॄन् देवांश्च पूजय ।
प्रमादात् यत् कृतं तेऽभूत् सम्यग्दानेन तज्जय॥२४॥

मार्कण्डेय ने कहा—हे युधिष्ठिर ! तुम सब प्राणियों पर दया करो और उनका हित करते हुए, किसी की निन्दा न करो। सदा सत्य भाषण से प्रेम, कोमल और उदार प्रकृति बनाओ तथा प्रजा की रक्षा करो। तुम धर्म का आचरण करो और अधर्म को छोड़कर पितर तथा देवों की पूजा करो। जो कुछ असावधानी से कर्म बन जावे, उसका दान आदि से प्रतिमार्जन कर दो ॥२३-२४॥

अलन्ते मानमाश्रित्य सततं परवान् भव ।
विजित्य पृथिवीं सर्वां मोदमानः सुखी भव ॥२५॥

तुमको अभिमान नहीं करना चाहिए। तुम तो सदा अन्यों की भलाई में ही तत्पर हो जाओ। इस प्रकार सारी पृथिवी को जींत कर और आनन्द के साथ भोग करके सुखी हो सकोगे।॥२५

एष भूतो भविष्यश्च धर्म्मस्ते समुदीरितः ।
न तेऽस्त्यविदितं किञ्चिदतीतानागतं भुवि ॥२६॥

यह मैंने तुमको भूत और भविष्य धर्म का वर्णन कर दिया है। अब पृथिवी पर भूत भविष्य धर्म के विषय में तुम को अज्ञात नहीं रह गया है ॥२६॥

तस्मादिदं परिक्लेशं त्वं तात हृदि मा कृथाः ।
प्राज्ञास्तात न मुह्यन्ति कालेनापि प्रपीडिताः ॥२७।
एष कालो महाबाहो अपि सर्वदिवौकसाम् ।
मुह्यन्ति हि प्रजास्तात कालेनापि प्रचोदिताः॥२८॥

हे तात ! तुम इस वनवास के क्लेश को अपने हृदय में मत लाओ। हे तात ! बुद्धिमान् मनुष्य, काल चक्र से पीड़ित होकर भी मोहित नहीं होते हैं। हे महाबाहो ! यह काल सारे देवों तक को मोहित कर देता है। हे तात ! काल से प्रेरित सारी प्रजा मोहित होती रहती है ॥२७-२८॥

मा च तत्र विशङ्का भूद्यन्मयोक्तं तवानघ ।
आशङ्क्य मद्वचो ह्येतद्धर्म्मलोपो भवेत्तव ॥२९॥

हे महानुभाव ! मेरे कहे हुए वचन में तुमको संशय नहीं रहना चाहिये। यदि तुमने मेरे वचन पर शंका रखी, तो धर्म के लोप होने का डर है ॥२९॥

जातोऽसि प्रथिते वंशे कुरूणां भरतर्षभ ।
कर्म्मणा मनसा वाचा सर्वमेतत् समाचर ॥३०॥

युधिष्ठिर उवाच—

यत्त्वयोक्तं द्विजश्रेष्ठ वाक्यं श्रुतिमनोहरम् ।
तथा करिष्ये यत्नेन भवतः शासनं विभो ॥३१॥

हे भरतर्षभ ! तुम कुरु के प्रसिद्ध वंश में उत्पन्न हुए हो, इससे मन, वाणी और कर्म से इस धर्म का आचरण करो। युधिष्ठिर ने कहा—हे द्विज-श्रेष्ठ, आपने कानों और मन को प्रीति करने वाले वचन कहे हैं। मैं यथाशक्ति प्रयत्न-पूर्वक आपकी आज्ञा का पालन करूंगा ॥३१॥

न मे लोभोऽस्ति विप्रेन्द्र न भयं न च मत्सरः ।
करिष्यामि हि तत् सर्वमुक्तं यत्ते मयि प्रभो ॥३२॥

हे विप्रेन्द्र, मुझे न तो कोई लोभ है, न भय है और न कोई डाह या जलन है। हे प्रभो, आपने जो २ मुझे कहा है, मैं वहीं सब कुछ करूंगा ॥३२॥

वैशम्पायन उवाच—

श्रुत्वा तु वचनं तस्य मार्कण्डेयस्य धीमतः ।
संहृष्टाः पाण्डवा राजन् सहिताः शार्ङ्गधन्वना ॥३३॥

वैशम्पायन बोले—हे राजन, बुद्धिमान् मार्कण्डेय के वचन सुनकर श्रीकृष्ण के सहित सारे पाण्डव बड़े ही प्रसन्न हुए ॥३३॥

विप्रर्षभाश्च ते सर्वे ये तत्रासन् समागताः ।
तथा कथां शुभां श्रुत्वा मार्कण्डेयस्य धीमतः ।
विस्मिताः समपद्यन्त पुराणस्य निवेदनात् ॥३४॥

इति श्रीमहाभारत आरण्यपर्वणि मार्कण्डेयसमास्यापर्वणि युधिष्ठिरानुशासने एकनवत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥१९१

इस समय जितने ब्रह्मर्षि वहां आये हुए थे, वे सब बुद्धिमान मार्कण्डेय की पुराण के आधार पर कही हुई इस शुभ कथा को सुनकर बड़े ही चकित हुए ॥३४॥

इति श्रीमहाभारत वनपर्वान्तर्गत मार्कण्डेयसमास्यापर्व में युधिष्ठिर के अनुशासन का एक सौ इक्यानवेवाँ अध्याय समाप्त हुआ

* * *

एकसौ बानवेवां अध्याय

जनमेजय उवाच—

भूय एव ब्राह्मणानां माहात्म्यं वक्तुमर्हसि ।
पाण्डवानां यथाचष्ट मार्कण्डेयो महातपाः ॥१॥

जनमेजय ने कहा—हे ब्रह्मन्! अब आप, फिर ब्राह्मणों के महत्व का वर्णन करो, जिस तरह महा-तपस्वी मार्कण्डेय मुनि ने पाण्डवों से कहा है ॥१॥

वैशम्पायन उवाच—

भूय एव ब्राह्मणमहाभाग्यं वक्तुमर्हसीत्य-
ब्रवीत् पाण्डवेयो मार्कण्डेयम् ।
अथाचष्ट मार्कण्डेयोऽपूर्वमिदं श्रूयतां ब्राह्मणानाञ्चरितम् २

वैशम्पायन बोले—हे राजन्! पाण्डवों ने महर्षि मार्कण्डेय से कहा था--हे महर्षे! तुम फिर ब्राह्मणों का महत्व सुनाओ।

यह सुनकर मार्कण्डेय मुनि ने जो व्राह्मणों का अद्भुत चरित्र सुनाया---वह मैं तुमसे कहता हूं। तुम ध्यान से सुनो ।।२।।

मार्कण्डेय उवाच—

अयोध्यायामिक्ष्वाकुकुलोद्वहः पार्थिवः
परीक्षिन्नाम मृगयामगमत् ।
तमेकाश्वेन मृगमनुसरन्तं मृगो दूरमपाहरत् ।।३।।

मार्कण्डेय वोले—अयोध्या में इक्ष्वाकु-वंश-श्रेष्ठ, परीक्षित् नामक राजा था। यह एक दिन मृगया (शिकार) के लिए वन में गया और एक घोड़े को साथ लिये मृग के पीछे चल दिया। मृग भी इस तरह इसको वन में दूर खैंच ले गया ।।३।।

अथाध्वनि जातश्रमः क्षुत्तृष्णाभिभूतश्चैकस्मिन्देशे
नीलं गहनं वनखण्डमपश्यत् ।
तच्चाविवेश ततस्तस्य वनखण्डस्य मध्येऽतीव
रमणीयं सरो दृष्ट्वा साश्व एव व्यगाहत ।।४।।

यह राजा भूख-प्यास से व्याकुल होकर वहुत थक चुका था। अव इसने एक स्थान पर वड़ा गहरा काला वन-खण्ड देखा। यह उस वन में घुस गया और इसने उसी वन-खण्ड के वीच में एक सुन्दर सरोवर देखा। इस सरोवर में इसने घोड़े के सहित स्नान किया ।।४।।

अथाश्वस्तः स विसमृणालमश्वायाग्रतो
निक्षिप्य पुष्करिणीतीरे संविवेश ।
ततः शयानो मधुरं गीतशब्दमशृणोत् ।।५।।

इसके बाद उसने कुछ विश्राम किया और विसमृणाल (कमल-डण्डी) घोड़े के आगे डाल दीं, फिर यह उस पुष्करिणी (तलाई) के तीर पर सो गया। यहां लेटे हुए इसने एक मधुर गीत सुना ॥५॥

स श्रुत्वा चिन्तयन्नेह मनुष्यगतिं पश्यामि ।
कस्य खल्वयं गीतशब्द इति ।
अथापश्यत् कन्यां परमरूपदर्शनीयां
पुष्पाण्यवचिन्वतीं गायन्तीश्च ।
अथ सा राज्ञः समीपे पर्य्यक्रामत् ॥६॥

इस गीत को सुन कर विचारने लगा, कि मैं इस मनुष्य का पता लगा कर देखूंगा, कि यह किसका गीत है। अब इसने अत्यन्त सुन्दर रूपवती फूल तोड़ती और गाती हुई, एक कन्या देखी। यह कन्या राजा के पास आई ॥६॥

तामब्रवीद्राजा कस्यासि भद्रे का वा त्वमिति ।
सा प्रत्युवाच कन्यास्मीति तां राजोवाचार्थी त्वयाहमिति ७

राजा ने इससे कहा—हे भद्रे ! तुम कौन हो और किसकी पुत्री हो। उसने उत्तर दिया--मैं एक कन्या हूं। राजा ने कहा—मैं तुमको ग्रहण करना चाहता हूं ॥७॥

अथोवाच कन्या समयेनाहं शक्या त्वया
लब्धुं नान्यथेति । राजा तां समयमपृच्छत् ।
कन्योवाच नोदकं मे दर्शयितव्यमिति ॥८॥

अब कन्या ने फिर कहा---कि मेरी एक शर्त है। यदि तुम उसको पूरा करदो, तो मुझे ग्रहण कर सकते हो, अन्य कोई उपाय मेरे ग्रहण करने का नहीं है। राजा ने इससे इसकी शर्त पूछी। कन्या ने कहा—मुझे जल के दर्शन न कराना ॥८॥

स राजा तां वाढमित्युक्त्वा तामुपयेमे कृतोद्वाहश्च राजा परीक्षित् क्रीडमानो मुदा परमया युक्तस्तूष्णीं सङ्गम्य तया सहास्ते। ततस्तत्रैवासीने राजनि सेनान्वगच्छत् ॥९॥

राजा ने भी यह स्वीकार करके उसके साथ विवाह कर लिया। विवाह के अनन्तर राजा परीक्षित ने उसके साथ बड़े आनन्द से विहार किया। यह उससे सम्भोग करके चुप बैठा था, कि वहां बैठे-बैठे ही राजा का पीछा करती हुई, सेना आ पहुंची ॥९॥

**पदं पदेन दृष्ट्वा च राजानं परिवार्य्यातिष्ठत्।
पर्य्याश्वस्तश्च राजा तथैव सह शिविकया प्रायादवघोटितया स्वनगरमनुप्राप्य रहसि तथा सहास्ते ॥१०॥**

यह सेना, राजा के पद चिन्हों को देखती २ वहां आ पहुंची और राजा को घेर कर खड़ी हो गई। जब राजा की थकान उतर चुकी, तो यह बड़ी साफ़-सुथरी पालकी में बैठ कर अपने नगर में आया और वहां पहुंच कर एकान्त महल में उस कन्या के साथ रहने लगा ॥१०॥

**तत्राभ्यासस्थोऽपि कश्चित्तन्नापश्यदथ
प्रधानमात्योऽभ्यासचरास्तस्य स्त्रियोऽपृच्छत्।
किमत्र प्रयोजनं वर्त्तत इत्यथाब्रुवंस्ताः स्त्रियः ॥११॥**

यह उस कन्या के प्रेम में इतना डूबा, कि अपने पास जाने वालों में से भी किसी से नहीं मिलता था। प्रधान-मन्त्री ने राजा के पास जाने वाली स्त्रियों से पूछा, कि अब क्या उपाय करना चाहिये। तब उन स्त्रियों ने कहा—॥११॥

अपूर्वमिव पश्याम उदकं नात्र नीयत इत्यथामात्योऽनुदकं वनं कारयित्वोदारवृत्तं बहुपुष्पफलमूलं तस्य मध्ये मुक्ताजालमयीं पार्श्वे वापीं सुगूढां सुधासलिललिप्तां स रहस्युपगम्य राजानमब्रवीत् ॥१२॥

हम तो एक अद्भुत घटना देख रही हैं, कि राजा के पास पानी नहीं ले जाया जाता है। अब मन्त्री ने जल रहित एक बगीचा बनवाया, जिसमें बहुत पुष्प और फलों से लदे हुए उत्तम २ वृक्ष लगवाए। इसके पास ही मोतियों की लताओं से अच्छी तरह ढकी हुई, अमृत तुल्य जल से परिपूर्ण, एक बावड़ी बनवाई। इसके बाद मन्त्री, एकान्त में राजा के पास जाकर कहने लगा ॥१२॥

वनमिदमुदारमनुदकं साध्वत्र रम्यतामिति ।
स तस्य वचनात्तथैव सह देव्या तद्वनं प्राविशत् ॥१३॥

यह उपवन बड़ा उत्तम है। इसमें कहीं भी जल नहीं है। आप इसमें चल कर अपनी भार्या के साथ विहार करो। राजा भी मन्त्री के वचन मान कर उस देवी के साथ उस वन में पहुंचा ॥१३॥

स कदाचित्तस्मिन् कानने रम्ये तयैव सह व्यवाहरत् ।
अथ क्षुत्तृष्णार्दितः श्रान्तोऽतिमुक्तकागारमपश्यत्तत्प्रविश्य
राजा प्रियया सुधाकृतां विमलां सलिलपूर्णां वापीमपश्यत्

यह एक समय उस सुन्दर उपवन में कान्ता के साथ सम्भोग क्रीड़ा कर रहा था, कि इस समय यह राजा भूख और प्यास से बहुत थक गया। राजा ने यहां अचानक वासन्ती लता के गृह को देखा। यह अपनी प्रिया के साथ इसमें घुस गया और यहां इसने अमृत के तुल्य निर्मल जल से परिपूर्ण वापी (बावड़ी) देखी ॥१४॥

दृष्ट्वैव तां तस्याश्च तीरे सहैव तया देव्यावतिष्ठत् ।
अथ तां देवीं स राजाब्रवीत् साध्ववतर वापीसलिलमिति ॥
सा तद्वचः श्रुत्वावतीर्य्य वापीं न्यमज्जन्न पुनरुदमज्जत् ॥

राजा इस बावड़ी को देखते ही उसके तट पर अपनी प्रिया के साथ बैठ गया। राजा ने अपनी प्रिया से कहा—अब तुम इस वापी के सुन्दर जल में उतर कर स्नान करो। यह देवी, राजा के वचन सुन कर उस बावड़ी में उतर गई और ऐसा गोता लगाया, कि फिर बाहर नहीं निकली ॥१५॥

तां मृगयमाणो राजा नापश्यद्वापीमथ निःस्राव्य मण्डूकं
श्वभ्रमुखे दृष्ट्वा क्रुद्ध आज्ञापयामास ॥१६॥

राजा ने अपनी प्रिया को बहुत ढूंढ़ा, परन्तु उसका कुछ पता नहीं लगा। राजा ने वापी का सारा पानी निकलवा डाला ॥

अब इसने बिल में बैठा हुआ एक मैंडक देखा। जिसको देख कर बड़ा क्रोध किया और आज्ञा दी ॥१६॥

स राजा सर्वत्र मण्डूकवधः क्रियतामिति यो मयार्थी
स मां मृतमण्डूकोपायनामादायोपतिष्ठेदिति ॥१७॥

इस राजा ने आज्ञा दी, कि सब जगह मैंडकों को मार डालो। जो मुझसे मिलना चाहे, वह भी मैंडक की भेंट लेकर मेरे सामने आवे ॥१७॥

अथ मण्डूकवधे घोरे क्रियमाणे दिक्षु सर्वासु मण्डूकान्
भयमाविवेश ते भीता मण्डूकराज्ञे यथावृत्तं न्यवेदयन् १८

जब इस प्रकार मैंडकों का सब दिशाओं में घोर वध किया गया--तो सारे मैंडक बड़े डरे। वे भयभीत होकर अपने राजा के पास पहुंचे और यह सारा वृत्तान्त उसको सुनाया ॥१८॥

ततो मण्डूकराट् तापसवेशधारी
राजानमभ्यगच्छदुपेत्य चैनमुवाच ॥१९॥

अब मैंडकों के राजा ने एक तपस्वी का वेष बनाया और इस राजा के पास पहुंच कर कहा ॥१९॥

मा राजन् क्रोधवशं गमः प्रसादं कुरु नार्हसि मण्डूकाना
मनपराधिनां वधं कर्त्तुमिति श्लोकौ चात्र भवतः ॥२०॥

हे राजन्! तुम क्रोध के पराधीन मत होओ। मैंडकों पर कृपा करो। तुमको निरपराधी मैंडकों का वध नहीं कराना चाहिये, इस विषय के दो श्लोक सुनो ॥२०॥

ना मण्डूकान् जिघांस त्वं कोपं सन्ध्यारयाच्युत ।
प्रक्षीयते धनोद्रेको जनानामविजानताम् ॥२१॥
प्रतिजानीहि नैतांस्त्वं प्राप्य क्रोधं विमोच्यसि ।
अलं कृत्वा तवाधर्मं मण्डूकैः किं हतैर्हि ते ।
तमेवंवादिनमिष्टजनशोकपरीतात्मा राजाथोवाच॥२२॥

हे अच्युत ! तुम मैंडकों का विध्वंस मत करो और अपने कोप को रोक लो। अज्ञानीं जनों का इस तरह तप या धन का ऐश्वर्य क्षीण हो जाता है। तुम निश्चय समझ लो, कि इन मैंडकों को यम के घाट पहुँचा कर तुम अपने क्रोध या शोक का प्रतीकार नहीं कर सकोगे। अब तुम अधर्म करना वन्द करो,इन निरपराधी मण्डूकों के मारने में क्या रखा है। इस प्रकार कहते हुए मण्डूक तपस्वी से अपनी प्रिया के शोक से व्याकुल राजा कहने लगा ॥२१--२२॥

न हि क्षम्यते तन्मया हनिष्याम्येतानेतै
र्दुरात्मभिः प्रिया मे भक्षिता सर्वथैव मे वध्या
मण्डूका नार्हसि विद्वन्मामुपरोद्धु मिति ॥॥२३॥

हे महात्मन् ! मैं इनको क्षमा नहीं करूंगा, वल्कि इनको खूब मारूंगा। इन दुष्टों ने मेरी प्रिया का भक्षण कर लिया है, इससे ये मैंडक, मुझे अवश्य ही मारने चाहिए। हे विद्वन् ! तुमको मुझे इस काम से रोकना नहीं चाहिए ॥२३॥

स तद्वाक्यमुपालभ्य व्यथितेन्द्रियमनाः प्रोवाच। प्रसीद राजन्नहमायुर्नाम मण्डूकराजो मम सा दुहिता सुशोभना नाम। तस्या हि दौःशील्यमेतद्बहवस्तथा राजानो विप्रलब्धपूर्वा इति ॥ २४ ॥

इसके ये वचन सुनकर मण्डूकराज की इन्द्रियां और मन को बड़ा दुःख पहुंचा। यह उससे बोला—हे राजन्! कृपा करो। मैं आयु नामक मण्डूकों का राजा हूँ। वह आपकी प्रिया मेरी ही पुत्री सुशोभना है। उसी का यह दुराचार है। उसने पूर्व-काल में भी इस प्रकार अनेक राजाओं को ठगा है ॥२४॥

तमब्रवीद्राजा तयास्म्यहमर्थी सा मे दीयतामिति।
अथैनां राज्ञे पिता ददावब्रवीच्चैनामेनं राजानं शुश्रूषस्वेति

राजा ने मण्डूकराज से कहा—मैं उसको बहुत चाहता हूं, तुम उसे मुझे प्रदान करो। इसके बाद मण्डूकराज ने अपनी सुशोभना को इस राजा के लिए दे दिया और उस अपनी पुत्री से कहा—तुम इस राजा की सेवा करो ॥२५॥

स एवमुक्त्वा दुहितरं क्रुद्धः शशाप यस्मात् त्वया राजानो विप्रलब्धा बहवस्तस्मादब्रह्मण्यानि तवापत्यानि भविष्यन्तीत्यनृतकत्वात्तवेति ॥२६॥

यह मण्डूकराज अपनी पुत्री से इतना कह कर, कुपित हो गया और उसको शाप देता हुआ कहने लगा---हे पुत्रि! तूने अनेक राजाओं का वञ्चन किया है, इससे तेरी सन्तान ब्रह्म-भक्ति से शून्य होगी, क्योंकि तूने मिथ्या व्यवहार किया है ॥२६॥

स च राजा तामुपलभ्य तस्यां सुरतगुणनिबद्धहृदयो लोकत्रयैश्वर्य्यमिवोपलभ्य हर्षेण वाष्पकलया वाचा प्रणिपत्याभिपूज्य मण्डूकराजमब्रवीत्अनुगृहीतोऽस्मीति। स च मण्डूकराजो दुहितरमनुज्ञाप्य यथागतमगच्छत् ॥

यह राजा इसके सम्भोग के आनन्द में फंसा हुआ था, इस से यह इसको पाकर त्रिलोकी के ऐश्वर्य पाने के सदृश प्रसन्न हुआ। इसने हर्ष के आँसुओं से भरी वाणी के साथ मण्डूकराज को प्रणाम करके उसका आदर प्रकट किया और उस से कहा-आपने मुझ पर बड़ी कृपा की। मण्डूकराज भी अपनी पुत्री को विदा करके अपनी इच्छानुसार लौट गया ॥२७॥

अथ कस्यचित् कालस्य तस्यां कुमारास्त्रयस्तस्य राज्ञः सम्बभूवुः शलो दलो बलश्चेति। ततस्तेषां ज्येष्ठं शलं समये पिता राज्येऽभिषिच्य तपसि धृतात्मा वनं जगाम ॥२८॥

इसके अनन्तर कुछ काल के चले जाने पर इस कन्या में इस राजा के तीन पुत्र उत्पन्न हुए। जिनका नाम शल, दल और बल थे। इन सबमें बड़ा शल था। परीक्षित् राजा समय पर इसको राज्य सिंहासन पर बैठाकर तप करने के लिए वन में चला गया ॥२८॥

अथकदाचिच्छलो मृगयामनुचरन् मृगमासाद्य रथेनान्वधावत सूतञ्चोवाच शीघ्रं मां वाहयस्वेति स तथोक्तः सूतो राजानमब्रवीत् ॥२८॥

अब शल भी, कभी मृगया (शिकार) के लिए वन में गया और मृग को देखकर रथ से उसके पीछे दौड़ा। यह अपने सारथि से कहने लगा—हे सारथि, तुम मुझे शीघ्र ले चलो। राजा के इतना कहने पर सारथि राजा से बोला ॥२९॥

न क्रियतामनुबन्धो नैष शक्यस्त्वया मृगोऽयं ग्रहीतुम्।
यद्यपि ते रथे युक्तौ वाम्यौ स्यातामिति ॥३०॥

हे राजन्, तुम अधिक आग्रह मत करो। इस मृग को पकड़ नहीं सकोगे। चाहे तुम रथ में वामी अश्व जोड़ लो ॥३०॥

ततोऽब्रवीद्राजा सूतमाचक्ष्व मे वाम्यौ हन्मि वा त्वामिति
स एवमुक्तो राजभयभीतः सूतो वामदेव शापभीतश्च
सन्नाचख्यौ राज्ञे ॥३१॥

यह सुनकर राजा ने सारथि से कहा—हे सूत, तुम मुझे उन अश्वों का वृत्तान्त सुनाओ, कि वे अश्व वामी क्यों कहलाते हैं। तुम या तो उनका वृत्तान्त सुना दो, नहीं तो मैं तुमको मार डालूँगा। जब राजा ने इतना कहा—तो सारथि राजा से भयभीत हो गया, परन्तु वामदेव के शाप के डर से राजा को उनका वृत्तान्त भी नहीं सुना सका ॥३१॥

ततः पुनः स राजा खड्गमुद्यम्य शीघ्रं कथयस्वेति
तमाह हनिष्ये त्वामिति। स तदाह राजभयभीतः
सूतो वामदेवस्याश्वौ वाम्यौ मनोजवाविति ॥३२॥

अब राजा ने तलवार निकाल ली, कि तू या तो शीघ्र इस कथा को सुना, नहीं तो मैं तुझे मारता हूँ। राजा से डर कर सूत

बोला--वामदेव के अश्वों को वामी कहते हैं। ये मन के समान वेगशील हैं ॥३२॥

अथैनमेवं ब्रुवाणमब्रवीद्राजा वामदेवाश्रमं याहीति।
स गत्वा वामदेवाश्रमं तमृषिमब्रवीत् ॥३३॥

जब इसने इतना कहा तो राजा इससे बोला--तुम वामदेव के आश्रम को चलो। यह राजा वामदेव के आश्रम में पहुँचा और उस ऋषि से कहने लगा ॥३३॥

भगवन् मृगो मे विद्धः पलायते सम्भावयितुमर्हसि
वाम्यौ दातुमिति। तमब्रवीदृषिर्ददानि ते वाम्यौ
कृतकार्य्येण भवता मम वाम्यौ निर्यात्यौ क्षिप्रमिति॥

हे भगवन्, मैंने एक हिरन को बाण से बींध लिया था, परन्तु वह भाग गया। अब तुम अपने वामी अश्वोंको देकर मेरा सत्कार करो। ऋषि ने कहा—मैं तुम्हें वामी अश्व तो दे दूँगा, परन्तु जब तुम्हारा काम निकल जावे, शीघ्र ही इन अश्वों को लौटा देना ॥३४॥

स च तावश्वौ प्रतिगृह्यानुज्ञाप्य ऋषिं प्रायाद्वामी
प्रयुक्तेन रथेन मृगं प्रति गच्छंश्चाब्रवीत् सूतमश्व-
रत्नाविमौ अयोग्यौ ब्राह्मणानां नैतौ प्रतिदेयो वाम-
देवायेत्युक्त्वा मृगमवाप्य स्वनगरमेत्याश्वावन्त
पुरेऽस्थापयत् ॥ ३५ ॥

यह उन अश्वों को लेकर और ऋषि से विदा होकर उन वामी अश्वों से युक्त रथ से उस मृग के पीछे चल

दिया। यह मार्ग में चलता हुआ, सारथि से बोला— ये अश्व रत्न हैं। ब्राह्मणों के पास इनका रहना व्यर्थ प्रतीत होता है। अब ये वामदेव को नहीं लौटाने चाहिए। यह कह कर मृग को जा पकड़ा। इसके बाद अपने नगर को लौट आया और अश्वों को रनवास में बंधवा दिया ॥३५॥

अथर्षिश्चिन्तयामास तरुणो राजपुत्रः कल्याणं पुत्र-
मासाद्य रमते। न मे प्रतिनिर्य्यातयत्यहो कष्टमिति॥

अब ऋषि ने विचारा कि राज-पुत्र युवा मनुष्य है। कल्याण-कारी पुत्र को पाकर निश्चिन्त हो रहा है। यह मेरी धरोहर को वापिस नहीं लौटाता है, यह बड़ी बुरी बात है ॥३६॥

स मनसा विचिन्त्य मासि पूर्णे शिष्यमब्रवीत्।
गच्छात्रेय राजानं ब्रूहि यदि पर्य्याप्तं तदा
निर्य्यातयोपाध्यायवाम्याविति ॥ ३७ ॥

इसने मन में विचार कर महीना पूरा होने पर अपने शिष्य से कहा- हे आत्रेय! तू जा और राजासे कह—यदि तुम्हारा कार्य पूरा हो चुका, तो हमारे आचार्य के अश्वों को लौटा दो ॥३७॥

स गत्वैव तं राजानमब्रवीत् तं राजा प्रत्युवाच
राज्ञामेतद्वाहनमनर्हा ब्राह्मणा रत्नानामेवंविधानां
किं ब्राह्मणानामश्वैः कार्य्यं साधु गम्यताम् ॥३८॥

इसने जाकर राजा से कहा—राजा ने इस को उत्तर दिया। ये वाहन तो राजा को ही शोभा देते हैं। ब्राह्मण लोग ऐसे रत्नों के रखने के योग्य नहीं है। ब्राह्मण, अश्वों का क्या करेंगे। तुम शीघ्रता से भाग जाओ ॥३८॥

स गत्वैतदुपाध्यायायाचष्ट तच्छ्रुत्वा वचनमप्रियं वामदेवः क्रोधपरीतात्मा स्वयमेव राजानामभिगम्याश्वार्थमचोदयन्नचाददद्राजा ॥३९॥

इसने जाकर सारा समाचार अपने गुरु को सुना दिया। ये अप्रिय वचन सुनकर वामदेव क्रोध में भर गया और स्वयं राजा के पास जाकर अश्वों को मांगा, परन्तु राजा ने अब भी अश्व नहीं लौटाए ॥३९॥

वामदेव उवाच—

प्रयच्छ वाम्यौ मम पार्थिव त्वं कृतं हि ते कार्य्यमाभ्यामशक्यम् । मा त्वावधीद्वरुणो घोरपाशैर्ब्रह्म क्षत्रस्यान्तरे वर्त्तमानम् ॥४०॥

वामदेव कहने लगा--हे राजन्! तुम मेरे इन दोनों वामी अश्वों को लौटा दो, इन्होंने तुम्हारा अशक्य कार्य भी कर दिया है। कहीं ऐसा न हो, कि ब्रह्म और क्षत्र के मध्य में स्थित वरुण देवता कहीं अपनी घोर पाशों से तुझे मार डाले ॥४०॥

राजोवाच—

अनड्वाहौ सुब्रतौ साधुदान्तावेतद्विप्राणां वाहनं वामदेव । ताभ्यां याहि त्वं यत्र कामो महर्षे छन्दांसि वै त्वादृशं संवहन्ति ॥४१॥

राजा बोला--हे वामदेव! सुन्दर, सुडौल शक्ति-शाली बैल ब्राह्मणों की सवारी होते हैं। हे महर्षे! तुमको जहां जाना हो, इन बैलों के ऊपर चढ़कर जा सकते हो और तुम जैसे महर्षि को तो वेद के छन्द ही उड़ाए फिरते हैं ॥४१॥

वामदेव उवाच—

छन्दांसि वै मादृशं संवहन्ति लोकेऽमुष्मिन् पार्थिव यानि सन्ति। अस्मिंस्तु लोके मम यानमेतदस्मद्विधानामपरेषाञ्च राजन् ॥४२॥

हे राजन्! वेद के छन्द मुझ जैसे ब्राह्मण के परलोक में वाहन वन सकते हैं। इस लोक में तो मेरे ये अश्व ही वाहन है। मेरे ही क्या? अन्य सबके भी इस लोक में तो अश्वादि ही वाहन होते हैं ॥४२॥

राजोवाच—

चत्वारस्त्वां गर्दभाः संवहन्तु श्रेष्ठाश्वतर्यौ हरयो वातरंहाः। तैस्त्वं याहि क्षत्रियस्यैष वाहो ममैव वाम्यौ न तवैतौ हि विद्धि ॥५३॥

राजा बोला--तुम चार गर्दभों (गुजराती अश्व) पर अपना यान बना सकते हो या उत्तम घोड़ी तथा अन्य वायु के समान वेगशील अश्व तुम्हारी सवारी में प्रयुक्त किये जा सकते हैं। तुम उनसे यात्रा करो। यह उत्तम वाहन तो क्षत्रिय के ही योग्य है, इस लिए ये दोनों वामी अश्व मेरे है, तेरे नहीं हो सकते-यह खूब समझ लो ॥४३॥

वामदेव उवाच—

घोरं व्रतं ब्राह्मणस्यतदाहुरेतद्राजन् यदि हा जीवमानः। अयस्मया घोररूपा महान्तश्चत्वारो वा यातुधानाः सुरौद्राः मया प्रयुक्तास्त्वद्वधमीप्समाना वहन्तु त्वां शितशूलाश्चतुर्धा॥

हे राजन् ! जो तुम, ब्राह्मण के धन से अपना निर्वाह करना चाहते हो, यह घोर अनर्थ है । लोह के सदृश दृढ़, घोर रूप वाले, महाकाय, भयानक, मेरे प्रयुक्त किये हुए, तीक्ष्ण शूल-धारी, राक्षस, तेरे वध की इच्छा से चार भागों में तुझे बांट कर अपने ऊपर धारण करें ॥४४॥

राजोवाच—

ये त्वां विदुर्ब्राह्मणं वामदेव वाचा हन्तुं मनसा कर्मणा वा । ते त्वां सशिष्यमिह पातयन्तु मद्वाक्यनुन्नाः शितशूलहस्ताः ॥४५॥

राजा ने कहा--हे वामदेव ! जो मन वचन और कर्म से भी तुझे ब्राह्मण जानते हैं, वे तीक्ष्ण शूल-धारी राक्षस, मेरे वाक्य से प्रेरित होकर शिष्यों के सहित तुझे ही मार डालेंगे ॥४५॥

वामदेव उवाच—

ममैतौ वाम्यौ प्रतिगृह्य राजन् पुनर्ददामीति प्रपद्यसे त्वम् । प्रयच्छ शीघ्रं मम वाम्यौ त्वमश्वौ यद्यात्मानं जीवितुं ते क्षमं स्यात् ॥४६॥

हे राजन ! तुम मेरे वामी नामक अश्वों को छीन कर अन्य अश्वों के दाता होने की डींग मार रहे हो । जो तुम जीवन की इच्छा करते हो, तो शीघ्र मेरे लिए वामी अश्वों को प्रदान कर दो ॥४६॥

राजोवाच—

न ब्राह्मणेभ्यो मृगया प्रसूता न त्वानुशास्म्यद्यप्रभृति ह्यसत्यम् । तवैवाज्ञां संप्रणिधाय सर्वां तथा ब्रह्मन् पुण्यलोकं लभेयम् ॥४७॥

राजा ने कहा--हे ब्रह्मन् ! ब्राह्मणों को शिकार खेलना शास्त्रोक्त नहीं है। मैंने मिथ्या भाषण करते हुए भी तुझे दण्ड नहीं दिया है। अच्छी बात है---अब से आगे तुम्हारी आज्ञा को मानकर मैं ऐसे कर्म करूंगा, जिससे पुण्य लोक को जा सकूंगा ॥४७॥

वामदेव उवाच—

नानुयोगा ब्राह्मणानां भवन्ति वाचा राजन् मनसा कर्मणा वा। यस्त्वेवं ब्रह्म तपसान्वेति विद्वांस्तेन श्रेष्ठो भवति हि जीवमानः ॥४८॥

वामदेव ने कहा--हे राजन् ! तुम्हारा राज-दण्ड, मन, वाणी, या कर्म से ब्राह्मणों पर नहीं चल सकता है। जो मनुष्य, धर्म के साथ ब्राह्मणों का अनुचर होता है, वही विद्वान और श्रेष्ठ है तथा उसे ही जीवित समझना चाहिए॥४८॥

मार्कण्डेय उवाच—

एवमुक्ते वामदेवेन राजन् समुत्तस्थू राक्षसा घोररूपाः। तै शूलहस्तैर्वध्यमानः स राजा प्रोवाचेदं वाक्यमुच्चैस्तदानीम्

इक्ष्वाकवो यदि ब्रह्मन् दलो वा विधेया मे यदि चेमे विशोऽपि। चोत्सृदयेऽहं वामदेवस्य वाम्यौ नैवंविधा धर्मशीला भवन्ति ॥५०॥

मार्कण्डेय ने कहा--हे राजन् ! वामदेव के इतना कहते ही घोर रूप वाले राक्षस शूल लेकर खड़े हो गए। शूल धारी उन राक्षसों

से मारा जाता हुआ, वह राजा उच्च स्वर से बोला--हे ब्रह्मन्! इक्ष्वाकुवंशी क्षत्रिय, छोटा भाई दल तथा सारी प्रजा, मेरी आज्ञा मानने वाली हो जावे, तो मैं तुम्हें वामी अश्वों को लौटा सकता हूं, परन्तु ये लोग धर्म-शील नहीं हो सकते हैं ॥५०॥

एवं ब्रुवन्नेव स यातुधानैर्हतो जगामाशु महीं क्षितीशः
ततो विदित्वा नृपतिं निपातितमिक्ष्वाकवो वै दलमभ्यषिञ्चन्

राजा तो यह कह ही रहा था, कि राक्षसों ने इसे मार डाला। यह राजा अब पृथिवी पर गिर गया। जब इक्ष्वाकु वंशी, क्षत्रियों ने राजा को गिरा हुआ देख लिया, तो उन्होंने दल को राज्य सिंहासन पर बैठा दिया ॥५१॥

राज्ये तदा तत्र गत्वा स विप्रः प्रोवाचेदं वचनं वामदेव।
दलं राजानं ब्राह्मणानां हि देयमेवं राजन् सर्वधर्मेषु दृष्टम् ॥

हे राजन्! अब राज्य में जाकर ब्रह्मर्षि वामदेव ने यह वचन कहा—इस राजा दल को ब्राह्मणों का ऋण देना है। इस प्रकार का शेष ऋण सब धर्मों में देने का विधान है ॥५२॥

बिभेषि चेत्वमधर्मान्नरेन्द्र प्रयच्छ मे शीघ्रमेवाद्य वाम्यौ।
एतच्छ्रुत्वा वामदेवस्य वाक्यं स पार्थिवः सूतमुवाच रोषात्

हे राजन्! यदि तुम को अधर्म से कुछ भी डर है, तो तुम प्रथम मेरे वामी अश्वों को प्रदान करो। राजा, वामदेव के ये वचन सुन कर सारथि से क्रोध पूर्वक कहने लगा ॥५३॥

एकं हि मे सायकञ्चित्ररूपं दिग्धं विषेणाहर सङ्गृहीतम्।
येन विद्धो वामदेवः शयीत सन्दश्यमानः श्वभिरार्त्तरूपः ॥

मेरा अद्वितीय, अद्भुत विष में वुझा हुआ वाण रखा है, तुम उसको ले आवो। इस वाण से विंध कर यह वामदेव, तड़फड़ा कर कुत्तों के देखते २ पृथिवी पर सो जावेगा ।।५४।।

जानामि पुत्रं दशवर्षं तवाहं जातं महिष्यां श्येनजितं नरेन्द्र
तं जहि त्वं मद्वचनात् प्रणुन्नस्तूर्णं प्रियैः सायकैर्घोररूपैः ।।

हे नरेन्द्र ! मैं यह जानता हूं, कि तेरे दश वर्ष का राजमहिषी में उत्पन्न हुआ, श्येनजित नामक पुत्र है। तू मेरे वचनों से प्रेरित होकर अपने प्रिय, घोर वाणों से उलटा उसे ही मार लेगा ।।५५।।

मार्कण्डेय उवाच—

एवमुक्ते वामदेवेन राजन्नन्तःपुरे राजपुत्रं जघान ।
स सायकस्तिग्मतेजा विसृष्टः श्रुत्वा दलस्तत्र वाक्यं वभाषे।।

मार्कण्डेय बोले—हे राजन् ! वामदेव के इतना कहने पर राजा दल ने तीक्ष्ण वाण छोड दिया। उस वाण ने अन्तःपुर में जाकर राजपुत्र को मार डाला। जव राजा दल ने यह सुना-- तो वह यह वाक्य बोला ।।५६।।

राजोवाच—

इक्ष्वाकवो हन्त चरामि वः प्रियं निहन्मीमं विप्रमद्य प्रमथ्य।
आनीयतामपरस्तिग्मतेजाः पश्यध्वं मे वीर्य्यमद्य क्षितीशाः।।

हे इक्ष्वाकुवंशी क्षत्रियो ! मैं तुम्हारा प्रिय कर देता हूं और इस ब्राह्मण को दुःखी करके आज मैं मार लेता हूं। अब तुम दूसरा तीक्ष्ण वाण लाओ और आज मेरे पराक्रम को देखो।

वामदेव उवाच—

यस्त्वमेनं सायकं घोररूपं विषेण दिग्धं मम सन्दधासि ।
नत्वेतं त्वं शरवर्षं विमुक्तं सन्धातुं वा शक्यसे मानवेन्द्र ॥

वामदेव ने कहा—हे राजन् ! जो तुम इस विष में बुझे हुए घोर बाण को मेरे ऊपर मारने को धनुष पर चढ़ाते हो। हे महीपाल ! इस तीक्ष्ण बाण को छोड़ने या चढ़ाने में तुम समर्थ नहीं हो सकोगे ॥५८॥

राजोवाच—

इक्ष्वाकवः पश्यत मां गृहीतं न वै शक्नोम्येष शरं विमोक्तुम्
नचास्य कर्त्तुं नाशमभ्युत्सहामि आयुष्मान् वै जीवतु वामदेवः

राजा ने कहा—हे इक्ष्वाकुवंशी-राजाओ ! मैं जड़ी-भूत हो गयाहूं और बाण छोड़ नहीं सकता, इससे अब मैं इसका नाश नहीं कर सकूंगा । यह वामदेव आयुष्मान् होकर संसार में जीवित रहे ॥५६॥

वामदेव उवाच—

संस्पृश्यैनां महिषीं सायकेन ततस्तस्मादेनसो मोक्ष्यसे त्वम्
ततस्तथा कृतवान् पार्थिवस्तु ततो मुनिं राजपुत्री बभाषे ॥

वामदेव बोला—हे राजन् ! अब तुम इस बाण से अपनी राज-महिषी की हत्या करो। इससे तुम इस पाप से छुटकारा पा जावोगे। राजा ने वैसा ही किया। अब इस मुनि से राजपुत्री बोली ॥६०॥

राजपुत्र्युवाच—

यथायुक्ता वामदेवाहमेनं दिने दिने सन्दिशन्ति नृशंसम् ।
ब्राह्मणेभ्यो मृगयती सुनृतानि तथा ब्रह्मन् पुण्यलोकं लभेयम्

हे वामदेव ! मैं इस निर्दयी पति को बार २ योग्य रीति से प्रतिदिन कल्याणकारी वाक्यों से समझाती रहती थी, कि तुम ब्राह्मणों के सेवक बनो । मैं तो ब्राह्मणों की सेवा की ही अभिलाषा रखती थी, कि जिससे पुण्य लोक की प्राप्ति हो सके ।।६१।।

वामदेव उवाच—

त्वया त्रातं राजकुलं शुभेक्षणे वरं वृणीष्वाप्रतिमं ददामि ते
प्रसाधीसं स्वजनं राजपुत्रि इक्ष्वाकुराज्यं सुमहच्चाप्यनिन्द्ये

वामदेव ने कहा—हे मृगनयनी ! तूने इस राजकुल की रक्षा कर ली । अब तू वरदान मांग--मैं तुझे अद्वितीय वर प्रदान करूंगा । हे निन्दा के अयोग्य राजपुत्री ! अब तू इक्ष्वाकुवंश के विशाल राज्य और अपनी प्रजा का शासन कर ।।६२।।

राजपुत्र्युवाच--

वरं वृणे भगवन्नेवमेव विमुच्यतां किल्विषादद्य भर्त्ता ।
शिवेन च ध्याहि सपुत्रबान्धवं वरो वृतो ह्येष मया द्विजाग्र्य

राजपुत्री बोली—हे ब्रह्मन् ! मैं तो यही वरदान मांगती हूं, कि मेरा पति इस ब्रह्महत्या के उद्योग के पाप से छूट जावे ! हे द्विज-श्रेष्ठ ! अपने पुत्र और बान्धवों के साथ मेरा भर्ता कल्याण प्राप्त करे--मेरा यही दूसरा वर है ।।६३।।

मार्कण्डेय उवाच

श्रुत्वा वचः स मुनी राजपुत्र्यास्तथास्त्विति प्राह कुरुप्रवीर
ततः स राजा मुदितो वभूव वाम्यौ चास्मै प्रददौ सम्प्रणाम्य

इति श्रीमहाभारत आरण्यपर्वणि मार्कण्डेयसमास्यापर्वणि
वामदेवचरिते द्विनवत्यधिकशततमोऽध्यायः ।।१९२।।

मार्कण्डेय ने कहा—हे कुरुप्रवीर ! राजपुत्री के ये वचन सुनकर मुनि ने कहा---अच्छी वात है, ऐसा ही होगा। अब राजा भी प्रसन्न हो गया और दोनों वामी अश्व इसको प्रदान कर दिये ।।६४।।

इति श्रीमहाभारत वनपर्वान्तर्गत मार्कण्डेयसमास्यापर्व में वामदेव चरित का एक सौ वानवेवां अध्याय समाप्त हुआ।

एक सौ तिरानवेवां अध्याय

वैशम्पायन उवाच—

मार्कण्डेयमृषयो ब्राह्मणा युधिष्ठिरश्च पर्य्यपृच्छन्नृषिः
केन दीर्घायुरासीद्बकः। मार्कण्डेयस्तु तान् सर्वानुवाच
महातपा दीर्घायुश्च बको राजर्षिर्नात्र कार्य्याविचारणा १

वैशम्पायन ने कहा—हे राजन् ! महर्षि मार्कण्डेय से अन्य ऋषि और राजा युधिष्ठिर ने पूछा—हे मुने ! अब तुम, यह बात बताओ, कि वक ऋषि की किस कारण से इतनी लम्बी आयु

हुई। मार्कण्डेय ने उन सब से कहा—महातपस्वी राजर्षि बक, दीर्घायु था, इस विषय में कुछ भी सन्देह नहीं करना चाहिए ॥१॥

एतच्छ्रुत्वा तु कौन्तेयो भ्रातृभिः सह भारत।
मार्कण्डेयं पर्य्यपृच्छद्धर्मराजो युधिष्ठिरः ॥२॥

हे भारत! यह सुन कर कुन्ती-पुत्र, धर्मराज युधिष्ठिर ने अपने भाइयों के साथ मुनि मार्कण्डेय से फिर पूछा ॥२॥

बकदाल्भ्यौ महात्मानौ श्रूयेते चिरजीविनौ।
सखायौ देवराजस्य तावृषी लोकसम्मतौ ॥३॥
एतदिच्छामि भगवन् बकशक्रसमागमम्।
सुखदुःखसमायुक्तं तत्वेन कथयस्व मे ॥४॥

हे भगवन्! बक और दाल्भ्य नामक दो महात्मा ऋषि चिरञ्जीवी सुने जाते हैं। ये इन्द्र के सखा और प्रजा में बड़े प्रतिष्ठित माने जाते थे। अब मैं बक और इन्द्र के समागम को सुनना चाहता हूं, जो सुख और दुःख से युक्त है। आप मुझे ठीक २ सुनाइये ॥३-४॥

वृत्ते देवासुरे राजन् संग्रामे लोमहर्षणे।
त्रयाणापि लोकानामिन्द्रो लोकाधिपोऽभवत् ॥५॥

मार्कण्डेय बोले—हे राजन्! जब वृत्रासुर के और देवों के साथ लोमहर्षण कारी संग्राम हो चुका, तब त्रिलोकी का स्वामी, देवराज इन्द्र, माना गया ॥५॥

मार्कण्डेय उवाच

सम्यग्वर्षति पर्ज्जन्यः शस्यसम्पद उत्तमाः ।
निरामयाः सुधर्मिष्ठाः प्रजा धर्मपरायणाः ॥६॥

अब मेघ, ठीक समय पर बरसते थे और अन्न की उत्पत्ति बड़े उत्तम ढ़ंग से हो रही थी। इस समय धर्मात्मा प्रजा,बड़े धर्म के कार्य करती हुई बड़ी सुखी थी ॥६॥

मुदितश्च जनः सर्वः स्वधर्मेषु व्यवस्थितः ।
ताः प्रजा मुदिताः सर्वा दृष्ट्वा बलनिसूदनः ॥७॥
ततस्तु मुदितो राजन् देवराजः शतक्रतुः ।
ऐरावतं समास्थाय ताः पश्यन्मुदिताः प्रजाः ॥८॥

सारे मनुष्य, बड़े प्रसन्न थे और अपने २ धर्म में स्थित थे। इस प्रकार अपनी सारी प्रजा को प्रसन्न देखकर देवराज इन्द्र बड़ा प्रसन्न हुआ और इस आनन्द युक्त प्रजा को देखने के लिए ऐरावत हाथी पर बैठ कर चल दिया ॥७-८॥

आश्रमांश्च विचित्रांश्च नदीश्च विविधाः शुभाः ।
नगराणि समृद्धानि खेटान् जनपदांस्तथा ॥९॥
प्रजापालनदक्षांश्च नरेन्द्रान् धर्मचारिणः ।
उदपानं प्रपा वापीतड़ागानि सरांसि च ॥१०॥
नानाब्रह्मसमाचारैः सेवितानि द्विजोत्तमैः ।

इन्द्र ने विचित्र आश्रम, अनेक सुन्दर नदी, समृद्धि-शील नगर, ग्राम, देश, प्रजा पालन में चतुर, धर्मात्मा राजा लोग, कूप,

प्याऊ, वापी, तालाब, अनेक भाँति से ब्रह्म-विचार में तत्पर, द्विजों से सेवित सरोवर देखे ॥६--१०॥

ततोऽवतीर्य्य रम्यायां पृथ्व्यां राजन् शतक्रतुः॥११॥
तत्र रम्ये शिवे देशे बहुवृक्षसमाकुले ।
पूर्वस्यादिशि रम्यायां समुद्राभ्यासतो नृप ॥१२॥
तत्राश्रमपदं रम्यं मृगद्विजनिषेवितम् ।
तत्राश्रमपदे रम्ये बकं पश्यति देवराट् ॥१३॥

हे राजन्! अब शतक्रतु, इन्द्र, पृथिवी पर आया। यहाँ इसने अनेक भाँति के वृक्षों से समाकीर्ण, सुन्दर प्रदेश पर पूर्व दिशा में समुद्र के तट के समीप, सुन्दर मृग पक्षियों से समन्वित, एक आश्रम और उसी रमणीक आश्रम में बैठा हुआ बक ऋषि, देखा ॥११-१३॥

बकस्तु दृष्ट्वा देवेन्द्रं दृढं प्रीतमनाभवत् ।
पाद्यासनार्घ्यदानेन फलमूलैरथार्चयत् ॥१४॥

महर्षि बक, इन्द्र को देखकर अत्यन्त प्रसन्न हुआ और इसने पाद्य, आसन, अर्घ्य, फल, मूल से इन्द्र की पूजा की ॥१४॥

सुखोपविष्टो वरदस्ततस्तु बलसूदनः ।
ततः प्रश्नं बकं देव उवाच त्रिदशेश्वरः ॥१५॥

अब वरदायी, बल-दैत्य-नाशक, देवराज इन्द्र, सुख से बैठ गया और बक मुनि से एक प्रश्न करने लगा ॥१५॥

शतं वर्षसहस्राणि मुने जातस्य तेऽनघ ।
समाख्याहि मम ब्रह्मन् किं दुःखं चिरजीविनाम् १६॥

हे ब्रह्मन्! आपको उत्पन्न हुए एक लाखवर्ष हो चुके, अब आप ज़रा यह बताओ, कि अधिक जीने वाले मनुष्यों को क्या दुःख भोगना पड़ता है ॥१६॥

बक उवाच—

अप्रियैः सह संवासः प्रियैश्चापि विनाभव ।
असद्भिः सम्प्रयोगश्च तद्दुःखं चिरजीविनाम् ॥१७॥

बक ने कहा—हे इन्द्र ! चिरञ्जीवियों का अप्रिय पुरुषों से कभी न कभी मिलना हो ही जाता है और अपने प्रियजनों से वियोग होता है, तथा असज्जनों का संयोग आ पड़ता है, बस ? चिरंजीवी पुरुषों को ये बड़े क्लेश हैं ॥१७॥

पुत्रदारविनाश्यत्र ज्ञातीनां सुहृदामपि ।
परेष्वायत्तताकृच्छ्रं किन्नु दुखतरं ततः ॥१८॥

इस लम्बी आयु में विनाशी पुत्र, स्त्री, जाति और मित्रों का नाश हो जाता है। इस वृद्धावस्था में मनुष्य अन्य के अधीन होजाता है,बताओ, इससे अधिक और क्या दुःख हो सकता है १८

नान्यद्दुःखतरं किञ्चिल्लोकेषु प्रतिभाति मे ।
अर्थैर्विहीनः पुरुषः परैः सम्परिभूयते ॥१६॥

मुझे तो संसार में इस से अधिक कोई दुःख ही दिखाई नहीं देता है, कि पुरुष, धन-हीन होकर अन्यों से तिरस्कार का पात्र बनाया जाता है ॥१६॥

अकुलानां कुले भावं कुलीनानां कुलक्षयम् ।
संयोगं विप्रयोगश्च पश्यन्ति चिरजीविनः ॥२०॥

चिरञ्जीवी पुरुष, अकुलीनों को कुलीन, कुलीनों के कुल का नाश, अनेक मित्रों से मिलना और बिछुड़ना ही देखते रहते हैं २०

अपि प्रत्यक्षमेवैतत्तव देव शतक्रतो ।
अकुलानां समृद्धानां कथं कुलविपर्य्ययः ॥२१॥

हे शतक्रतो! इन्द्र!तुमतो यह प्रत्यक्ष देख रहे हो,कि अकुलीन समृद्धि-शाली होकर किस प्रकार कुलीन बन जाते हैं २१॥

देवदानवगन्धर्वमनुष्योरगराक्षसाः ।
प्राप्नुवन्ति विपर्य्यासं किन्नु दुःखतरं ततः ॥२२॥

देव, दानव, गन्धर्व, मनुष्य, उरग और राक्षस भी उलट पलट कर उपर नीचे हो जाते हैं। क्या इससे अधिक क्लेशकारी कोई घटना मानी जा सकती है ॥२१॥

कुलेजाताश्च क्लिश्यन्ते दौष्कुलेयवशानुगाः ।
आढ्यैर्दरिद्रावमताः किन्नु दुःखतरं ततः ॥२३॥

कुल में उत्पन्न हुए उत्तम पुरुष, दुष्ट कुलों के वश में पड़ जाते हैं और ये इन को तिरस्कृत करते हैं, धनबान् दरिद्रों का अनादर करते हैं,क्या यह दुःख की बात नहीं है॥२३॥

लोके वैधर्म्यमेतत्तु दृश्यते बहुविस्तरम् ।
हीनज्ञानाश्च हृष्यन्ते क्लिश्यन्ते प्राज्ञकोविदाः ।
बहु दुःखपरिक्लेशं मानुष्यमिह दृश्यते ॥२४॥

संसार में यह उलटी बात बहुधा विस्तार के साथ देखी जाती है, कि ज्ञान-हीन जन आनन्द उड़ा रहे हैं और विद्वान् दुःखी हैं। इससे मुझे तो यही प्रतीत होता है, कि यह मनुष्य जन्म ही अनेक दुःख और क्लेशों का घर है ॥२४॥

इन्द्र उवाच—

पुनरेव महाभाग देवर्षिगणसेवित ।
समाख्याहि मम ब्रह्मन् किं सुखं चिरजीविनाम् ॥२५

इन्द्र ने कहा--हे महा भाग ! आप तो देव और ऋषियों के गणों के वन्दनीय हो। अब आप मुझे यह बताओ, कि चिरञ्जीवी पुरुषों को क्या सुख रहता है ॥२५॥

वक उवाच----

अष्टमे द्वादशे वापि शाकं यः पचते गृहे ।
कुमित्राण्यनपाश्रित्य किं वै सुखतरं ततः ।
यत्राहानि न गण्यन्ते नैनमाहुर्महाशनम् ॥२६॥

वक ने कहा--हे इन्द्र ! आठवें या बारहवें पहर में भी जो शाक बनाकर अपना उदर भर लेता है, परन्तु जिसका कुमित्रों के साथ मेल नहीं होता और जहां दुःखसे दिन गिने नहीं जाते हैं इससे अधिक और क्या सुख है। इस पराधीन भोजन को उत्तम भोजन ही नहीं माना है ॥२६॥

अपि शाकं पचानस्य सुखं वै मघवन् गृहे ।
अर्जितं स्वेन वीर्य्येण नाप्यपाश्रित्य कञ्चन ॥२७॥

हे मघवन् ! अपनी शक्ति से कमाये हुए शाक को पकाकर जो घर पर खा लेता है, परन्तु जो अन्य के अधीन नहीं है, वही सुखी है ॥२७॥

फलं शाकमपि श्रेयो भोक्तुं ह्यकृपणं गृहे ।
परस्य तु गृहे भोक्तुः परिभूतस्य नित्यशः ॥२८॥

दीनता से रहित होकर अपने घर पर फल और शाक खा लेना अच्छा है, परन्तु तिरस्कार के साथ अन्य के घग पर उत्तम भोजन खाना भी वड़ा ही दुःखकारी है ॥२८॥

सुमृष्टमपि न श्रेयो विकल्पोऽयमतः सताम् ।
श्ववत् कीलालपो यस्तु परान्नं भोक्तुमिच्छति ॥२९॥

वड़ा श्रेष्ठ भोजन भी तिरस्कार के साथ खाया हुआ, सुखकारी नहीं है, यही विद्वानों का मत है। जो अन्य का अन्नखाना चाहता है, वह तो कुत्ते की भांति पय पान करता है ॥२९॥

धिगस्तु तस्य तद्भुक्तं कृपणस्य दुरात्मनः ।
यो दत्त्वातिथिभूतेभ्यः पितृभ्यश्च द्विजोत्तमः ॥३०॥

उस कृपण, दुरात्मा के भोजन को धिक्कार है, जो द्विज, अतिथि, प्राणी और पितरों के विना अर्पण किये भोजन करता है ॥३०॥

शिष्टान्यन्नानि यो भुङ्क्ते किं वै सुखतरं ततः ।
अतो मृष्टतरं नान्यत् पूतं किञ्चित् शतक्रतो ॥३१॥
दत्वा यस्त्वतिथिभ्योऽन्नं भुङ्क्ते तेनैव नित्यशः ।

जो इन अतिथि आदि से शेष रहे अन्न को खाता है, उसको इससे अधिक सुख नहीं मानना चाहिये। हे शतक्रतो! इससे अधिक मिष्ट और पवित्र कुछ नहीं है, जो अतिथि आदि को अन्न देकर शेष अन्न का भोजन किया जाता है ॥३१॥

यावतो ह्यन्धसः पिण्डानश्नाति सततं द्विजः॥३२॥
तावतां गोसहस्राणां फलं प्राप्नोति दायकः।
यदेनो यौवनकृतं तत्सर्वं नश्यते ध्रुवम् ॥३३॥

अतिथि द्विज, अन्न के जितने ग्रास खाता है, उतने ही सहस्र गौओं के दान का फल उस दाता गृहस्थ को मिलता है और जो यौवन अवस्था में पाप किये जाते हैं, उनसे छुटकारा मिल जाता है ॥३२-३३॥

सदक्षिणस्य भुक्तस्य द्विजस्य तु करे गतम्।
यद्वारि वारिणा सिञ्चेत् तद्ध्येनस्तरते क्षणात् ॥३४॥

दक्षिणा के साथ द्विज के भोजन करने पर जो द्विज के हाथ के पानी को अपने शुद्ध जल से धो डालता है, इससे उस गृहस्थी का पाप शीघ्र ही नष्ट होजाता है ॥३४॥

एताश्चान्याश्च वै वह्वीः कथयित्वा कथाः शुभाः।
बकेन सह देवेन्द्र आपृच्छ्य त्रिदिवं गतः॥ ३५ ॥

इति श्रीमहाभारत आरण्यपर्वणि मार्कण्डेयसमास्यापर्वणि बकशक्रसंवादे त्रिनवत्यधिकशततमोऽध्यायः

इस प्रकार की अनेक सुन्दर वातचीत वक मुनि के साथ करके और इस से आज्ञा (इजाजत) लेकर देवराज इन्द्र, स्वर्ग को गए ॥३५॥

इति श्रीमहाभारत वनपर्वान्तर्गत मार्कण्डेयसमस्यापर्व में वकमुनि औरइन्द्र के सम्वाद का एक सौ तिरानवेवाँ अध्याय पूरा हुआ

एक सौ चौरानवेवां अध्याय

वैशम्पायन उवाच—

ततः पाण्डवाः पुनर्मार्कंडेयमूचुः कथितं ब्राह्मणमहाभाग्यं राजन्यमहाभाग्यमिदानीं शुश्रूषाम इति तानुवाच मार्कण्डेयो महर्षिः श्रूयतामिदानीं राजान्यानां महाभाग्यमिति ॥१॥

वैशम्पायन बोले—हे राजन्! इसके बाद पाण्डवों ने फिर मार्कण्डेय से कहा—हे मुने! तुमने ब्राह्मणों का महत्व तो कह दिया। अब हम क्षत्रियोंका महत्व सुनना चाहते हैं। इनसे महर्षि मार्कण्डेय ने कहा—अच्छी बात है, अब तुम क्षत्रियों का महत्व सुनो ॥१॥

कुरूणामन्यतमः सुहोत्रो नाम राजा महर्षीनभिगम्य निवृत्य रथस्थमेव राजानमौशीनरिं शिविं ददर्शाभिमुखं तौ समेत्य परस्परेण यथावयः पूजां प्रयुज्य गुणसाम्येन परस्परेण तुल्यात्मानौ विदित्वान्योऽन्यस्य पन्थानं न ददतुस्तत्र नारदः प्रादुरासीत् किमिदं भवन्तौ परस्परस्य पन्थानमावृत्य तिष्ठत इति ॥२॥

कुरुवंश में एक सुहोत्र नामक राजा था। यह महर्षियों के दर्शन करके लौट रहा था, कि इसने रथ में बैठे हुए उशीनर के पुत्र, राजा शिवि को अपने सामने ही देखा। ये दोनों मिले और इन्होंने अपनी २ आयु के अनुसार एक दूसरे का आदर किया।

ये गुणों में परस्पर बराबर थे, इसलिए इन्होंने एक दूसरे को मार्ग नहीं दिया। अब यहां नारदजी प्रकट हुए। नारदजीने उनसे पूछा--क्या बात है, जो तुम एक दूसरे का मार्ग घेर कर खड़े हो।

तावूचतुर्नारदं नैतद्भगवन् पूर्वकर्मकर्त्रादिभिर्विशिष्टस्य पन्था उपदिश्यते समर्थाय वा आवाञ्च सख्यं परस्परेणोपगतौ ॥३॥ तच्चावधानतोऽत्युत्कृष्टमधरोत्तरं परिभ्रष्टं नारदस्त्वेवमुक्तः श्लोकत्रयमपठत् ॥४॥

उन दोनों ने नारदजी से कहा--हे भगवन! यह नहीं हो सकता कि हम मार्ग छोड़ दें। जिसने पूर्व में कोई श्रेष्ठ कर्म किया हो या शक्तिशाली हो, उसी को मार्ग दिया जाता है और हम दोनों तो आपस में बराबर के मित्र हैं, यदि विचार कर देखा जावे तो हमारी यह मित्रता बड़ी उत्कृष्ट है और इसमें छोटे, बड़े का भेद नहीं है। यह सुनकर नारद जी ने ये तीन श्लोक पढ़े ३-४

क्रूरः कौरव्य मृदवे मृदुः क्रूरे च कौरव।
साधुश्चासाधवे साधुः साधवे नाप्नुयात् कथम् ॥५॥

हे कौरव! मृदु पुरुष में क्रूर और क्रूर के सम्मुख मृदु होना खल पुरुष का कार्य है। साधु पुरुष तो असाधु के लिए भी साधु ही है, फिर साधु के लिए तो साधुपन क्यों नहीं करेगा ॥५॥

कृतं शतगुणं कुर्य्यान्नास्ति देवेषु निर्णयः।
औशीनरः साधुशीलो भवतो वै महीपतिः ॥६॥

जो कोई कुछ उपकार करे, तो उसका सौगुना उपकार करके बदला चुकाना चाहिये और देवों के विषय में तो कोई निर्णय ही नहीं है अर्थात् देवों की तो कितनी ही उपासना की जा सकती है। यह उशीनर पुत्र शिबि वड़े उत्तम आचार वाला है और तुम्हारा तो राजा है ॥६॥

जयेत् कदर्य्यं दानेन सत्येनानृतवादिनम् ।
क्षमया क्रूरकर्माणमसाधुं साधुना जयेत् ॥७॥

जो नीच प्रकृति का पुरुष हो, उसको दान से, मिथ्या-भाषी को सत्य से, क्रूर कर्म करने वाले को क्षमा से और असाधु को साधुपने से वश में करे ॥७॥

तदुभावेव भवन्तावुदारौ य इदानीं भवद्भ्यामन्यतमः सोऽपसर्पतु एतद्वै निदर्शनमित्युक्त्वा तूष्णीं नारदो वभूव

तुम दोनों ही उदार हो--अव तुम में जो श्रेष्ठ हो, वही मार्ग छोड़ दो। यही इसकी पहचान है। यह कह कर नारद चुप हो गया ॥८॥

एतच्छ्रुत्वा तु कौरव्यः शिबिं प्रदक्षिणं कृत्वा पन्थानं दत्वा वहुकर्मभिः प्रशस्य प्रययौ ।तदेतद्राज्ञो महाभाग्यमित्युक्तवान्नारदः ॥९॥

इति श्रीमहाभारत आरण्यपर्वणि मार्कण्डेयसमास्यापर्वणि शिबिचरितकथने चतुर्नवत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥१९४॥

कुरु-वंश-श्रेष्ठ, राजा सुहोत्र ने यह सुनकर शिवि राजा को दाईं ओर करके मार्ग छोड़ दिया और अनेक पराक्रमों का वर्णन करके इसकी प्रशंसा करके चल दिया। नारद ने क्षत्रियों का यही महत्त्व बताया है, कि वृथा झगड़ा न करें ॥६॥

इति श्रीमहाभारत वनपर्वान्तर्गत मार्कण्डेयसमस्यापर्व में शिवि के चरित वर्णन का एक सौ चौरानवेवाँ अध्याय समाप्त हुआ।

एक सौ पिच्यानवेवां अध्याय

मार्कण्डेय उवाच—

इदमन्यच्छ्रूयतां ययातिर्नाहुषो राजा राज्यस्थः पौरजनावृत आसाञ्चक्रे गुर्वर्थी ब्राह्मण उपेत्य अब्रवीत् भो राजन् गुर्वर्थं भिक्षेयं समयादिति ॥१॥

मार्कण्डेय ने कहा-हे राजन्! अब तुम क्षत्रियोंका और महत्त्व सुनो। एक नहुष का पुत्र ययाति नामक राजा था। यह एक वार राज्य-सिंहासन पर बैठा था और पुरवासियों ने इसको घेर रखा था,इसी समय गुरु के लिए याचना करने को एक ब्राह्मण आकर बोला--हे राजन्! मैं गुरु के लिए भिक्षा माँगता हूं, परन्तु इसमें एक समय (शर्त) है ॥१॥

राजोवाच—ब्रवीतु भगवान् समयमिति।

ह्मण उवाच—

विद्वेषणं परमंजीवलोके कुर्यान्नरः पार्थिव याच्यमानः।
तत्त्वां पृच्छामि कथन्तु राजन् दद्याद्भवान् दयितञ्च मेऽद्य॥

राजा ने कहा-तुम प्रथम अपनी शर्त को सामने रखो। ब्राह्मण बोला--इस संसार में मनुष्य मांगने वाले से बड़ा द्वेष करते हैं। हे राजन् ! मैं आपसे पूछता हूं, कि आप मेरे प्रिय अर्थ को प्रीति के साथ दे सकोगे या नहीं ॥२॥

राजोवाच—

न चानुकीर्त्तयेदद्य दत्वा अयाच्यमर्थं न च संश्रृणोमि।
प्रात्यमर्थश्च संश्रुत्य तश्चापि दत्त्वा सुमुखी भवामि ॥३।

हे दान के योग्य पात्र ! मैं दान देकर उसका कथन नहीं करता हूं। इस दशा में कोई भी वस्तु याचना के अयोग्य नहीं रह जाती है। मैं तो देह तक प्रदान करने में संकोच नहीं मानता हूं, इसलिए दान की प्रतिज्ञा करके और उसका दान देकर ही उज्ज्वल मुख वाला होना चाहता हूं ॥३॥

ददामि ते रोहिणीनां सहस्रं प्रियो हि मे ब्राह्मणो याच्यमानः
न मे मनः कुप्यति याच्यमाने दत्तं न शोचामि कदाचिदर्थम् ४

मैं तुमको एक सहस्र लाल गाय प्रदान करूंगा, क्योंकि उचित याचना करने वाला ब्राह्मण मुझे बड़ा प्रिय है। याचना करने वाले पर मैं कुपित नहीं होता हूँ और दान देकर मैं कभी पछतावा भी नहीं करता हूँ ॥४॥

इत्युक्त्वा ब्राह्मणाय राजा गोसहस्रं ददौ प्राप्तवांश्च गवां सहस्रं ब्राह्मण इति ॥५॥

इति श्रीमहाभारत आरण्यपर्वणि मार्कण्डेयसमास्यापर्वणि नाहुषचरित्रे पञ्चनवत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १६५ ॥

यह कह कर राजा ने ब्राह्मण को एक सहस्त्र गांए प्रदान कर दीं। ब्राह्मण ने ये एक सहस्त्र गायें ग्रहण कर लीं ॥५॥

इति श्रीमहाभारत वनपर्वान्तर्गत मार्कण्डेयसमास्यापर्व में नाहुष-चरित का एक सौ पिच्चानवेवां अध्याय समाप्त हुआ।

एक सौ छियानवेवां अध्याय

वैशम्पायन उवाच—

भूय एव महाभाग्यं कथ्यतामित्यब्रवीत् पाण्डवः। अथाचष्ट मार्कण्डेयो महाराज वृषदर्भसेदुकनामानौ राजानौ नीतिमार्गरतौ अस्त्रोपास्त्रकृतिनौ ॥१॥

वैशम्पायन बोले—हे महाराज! राजा युधिष्ठिर ने कहा—तुम फिर क्षत्रियों का महत्व सुनाओ। मार्कण्डेय ने कहा—वृषदर्भा और सेन्दुक दो राजा थे, जो नीति-शास्त्र में कुशल और अस्त्र उपास्त्रों के चलाने में चतुर थे ॥१॥

सेदुको वृषदर्भस्य बालस्यैव उपांशुव्रतमभ्यजानन् कुप्यमदेयं ब्राह्मणस्य ॥२॥

सेन्दुक, बालकपन से ही वृषदर्भा के इस गुप्त-व्रत को जानता था, कि वह सुवर्ण के सिवा ब्राह्मण को अन्य वस्तु देना ही अयोग्य समझता था ॥२॥

अथ तं सेदुकं ब्राह्मणः कश्चिद्वेदाध्ययनसम्पन्नः आशिसं दत्वा गुर्वर्थी भिक्षितवान् ॥३॥

एक बार सेन्दुक के पास कोई वेदपाठी ब्राह्मण आया। इसने राजा को आशीर्वाद देकर गुरु के निमित्त भिक्षा मांगी ।।३।।

अश्वसहस्रं मे भवान् ददात्विति तंसेदुको ब्राह्मणमब्रवीत् नास्ति सम्भवो गुर्वर्थं दातुमिति ।।४।।

हे राजन् ! तुम मुझे एक सहस्त्र अश्व प्रदान करो। इस ब्राह्मण से राजा सेन्दुक ने कहा—हे ब्रह्मन् ! मैं तुम्हारी गुरु--दक्षिणा नहीं दे सकता हूं ।।४।।

स त्वं गच्छ वृषदर्भसकाशं राजा परमधर्मज्ञो ब्राह्मण तं भिक्षस्व। स ते दास्यतितस्यैत दुपांशुव्रतमिति ।।५।।

हे ब्रह्मन् ! तुम राजा वृषदर्भा के पास जाओ। यह राजा बड़ा ही धर्मात्मा है। तुम उससे यह याचना करो। वह तुमको यह दान दे देगा, क्योंकि उसका यह गुप्त-व्रत है ।।५।।

अथ ब्राह्मणो वृषदर्भसकाशं गत्वा अश्वसहस्रमयाचत। स राजा तं कशेनाताडयत् ।। ६ ।।

यह ब्राह्मण, वृषदर्भा के पास पहुंचा और इसने उससे भी एक सहस्त्र अश्व मांगे। राजा इस ब्राह्मण को कशा (चाबुक) से मारने लगा ।।६।।

तं ब्राह्मणोऽब्रवीत् किं हिंस्यनागसं मामिति। एवमुक्त्वा तं शपतं राजाह। विप्र किं यो न ददाति तुभ्यमुताहोस्वित् ब्राह्मण्यमेतत् ।।७।।

ब्राह्मण ने कहा---क्या तुम मुझ निरपराधी का वध करना चाहते हो--यह कह कर ब्राह्मण, राजा को शाप देने लगा। शाप देते हुए ब्राह्मण को देखकर राजा वृषदर्भा बोला---हे विप्र! क्या यह ब्राह्मणपन है,कि जो तुमको अपना धन दान न दे, उसको शाप देने लग जाओ या जो अपना धन तुमको न दे, उसको शाप देना चाहिए और जो अपने धन को ब्राह्मणों के लिए ही समझता है--उसको शाप देना उचित नहीं हैं ।।७।।

ब्राह्मण उवाच—

राजाधिराज तव समीपं सेदुकेन प्रेपितो भिक्षितुमागतः
तेनानुशिष्टेन मया त्वं भिक्षितोऽसि ।।८।।

ब्राह्मण ने कहा---हे राजाधिराज ! मुझे तुम्हारे पास सेन्दुक ने भेजा था, इससे मैं भिक्षा करने चला आया। मैंने तो उसकी शिक्षा से ही तुझ से भिक्षा मांगी है ।।८।।

राजोवाच—

पूर्वाह्णे ते दास्यामि यो मेऽद्य बलिरागमिष्यति ।
यो हन्यते कशया कथं मोघं क्षेपणं तस्य स्यात् ।।९।।
इत्युक्त्वा ब्राह्मणाय दैवसिकामुत्पत्तिं प्रादात् ।
अधिकस्याश्वसहस्रस्य मूल्यमेवादादिति ।। १० ।।

राजा ने कहा---हे ब्रह्मन् ! मैं कल प्रातःकाल तुमको वह सब कुछ दे दूंगा, जो मेरी भेंट में आवेगा। जिसको कशा (चाबुक) मार कर दुःखी किया है, उसकी कामना पूर्ण किए विना उसको कैसे दूर किया जा सकता है--यह कह कर ब्राह्मण के लिए एक

दिन की राज्य की आय (आमदनी) का भाग दे दिया। यह आय (कर या भेंट) एक सहस्त्र अश्वों के मूल्य से भी अधिक थी।

मार्कण्डेय उवाच—

देवानां कथ संजाता महीतलं श्रुत्वा महीपतिं शिविमौशीनरं साध्वेनं शिविं जिज्ञास्याम इति। एवं भो इत्युक्त्वाऽग्नीन्द्रावुपतिष्ठेताम्॥११॥

मार्कण्डेय ने कहा---पृथिवी पर उशीनर-पुत्र, राजा शिवि की प्रशंसा सुन कर देवों ने निश्चय किया कि, हम राजा शिवि की अच्छी तरह परीक्षा करेंगे। वे आपस में सलाह करके अग्नि और इन्द्र के पास पहुंचे ॥११॥

अग्निः कपोतरूपेणातमभ्यधावदामिषार्थमिन्द्रः श्येनरूपेण अथ कपोतो राज्ञो दिव्यासनासीनस्य उत्सङ्गंन्यपतत् ॥१२॥

अग्नि तो कबूतर का रूप बनाकर और इन्द्र श्येन (बाज) का रूप वनाकर कबूतर के मांस के वहाने उसके पास पहुंचे। कबूतर, दिव्य आसन्न पर वैठे हुए, इस राजा की गोद में छुप गया।

अथ पुरोहितो राजानमब्रवीत् प्राणरक्षार्थं श्येनाद्भीतो भवन्तं प्राणार्थी प्रपद्यते ॥१३॥

अव पुरोहित राजा से वोला---यह कपोत, प्राण-रक्षा के लिए बाज से डर कर आपके पास आया है ॥१३॥

वसु ददातु अन्तवान् पार्थिवोऽस्य निष्कृतिं कुर्य्यात् घोरं कपोतस्य निपातमाहुः ॥१४॥

आप दिशाओं के स्वामी और राजा हैं, कुछ धन दान दीजिए, क्योंकि इस तरह कपोतका आकर पड़ना अनिष्ट सूचक है ।।१४।।

अथ कपोतो राजानमब्रवीत् प्राणरक्षार्थं श्येनाद्भीतो भवन्तं प्राणार्थी प्रपद्ये।

अङ्गैरङ्गानि प्राप्यार्थी मुनिर्भूत्वा प्राणांस्त्वां प्रपद्ये १५

अब कपोत ने राजा से कहा---मैं प्राणों की रक्षा के लिए श्येन (बाज़) से डर कर, प्राण बचाने की इच्छा से आपके पास आया हूं। मैं तो एक मुनि हूं, एक शरीर से मैंने यह दूसरा शरीर बदला था। अब प्राण रक्षक होने से प्राणरूप आपके पास मैं, आ पहुंचा हूं ।।१५।।

स्वाध्यायेन कर्षितं ब्रह्मचारिणं मां विद्धि तपसा दमेन युक्तमाचार्य्यस्याप्रतिकूलभाषिणं एवं युक्तमपापं मां विद्धि

मैं वेदाध्ययन से कृश हुआ एक ब्रह्मचारी हूं। तुम मुझे तप और इन्द्रिय विजय करने वाला, अपने गुरु के अनुकूल, पाप रहित मुनि समझो ।।१६।।

गदामिवेदान्विचिनोमिछन्दःसर्वेवेदा अक्षरशोमेअधीताः।
नसाधुदानंश्रोत्रियस्यप्रदानं माप्रदाःश्येनायनकपोतोऽस्मि।
अथ श्येनो राजा नमब्रवीत्।।

मैं वेदाध्ययन करता हूं और छन्दों के अर्थों को खोजता रहता हूं। सारे वेद मैंने अक्षरशः पढ़े हैं। मुझ वेदपाठी का त्याग करना तुमको उचित नहीं है। मुझे आप इस श्येन को न दीजिए, क्योंकि मैं कपोत नहीं हूं। अब श्येन (बाज़)भी राजा से कहने लगा ।।१७।।

षर्य्यायेण वसतिर्वा भवेषु सर्गे जातः पूर्वमस्मात् कपोतात् ।
त्वमाददानोऽथ कपोतमेनं मां त्वं राजन् विघ्नकर्त्ता भवेथाः

हे राजन् ! मनुष्य का जन्म इस सृष्टि में अदल-बदल कर होता रहता है । जो इस जन्म में पिता-पुत्र हैं, वे ही पूर्व जन्ममें उलटे पुत्र-पिता थे । इसी तरह मेरी पूर्व जन्म की इस कपोत से शत्रुता है । तुम इस कपोत को ग्रहण करना चाहते हो । हे राजन ! आप इसे ग्रहण करके मेरे काममें विघ्न मत करो ॥१८॥

राजोवाच--

केनेदृशी जातु पराहि दृष्टा वागुच्यमाना शकुनेन संस्कृता
यो वै कपोतो वदतियाश्चश्ये नउभौविदित्वाकथमस्तुसाधु

राजा ने कहा—किस पुरुष ने, ऐसी उत्तम संस्कृत वाणी बोलते हुए पक्षी देखे हैं, जैसी यह कपोत और श्येन (बाज) बोल रहे हैं । मैं इन दोनों का स्वरूप जानकर इनके साथ उत्तम व्यवहार किस भांति कर सकता हूं ॥१९॥

नास्य वर्षं वर्षति वर्षकाले नास्यबीजं रोहति काल उप्तम् ।
भीतंप्रपन्नंयोहिददातिशत्रवेनत्राणंलभतेत्राणमिच्छन्सकाले

उस पुरुष के देश में वर्षा-काल में वर्षा नहीं होती और समय पर बोया हुआ बीज भी नहीं उगता है, जो भयभीत और शरणागत मनुष्य को शत्रु के लिए सौंप देता है । यह पुरुष, समय पर स्वयं रक्षा की इच्छा करने पर रक्षा प्राप्त नहीं कर सकता ॥१०॥

जाता ह्रस्वा प्रजा प्रमीयतेसदा न वैवासंपितरोऽस्यकुर्वते
भीतं प्रपन्नंयोहिददातिशत्रवेनास्यदेवाःप्रतिगृह्णन्तिहव्यम्

उस पुरुष की प्रजा उत्पन्न होते ही वचपन में ही नष्ट होने लग जाती है तथा इसके पितरों को पितृलोक में स्थान नहीं मिलता, जो भय-भीत पुरुष को शत्रु के लिए सौंप देता है। इस पुरुष की हव्य को भी देवता नहीं लेते हैं ।।२१।।

मोघमन्नं विन्दतिचाप्रचेताः स्वर्गाल्लोकाद्भ्रश्यतिशीघ्रमेव ।
भीतं प्रपन्नंयोहिददातिशत्रवे सेन्द्रा देवाःप्रहरन्त्यस्यवज्रम्

वह अनुदार पुरुष, निष्फल अन्न प्राप्त करता है और शीघ्र ही स्वर्ग से भ्रष्ट हो जाता है जो भयभीत और शरणागत मनुष्य को शत्रु के लिये सौंप देता है। इन्द्रादि देवता भी उसके ऊपर अपना वज्र छोड़ते हैं ।।२२।।

उक्षाणं पक्त्वा सह ओदनेनअस्मात्कपोतात्प्रतितेनयन्तु ।
यस्मिन् देशे रमसेऽतीव श्येन तत्र मांसं शिवयस्ते वहन्तु

हे श्येन ! चावलों के साथ वैल का मांस पकाकर इस कबूतर के वदले में शिवि राजा तुझे अर्पण कर सकते हैं। जिस जगह पर तुम आनन्द से रह सकते हो, वहीं शिवि लोग, तुम्हें मांस पहुंचाते रहेंगे ।।२३।।

श्येन उवाच---

नोक्षाणंराजन्प्रार्थयेयंनचान्यदस्मान्मांसमधिकंवाकपोतात्
देवैर्दत्तः सोऽद्यममैष भक्षस्तन्मे ददस्व शकुनानामभावात्

श्येन ने कहा—हे राजन्! मैं बैल का मांस नहीं चाहता हूं और न कबूतर के मांस से अच्छा किसी अन्य मांस को मानता हूं। आज विधाता ने मुझे भक्ष्य रूप में इसे अर्पण किया है। अब तुम भी इसे मुझे अर्पण करो, जिससे बहुत से पक्षियों का विनाश न होवे ॥२४॥

राजोवाच---

उक्षाणं वेहतमनूनं नयन्तु ते पश्यन्तु पुरुषा ममैव।
भयाहितस्य दायं ममान्तिकं त्वां प्रापयन्तुत्वं ह्येनं माहिंसीः

राजा कहने लगा—भय से घबराये हुए तुम, बैल या सर्वाङ्ग सम्पन्न वन्ध्या गाय को इसके बदले में मेरे पास से ग्रहण कर सकते हो, परन्तु इस कबूतर का वध मत करो। विद्वान् लोग, मेरे इस निर्णय पर विचार कर सकते हैं ॥२५॥

त्यजे प्राणान्नवैदद्यांकपोतं सोम्यो ह्ययंकिन्नु जानामि श्येन
यथा क्लेशं मा कुरुष्वेह सौम्य नाहं कपोतमर्पयिष्ये कथञ्चित्

हे श्येन! मैं प्राणों को छोड़ दूंगा, परन्तु इस कपोत को नहीं दूंगा। यह बड़ा सुन्दर पक्षी है, मैं यह जानता हूं। हे सौम्य! तुम अब यहां कष्ट मत उठाओ, मैं इस कपोतको कभी नहीं दूंगा।

यथा मा हि वै साधुवादैःप्रसन्ना प्रशंसेयुःशिबयःकर्मणा तु।
यथा श्येन प्रियमेव कुर्य्यांप्रशाधि मां यद्वदेस्तत् करोमिः

जिस तरह शिबि लोग इस कर्म से प्रसन्न होकर धन्यवाद के साथ मेरी प्रशंसा करें, मैं वहीं अपनी आत्मा का प्रिय काम करूंगा। अब तुम अन्य कुछ आज्ञा करो, जो कहोगे मैं उसे पूरा करूँगा ॥ २७ ॥

श्येन उवाच---

ऊरोर्दक्षिणादुत्कृत्य स्वपिशितं तावद्राजन् यावन्मांसं कपोतेन समम् । तथा तस्मात् साधु त्रातः कपोतः प्रशंसेयुः शिवयः कृतश्च प्रियं स्यान्ममेति ॥२८॥

श्येन ने कहा--हे राजन्! तुम अपनी दांई जांघ से मांस काटकर कबूतर के बराबर तोल कर मुझे अर्पण करो, इससे कपोत की अच्छी तरह रक्षा हो जायगी और शिवि लोग तुम्हारी प्रशंसा करेंगे और इससे मेरी भी अभिलाषा पूरी हो जायगी॥२८॥

अथ स दक्षिणादूरोरुत्कृत्य स्वमांसपेशीं तुलयाधारयन् गुरुतर एवं कपोत आसीत् ॥२६॥

अब इस राजा ने अपनी दांई जांघ से मांस काटकर तराजू में रख दिया, परन्तु मांस की पेशी से कबूतर ही भारी रहा॥२६

पुनरन्यमुच्चकर्त्त गुरुतर एव कपोतः । एवं सर्वं समधिकृत्य शरीरं तुलायामारोपयामास तत्तथापि गुरुतर एव कपोत आसीत् ॥३०॥

राजा ने फिर मांस काटा और अब भी कपोत ही भारी रहा। इस प्रकार सारे शरीर का मांस काट २ कर तराजू में चढ़ा दिया, परन्तु फिर भी कपोत ही भारी रहा ॥३०॥

अथ राजा स्वयमेव तुलामारुरोह । न च व्यलीकमासीद्राज्ञ एतद्वृतान्तं दृष्ट्वा त्रात इत्युक्त्वा प्रालीयत श्येनः अथ राजा अब्रवीत् ॥३१॥

अब राजा स्वयं ही तराजू में चढ़ गया और इसे यह अप्रिय मालूम नहीं हुआ। इस घटना को देखकर श्येन उड़ता हुआ बोला--कि अब तूने कपोत की रक्षा कर दी। राजा ने कहा॥३१॥

कपोतंविद्युःशिवयस्त्वां कपोत पृच्छामि ते शकुनेको नु श्येनः
नानीश्वर ईदृशं जातु कुर्य्यादेतं प्रश्नं भगवन्मे विचक्ष्व ॥३२॥

हे कपोत, पक्षी! शिवि लोग, तुझे जानना चाहते हैं और यह श्येन कौन था, मैं यह भी पूछता हूं। शक्ति-हीन प्राणी, ऐसा नहीं कर सकता है। हेभगवन्! तुम मेरे इस प्रश्न का उत्तर दो ॥३२॥

कपोत उवाच —

वैश्वानरोऽहंज्वलनो धूमकेतुरथैव श्येनोवज्रहस्तःशचीपति
साधुंज्ञातुं त्वामृषभंसौरथेयं नौ जिज्ञासया त्वत्सकाशं प्रपन्नौ

कपोत ने कहा--मैं सबका हित करने वाला धूमकेतु अग्नि हूँ और श्येन व्रजधारी इन्द्र था। हम सुरथा के पुत्र तेरी श्रेष्ठता जानने के लिये तेरे पास आए थे ॥३३॥

यामेतां पेशीं मम निष्क्रयाय प्रादाद्भवानसिनोत्कृत्य
राजन् एतद्वो लक्ष्म शिवं करोमि हिरण्यवर्णं रुचिरं
पुण्यगन्धम् ॥ ३४ ॥

हे राजन्! जिस मांस पेशी को तूने तलवार से काटकर मेरे बदले में दिया है, उसको मैं कल्याण कारी, सुनहरी, सुन्दर, सुगन्ध युक्त चिह्न कर देता हूँ ॥३४॥

एतासां प्रजानां पालयिता यशस्वी सुरर्षीणामथ सम्मतो भृशं एतस्मात् पार्श्वात् पुरुषो जनिष्यति कपोतरोमेति च तस्य नाम ॥ ३५ ॥

इस चिन्ह के पास से प्रजा का पालन करने वाला, यशस्वी देवताओं से सम्मानित, पुरुष, उत्पन्न होगा, जिसे मनुष्य, कपोतरोमा कहेंगे ॥३५॥

कपोतरोमाणं शिबिनौद्भिदं पुत्रं प्राप्स्यति नृपवृषं संहननं यशोदीप्यमानं द्रष्टासि शूरमृषभं सौरथानाम् ॥३६॥

इति श्रीमहाभारत आरण्यपर्वणि मार्कण्डेयसमास्यापर्वणि शिबिचरिते षण्णवत्यधिकशततमोऽध्यायः

तू शिथिल शरीर से उत्पन्न हुए, राजाओं में श्रेष्ठ, दृढ़, यशस्वी, सौरथों में श्रेष्ठ, शूरवीर कपोत-रोमा पुत्र को प्राप्त करेगा ॥३६॥

इति श्रीमहाभारत वनपर्वान्तर्गत मार्कण्डेयसमास्या पर्व में
शिबि चरित्रका एक सौ छियानवेवां अध्याय समाप्त हुआ।

एक सौ सत्तानवेवां अध्याय

वैशम्पायन उवाच—

भूय एव महाभाग्यं कथ्यतामित्यब्रवीत् पाण्डवो मार्कण्डेयम्। अथाचष्ट मार्कण्डेयः अष्टकस्य वैश्वामित्रेरश्वमेधे सर्वेराजानः प्रागच्छन्त ॥१॥

वैशम्पायन बोले-हे राजन्! राजा युधिष्ठिर ने महर्षि मार्कण्डेय से कहा, कि हे मुने! अब तुम फिर क्षत्रियों के गौरव का वर्णन करो। मार्कण्डेय कहने लगे-हे राजर्षे! विश्वामित्र के पुत्र अष्टक के अश्वमेध यज्ञ में बहुत से राजा पधारे ॥१॥

भ्रातरश्चास्य प्रतर्दनो वसुमना शिबिरौशीनरं इति स च समाप्तयज्ञो भ्रातृभिः सह रथेन प्रायात्ते च नारदमागच्छतं तमभिवाद्यारोहतु भवान् रथमित्यब्रुवन् ॥२॥

इसके तीन भाई थे। प्रतर्दन, वसुमना और उशीनर-पुत्र, शिबि ये इनके नाम थे। राजा अष्टक यज्ञ समाप्त करके इन भाइयों के साथ रथ में यात्रा कर रहा था। इन्होंने मार्ग में आते हुए नारद को देखकर प्रणाम किया और कहा--हे ब्रह्मर्षे! आप रथ में चढ़ आइये ॥२॥

तांस्तथेत्युक्त्वा रथमारुरोह अथ तेषामेकः सुरर्षि नारदमब्रवीत्। प्रसाद्य भगवन्तं किञ्चिदिच्छेयं प्रष्टुमिति ॥

नारद ने भी कहा--अच्छी बात है, वह इतना कहकर रथ में चढ़ गया। अब इनमें से एक भाई ने देवर्षि नारद से कहा-कि आप से आज्ञा लेकर कुछ पूछना चाहता हूं,॥३॥

पृच्छेत्यब्रवीदृषिः सोऽब्रवीदायुष्मन्तः सर्वगुणसमुदिताः अथायुष्मन्तं स्वर्गविशेषं चतुर्भिर्यातव्य स्यात् कश्चावतरेत् अयमष्टकोऽवतरेदित्यब्रवीदृषिः ॥४॥

नारदजी ने कहा---पूछो। उस एक भाई ने कहा, कि हम चारों भाई सब गुणों से युक्त हैं। इस दशा में हम चारों ही स्वर्ग में जावेंगे। अब हम में कौनसा प्रथम भूमि पर लौटेगा, आप यह बताइये। महर्षि नारद ने कहा--राजा अष्टक हीं प्रथम पृथिवी पर उतरेगा ॥४॥

किं कारणमित्यपृच्छत्। अथाचष्ट, अष्टकस्य गृहे मया उषितं, स मां रथेनानुप्रावहदथापश्यमनेकानि गोसहस्राणिवर्णशोविविक्तानितमहमपृच्छंकस्येमा गावइति

उसने पूछा--हे भगवन्! इसका आप कारण और समझा दीजिए। देवर्षि नारद ने कहा--मैं एक बार राजा अष्टक के घर पर ठहरा था। इसने रथ पर बैठा कर मुझे इधर-उधर घुमाया। उस समय भिन्न-भिन्न वर्णों की मैंने कई हजार गाएं देखीं। मैंने पूछा---ये सारी किस की गाएं हैं ॥५॥

सोऽब्रवीत् मया निसृष्टा इत्येतास्तेनैव स्वयं श्लाघति कथितेन एषोऽवतरेदथ त्रिभिर्यातव्यं साम्प्रतं कोऽवतरेत्

राजा अष्टक ने कहा---ये सारी गायें मैंने ही दान में दी है। उसने अपने गो-दान की स्वयं बड़ी प्रशंसा की। इस प्रशंसा के कारण यह स्वर्ग से प्रथम पृथिवी पर गिरेगा। अच्छा तो जब हम तीन स्वर्ग में रहें, तो प्रथम कौन उतरेगा ॥६॥

प्रतर्दन इत्यब्रवीदृषिः। तत्र किं कारणं,प्रतर्दनस्यापि गृहे मयोषितम्। स मां रथेनानुप्रावहत् ॥ ७ ॥

देवर्षि ने कहा--इसके बाद प्रतर्दन पृथिवी पर आवेगा। उन्होंने इसका भी कारण पूछा--नारद ने कहा--मैं प्रतर्दन के घर पर भी निवास कर चुका हूं और इसने भी मुझे रथ में वैठा कर सैर कराई है ॥७॥

अथैनं ब्राह्मणो भिक्षेताश्वं मम ददातु भवान्निवृत्तो दास्यामीत्यब्रवीत् ब्राह्मणं त्वरितमेव दीयतामित्यब्रवीद्-ब्राह्मणस्त्वरितमेव ब्राह्मणस्यैवमुक्त्वा दक्षिणं पार्श्वमददत्

इससे आकर किसी ब्राह्मण ने मांगा, कि आप मुझे अपना अश्व दान कर दें। ब्राह्मण से इसने कहा--- मैं लौट कर दे दूंगा। ब्राह्मण ने कहा---नहीं मुझे, वहुत शीघ्र अश्व चाहिए। इसने ब्राह्मण से कहा---अच्छा लो--यह कहकर रथ के दाईं ओर के पास का अश्व उसको दे दिया ॥८॥

अथान्योऽप्यश्वार्थी ब्राह्मणआगच्छत्। तथैव चैन-मुक्त्वा वामपार्ष्णिमभ्यदादथ प्रायात् पुनरपि चान्योऽप्य-श्वार्थी ब्राह्मण आगच्छत्। त्वरितोऽथ तस्मा अपनह्य वामं धूर्य्यमददत् ॥९॥

इसके बाद दूसरे अश्व का मांगने वाला ब्राह्मण आया। इससे भी स्वीकार करके इसने इसको रथ की बांई ओर के समीप का अश्व खोल दिया। इसके अनन्तर फिर तीसरा ब्राह्मण भी अश्व के लिए आ पहुंचा। इसने बड़ी शीघ्रता से वांया अश्व खोल कर दे दिया ॥९॥

अथ प्रायात् पुनरन्य आगच्छदश्वार्थी ब्राह्मणस्तमब्रवीदतियातो दास्यामि त्वरितमेव दीयतामित्यब्रवीद् ब्राह्मणस्तस्मै दत्वाश्वं रथधुरं ग्रह्णाता व्याहृतं ब्राह्मणानां साम्प्रतं नास्ति किञ्चिदिति ॥ १० ॥

अब यह आगे बढ़ा-तो फिर एक अश्वार्थी ब्राह्मण आया। इसने कहा---मैं लौट कर तुम को अत्यन्त वेगशील अश्व प्रदान करूंगा। ब्राह्मण ने कहा---नहीं, शीघ्र प्रदान करो। इसने इसको चौथा अश्व दे दिया और स्वयं रथ की धुर में जुड़ कर कहा---मैं ब्राह्मणों को दान देने के कारण अकिञ्चन हो गया हूं ॥१०॥

य एष ददाति चासूयति च तेन व्याहृतेन तथावतरेत्। अथ द्वाभ्यां यातव्यमिति कोऽवतरेत् ॥११॥

जो इस तरह दान दे और फिर पश्चाताप करे, तो उसको भी प्रथम भूमि पर उतरना पड़ेगा। अब उन्होंने फिर पूछा---हम दोनों में कौनसा प्रथम भूमि पर उतरेगा ॥११॥

वसुमना अवतरेदित्यब्रवीदृषिः किं कारणमित्यपृच्छदथाचष्ट नारदः। अहं परिभ्रमन् वसुमनसो गृहमुपस्थितः

नारद जी ने कहा--वसुमना, इसके अनन्तर स्वर्ग से नीचे उतरेगा। जब उन्होंने कारण पूछा---तो ऋषि ने कहा---मैं एकवार घूमता हुआ वसुमना के भी घर पहुंचा था ॥१२॥

स्वस्तिवाचनमासीत् पुष्परथस्य प्रयोजनेन तमहमन्वगच्छं स्वस्ति वाचितेषु ब्राह्मणेषु रथो ब्राह्मणानां दर्शितः।

वहां पर्वत, आकाश और समुद्र में वे रोक-टोक पुष्प-रथ के घूमने के प्रयोजन से स्वस्तिवाचन हो रहा था। मैं उन स्वस्तिवाचन करने वाले ब्राह्मणों के मध्य में पहुंचा। राजा ने उन ब्राह्मणों को यह पुष्प-रथ दिखाया ॥१३॥

तमहं रथं प्राशंसमथ राजाब्रवीद्भगवता रथः प्रशस्तः एष भगवतो भवतो रथ इति ॥ १४ ॥

मैंने इस रथ की प्रशंसा की। अब वसुमना राजा ने कहा-आपने इस रथ की बड़ी प्रशंसा की है, इससे अब यह आपका ही रथ है ॥१४॥

अथ कदाचित् पुनरप्यहमुपस्थितः।पुनरेव रथप्रयोजनमासीत्

इसके बाद फिर मैं कभी घूमता हुआ, यहीं आ निकला और फिर रथ की अप्रतिहत गति के लिए स्वस्तिवाचन आदि पूर्ववत् देखा ॥१५॥

सम्यगयमेष भगवत इत्येवं राजा ब्रवीदिति पुनरेव च तृतीयं स्वस्तिवाचनं समभावयमथ राजा ब्राह्मणानां दर्शयन् मामभिप्रेक्ष्याब्रवीत् ॥ १६ ॥

राजा ने फिर कहा--कि आपने रथ की प्रशंसा की है, इससे यह आपका ही रथ रहा। मैंने फिर तृतीय स्वस्तिवाचन की प्रशंसा की। राजा ब्राह्मणों को दिखाता हुआ मेरी ओर देखकर बोला ॥ १६ ॥

अथो भगवता पुष्परथस्य स्वस्तिवाचनानि सुष्ठु सम्भावितानि एतेन द्रोहवचनेनावतरेत् ॥ १७ ॥

आपने पुष्प-रथ और स्वस्तिवाचन की बड़ी प्रशंसा की है। नारदजी ने कहा--इस तरह बार २ रथ के देने की प्रतिज्ञा करके भी वसुमना ने रथ नहीं दिया, इससे यह पृथिवी पर प्रथम उतरेगा ॥१७॥

अथैकेन यातव्यं स्यात् कोऽवतरेत् पुनर्नारद आह ॥१८॥ शिविर्यायादहमवतरेयम् । अत किं कारणमित्यब्रवीत् असावहं शिविना न समानोऽस्मि यतस्तं शिबिं ब्राह्मणोऽभ्यागच्छत्स चैनमब्रवीत् ॥ १६ ॥

उन्होंने फिर पूछा--कि जब एक स्वर्ग में पहुँचेगा तो यह क्यों पृथिवी पर गिरेगा। नारदजी ने कहा--यह राजा शिवि, स्वर्ग को जावेगा और मेरा पतन होगा। इसका क्या कारण है, जब इन्होंने यह पूछा--तो नारद जी बोले---मैं शिबि के समान नहीं हूं, इसी से मेरा पतन होगा। एक बार इस राजा शिवि के पास कोई ब्राह्मण आया और इससे बोला ॥१८-१६॥

शिवे अन्नार्थ्यस्मीति तमब्रवीच्छिविः किं क्रियतामाज्ञापयतु भवानिति ॥ २० ॥

हे राजन्! मैं आपके पास अन्न की याचना करने को आया हूं। शिवि ने कहा-आज्ञा कीजिए, मैं क्या करूं ॥२०॥

अथैनं ब्राह्मणोऽब्रवीत् य एष ते पुत्रो बृहद्गर्भो नाम एष प्रमातव्य इति तमेनं संस्कुरु ॥ २१ ॥

ब्राह्मण ने कहा--यह जो तेरा पुत्र वृहद्गर्भ है, तू इसको मार डाल और पका ले ॥२१॥

अन्नं चोपपादय ततोऽहंप्रतीक्षय इति। ततःपुत्रंप्रमाप्य संस्कृत्य विधिना साधयित्वा पात्र्यामर्पयित्वा शिरसा प्रतिगृह्य ब्राह्मणममृगयत् ॥२२॥

जव तक इसे खाने योग्य वनाता है, मैं यहीं पर प्रतीक्षा कर रहा हूं। इसके वाद इसने पुत्र को मार और पकाकर विधिपूर्वक थाली में परोस लिया और शिर पर रखकर ब्राह्मण को ढूँढने लगा ॥२२

अथास्य मृगयमाणस्य कश्चिदाचष्ट एप ते ब्राह्मणो नगरं प्रविश्य दहति ते गृहं कोषागारमायुधागारमश्वशालां हस्तिशालाञ्च क्रुद्ध इति ॥२३॥

जब यह ब्राह्मण को खोज रहा था, तो किसी ने कहा--उस ब्राह्मणने नगर में घुस कर क्रोध से तेरा घर, खजाना, शस्त्रागार, अश्व-शाला और हस्ति-शाला में आग लगा दी ॥२३॥

अथ शिविस्तथैवाविकृतमुखवर्णो नगरं प्रविश्य ब्राह्मणं तमब्रवीत् सिद्धं भगवन्नन्नमिति ब्राह्मणो न किञ्चिद्व्याजहार विस्मयादधोमुख आसीत् ॥२४॥

यह सुनने पर भी राजा का मुख नहीं बदला और वह नगर में घुस कर ब्राह्मण से वोला--हे भगवन्! यह आपका भोजन तय्यार है। ब्राह्मण कुछ नहीं वोल सका और अचम्भे में आकर नीचे मुख करके खड़ा हो गया ॥२४॥

ततः प्रासादयद् ब्राह्मणं भगवन् भुज्यतामिति ।
मुहुर्त्तादुद्वीक्ष्य शिविमब्रवीत् ॥२५॥

इसने ब्राह्मण को बार २ प्रसन्न किया, कि हे भगवन् ! आप भोजन करें । थोड़ी देर देखकर ब्राह्मण ने शिवि से कहा ॥२५॥

त्वमेवैतदशानेति तत्राह तथेति शिविस्तथैवाविमना
महित्वा कपालमभ्युद्धार्य्य भोक्तुमैच्छत् ॥२६॥

हे शिवि ! तुम ही इस भोजन का भक्षण करो । शिविने कहा-हे ब्रह्मन् ! जो आज्ञा--यह कहकर राजा को बिल्कुल चिन्ता नहीं हुई और अपने पुत्र के कपाल की अस्थि की पूजा करके थाली को उघाड़ कर खाने लगा ॥२६॥

अथास्य ब्राह्मणो हस्तमगृह्णात् । अब्रवीच्चैनं जितक्रोधोऽसि न ते किञ्चिदपरित्याज्यं ब्राह्मणार्थे ब्राह्मणोऽपि तं महाभागं असभाजयत् ॥२७॥

अब ब्राह्मण ने इसका हाथ पकड़ लिया । हे राजन् ! तुम क्रोध को जीत चुके हो । अब तुमको कोई वस्तु ब्राह्मण के लिए अदेय नहीं है । ब्राह्मण ने भी इस महाभाग राजा का बड़ा सत्कार किया ॥२७॥

स ह्युद्वीक्षमाणः पुत्रमपश्यत् अग्रे तिष्ठन्तं देवकुमारमिव पुण्यगन्धान्वितमलङ्कृतम् । सर्वञ्च तमर्थं विधाय ब्राह्मणोऽन्तरधीयत ॥२८॥

राजा ने ज्यों ही दृष्टि उठाई, तो सामने ही अपना पुत्र खड़ा देखा, जो देवों के कुमार की भांति उत्तम गन्ध से युक्त और अलङ्कारों से विभूषित था। ब्राह्मण इस राजा के सारे मनोरथों को पूरा करके अलक्षित हो गया ॥२८॥

तस्य राजर्षेर्विधाता तेनैव वेशेन परीक्षार्थमागत इति तस्मिन्नन्तर्हिते अमात्या राजानमूचुः किं प्रेप्सुना भवता इदमेवं जानता कृतमिति ॥२९.।

इस राजर्षि की परीक्षा लेने के लिए, ब्रह्मा यह ब्राह्मण का रूप बनाकर आया था। जब ब्राह्मण चला गया--तो मन्त्रियों ने राजा से पूछा, कि आपने क्या देखकर सब कुछ जानते हुए भी यह कर्म कर डाला ॥२९॥

शिविरुवाच—

नैवाहमेतद्यशसे ददानि न चार्थहेतोर्न च भोगतृष्णया
पापैरनासेवित एष मार्ग इत्येवमेतत् सकलं करोमि ॥

शिवि ने उत्तर दिया--हे मन्त्रियो ! मैंने यह दान, यश, धन या भोग विलासों की प्राप्ति के ध्यान से नहीं किया है। पापी लोग ऐसा कार्य नहीं कर सकते, मैं यही जान कर सब कुछ धर्म कार्य करता रहता हूं ॥३०॥

सद्भिः सदाध्यासितन्तु प्रशस्तं तस्मात् प्रशस्तं श्रयते मतिर्मे।
एतन्महाभाग्यवरं शिवेस्तु तस्मादहं वेद यथावदेतत् ॥३१।

इति श्रीमहाभारत आरण्यपर्वणि मार्कण्डेयसमास्यापर्वणि राजन्यमहाभाग्य कथने सप्तनवत्यधिकशततमोऽध्यायः

इन धर्म के कृत्यों को श्रेष्ठ पुरुष करते हैं और इन कार्यों की प्रशंसा करते हैं । यही कारण है, कि सज्जनों से प्रशंसित कार्यों का मैं आचरण करता हूं, यह शिवि का सर्व श्रेष्ठ, महत्व है । मैं इसे अच्छी तरह जानता हूं ।।३१।।

इति श्रीमहाभारत वनपर्वान्तर्गत मार्कण्डेयसमास्यापर्व में राजाओं के महत्त्व के कथन का एक सौ सत्तानवेवां अध्याय समाप्त हुआ ।

एक सौ अट्ठानवेवां अयाय

वैशम्पायन उवाच—

मार्कण्डेयमृषयः पाण्डवाः पर्य्यपृच्छन्नस्ति—
कश्चिद्भवतश्चिरजाततर इति ।। १ ।।

वैशम्पायन बोले--हे राजन् ! ऋषि लोग और पाण्डवों ने मार्कण्डेय से पूछा--हे महर्षे ! क्या आप की तरह अन्य भी कोई चिरञ्जीवी है ।।१।।

स तानुवाचास्ति खलु राजर्षिरिन्द्रद्युम्नो नाम क्षीणपुण्यस्त्रिदिवात् प्रच्युतः कीर्तिर्मे व्युच्छिन्नेति स मामुपातिष्ठदथ प्रत्यभिजानाति मां भवानिति ।।२।।

इसने उन सब से कहा--हां ? एक राजर्षि इन्द्रद्यूम्न है । इसका पुण्य क्षीण हो गया,इससे यह स्वर्ग से नीचे उतर आया है। यह मेरे पास पहुंचा और बोला--मेरी कीर्ति नष्ट हो चुकी है, आप मुझे पहचानते हैं, या नहीं ।।२।।

तमहमब्रुवं न वयं वासायनिकाः ग्रामैकरात्रवासिनः कार्य्यचेष्टाकुलत्वान्न प्रत्यभिजानीमोऽप्यात्मनोऽर्थानामनुष्ठानं न शरीरोपतापेनात्मनः समारभामोऽर्थानामनुष्ठानम्

इससे मैंने कहा--हम कोई विटों के घर निवास नहीं करते हैं, जो बड़े आदमियों को जान सके। अपने काम जपादि में संलग्न रहते हैं और गांव में केवल एक रात ठहर पाते हैं, इस से हम तुमको नहीं जानते हैं। इसके सिवा अपने कार्यों के अनुष्ठान में लगे रहने से भी तुमको नहीं पहचानते हैं। कृच्छ्र, चान्द्रायण आदि व्रत के द्वारा शरीरको कृश करके अपनी सिद्धि का अनुष्ठान करते रहते हैं ॥३॥

स मामुवाच अस्त्यन्यस्त्वत्तश्चिरजातइति तमहमब्रुवं अस्ति खलु हिमवति प्रावारकर्णो नामोलूकः प्रतिवसति स मत्तश्चिरजातो भवन्तं यदि जानीयादितः प्रकृष्टे चाध्वनि हिमवांस्तत्रासौ प्रतिवसतीति ॥४॥

उसने मुझसे पूछा- क्या कोई तुमसे अधिक चिरकाल से उत्पन्न प्राणी है। मैंने कहा--हां ? हिमालय में प्रावार-कर्ण नामक एक उलूक पक्षी है। वह मुझसे भी अधिक काल से उत्पन्न हुआ है। शायद वह तुमको जानता होगा। इधर से जाओगे--तो बड़ा कठिन हिमालय का मार्ग है। इस पर्वत में ही वह पक्षी! रहता है ॥४॥

ततः स मामश्वो भूत्वा तत्रावहद्यत्र बभूवोलूकः अथैनं स राजा पप्रच्छ प्रतिजानाति मां भवानिति ॥५॥

अब यह राजर्षि स्वयं अश्व बन गया और मुझे अपनी पीठ पर चढ़ा कर वहां ले गया, जहां वह उलूक रहता था। राजा इन्द्रद्युम्न ने पूछा--क्या तुम मुझे जानते हो ? ।।५।।

स मुहुर्त्तमिव ध्यात्वा ब्रवीदेनं नाभिजानामि भवन्तमिति ।
स एवमुक्त इन्द्रद्युम्नः पुनस्तमुलूकमब्रवीद्राजर्षिः ।। ६ ।।

इसने थोड़ी देर ध्यान करके कहा--मैं आपको नहीं जानता हूँ। इसके इतना कहने पर राजर्षि इन्द्रद्युम्न ने उलूक से कहा ।।६।।

अथास्ति कश्चिद्भवतः सकाशाच्चिरजात इति स एवमुक्तोऽब्रवीदस्ति खल्विन्द्रद्युम्नं नाम सरस्तास्मिन्नाड़ीजङ्घो नाम बकः प्रतिवसति सोऽस्मत्तश्चिरजाततरस्तं पृच्छेति तत इन्द्रद्युम्नो माञ्चोलूकमादाय तत् सरोऽगच्छद्यत्रासौ नाडीजङ्घो नाम वको वभूव ।।७।।

हे उलूक ! क्या तुमसे भी कोई पुराना प्राणी है । तव उसने कहा--हां ? एक इन्द्रद्युम्न नामक सरोवर है । वहां नाड़ी-जङ्घ नामक वक रहता है । वह हम दोनों से बड़ा है । तुम उससे पूछ सकते हो । अब इन्द्रद्युम्न मुझे और उस उलूक को लेकर इन्द्रद्युम्न नामक सरोवर पर पहुंचा । जिस पर नाड़ीजंघ नामक वक रहता था ।।७।।

सोऽस्माभिः पृष्टो भवानिममिन्द्रद्युम्नं राजानमभिजानाति स एनं मुहुर्त्तं ध्यात्वाब्रवीन्नाभिजानाम्यहमिन्द्रद्युम्नं राजानमिति ।।८।।

हमने उस वक से पूछा--क्या तुम इन्द्रद्युम्न नामक राजा को जानते हो। उसने भी थोड़ी देर सोचकर कहा, मैं इन्द्रद्युम्न राजा को नहीं जानता हूं ॥८॥

ततः सोऽस्माभिः पृष्टः कश्चिद्भवतोऽन्यश्चिरजाततरोऽस्तीति स नोऽब्रवीदस्ति खल्वस्मिन्नेव सरस्यकूपारो नाम कच्छपः प्रतिवसति स मत्तश्चिरजाततरः स यदि कथञ्चिदभिजानीयादिमं राजानं तमकूपारं पृच्छध्वमिति ॥९॥

फिर हमने पूछा--क्या कोई तुमसे भी पूर्वकाल का उत्पन्न हुआ प्राणी है। उसने कहा--हां ? इसी सरोवर में अकूपार नामक कछुवा है। यह मुझसे भी पुराना है। सम्भव है, यह अकूपार इस राजा को पहचान ले----तुम उससे पूछो ॥९॥

ततः स वकस्तमकूपारं कच्छपं विज्ञापयामास। अस्त्यस्माकमभिप्रेतं भवन्तं किञ्चिदर्थमभिप्रष्टुं साध्वागम्यतां तावदिति ॥१०॥

इस वक ने उस अकूपार कछुवे को सूचना दी, कि हम कोई वात तुमसे पूछना चाहते हैं। आप जरा यहाँ पधारो ॥१०॥

तच्छ्रुत्वा कच्छपस्तस्मात् सरसः उत्थायाभ्यगच्छद्यत्र तिष्ठामो वयं तस्य सरस्तीरे आगतश्चैनं वयं पृच्छाम भवानिममिन्द्रद्युम्नं राजानमभिजानातीति ॥११॥

यह सुनकर कछुवा उस तालाब से निकलकर जहां हम सब उस सरोवर के तट पर बैठे थे, वहां आया। इसके आते ही हमने पूछा--क्या आप इन इन्द्रद्युम्न राजा को जानते हैं ॥११॥

स मुहूर्त्तं ध्यात्वा वाष्पसम्पूर्णनयन उद्विग्नहृदयो वेपमानो विसंज्ञकल्पः प्राञ्जलिरब्रवीत् । किमहमेनं न प्रत्यभिज्ञास्यामीह ह्यनेन सहस्रकृत्वश्चितिषु यूपा आहिताः १२

इसने थोड़ी देर ध्यान किया । इसकी आखें आसुओं से भर गई । हृदय व्याकुल होगया । यह अचेत सा होकर कांपता हुआ हाथ जोड़ कर वोला--क्या मैं इनको भी नहीं पहिचानूंगा । इन्होंने अग्नि चयन करने के लिए यज्ञ में एक हज़ार यूप खड़े किये थे ।

सरश्चेदमस्य दक्षिणाभिर्दत्ताभिर्गोभिरतिक्रमणाभिः कृतम् । अत्र चाहं प्रतिवसामीति ॥१३॥

यह सरोवर ही है । दक्षिण में दी हुई, इसकी गायों के अतिक्रमण (खुरी) से वना है । जिसमें मैं निवास करता हूं ॥१३॥

अथैतत् सकलं कच्छपेनोदाहृतं श्रुत्वा तदनन्तरं देवलोकाद्देवरथः प्रादुरासीद्वाचश्चाश्रूयन्त इन्द्रद्युम्नं प्रति प्रस्तुतस्ते स्वर्गो यथोचितं स्थानं प्रतिपद्यस्व कीर्तिमानस्य व्यग्रो याहीति ॥१४॥

इसी प्रकार कच्छप की कही हुई कीर्ति को सुनकर देवलोक से देवरथ प्रकट हुआ और इन्द्रद्युम्न से कहने लगा--तुम्हारे लिए स्वर्ग तय्यार है । तुम अपने यथोचित स्थान पर निवास करो, क्योंकि अभी तुम्हारी कीर्ति के गाने वाले लोग मौजूद हैं । तुम बड़ी शीघ्रता से चलो ॥१४॥

भवन्ति चात्र श्लोका—

दिवं स्पृशति भूमिञ्च शब्दः पुण्यस्य कर्मणः ।
यावत् सशब्दो भवति तावत् पुरुष उच्यते ॥ १५ ॥

इस विषय में ये श्लोक प्रसिद्ध हैं--जब तक मनुष्य के पुण्य कर्म के गान का शब्द आकाश या भूमि पर गूँजता रहता है, उस शब्द के गूंजने के समय तक पुरुष, स्वर्ग में निवास करता रहता है ॥१५॥

अकीर्त्तिः कीर्त्यते लोके यस्य भूतस्य कस्यचित् ।
स पतत्यधमान् लोकान् यावत् शब्दः प्रकीर्त्यते १६

जिस प्राणी की अकीर्ति, संसार में जब तक कहीं सुनी जाती है, तब तक वह प्राणी, अधम लोकों में निवास करता है ।

तस्मात् कल्याणवृत्तः स्योदनन्ताय नरः सदा ।
विहाय चित्तं पापिष्ठं धर्ममेव समाश्रयेत् ॥१७॥

इसलिए अनन्त काल तक अपनी कीर्ति रखने के लिए पुरुष, कल्याण-कारी कार्य करे । पुरुष को उचित है, कि वह अपने चित्त से पाप विचारों को निकाल कर सदा धर्म का आचरण करे ॥१७॥

एतच्छ्रुत्वा स राजाब्रवीत्तिष्ठ तावद्यावदिमौ वृद्धौ यथास्थानंम्प्रतिपादयामीति ॥१८॥

यह सुनकर राजा बोला--अभी ठहरो, मैं इन दोनों वृद्धों को उचित स्थान पर पहुँचा दूं ॥ १८ ॥

स मां प्रावारकर्णं चोलूकं यथोचिते स्थाने प्रतिपाद्य तेनैव यानेन संस्थितौ यथोचितस्थानं प्रतिपेदे तन्मयानुभूतं चिरजीविनेदृशमिति पाण्डवानुवाच मार्कण्डेयः॥१६॥

यह मुझे और प्रावार-कर्ण उलूक को यथोचित स्थान पर पहुँचा कर और उसी यान (सवारी) में बैठ कर अपने योग्य स्थान पर चला गया। यह सब कुछ मुझ चिरञ्जीवी ने आखों से देखा है। इस प्रकार मार्कण्डेय ने पाण्डवों से कहा॥ १९॥

पाण्डवाश्चोचुः साधु शोभनं भवता कृतं राजानमिन्द्रद्युम्नं स्वर्गलोकच्च्युतं स्वस्थाने प्रतिपादयतेत्यथैतानब्रवीदसौ ननु देवकीपुत्रेणापि कृष्णेन नरके मज्जमानो राजर्षिर्नृगस्तस्मात् कृच्छ्रात् पुनः समुद्धृत्य स्वर्गं प्रापित इति॥

इति श्रीमहाभारत आरण्यपर्वणि मार्कण्डेयसमास्यापर्वणि इन्द्रद्युम्नोपाख्याने अष्टनवत्यधिकशततमोध्यायः॥१९८॥

पाण्डवों ने कहा--आपने राजा इन्द्रद्युम्न को जो स्वर्गलोक से च्युत हो गया था, अपने स्थान पर पहुँचा दिया--यह बड़ा ही अच्छा किया। अब इनसे मार्कण्डेय ने कहा--कि देवकी पुत्र श्रीकृष्ण ने भी राजर्षि नृग को कठिन परिस्थिति से निकाल कर फिर स्वर्ग में पहुँचाया था॥२०॥

इति श्री महाभारत वनपर्वान्तर्गत मार्कण्डेयसमस्यापर्व में इन्द्रद्युम्न के उपाख्यान का एक सौ अट्ठानवेवां अध्याय समाप्त हुआ

एक सौ निन्यानवेवां अध्याय

वैशम्पायन उवाच---

श्रुत्वा स राजा राजर्षेरिन्द्रद्युम्नस्य तत्तदा ।
मार्कण्डेयान्महाभागात् स्वर्गस्य प्रतिपादनम् ॥१॥
युधिष्ठिरो महाराजः पुनः पप्रच्छ तं मुनिम् ।
कीदृशीषु ह्यवस्थासु दत्त्वा दानं महामुने ॥२॥
इन्द्रलोकं त्वनुभवेत पुरुषस्त्वं बूवीहि मे ।
गार्हस्थ्येऽप्यथवा बाल्ये यौवने स्थाविरेऽपि वा ॥३॥
यथा फलं समश्नाति तथा त्वं कथयस्व मे ।

वैशम्पायन बोले--हे राजन् ! महाराज युधिष्ठिर ने राजर्षि इन्द्रद्युम्न का स्वर्ग में जाना--महामुनि मार्कण्डेय से सुनकर फिर पूछा । हे महामुने ! किस अवस्था में दान देकर मनुष्य, स्वर्ग में जाता है--यह मुझे बताओ । गृहस्थ, बाल्य, यौवन या वृद्धावस्था में कब किस तरह प्राणी, फल भोगता है, आप मुझे सुनाइए ॥१--३॥

मार्कण्डेय उवाच---

वृथा जन्मानि चत्वारि वृथा दानानि षोडश ।
वृथा जन्म ह्यपुत्रस्य ये च धर्मबहिष्कृताः ।
परपाकेषु येऽश्नन्ति आत्मार्थन्तु पचेत्तु यः ॥४॥
पर्य्यश्नन्ति वृथा यत्र तदसन्त्यं प्रकीर्त्यते ।
आरूढपतिते दत्तमन्यायोपहितश्च यत् ॥५ ॥

व्यर्थन्तु पतिते दानं ब्राह्मणे तस्करे तथा ।
गुरौ चानृतिके पापे कृतघ्ने ग्रामयाजके ॥६॥
वेदविक्रयिणे दत्तं तथा वृषलपाचके ।
ब्रह्मबन्धुषु यद्दत्तं यद्दत्तं वृषलीपतौ ॥७॥
स्त्रीजनेषु च यद्दत्तं व्यालग्राहे तथैव च ।
परिचारकेषु यद्दत्तं वृथा दानानि षोडश ॥८॥

मार्कण्डेय बोले--हे राजन्! चार प्रकार के जन्म वृथा हैं और सोलह तरह के दान व्यर्थ हैं। पुत्र रहित पुरुष का जन्म निष्फल है और जो धार्मिक जीवन व्यतीत नहीं करते उनका भी जन्म वृथा है। अन्य के भोजन को खाने वाले और अपने स्वाद के लिए भोजन बनाने वाले का भी जन्म वृथा माना गया है, जो पुरुष, बालक, वृद्ध और अतिथियों के अर्पण किए बिना आप खा जाते हैं-- यह वृथा कहा है और इनको दिया हुआ दान भी असत्य माना है--जो दान, ऊँचे आश्रम में पहुंच कर नीचे गिरने वाले को दिया जाता है तथा अन्याय से उपार्जन करके दिया जाता है--ये दोनों भी वृथा हैं। पतित पुरुष, चोर ब्राह्मण, मिथ्या व्यवहार करने वाले गुरु, पापी, कृतघ्न, ग्राम-याचक, वेद के वेचने वाले (मिथ्या व्यवस्था दाता) शूद्र से रसोई बनवाने वाले, नीच ब्राह्मण, शूद्रा के पति, काम वासना से स्त्रियों को दान देने वाले, सपेरे, सेवक, इनको दिया दान भी व्यर्थ है। ये सोलह प्रकार के दान वृथा हैं ॥४-८॥

तमोवृतस्तु यो दद्याद्भयात् क्रोधात् तथैव च ।
भुङ्क्ते च दन तत्सर्वं गर्भस्थस्तु नरः सदा ॥६॥
ददद्दानं द्विजातिभ्यो वृद्धभावेन मानवः ।
तस्मात् सर्वास्ववस्थासु सर्वदानानि पार्थिव ।
दातव्यानि द्विजातिभ्यः स्वर्गमार्गजिगीषया ॥१०॥

जो मनुष्य, तमोगुण के वश में होकर भय तथा क्रोध से दान दे, उस दान को प्राणी गर्भ में भोगता है। जो दान उत्तम ब्राह्मणों को दिया जाता है, उसको मनुष्य वृद्धावस्था में भोगता है। हे राजन्! सब अवस्थाओं में सब प्रकार के दान स्वर्ग मार्ग की प्राप्ति के लिए श्रेष्ठ ब्राह्मणों को ही देने चाहिए ॥६-१०॥

युधिष्ठिर उवाच---

चातुर्वर्ण्यस्य सर्वस्य वर्त्तमानाः प्रतिग्रहे ।
केन विप्रा विशेषेण तारयन्ति तरन्ति च ॥११॥

युधिष्ठिर ने पूछा--हे मुने! सारे वर्णों के दान लेने में प्रवृत्त ब्राह्मण, किस विशेष दान से यजमान को स्वर्ग में पहुँचाते या स्वयं पहुँच जाते हैं ॥११॥

मार्कण्डेय उवाच---

जपैर्मन्त्रैश्च होमैश्च स्वाध्यायाध्ययनेन च ।
नावं वेदमयीं कृत्वा तारयन्ति तरन्ति च ।
ब्राह्मणांस्तोषयेद्यस्तु तुष्यन्ते तस्य देवताः ॥१२॥
वचनाच्चापि विप्राणां स्वर्गलोकमवाप्नुयात् ।

मार्कण्डेय ने कहा--जो ब्राह्मण जप, मन्त्र, होम, स्वाध्याय, वेदाध्ययन से वेद को नौका बना लेते हैं, वे दान लेकर यजमान को तार देते हैं तथा स्वयं भी तर जाते हैं। जो ब्राह्मणों को सन्तुष्ट करता है, उसके देवता भी सन्तुष्ट हो जाते हैं और यजमान, ब्राह्मणों के आशीर्वाद से स्वर्ग लोक पाता है ॥१२॥

पितृदैवतपूजाभिर्ब्राह्मणाभ्यर्च्चनेन च ॥१३॥
अनन्त पुण्यलोकन्तु गन्तासि त्वं न संशयः।
श्लेष्मादिभिर्व्याप्ततनुर्म्रियमाणो विचेतनः ॥१४॥

हे राजन्! तुम भी पितर, देवता और ब्राह्मणों की पूजा करने से अन्त को नहीं प्राप्त होने वाले, पुण्य-लोकों को प्राप्त करोगे, इसमें संशय नहीं है। जिसके कफ चढ़ आया है और अचेत होकर मर रहा है, वह भी उपर्युक्त कार्य करके स्वर्ग चला जाता है ॥१३-१४॥

ब्राह्मणा एव सम्पूज्याः पुण्यं स्वर्गमभीप्सता।
श्राद्धकाले तु यत्नेन भोक्तव्या ह्यजुगुप्सिताः ॥१५॥

जो पवित्र स्वर्ग को जाना चाहता है, उसको ब्राह्मणों की अवश्य पूजा करनी चाहिए। श्राद्ध के समय तो बड़े प्रयत्न से सदाचारी ब्राह्मण को ही जिमाना चाहिये ॥१५॥

दुर्वर्णः कुनखी कुष्ठी मायावी कुण्डगोलकौ।
वर्ज्जनीयाः प्रयत्नेन काण्डपृष्ठाश्च देहिनः ॥१६॥
जुगुप्सितं हि यच्छ्राद्धं दहत्यग्निरिवेन्धनम्।

बुरे वर्ण और नख वाले, कुष्ठरोगी, छली, अपने पति के जीवित या मरने पर जार से अपनी माता में उत्पन्न हुए, बाण-तूणीर-धारी, ब्राह्मणों को श्राद्ध में कभी नहीं जिमाना चाहिए। जो श्राद्ध इन ब्राह्मणों से निन्दित हो जाता है, वह श्राद्ध करने वाले को ऐसे जला देता है,जैसे अग्नि काष्ठ को जला देतीहै॥१६॥

ये ये श्राद्धे नियुज्यन्ते मूकान्धबधिरादयः ॥१७॥
तेऽपि सर्वे नियोक्तव्या मिश्रिता वेदपारगैः।

जो कहीं पर श्राद्धो में गूंगे, अन्धे, बहरे बुलाने भी पड़ें, तो वेदपाठी ब्राह्मणों के साथ में ही उनको बुलाना चाहिए ॥१७॥

प्रतिग्रहश्च वै देयः शृणु यस्य युधिष्ठिर ॥१८॥
प्रदातारं तथात्मानं यस्तारयति शक्तिमान्।
तस्मिन् देये द्विजे दानं सर्वागमविजानता ॥१९॥

हे युधिष्ठिर! दान कैसे ब्राह्मण को देना चाहिये—अब तुम यह सुनो। उस ब्राह्मण को दान देना चाहिए, जो सब शास्त्रों के ज्ञाता और शक्तिशाली हों तथा दान देने वाले यजमान और अपना उद्धार करने में समर्थ हों॥१८-१९॥

प्रदातारं तथात्मानं तारयेद्यः स शक्तिमान्।
न तथा हविषो होमैर्न पुष्पैर्नालेपनैः ॥२०॥
अग्नयः पार्थ तुष्यन्ति यथा ह्यतिथिभोजने।
तस्मात्त्वं सर्वयत्नेन यतस्वातिथिभोजने ॥२१॥

हे पार्थ! हविः के हवन और पुष्प या चन्दनादि के अर्पण करने से अग्नि इतना संतुष्ट नहीं होता, जितना अतिथि के

भोजन कराने से होता है, इसलिए तुम सब उपायों से अतिथि के भोजन कराने का प्रयत्न किया करो ॥२०-२१॥

पादोदकं पादघृतं दीपमन्न प्रतिश्रयम् ।
प्रयच्छन्ति तु ये राजन् नोपसर्पन्ति ते यमम् ॥२२॥
देवमाल्यापनयनं द्विजोच्छिष्टावमार्जनम् ।
आकल्पपरिचर्य्या च गात्रसंवाहनानि च ॥२३॥
अत्रैकैकं नृपश्रेष्ठ गोदानाद्व्यतिरिच्यते ।

हे राजन्! जो अतिथि के चरणों की पूजा में पाद्य और घृत-दीपक अर्पण करके, उसे निवास स्थान देते हैं, वे यम के द्वार पर नहीं जाते हैं। हे नृपश्रेष्ठ! देवों (विद्वानों) की निर्माल्य मालादि हटाना, द्विजों के उच्छिष्ट स्थान की शुद्धि करना विद्वान् ब्राह्मणों को गन्ध अलङ्कार आदि अर्पण कर उनकी सेवा करना और शरीर दबाना, ये प्रत्येक कार्य, गोदान से अधिक महत्व रखते हैं ॥२२-२३॥

कपिलायाः प्रदानात्तु मुच्यते नात्र संशयः ॥२४॥
तस्मादलङ्कृतां दद्यात् कपिलान्तु द्विजातये ।
श्रोत्रियाय दरिद्राय गृहस्थायाग्निहोत्रिणे ॥२५॥
पुत्रदाराभिभूताय तथा ह्यनुपकारिणे ।
एवं विधेषु दातव्या न समृद्धेषु भारत ॥२६॥

जो मनुष्य कपिला गौ का दान करता है, वह यम के बन्धन से छुट जाता है, इसमें सन्देह नहीं है। इससे कपिला गौ को

अलङ्कारों से युक्त करके वेद पढ़ने वाले, दरिद्री, अग्निहोत्री, गृहस्थ ब्राह्मण को देनी चाहिए। हे भारत ! जिस ब्राह्मण को पुत्र और स्त्री आदि ने दुःखी कर रखा है तथा जिससे लौकिक उपकार की कोई आशा नहीं है---ऐसे ब्राह्मण को दान देना उचित है; समृद्धिशाली को दान देना वृथा है ॥२४-२६॥

को गुणो भरतश्रेष्ठ समृद्धेष्वभिवर्जितम् ।
एकस्यैका प्रदातव्या न बहूनां कदाचन ॥२७॥
सा गौर्विक्रयमापन्ना हन्यात्त्रिपुरुषं कुलम् ।
न तारयति दातारं ब्राह्मणं नैव नैव तु ॥२८॥

हे भरत श्रेष्ठ ! समृद्धिशाली को दान देने से क्या सिद्धि है। एक ब्राह्मण को एक ही गाय देनी उचित है, अनेक गौ, एक को नहीं देनी चाहिए। यदि दान में दी हुई गौ किसी अयोग्य पुरुष को बेच दी गई, तो कुल के तीन पुरुषों को मार देती है या नरक पहुंचा देती है। इस प्रकार का गोदान न तो यजमान को ही तराता है और ब्राह्मण को तो बिल्कुल नष्ट ही कर देता है २७-२८

सुवर्णस्य विशुद्धस्य सुवर्णं य प्रयच्छति ।
सुवर्णानां शतं तेन दत्तं भवति शाश्वतम् ॥२९॥

जो गोदान के साथ शुद्ध सुवर्ण की मुद्रा देता है, उसको एक सौ सुवर्ण मुद्रा के दान का फल अवश्य मिलता है ॥२९॥

अनड्वाहन्तु यो दद्याद्बलवन्त धुरन्धरम् ।
स निस्यरति दुर्गाणि स्वर्गलोके च गच्छति ॥३०॥

जो मनुष्य बलवान धुर धारणके योग्य,बैल का दान करता है, वह सब दु:खों से छूट कर अन्त में स्वर्गलोक जाता है ॥३०॥

वसुन्धरान्तु यो दद्यात् द्विजाय विदुषात्मने ।
दातारं ह्यनुगच्छन्ति सर्वे कामाभिवाञ्छिताः ॥३१॥

जो मनुष्य, विद्वान ब्राह्मण को भूमि दान करता है--उस दाता की सारी अभिलाषाएं सिद्ध हो जाती हैं।॥३१॥

पृच्छन्ति चान्नदातारं वदन्ति पुरुषा भुवि ।
अध्वनि क्षीणगात्राश्च पांशुपादावगुण्ठिताः ॥३२॥
तेषामेवं श्रमार्त्तानां यो ह्यन्नं कथये द्बुधः ।
अन्नदातृसमः सोऽपि कीर्त्यते नात्र संशयः ॥३३॥

संसार में लोग अन्न के देने वाले को पूछते है और अन्न के दाता की ही सब प्रशंसा करते हैं। जो मार्ग के श्रम से कृश हो रहा है और जिसके पैर मिट्टी में सने हुए हैं, उन थके बटोहियों को जो बुद्धिमान् अन्न-दान देता है, वह अन्नदाता (सदाव्रत देने वाले) के समान प्रशंसित होता है, इसमें सन्देह नहीं है ॥३२-३३॥

तस्मात्त्वं सर्वदानानि हित्वान्नं सम्प्रयच्छ ह ।
न हीदृशं पुण्यफलं विचित्रमिह दृश्यते ॥३४॥

हे राजन्! तुम भी अन्य सब दानों का आग्रह छोड़ कर अन्न-दान दो। इस दान के बराबर अन्य दानों का पुण्य नहीं है ॥३४॥

यथाशक्ति च यो दद्यादन्नं विप्रे सुसंस्कृतम् ।
स तेन कर्मणा प्रैति प्रजापतिसलोकताम् ॥३५॥

जो अच्छी तरह सिद्ध किये (पकाये) हुए अन्न से ब्राह्मणों को जिमाता है--वह यजमान, इस उत्तम कर्म से ब्रह्मलोक प्राप्त करता ॥३५॥

अन्नमेव विशिष्टः हि यस्मात् परतरं न च ।
अन्नं प्रजापतिश्चोक्तः स च सम्वत्सरो मतः ॥३६॥

सब दानों में अन्न दान ही श्रेष्ठ है---इससे उत्तम कोई दान नहीं है। शास्त्रों में अन्न ही प्रजापति और अन्न ही सम्वत्सर माना है ॥३६॥

सम्वत्सरस्तु यज्ञोऽसौ सर्वं यज्ञे प्रतिष्ठितम् ।
तस्मात् सर्वाणि भूतानि स्थावराणि चराणि च ।
तस्मादन्नं विशिष्टं हि सर्वेभ्य इति विश्रुतम् ॥३७॥

सम्वत्सर यज्ञ को कहते हैं, क्योंकि सब (उत्पत्ति) यज्ञ में ही प्रतिष्ठित है। इस अन्न से ही सारे चर अचर प्राणी प्राण धारण करते हैं। यही कारण है, कि अन्न को सर्व श्रेष्ठ माना गया है ॥३७॥

येषां तडागानि महोदकानि वाप्यश्च कूपाश्च प्रतिश्रयाश्च ।
अन्नस्य दानं मधुरा च वाणी यमस्य ते निर्वचना भवन्ति ॥

जिन्होंने जल से परिपूर्ण तालाव, वावड़ी, कूप, धर्मशाला आदि वनाए हों तथा जिसने मधुर वाणी के साथ अन्न दान दिये हों, वे यमराज के वचन नहीं सुनते हैं ॥३८॥

धान्यश्रमेणार्जितवित्तसञ्चितं विप्रे सुशीले च प्रयच्छते यः।
वसुन्धरा तस्य भवेत् सुतुष्टा धारां वसूनां प्रतिमुञ्चतीव ॥

जो श्रम से इकट्ठे किए हुए अन्न और धन को सुशील ब्राह्मण को दान में देता है, उस पर भूमि प्रसन्न हो जाती है और वह धन की धारा सी बरसाने लगती है ॥३९॥

अन्नदाः प्रथमं यान्ति सत्यवाक् तदनन्तरम् ।
अयाचितप्रदाता च समं यान्ति त्रयो जनाः ॥४०॥

(१) अन्न का दान देने वाला (२) सत्यवादी (३) और विना मांगे देने वाला, ये तीनों साथ २ स्वर्ग को जाते हैं। इनमें सबसे आगे अन्नदाता और उसके पीछे सत्यवादी रहता है ॥४०॥

वैशम्पायन उवाच—

कौतूहलसमुत्पन्नः पर्य्यपृच्छद् युधिष्ठिरः ।
मार्कण्डेयं महात्मानं पुनरेव सहानुजः ॥४१॥

वैशम्पायन बोले--हे राजन्! अब राजा युधिष्ठिर को इन कथाओं के सुनने की उत्कण्ठा सी हो गई। यह फिर अपने भाइयों के साथ महात्मा मार्कण्डेय से बोला ॥४१॥

यमलोकस्य चाध्वानमन्तरं मानुषस्य च ।
कीदृशं किं प्रमाणं वा कथं वा तन्महामुने ।
तरन्ति पुरुषाश्चैव येनोपायेन शंस मे ॥४२॥

हे महा-मुने! अब तुम यमलोक के मार्ग और उसका मनुष्य लोक से अन्तर (फासला) का वर्णन करो। वह कैसा

और कितने प्रमाण का है और जिस उपाय से मनुष्य इस यम के मार्ग को पार कर जाते हैं, तुम मुझे वह भी सुनाओ ॥४२॥

मार्कण्डेय उवाच—

सर्वगुह्यतमं प्रश्नं पवित्रमृषिसंस्तुतम् ।
कथयिष्यामि ते राजन् धर्मं धर्मभृताम्वर ॥४३॥

मार्कण्डेय बोले--हे धर्मभृताम्वर ! राजन् ! यह सबसे अधिक रहस्यमय, ऋषियों से प्रशंसित, पवित्र, प्रश्न है । अब मैं तुमको इस सम्पूर्ण धर्म का विवेचन सुनाता हूं ॥४३॥

षडशीतिसहस्राणि योजनानां नराधिप ।
यमलोकस्य चाध्वानमन्तरं मानुषस्य च ॥ ४४ ॥
आकाशं तदपानीयं घोरकान्तारदर्शनम् ।
न तत्र वृक्षच्छाया वा पानीयं केतनानि च ॥४५॥
विश्रमेद्यत्र वै श्रस्तः पुरुषोऽध्वानकर्षितः ।
नीयन्ते यमदूतैस्तु यमस्याज्ञाकरैर्बलात् ॥४६॥

हे नराधिप! मनुष्य लोक से यमलोक का मार्ग छियासी हजार योजन चलता है । यह मार्ग जल रहित आकाश में होकर जाता है । इसमें भयङ्कर वनों में होकर चलना पड़ता है । यहाँ वृक्षों की छाया, पानी और मकान आदि कुछ भी नहीं आते हैं, जिनमें थका हुआ मनुष्य विश्राम कर ले । इस घोर मार्ग में यम की आज्ञा के पालन करने वाले दूत, बल-पूर्वक प्राणी को खैंच ले जाते हैं ॥४४--४६॥

नराः स्त्रियस्तथैवान्ये पृथिव्यां जीवसंज्ञिताः ।
ब्राह्मणेभ्यः प्रदानानि नानारूपाणि पार्थिव ॥४७॥
हयादीनां प्रकृष्टानि तेऽध्वानं यान्ति वै नराः ।
सन्निवार्य्यातपं यान्ति छत्रेणैव हि छत्रदाः ॥४८॥

हे राजन् ! पृथिवी पर जीवधारी क्या पुरुष और क्या स्त्री सब इस मार्ग से जाते हैं। जो ब्राह्मण को अनेक रूप के दान और उत्तम अश्व आदि प्रदान करते हैं, वे सुख से जाते हैं। जो छत्री का दान करते हैं, वे धूप से बचकर जाते हैं ॥४७-४८॥

तृप्ताश्चैवान्नदातारो ह्यतृप्ताश्चाप्यनन्नदाः ।
वस्त्रिणो वस्त्रदा यान्ति अवस्त्रा यात्यवस्त्रदाः॥४९॥

जो अन्न दाता हैं, वे तृप्त होकर, जिन्होंने अन्न दान नहीं दिया है, वे भूखे, प्यासे, वस्त्र दाता वस्त्र सहित और वस्त्रों के दान नहीं देने वाले, वस्त्र हीन होकर इस मार्ग में जाते हैं ॥४९॥

हिरण्यदाः सुखं यान्ति पुरुषास्त्वभ्यलङ्कृताः ।
भूमिदास्तु सुखं यान्ति सर्वकामैः सुतर्पिताः ॥५०॥

सुवर्ण के देने वाले, आभूषणों से भूषित होकर सुख से जाते हैं और भूमि के दाता, सारी अभिलाषाओं से सन्तुष्ट होते हुए, इस मार्ग की यात्रा करते हैं ॥५०॥

यान्ति चैवापरिक्लिष्टा नराः शस्यप्रदायकाः ।
नराः सुखतरं यान्ति विमानेषु गृहप्रदाः ॥५१॥
पानीयदा ह्यतृषिताः प्रहृष्टमनसो नराः ।
पन्थानं द्योतयन्तश्च यान्ति दीपप्रदाः सुखम् ॥५२॥

अन्न, घास आदि के दाता मनुष्य, विना किसी क्लेश के इस मार्ग से निकल जाते हैं और गृह दान करने वाले मनुष्य, तो बड़े सुख से विमानों में वैठकर जाते हैं। प्याऊ लगवाने वाले मनुष्य प्यास से रहित, बड़े प्रसन्न मन से जाते हैं और दीपक का दान देने वाला मनुष्य, अपने मार्ग में प्रकाश युक्त होकर चलता है ॥५१-५२॥

गोप्रदास्तु सुखं यान्ति निर्मुक्ताः सर्वपातकैः ।
विमानैर्हंससंयुक्तैर्यान्ति मासोऽपवासिनः ॥५३॥

गौ का दान देने वाले और एक महीने तक का व्रत रखने वाले मनुष्य, सब पापों से मुक्त होकर हंसों के विमान में वैठ कर जाते हैं ॥५३॥

तथा बर्हिप्रयुक्तैश्च षष्ठरात्रोपवासिनः ।
त्रिरात्रं क्षपते यस्तु एकभक्तेन पाण्डव ॥५४॥
अन्तरा चैव नाश्नाति तस्य लोकाह्यनामयाः ।

हे पाण्डव ! जो छः रात का व्रत रखता है या एक वार भोजन करके तीन रात व्यतीत कर देता है, वह मयूरों के विमान में बैठकर जाता है। इन काल के वीच में जो भोजन नहीं करता, उसको सुखकारी लोकों की प्राप्ति होती है ॥५४॥

पानीयस्य गुणा दिव्याः प्रेतलोकसुखावहाः ॥५५॥
तत्र पुष्पोदका नाम नदी तेषां विधीयते ।
शीतलं सलिलं तत्र पिबन्ति ह्यमृतोपमम् ॥५६॥

जल दान के बड़े उत्तम गुण कहे हैं। यह प्रेतलोक में बड़ा ही सुखकारी है। जल के दान देने वालों को पुष्पोदका नाम नदी मिलती है। उसमें बड़ा शीतल अमृतोपम जल है। जल का दान देने वाला, उस जल का पान करता है ॥५५-५६॥

ये च दुष्कृतकर्माणः पूयं तेषां विधीयते ।
एवं नदी महाराज सर्वकामप्रदा हि सा ॥५७॥

हे महाराज! जो पाप कर्म करने वाले हैं, उनको पूय (राध-लोई) प्राप्त होते हैं। इस प्रकार की वह नदी, धर्मात्माओं को सब कामनाओं की देने वाली है ॥५७॥

तस्मात्त्वमपि राजेन्द्र पूजयैनान् यथाविधि ।
अध्वनि क्षीणगात्रश्च पथि पांशुसमन्वितः ॥५८॥
पृच्छते ह्यन्नदातारं गृहमायाति चाशया ।
तं पूजयेत् प्रयत्नेन सोऽतिथिर्ब्राह्मणश्च सः ॥५९॥

हे राजन्! अब तुम भी मार्ग में चलने से क्लेशित, धूल में सने हुए, ब्राह्मणों की विधि-पूर्वक पूजा करो। जो अन्नदाता को पूछता हुआ घर पर आता है, उस अतिथि ब्राह्मण की बड़े आदर से पूजा करनी चाहिए ॥५८-५९॥

तं यान्तमनुगच्छन्ति देवाः सर्वे सवासवाः ।
तस्मिन् संपूजिते प्रीता निराशा यान्त्यपूजिते ॥६०॥
यस्मात्वमपि राजेन्द्र पूजयैनं यथाविधि ।
एतत्ते शतशः प्रोक्तं किं भूयः श्रोतुमिच्छसि ॥६१॥

इस अतिथि के घर पर आने पर सारे इन्द्रादि देव उसके साथ आते हैं। उस ब्राह्मण के आदर करने से सारे देव सन्तुष्ट हो जाते हैं और उसकी पूजा नहीं होने पर सारे निराशा से लौट जाते हैं। हे राजेन्द्र! इस लिए तुम भी विधि-पूर्वक इनकी अवश्य पूजा किया करो, यह बात तुमको बार २ कह दी है। अब तुम और क्या सुनना चाहते हो ॥६०-६१॥

युधिष्ठिर उवाच—

पुनः पुनरहं श्रोतुं कथां धर्मसमाश्रयाम् ।
पुण्यामिच्छामि धर्मज्ञ कथ्यमानां त्वया विभो॥६२॥

युधिष्ठिर ने कहा--हे धर्मात्मन्! मैं तो बार २ यही कहता हूं कि, आप मुझे पवित्र, पुण्य-जनक कथा सुनाते जाइये ॥६२॥

मार्कण्डेय उवाच—

धर्मान्तरं प्रति कथां कथ्यमानां मया नृप ।
सर्वपापहरां नित्यं श्रृणुष्वावहितो मम ॥६३॥

मार्कण्डेय बोले--हे राजन्! अन्य २ धर्मों को लेकर सब पापों के हरने वाली कथाऐं कहता हूं, तुम सावधान होकर सुनते रहो ॥६३॥

कपिलायान्तु दत्तायां यत् फलं ज्येष्ठपुष्करे ।
तत् फलं भरतश्रेष्ठ विप्राणां पादधावने ॥६४॥

हे भरत-श्रेष्ठ! जो ज्येष्ठ में पुष्कर तीर्थ पर कपिला गौ दान का फल मिलता है, वही फल ब्राह्मणों के चरण धोने से मिल जाता है ॥६४॥

द्विजपादोदकक्लिन्ना यावत्तिष्ठति मेदिनी ।
तावत् पुष्करपर्णेन पिबन्ति पितरो जलम् ॥६५॥
स्वागतेनाग्नयस्तृप्ता आसनेन शतक्रतुः ।
पितरः पादशौचेन अन्नाद्येन प्रजापतिः ॥६६॥

ब्राह्मणों के चरण धोने के जल से जब तक पृथिवी गीली रहती है, तब तक पितर कमल के पत्ते से पानी पीते रहते हैं। अतिथि ब्राह्मण के स्वागत से अग्नि, आसन दान से इन्द्र, चरण धोने से पितर और अन्न भोजन कराने से प्रजापति, सन्तुष्ट होता है ॥ ६५-६६ ॥

यावद्वत्सस्य वै पादौ शिरश्चैव प्रदृश्यते ।
तस्मिन् काले प्रदातव्या प्रयतेनान्तरात्मना ॥६७॥
अन्तरीक्षगतो वत्सो यावद्योन्यां प्रदृश्यते ।
तावद्गौः पृथिवी ज्ञेया यावद्गर्भं न मुञ्चति ॥६८॥

जिस गौ के बच्चा उत्पन्न होने लगे और उस बच्चे का चरण और शिर ही बाहर निकला हो, उस समय ही बड़ी सावधानी से उस गौ को ब्राह्मण को दान कर दे। भूमि पर गिरने से पूर्व अन्तरिक्ष में जब तक बच्चा गौ की योनि में दिखाई दे और बच्चा निकल कर भूमि पर न गिरे, तब तक वह गाय पृथिवी मानी गई है ॥६७-६८॥

यावन्ति तस्या रोमाणि वत्सस्य च युधिष्ठिर ।
तावद्युगसहस्राणि स्वर्गलोके महीयते ॥६९॥

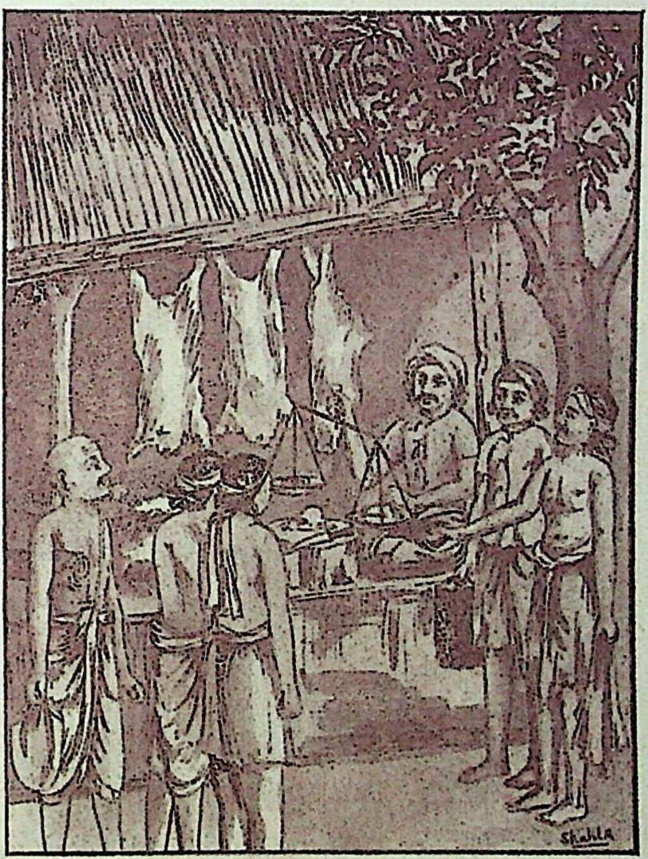

वेदज्ञ ब्राह्मण कौशिक और धर्म-व्याध का धार्मिक सम्भाषण
महाभारत वनपर्व अध्याय २०६--१२ पृष्ठ ७४०

सुवर्णनासां यः कृत्वा सुखुरां कृष्णधेनुकाम् ।
तिलैः प्रच्छादितां दद्यात् सर्वरत्नैरलङ्कृताम् ॥७०॥

हे युधिष्ठिर ! जितने उस बच्चे और गौ के रोम हैं, उतने ही सहस्र युगों तक मनुष्य स्वर्गलोक में निवास करता है, मनुष्य, काली गाय की सुवर्ण की नासिका और खुर बनाकर तथा सब भांति के रत्नों से उसे अलंकृत करके तिलों से ढककर ब्राह्मण को प्रदान कर दे । ॥६९-७०॥

प्रतिग्रहं गृहीत्वा यः पुनर्ददति साधवे ।
फलानां फलमश्नाति तदा दत्वा च भारत ॥७१॥
स समुद्रगुहा तेन सशैलवनकानना ।
चतुरन्ता भवेद्दत्ता पृथिवी नात्र संशयः ॥७२॥

हे भारत! जो ब्राह्मण इस गोदान को लेकर किसी उत्तम ब्राह्मण को दे दे, तो वह इस दान से महाफल का भागी होता है । समुद्र, गुहा, पर्वत, वन, महावनों से युक्त चारों दिशा की पृथिवी के दान के तुल्य उसका फल होगा--इसमें संशय मत समझो ॥७१-७२॥

अन्तर्जानुशयो यस्तु भुङ्क्ते सक्तभाजनः ।
यो द्विजः शब्दरहितं स क्षमस्तारणाय वै ॥७३॥

जो ब्राह्मण, अपने हाथ को अपनी जानु के भीतर रखकर चुप-चाप पात्र की ओर ध्यान रखकर भोजन करता है, वही यजमान के उद्धार करने में समर्थ होता है ॥७३॥

अपानपा न गदितास्तथान्ये ये द्विजातयः ।
जपन्ति संहितां सम्यक् ते नित्यं तारणक्षमाः॥७४॥

मद्यपान से हीन, निर्दोष तथा इसी तरह के अन्य गुणोंवाले जो ब्राह्मण, वेद संहिता का पाठ करते हैं, वे ही दानी के उद्धार में समर्थ होते हैं ॥७४॥

हव्यं कव्यञ्च यत् किञ्चित् सर्वं तत् श्रोत्रियोऽर्हति ।
दत्तं हि श्रोत्रिये साधौ ज्वलितेऽग्नौ यथाहुतम्॥७५॥

जितनी हव्य (देव निमित्त) और कव्य (पितृ-निमित्त) है, वह सब वेद के अध्ययन करने वाले के निमित्त ही है। सदाचारी, वेदपाठी को दान दिया हुआ, ज्वलित अग्नि में दान के समान सार्थक है ॥७५॥

मन्युप्रहरणा विप्रा न विप्राः शस्त्रयोधिनः ।
निहन्युर्मन्युना विप्रा वज्रपाणिरिवासुरान् ॥७६॥

विप्रों का तो क्रोध ही शस्त्र है। ब्राह्मण, शस्त्रों से नहीं लड़ा करते हैं। जिस तरह इन्द्र, वज्र से असुरों को मारता है, वैसे ही ब्राह्मण भी, क्रोध से पापी का वध कर देता है ॥७६॥

धर्माश्रितेयन्तु कथा कथितेयं तवानघ ।
यां श्रुत्वा मुनयः प्रीता नैमिषारण्यवासिनः॥७७॥

हे धर्म-श्रेष्ठ ! मैंने धर्म युक्त यह कथा तुमको सुनाई है। इस कथा को सुन कर नैमिषारण्य के रहने वाले मुनि, बड़े ही प्रसन्न हुए थे ॥७७॥

वीतशोकभयक्रोधा विपाप्मानस्तथैव च ।
श्रुत्वेमान्तु कथां राजन्न भवन्तीह मानवाः ॥७८॥

हे राजन्! इस कथा को सुन कर मनुष्य, शोक, भय और क्रोध से रहित होकर पापहीन हो जावेगे और फिर इसलोक में जन्म नहीं लेंगे ॥७८॥

युधिष्ठिर उवाच—

किन्तच्छौचं भवेद्येन विप्रः शुद्धः सदा भवेत् ।
तदिच्छामि महाप्राज्ञ श्रोतुं धर्मभृताम्वर ॥७९॥

युधिष्ठिर बोले----हे धर्मात्माओं में श्रेष्ठ! महाप्राज्ञ ब्रह्मन्! अब तुम यह बतलाओ, कि शौच क्या है, जिसके करने से ब्राह्मण शुद्ध हो जाता है। मैं अब इसी विषय को सुनना चाहता हूं ॥७९॥

मार्कण्डेय उवाच—

वाक्शौचं कर्मशौचञ्च यच्च शौचं ज़लात्मकम् ।
त्रिभिः शौचैरुपेतो यः स स्वर्गी नात्र संशयः ॥८०

मार्कण्डेय बोले--हे राजन्! जो मनुष्य वाणी, कर्म तथा जलादि से शरीर के शौच को करता रहता है, वह स्वर्ग को प्राप्त करता है-इसमें सन्देह नहीं है। स्वर्ग प्राप्ति के लिए इन तीनों की परम आवश्यकता है ॥८०॥

सायं प्रातश्च सन्ध्यां यो ब्राह्मणोऽभ्युपसेवते ।
प्रजपन् पावनीं देवीं गायत्रीं वेदमातरम् ॥८१॥

स तया पावितो देव्या ब्राह्मणो नष्टकिल्विषः ।
न सीदेत् प्रतिगृह्णानो महीमपि ससागराम् ॥८२॥

जो ब्राह्मण, प्रातः और सायंकाल की सन्ध्या करता है और पवित्र देवी, वेदमाता गायत्री का जप करता रहता है, उस ब्राह्मण के सारे पाप नष्ट हो जाते हैं। इसको समुद्र पर्यन्त भूमि भी दान में मिल जावे, तो भी इसको दान का भार नहीं होगा ॥८१-८२॥

ये चास्य दारुणाः केचिद् ग्रहाः सूर्य्यादयो दिवि ।
ते चास्य सौम्या जायन्ते शिवाः शिवतराःसदा॥८३॥

अगर इस ब्राह्मण के द्युलोक में सूर्य आदि ग्रह, वक्रदृष्टि हो, तो ये सब ग्रह, सौम्य होकर सुखदायी और कल्याण-कारी हो जाते हैं ॥८३॥

सर्वे नानुगतश्चैनं दारुणाः पिशिताशिनः ।
घोररूपा महाकाया धर्षयन्ति द्विजोत्तमम् ॥८४॥

सारे दारुण, मांसभोजी, भयङ्कर, महाकायधारी, राक्षस, इस धार्मिक द्विज-श्रेष्ठ पर आक्रमण नहीं कर सकते हैं ॥८४॥

नाध्यापनाद्याजनाद्वा अन्यस्माद्वा प्रतिग्रहात् ।
दोषो भवति विप्राणां ज्वलिताग्निसमा द्विजाः ॥८५॥

कुशिष्य के अध्यापन, अपात्र को यज्ञ कराने तथा अन्य दान आदि लेने से सदाचारी ब्राह्मण को कोई दोष नहीं लगता है, क्योंकि ऐसा ब्राह्मण, तो प्रज्वलित अग्नि के समान है ॥८५॥

दुर्वेदा वा सुवेदा वा प्राकृताः संस्कृतास्तथा ।
ब्राह्मणा नावमन्तव्या भस्मच्छन्ना इवाग्नयः ॥८६॥

ब्राह्मण वेद पढ़ा हो या न पढ़ा हो, संस्कारों से युक्त हो या असंस्कृत हो--किसी को इनका अपमान नहीं करना चाहिए, क्योंकि ये भस्म में छुपी हुई आग के सदृश हैं ॥८६॥

यथा श्मशाने दीप्तौजाः पावको नैव दुष्यति ।
एवं विद्वानविद्वान् वा ब्राह्मणो दैवतं महत् ॥८७॥

अत्यन्त देदीप्यमान अग्नि श्मशान में भी दूषित नहीं होता है, उसी तरह ब्राह्मण विद्वान् हो या अविद्वान्, इसको महान् देवता ही मानना चाहिए ॥८७॥

प्राकारैश्च पुरद्वारैः प्रासादैश्च पृथग्विधैः ।
नगराणि न शोभन्ते हीनानि ब्राह्मणोत्तमैः ॥८८॥
वेदाढ्या वृत्तसम्पन्ना ज्ञानवन्तस्तपस्विनः ।
यत्र तिष्ठन्ति वै विप्रास्तन्नाम नगरं नृप ॥८९॥

प्राकार, पुर के द्वार और भिन्न २ बड़े २ महलों से, उत्तम ब्राह्मणों से हीन, नगर, शोभित नहीं हो सकते हैं । हे राजन् ! जिस नगर में वेद के पढ़ने वाले, सदाचारी, ज्ञानी, तपस्वी, ब्राह्मण निवास करते हैं, वही नगर सर्वोत्तम माना जा सकता है ॥८८-८९॥

व्रजे वाप्यथ वारण्ये यत्र सन्ति बहुश्रुताः ।
तत्तन्नगरमित्याहुः पार्थ तीर्थञ्च तद्भवेत् ॥९०॥

हे युधिष्ठिर ! गांव हो या वन, जिस जगह भी अनेक शास्त्रों के ज्ञाता ब्राह्मण रहते हैं, वही नगर और वही तीर्थ-स्थान है ॥६०॥

रक्षितारञ्च राजानं ब्राह्मणञ्च तपस्विनम् ।
अभिगम्याभिपूज्याथ सद्यः पापात् प्रमुच्यते ॥६१॥

तपस्वी ब्राह्मण और प्रजा-रक्षक राजा से मिलने तथा उसकी पूजा करने से मनुष्य फौरन पाप से छुट जाता है ॥६१॥

पुण्यतीर्थाभिषेकञ्च पवित्राणाञ्च कीर्त्तनम् ।
सद्भिस्सम्भाषणञ्चैव प्रशस्तं कीर्त्यते बुधैः ॥६२॥

पवित्र तीर्थों में स्नान, पवित्र मन्त्रों का गान तथा सज्जनों के साथ सम्भाषण, ये विद्वानों ने बड़े ही श्रेष्ठ कहे हैं ॥६२॥

साधुसङ्गमपूतेन वाक्सुभाषितवारिणा ।
पवित्रीकृतमात्मानं सन्तो मन्यन्ति नित्यशः ॥६३॥

साधुओं की सङ्गति से पवित्र वाणी के सम्भाषण रूप जल से, सज्जन, अपनी आत्मा को पवित्र हुई मानते हैं ॥६३॥

त्रिदण्डधारणं मौनं जटाभारोऽथ मुण्डनम् ।
वल्कलाजिनसंवेष्टं व्रतचर्य्याभिषेचनम् ॥६४॥
अग्निहोत्रं वने वासः शरीरपरिशोषणम् ।
सर्वाण्येतानि मिथ्या स्युर्यदि भावो न निर्मलः ॥६५

यदि मनुष्य का भाव (चित्त) शुद्ध नहीं है, तो त्रिदण्ड धारण करना, मौनव्रत, जटाभार, मूंड मुंडाना, वल्कल और मृगचर्म

धारण, ब्रह्मचर्य व्रत, तीर्थ स्नान, अग्निहोत्र, वनवास, तप से शरीर शोषण आदि सारे कर्म वृथा है ॥९४-९५॥

न दुष्करमनाशित्वं सुकरं ह्यशनं विना ।
विशुद्धिश्चक्षुरादीनां षण्णामिन्द्रियगामिनाम् ॥९६॥
विकारि तेषां राजेन्द्र सुदुष्करतरं मनः ।

नेत्र आदि छः इन्द्रियों के विषयों की शुद्धि किये विना ही वेश्यादि के भोग से विलास की सिद्धि सीधी तरह की जा सकती है, परन्तु अविनाशी (अमृतत्व) भोग विलासों का त्याग, विना चित्त की शुद्धिके होना दुष्कर (असम्भव) है। हे राजेन्द्र ! उन मनुष्यों का मन, विकारों से युक्त और दुर्जय रहता है ॥९६॥

ये पापानि न कुर्वन्ति मनोवाक्कर्मबुद्धिभिः ॥९७।
ते तपन्ति महात्मानो न शरीरस्य शोषणम् ।

जो मन, वाणी, कर्म और बुद्धिसे पाप नहीं करते हैं, वही सच्चा तप करते हैं। शरीर का सुखा देना तप नहीं है ॥९७॥

न ज्ञातिभ्यो दया यस्य शुक्लदेहोऽविकल्मषः॥९८॥
हिंसा सा तपसस्तस्य नानाशित्वं तपः स्मृतम् ।

जिसको अपनी जाति पर दया नहीं आती है, वह शुक्ल देह वाला भी पाप रहित नहीं है। यह तो तप की हिंसा है। अन्न का त्याग करके व्रत करना तप नहीं है ॥९८॥

तिष्ठन् गृहे चैव मुनिर्नित्यं शुचिरलङ्कृतः ॥९९॥
यावज्जीवं दयावांश्चसर्वपापैः प्रमुच्यते ।

जो गृहस्थी घर में निवास करता है, परन्तु पवित्र और सब गुणों से विभूपित है, वह घर में ही मुनि है। आयु-पर्यन्त दयावान् गृहस्थी, सब पापों से छुट जाता है ॥९९॥

न हि पापानि कर्माणि शुध्यन्त्यनशनादिभिः ॥१००
सीदत्यनशनादेव मांसशोणितलेपनः ।

भोजन त्याग करने से पाप कर्मों का नाश नहीं होता है। भोजन के त्याग से तो मांस और रक्त की वृद्धि की कमी होती रहती है ॥१००॥

अज्ञातं कर्म कृत्वा च क्लेशो नान्यत् प्रहीयते ॥१०१
नाग्निर्दहति कर्माणि भावशून्यस्य देहिनः ।

शास्त्रहीन तप्त-शिला आदि पर आरोहण करने से क्लेश ही होता है, इससे कोई पाप क्षीण नहीं होते हैं। चित्त की शुद्धि के बिना तप्तशिला की अग्नि, कर्मों को नहीं जला सकती हैं ॥१०१॥

पुण्यादेव प्रव्रजन्ति शुध्यन्त्यनशनानि च ॥१०२॥
न मूलफलभक्षित्वान्न मौनान्नानिलाशनात् ।
शिरसो मुण्डनाद्वापि न स्थानकुटिकासनात् ॥१०३
न जटाधारणाद्वापि न तु स्थण्डिलशय्यया ।
नित्यं ह्यनशनाद्वापि नाग्निशुश्रूषणादपि ॥१०४॥
न चोदकप्रवेशेन न च क्ष्माशयनादपि ।

मनुष्य, पुण्य कर्म से ही शुद्ध होकर स्वर्गलोक प्राप्त करता है। भोजन का त्याग वृथा है - कन्द मूल फल के भोजन, मौनव्रत

या वायु भक्षण, शिर के मुंडाने, घर के छोड़ने, जटा धारण, वेदी शयन ,नित्य भोजन के परित्याग कर देने, अग्निहोत्र, जल प्रवेश, स्नान, भूमिशयन आदि से शुद्धि नहीं होती है १०२-१०४

ज्ञानेन कर्मणा चापि जरा मरणमेव च ॥१०५॥
व्याधयश्च प्रहीयन्ते प्राप्यते चोत्तमं पदम् ।

ज्ञान और कर्म के समुच्चय से ही जरा मृत्यु और व्याधि का भय नष्ट होता है तथा उत्तम पदवी प्राप्त होती है ॥१०५॥

बीजानि ह्यग्निदग्धानि न रोहन्ति पुनर्यथा ॥१०६॥
ज्ञानदग्धैस्तथा क्लेशैर्नात्मा संयुज्यते पुनः ।

अग्नि से दग्ध किए हुए बीज जैसे नहीं उगते हैं, इसी तरह ज्ञान से क्लेशों के दग्ध हो जाने पर फिर आत्मा क्लेशों से युक्त नहीं होता है ॥१०६॥

आत्मना विप्रहीणानि काष्ठकुड्योपमानि च ॥१०७
विनश्यन्ति न सन्देहः फेनानीव महार्णवे ।

जीवात्मा से हीन, शरीर, काष्ठ, पत्थर की तरह जड़ हो जाता है। ये सारी देह अर्थात् माया, समुद्र में झागों की तरह अनित्य हैं ॥१०७॥

आत्मानं विन्दते येन सर्वभूतगुहाशयम् ॥१०८॥
श्लोकेन यदि वार्द्धेन क्षीणं तस्य प्रयोजनम् ।

सब प्राणियों के देह के भीतर व्यापक आत्मा को जो उपनिषदों के श्लोक या अर्ध श्लोक से जान लेता है उसको कुछ भी प्रयोजन शेष नहीं रह जाता है ॥१०८॥

द्व्यक्षरादभिसन्धाय केचित् श्लोकपदाङ्कितैः ॥१०९॥
शतैरन्यैः सहस्रैश्च प्रत्ययो मोक्षलक्षणम् ।

दो अक्षर के वाक्य से लेकर मन्त्रों के पद तथा सैकड़ों हजारों उपनिषदों की श्रुतियों से मोक्ष का ज्ञान होता है ॥१०९॥

नायं लोकोऽस्ति न परो न सुखं संशयात्मनः ११०
ऊचुर्ज्ञानविदो वृद्धाः प्रत्ययो मोक्षलक्षणम् ।

शास्त्र पर विश्वास नहीं रखने वाले पुरुष को न तो यही लोक सुखदायी होता है और न परलोक ही सुखदायी है। ज्ञानी वृद्ध आत्मा के अनुभव को ही मोक्ष का स्वरूप कहते हैं ॥११०॥

विदितार्थस्तु वेदानां परिवेद प्रयोजनम् ॥१११॥
उद्विजेत् स तु वेदेभ्यो दावाग्नेरिव मानवः ।

जिसको आत्मतत्व ज्ञात हो गया है, उसने सारे वेदों का पूरा तत्व जान लिया। यह ज्ञानी, फिर वैदिक कर्म-कलाप से इस तरह भागता है, जैसे मनुष्य, दावाग्नि से दूर भाग जाता है ॥१११॥

शुष्कतर्कं परित्यज्य आश्रयस्व श्रुतिं स्मृतिम् ॥११२
एकाक्षराभिसम्बन्धं तत्वं हेतुभिरिच्छसि ।
बुद्धिर्न तस्य सिध्येत साधनस्य विपर्य्ययात् ॥११३॥

हे मनुष्य ! तू शुष्क तर्क को छोड़ कर श्रुति स्मृति का आश्रय ग्रहण कर। तू अविनाशी एक अक्षर ब्रह्म से सम्बन्ध रखने वाले तत्व को तर्कवाद से जानना चाहता है। शमादि साधनों के बिना तत्वज्ञान नहीं हो सकता है ॥११२-११३॥

वेदपूर्वं वेदितव्यं प्रयत्नात्तद्वै वेदस्तस्य वेदः शरीरम्।
वेदस्तत्त्वं तत्समासोपलब्धौ क्लीवस्त्वात्मा तत्स वेद्यस्यवेद्यम्

वह अक्षर-तत्व प्रणव है और उस प्रणव का शरीर ज्ञान है। ज्ञान स्वरूप आत्मा को प्रयत्न से जानना चाहिये। ज्ञान, ज्ञाता, ज्ञेय की त्रिपुटी लय में तत्व प्राप्ति होती है, जिसका कारण भी ज्ञान मार्ग ही है। यह आत्मा, स्वतः प्रकाशमान होकर भी अपने प्रकाशित करने में अशक्त है, इससे यह आत्मा तो बुद्धि तत्व (ज्ञान) से ही जानी जा सकती है ॥११४॥

वेदोक्तमायुर्देवानामाशिषश्चैव कर्मणाम्।
फलत्यनुयुगं लोके प्रभावश्च शरीरिणाम् ॥११५॥

देवों की वेद के अनुसार आयु, कर्मों के फल और प्राणियों के प्रभाव, प्रत्येक युग में लोक में फलते रहते हैं ॥११५॥

इन्द्रियाणां प्रसादेन तदेतत् परिवर्ज्जयेत्।
तस्मादनशनं दिव्यं निरुद्धेन्द्रियगोचरम् ॥११६॥

मनुष्य, इन्द्रियों की निर्मलता से विषय भोगों का परित्याग कर दे। इन्द्रिय को विषयों से रोक देना ही सर्वोत्तम, दिव्य, अनशन (उपवास) व्रत है ॥११६॥

तपसा स्वर्गगमनं भोगो दानेन जायते।
ज्ञानेन मोक्षो विज्ञेयस्तीर्थस्नानादघक्षयः ॥११७॥

अपने धर्म के आचरण रूप तप से स्वर्ग में गमन होता है और भोगों की प्राप्ति दान से होती है। तीर्थों के स्नान से पापों का नाश और ज्ञान से मोक्ष प्राप्ति जाननी चाहिए ॥११७॥

वैशम्पायन उवाच—

एवमुक्तस्तु राजेन्द्र प्रत्युवाच महायशाः ।
भगवन् श्रोतुमिच्छामि प्रदानविधिमुत्तमम् ॥११८॥

वैशम्पायन बोले—हे राजन् ! मार्कण्डेय के इतना कहने पर महा-यशस्वी राजा युधिष्ठिर बोले—हे भगवन् ! मैं दान की उत्तम विधि सुनना चाहता हूं ॥११८॥

मार्कण्डेय उवाच—

यत् त्वमिच्छसि राजेन्द्र दानधर्मं युधिष्ठिर ।
इष्टञ्चेदं सदा मह्यं राजन् गौरवस्तथा ॥११९॥
शृणु दानरहस्याणि श्रुतिस्मृत्युदितानि च ।
छायायां करिणः श्राद्धं तत्कर्णपरिवीजितम् ॥१२०
दशकल्पायुतानीह न क्षीयेत युधिष्ठिर ।

मार्कण्डेय कहने लगे—हे राजाओं में श्रेष्ठ, राजन् ! युधिष्ठिर ! अब तुम दान की विधि सुनना चाहते हो, जो मुझे भी बड़ी प्रिय है और मैं इसको बड़े गौरव से देखता हूं । अब तुम श्रुति-स्मृति-प्रोक्त दान के रहस्यों को सुनो । हे राजन् ! हाथी की छाया में उसके कानों से पवन कराता हुआ, जो श्राद्ध करता है या पीपल की छाया में जल के तट पर जो श्राद्ध करता है, उसका पुण्य दश सहस्त्र वर्ष तक नष्ट नहीं होता है ॥११९-१२०॥

जीवनाय समाक्लिन्नं वसु दत्त्वा महीपते ॥१२१॥
वैश्यन्तु वासयेद्यस्तु सर्वयज्ञैः स इष्टवान् ।

हे महीपते ! किसी वैश्य को जीविका के लिए जो अन्नादि वस्तु देता है और उसी वैश्य को अपने यहां ठहरा लेता है, वह इस कर्म से सारे यज्ञों के करने के समान हो जाता है ॥१२१॥

प्रतिस्रोतश्चित्रवाहाः पर्जन्योऽन्नानि सञ्चरन् ॥१२२॥
महाधुरि यथा नावा महापापैः प्रमुच्यते ।

पूर्व से पश्चिम की ओर वहने वाली नदियों के तट पर जो उत्तम अश्वों का दान करता है, उसको अक्षय फल मिलता है। उसके देश में मेघ, उत्तम रीति से अन्न पैदा करता है। वड़े प्रवाह वाली नदी में जैसे नौका से तिर जाते है, ऐसे ही श्राद्धादि और इन दानों के करने वाला पुरुष महापापों से छुटकारा पाकर तर जाता है ॥१२२॥

विप्लवे विप्रदत्तानि दधिमस्त्वक्षयानि च ॥१२३॥
पर्वसु द्विगुणं दानमृतौ दशगुणं भवेत् ।
अब्दे शतगुणं प्रोक्तमनन्तं विषुवे भवेत् ॥१२४॥
अयने विषुवे चैव षडशीतिमुखेषु च ।
चन्द्रसूर्य्योपरागे च दत्तमक्षयमश्नुते ॥१२५॥

राहु आदि के उपद्रव (ग्रहण) के समय दही का माँड यदि ब्राह्मणों को प्रदान करे, तो यह दान अक्षय हो जाता है। पूर्वकाल में किये हुए दान का द्विगुण फल होता है और ऋतु में दिये हुए दान का दश गुणा फल है। वर्ष भर में किये हुए दान का शत गुणा फल मिलता है और तुला तथा मेष की संक्रान्ति में

अनन्त फल होता है। अयन (छ:मास) तुला मेष कीं संक्रान्ति तथा मिथुन कन्या और मीन की संक्रान्ति में एवं चन्द्र और सूर्य के ग्रहण के समय किया हुआ दान अक्षय होकर प्राप्त होता है॥

ऋतुषु दशगुणं वदन्ति दत्तं शतगुणमृत्वयनादिषु ध्रुवम्।
भवति सहस्रगुणं दिनस्य राहोर्विषुवति चाक्षयमश्नुते फलम्

ऋतु काल में दिये हुए दान का शत गुणा फल है और ऋतु के अयनों में दान का शत गुणा फल है। राहु के दिन अर्थात् सूर्य ग्रहण के दिन में सहस्र गुणा और तुला मेष की संक्रान्ति में अक्षय फल मिलता है॥१२६॥

नाभूमिदो भूमिमश्नाति राजन्नायानदो यानमारुह्य याति! यान्यान् कामान् ब्राह्मणेभ्यो ददाति तांस्तान् कामान् जायमानः स भुङ्क्ते ॥१२७॥

हे राजन! जो भूमि का दान नहीं करता, वह भूमि का भोग नहीं पा सकता है और जो यान (सवारी) का दान नहीं करता, वह यान पर चढ़ कर नहीं चल पाता है। जिन २ कामनाओं को ध्यान में रखकर मनुष्य ब्राह्मणों को दान करता है, वह उन २ कामनाओं को अन्य जन्म में अवश्य पाता है॥१२७॥

अग्नेरपत्यं प्रथमं सुवर्णं भूर्वैष्णवी सूर्य्यसुताश्च गावः।
लोकस्त्रयस्तेन भवन्ति दत्ता यः काञ्चनं गाश्च महीञ्च दद्यात्

अग्नि की प्रथम सन्तान सुवर्ण है। पृथिवी, विष्णु की और गायें सूर्य की प्रथम सन्तान हैं। जो पुरुष, सुवर्ण, गौ और भूमि

का दान करता है, उसने मानो त्रिलोकी दान करदी अर्थात् उसको त्रिलोकी के दान का फल मिलता है ॥१२८॥

परं हि दानान्न बभूव शाश्वतं भव्यं त्रिलोके भवते कुतः पुनः
तस्मात् प्रधानं परमं हि दानं वदन्ति लोकेषु विशिष्टबुद्धयः

इति श्रीमहाभारत आरण्यपर्वणि मार्कण्डेयसमास्या-
पर्वणि दानकथने एकोनद्विशततमोऽध्यायः

दान से श्रेष्ठ, नित्य रहने वाली, भव्य वस्तु त्रिलोकी में भी नहीं है, फिर तेरे पास तो क्या हो सकती है। यही कारण है, कि श्रेष्ठ-बुद्धिवाले पुरुष, दान को ही सब से उत्तम प्रधान मानते हैं ॥१२९॥

इति श्रीमहाभारत वनपर्वान्तर्गत मार्कण्डेयसमस्यापर्व
में दानकथन का एक सौ निन्यानवेवां अध्याय पूरा हुआ

दो सौ वां अध्याय

वैशम्पायन उवाच—

श्रुत्वा तु राजा राजर्षेरिन्द्रद्युम्नस्य तत्तथा ।
मार्कण्डेयान्महाभागात् स्वर्गस्य प्रतिपादनम् ॥१॥
युधिष्ठिरो महाराज प्रपच्छ भरतर्षभः ।
मार्कण्डेयं तपोवृद्धं दीर्घायुषमकल्मषम् ॥२॥

वैशम्पायन बोले—हे महाराज! भरत-वंश-श्रेष्ठ राजा, युधिष्ठिर, महाभाग मार्कण्डेय मुनि से राजर्षि इन्द्रद्युम्न का फिर स्वर्ग में पहुँचना सुनकर, तपस्वी, दीर्घायु, पापरहित, मार्कण्डेय मुनि से फिर पूछने लगे ॥१—२॥

विदितास्तव धर्मज्ञ देवदानवराक्षसाः ।
राजवंशाश्च विविधा ऋषिवंशाश्च शाश्वताः ॥३॥
न तेऽस्त्यविदितं किञ्चिदस्मिन् लोके द्विजोत्तम ।
कथां वेत्सि मुने दिव्यां मनुष्योरगरक्षसाम् ॥४॥
देवगन्धर्वयक्षाणां किन्नराप्सरसां तथा ।

हे धर्मज्ञ! आप देव, दानव, राक्षस, अनेक राजा और सनातन ऋषियों के वंशोंको अच्छी तरह जानते हैं। हे द्विजोत्तम! इस लोक में आप से कुछ भी छुपा हुआ नहीं है। आप मनुष्य, उरग, राक्षस, देव, गन्धर्व, यक्ष, किन्नर और अप्सराओं की सारी दिव्य कथाओं को जानते हैं ॥३—४॥

इदमिच्छाम्यहं श्रोतुं तत्वेन द्विजसत्तम ।।५।।
कुवलाश्व इति ख्यात इक्ष्वाकुरपराजितः ।
कथं नामविपर्य्यासाद्धुन्धुमारत्वमागतः ।।६।।
एतदिच्छामि तत्वेन ज्ञातुं भार्गवसत्तम ।
विपर्य्यस्तं तथा नाम कुवलाश्वस्य धीमतः ।।७।।

हे द्विज सत्तम ! अब मैं इस कथा को ठीक २ सुनना चाहता हूं, कि इक्ष्वाकु-वंशी महा-विजयी, राजा कुवलाश्व प्रसिद्ध है । इसका यह प्रसिद्ध नाम बदल कर धुन्धुमार कैसे प्रसिद्ध हो गया । हे भृगु-वंश-श्रेष्ठ ! मैं, बुद्धिमान् कुवलाश्व के नाम बदलने की कथा विस्तार-पूर्वक सुनना चाहता हूं ।।५-७।।

वैशम्पायन उवाच—

युधिष्ठिरेणैवमुक्तो मार्कण्डेयो महामुनिः ।
धौन्धुमारमुपाख्यानं कथयामास भारत ।।८।।

वैशम्पायन ने कहा-- हे भारत ! राजा युधिष्ठिर के इतना कहते ही महामुनि मार्कण्डेय, धुन्धुमार के उपाख्यान को कहने लगा ।।८।।

मार्कण्डेय उवाच—

हन्त ते कथयिष्यामि शृणु राजन् युधिष्ठिर ।
धर्मिष्ठमिदमाख्यानं धुन्धुमारस्य तच्छृणु ।।९।।
यथा स राजा इक्ष्वाकुः कुवलाश्वो महीपितिः ।
धुन्धुमारत्वमगमत् तच्छृणुष्व महीपते ।।१०।।

मार्कण्डेय बोले--हे राजन् ! युधिष्ठिर ! मैं बड़ी प्रसन्नता से धुन्धुमार के धार्मिक उपाख्यान का वर्णन करता हूं, तुम ध्यान से सुनो ! हे महीपते ! यह इक्ष्वाकुवंशी, पृथिवीपति, राजा कुवलाश्व, कैसे धुन्धुमार बना, अब तुम यह अच्छी तरह सुन लेना ।।६-१०।।

महर्षिर्विश्रुतस्तात उतङ्क इति भारत ।
मरुधन्वसु रम्येषु आश्रमस्तस्य कौरव ।।११।।

हे कुरुवंशश्रेष्ठ ! एक उतङ्क नामक महर्षि, बड़े ही प्रसिद्ध थे, जिनका रमणीक मरु प्रदेश में आश्रम था ।।११।।

उतङ्कस्तु महाराज तपोऽतप्यत् सुदुश्चरम् ।
आरिराधयिषुर्विष्णुं बहून् वर्षगणान् विभुः ।।१२।।

हे महाराज ! इस महर्षि, उतङ्क ने भगवान् विष्णु की आराधना के लिए अनेक वर्षों तक बड़ा कठिन तप किया ।।१२।।

तस्य प्रीतः स भगवान् साक्षाद्दर्शनमेयिवान् ।
दृष्ट्वैव चर्षिः प्रह्वस्तं तुष्टाव विविधैः स्तवैः ।।१३।।

इसके तप से प्रसन्न होकर भगवान् विष्णु ने साक्षात् दर्शन दिए । इनको देखकर महर्षि उतङ्क ने अनेक स्तुतियों से इनकी स्तुति की ।।१३।।

उतङ्क उवाच—

त्वया देव प्रजाः सर्वाः ससुरासुरमानवाः ।
स्थावराणि च भूतानि जङ्गमानि तथैव च ।।१४।।

उतङ्क कहने लगा-हे देव ! आपने सुर, असुर, मनुष्य, स्थावर और जङ्गम प्राणियों सहित सारी प्रजा की रचना की है ॥१४॥

ब्रह्म वेदाश्च वेद्यश्च त्वया सृष्टं महाद्युते ।
शिरस्ते गगनं देव नेत्रे शशिदिवाकरौ ॥१५॥
निश्वासः पवनश्चापि तेजोऽग्निश्च तवाच्युत ।
बाहवस्ते दिशः सर्वाः कुक्षिश्चापि महार्णवः ॥१६॥
ऊरू ते पर्वता देव खं जङ्घे मधुसूदन ।
पादौ ते पृथिवी देवी रोमाण्योषधयस्तथा ॥१७॥

हे महाद्युते ! ब्राह्मण, वेद, तथा सारी ज्ञेय सृष्टि, तुमने ही रची है । हे देव ! आपका शिर अन्तरिक्ष, नेत्र सूर्य, चन्द्रमा, पवन, निश्वास, तेज, अग्नि, सारी दिशाएँ, भुजा, समुद्र, कुक्षि, पर्वत, ऊरू, द्युलोक, जंघा, पृथिवी देवी, पाद और औषधि रोम हैं

इन्द्रसोमाग्निवरुणा देवासुरमहोरगाः ।
प्रह्वास्त्वामुपतिष्ठन्ति स्तुवन्तो विविधैः स्तवैः॥१८॥

इन्द्र, सोम अग्नि, वरुण, देव, असुर, उरग, ये सब नम्र होकर अनेक स्तोत्रों से तेरी स्तुति करते रहते हैं ॥१८॥

त्वया व्याप्तानि सर्वाणि भूतानि भुवनेश्वर ।
योगिनः सुमहावीर्य्या स्तुवन्ति त्वां महर्षयः॥१९॥

हे भुवनेश्वर ! तुम सब भूतों में व्याप्त हो रहे हो । महाशक्तिशाली, योगी महर्षि, तेरी स्तुति करते रहते हैं ॥१९॥

त्वयि तुष्टे जगत् स्वस्थं त्वयि क्रुद्धे महद्भयम् ।
भयानामपनेतासि त्वमेकः पुरुषोत्तम ॥२०॥

हे भगवन् ! आपके प्रसन्न होने पर सारा जगत् प्रसन्न और क्रुद्ध होने पर बड़ा भारी भय हो जाता है। हे पुरुषोत्तम ! तुम एक ही सारे भयों के नाश करने वाले हो ॥२०॥

देवानां मानुषाणाञ्च सर्वभूतसुखावहः ।
त्रिभिर्विक्रमणैर्देव त्रयो लोकास्त्वया हृताः ॥२१॥

हे देव ! तुम देव और मनुष्य लोक में सब प्राणियों के सुखदाता हो। तुमने अपने तीन आक्रमणों से तीनों लोकों को व्याप्त कर रखा है ॥२१॥

असुराणां समृद्धानां विनाशश्च त्वया कृतः ।
तव विक्रमणैर्देवा निर्वाणमगमन् परम् ॥२२॥

तुमने ही समृद्धि शाली असुरों का विनाश किया है। तुम्हारे विक्रम से ही सारे देवों को दुःख से मुक्ति मिली है ॥२२॥

पराभूताश्च दैत्येन्द्रास्त्वयि क्रुद्धे महाद्युते ।
त्वं हि कर्त्ता विकर्त्ता च भूतानामिह सर्वशः ।
आराधयित्वा त्वां देवाः सुखमेधन्ति सर्वशः॥२३॥

हे महाद्युते ! तुम्हारे क्रुद्ध होने पर सारे दैत्य पराजित होते हैं। तुम ही सारे भूतों के कर्ता और संहार करने वाले हो। तुम्हारी आराधना करके ही सारे देव, सुख समृद्धि पाते हैं ॥२३॥

मार्कण्डेय उवाच—

एवं स्तुतो हृषीकेश उतङ्केन महात्मना ।
उतङ्कमब्रवीद्विष्णुः प्रीतस्तेऽहं वरं वृणु ॥२४॥

मार्कण्डेय ने कहा--महात्मा उत्तङ्क ने इस प्रकार भगवान् विष्णु की स्तुति की। अब विष्णु ने उत्तङ्क से कहा--हे मुने! मैं तुझ पर प्रसन्न हूं, तुम वर मांगो २४॥

उतङ्क उवाच—

पर्य्याप्तो मे वरो ह्येष यदहं दृष्टवान् हरिम्।
पुरुषं शाश्वतं दिव्यं स्रष्टारं जगतः प्रभुम् ॥२५॥

उत्तङ्क बोला-- हे भगवन्! मुझे तो यही वर पर्याप्त है, जो पापों के हर्ता आपके दर्शन कर लिए। आप सनातन पुरुष दिव्य, सृष्टि कर्ता और जगत् के स्वामी हो ॥२५॥

विष्णु रुवाच—

प्रीतस्तेऽहमलौल्येन भक्त्या च तव सत्तम।
अवश्यं हि त्वया ब्रह्मन् मत्तो ग्राह्यो वरो द्विजः २६

भगवान् विष्णु बोले--हे धर्मात्मन! मैं तेरी भक्ति और विषयों के वैराग्य से बड़ा प्रसन्न हूं। हे ब्रह्मन्! तुमको मुझसे अवश्य वर मांगना चाहिए ॥२६॥

मार्कण्डेय उवाच—

एवं संछन्द्यमानस्तु वरेण हरिणा तदा।
उतङ्कः प्राञ्जलिर्वव्रे वरं भरतसत्तम ॥२७॥

मार्कण्डेय ने कहा-- हे भरत-सत्तम! भगवान् विष्णु ने जब इस प्रकार बार २ आग्रह किया, तो महर्षि उत्तङ्क ने हाथ जोड़ कर कहा ॥२७॥

उतङ्क उवाच—

यदि मे भगवान् प्रीतः पुण्डरीकनिभेक्षण ।
धर्मे सत्ये दमे चैव बुद्धिर्भवतु मे सदा ।
अभ्यासश्च भवेद्भक्त्या त्वयि नित्यं ममेश्वर ॥२८॥

हे कमल-लोचन ! भगवन् ! यदि आप प्रसन्न हो गए हो, तो धर्म, सत्य और इन्द्रिय दमन में मेरी बुद्धि प्रवृत्त होवे तथा आपकी भक्ति से आपके ध्यान में मेरा अभ्यास बढ़ता रहे, यही वरदान दीजिए ॥२८॥

श्रीभगवानुवाच—

सर्वमेतद्धि भविता मत्प्रसादात्तव द्विज ।
प्रतिभास्यति योगश्च येन युक्तो दिवौकसाम् ।
त्रयाणामपि लोकानां महत् कार्य्यं करिष्यसि ॥२९॥

श्रीभगवान् ने कहा--हे ब्रह्मन् ! मेरे अनुग्रह से यह सब कुछ होगा । तुम्हारे हृदय में योग की कला चमक उठेगी, जिससे युक्त होकर तुम देवता और तीनों लोकों के बड़े भारी कार्य को कर सकोगे ॥२९॥

उत्सादनार्थं लोकानां धुन्धुर्नाम महासुरः ।
तपस्यति तपो घोरं शृणु यस्तं हनिष्यति॥३०॥

लोकों को पीड़ित करने के लिए धुन्धु नामक महासुर, घोर तप करेगा, उसको जो मारेगा, तू उसका नाम सुन ॥३०॥

राजा हि वीर्य्यवांस्तात इक्ष्वाकुरपराजितः ।
बृहदश्व इति ख्यातो भविष्यति महीपतिः ॥३१॥

तस्य पुत्रः शुचिर्दान्तः कुवलाश्व इति श्रुतः ।
स योगबलमास्थाय मामकं पार्थिवोत्तमः ॥३२॥
शासनात्तव विप्रर्षे धुन्धुमारो भविष्यति ।
एवमुक्त्वा तु तं विप्रं विष्णुरन्तरधीयत ॥३३॥

इति श्रीमहाभारत आरण्यपर्वणि मार्कण्डेयसमास्यापर्वणि धुन्धुमारोपाख्याने द्विशततमोऽध्यायः॥ २००॥

एक इक्ष्वाकुवंशी, महाविजयी, वीर्यवान्, बृहदश्व राजा होगा। इसका पुत्र, बड़ा शुचि, उदार, कुवलाश्व होगा। यह राजाओं में श्रेष्ठ, कुवलाश्व मेरे योग बल का आश्रय लेकर तेरे शासन से धुन्धु-असुर को मार कर धुन्धुमार कहावेगा। भगवान् विष्णु इतना कहकर अलक्षित हो गए॥३१-३३॥

इति श्रीमहाभारत वनपर्वान्तर्गत मार्कण्डेयसमास्यापर्व में धुन्धुमार उपाख्यान का दो सौ वां अध्याय पूरा हुआ।

दोसौ एकवां अध्याय

मार्कण्डेय उवाच—

इक्ष्वाकौ संस्थिते राजन् शशादः पृथिवीमिमाम् ।
प्राप्तः परमधर्मात्मा सोऽयोध्यायां नृपोऽभवत् ॥१॥

मार्कण्डेय ने कहा—हे राजन् ! राजा इक्ष्वाकु के मर जाने पर शशाद नामक राजा इस पृथिवी का शासन करने लगा। यह राजा बड़ा धर्मात्मा था और इसकी राजधानी अयोध्या थी ॥१॥

शशादस्य तु दायादः ककुत्स्थो नाम वीर्य्यवान् ।
अनेनाश्चापि काकुत्स्थः पृथुश्चानेनसः सुतः ॥२॥
विश्वगश्वः पृथोः पुत्रस्तस्माददि्रश्च जज्ञिवान् ।
अद्रेश्च युवनाश्वस्तु श्रावस्तस्यात्मजोऽभवत् ॥३॥
तस्य श्रावस्तको ज्ञेयः श्रावस्ती येन निर्मिता ।
श्रावस्तस्य तु दायादो बृहदश्वो महाबलः ॥४॥
बृहदश्वस्य दायादः कुवलाश्व इति स्मृतः ।
कुवलाश्वस्य पुत्राणां सहस्राण्येकविंशतिः ॥५॥
सर्वे विद्यासु निष्णाता बलवन्तः सुदारुणाः ।
कुवलाश्वश्च पितृतो गुणैरभ्यधिकोऽभवत् ॥ ६॥

शशाद का वीर्यवान् पुत्र ककुत्स्थ हुआ। ककुत्स्थ का पुत्र अनेना और अनेना का पुत्र पृथु था। पृथु का पुत्र, विश्वगश्व और विश्वगश्व के अद्रि, पुत्र उत्पन्न हुआ। अद्रि के युवनाश्व, इसके श्राव और श्राव के श्रावस्तक पुत्र हुआ, जिसने श्रावस्ती

नगरी बसाई। इस श्रावस्त के महाबली, बृहदश्व पुत्र उत्पन्न हुआ। इसी बृहदश्व के कुवलाश्व पुत्र हुआ। इस कुवलाश्व के इक्कीस हज़ार पुत्र थे, जो सारे विद्याओं में कुशल और अत्यन्त बलवान थे। यह कुवलाश्व, गुणों में पिता से भी बढ़ गया ॥२-६॥

समये तं पिता राज्ये बृहदश्वोऽभ्यषेचयत् ।
कुवलाश्वं महाराज शूरमुत्तमधार्मिकम् ॥७॥

हे महाराज ! इसके पिता राजा बृहदश्व ने, समय आने पर अत्यन्त धार्मिक, शूरवीर, कुवलाश्व को राजसिंहासन पर बैठा दिया ॥७॥

पुत्रसङ्क्रामितश्रीस्तु बृहदश्वो महीपतिः ।
जगाम तपसे धीमांस्तपोवनममित्रहा ॥८॥

पुत्र को राज्य-लक्ष्मी सौंप कर शत्रु-विजयी, बुद्धिमान् राजा बृहदश्व ने तप करने के लिए तपोवन का रास्ता लिया ॥८॥

मार्कण्डेय उवाच—

अथ शुश्राव राजर्षिः तमुतङ्को नराधिप ।
वनं संप्रस्थितं राजन् बृहदश्वं द्विजोत्तमः ॥९॥
तमुतङ्को महातेजाः सर्वास्त्रविदुषाम्वरम् ।
न्यवारयदमेयात्मा समासाद्य नरोत्तमम् ॥१०॥

मार्कण्डेय ने कहा—हे नराधिप ! अब महर्षि उत्तङ्क ने सुना--कि राजा बृहदश्व तप करने को वन में चला जा रहा है, तो यह इसके पास पहुंचा और इस महात्मा, महातेजस्वी उत्तङ्क ने सब अस्त्रों के ज्ञाता राजा बृहदश्व को वन में जाने से रोक लिया ॥९-१०॥

उतङ्क उवाच—

भवता रक्षणं कार्य्यं तत्तावत् कर्त्तुमर्हसि ।
निरुद्विग्ना वयं राजंस्त्वत्प्रसादाद्भवेमहि ॥११॥

उत्तङ्क कहने लगा—हे राजन् ! आप जबतक प्रजा की रक्षा कर सकते हैं, आपको प्रजा की रक्षा करनी चाहिये। हम तो आपके अनुग्रह से ही सारे विघ्नों से बचे हुए हैं ॥११॥

त्वया हि पृथिवी राजन् रक्ष्यमाणा महात्मना ।
भविष्यति निरुद्विग्ना नारण्यं गन्तुमर्हसि ॥१२॥

हे राजन् ! तुम महात्मा से सुरक्षित हुई यह पृथिवी, सारे क्लेशों से मुक्त रह सकेगी, इससे आपको वन में नहीं जाना चाहिए ॥१२॥

पालने हि महान् धर्मः प्रजानामिह दृश्यते ।
न तथा दृश्यतेऽरण्ये माभूत्ते बुद्धिरीदृशी ॥१३॥

प्रजा के पालन में बड़े भारी धर्म की प्राप्ति होती है, ऐसे उत्तम धर्म की वन में प्राप्ति नहीं हो सकेगी। तुमको वन में जाने की बुद्धि को छोड़ देना उचित है ॥१३॥

ईदृशो न हि राजेन्द्र धर्मः क्वचन दृश्यते ।
प्रजानां पालने यो वै पुरा राजर्षिभिः कृतः ॥१४॥

हे राजेन्द्र ! इतना उत्तम धर्म तो कहीं प्राप्त ही नहीं होगा, जो प्रजा का पालन करके पूर्वकाल में राजर्षियों ने प्राप्त किया है ॥१४॥

रक्षितव्याः प्रजा राज्ञा तास्त्वं रक्षितुमर्हसि ।
निरुद्विग्नस्तपश्चर्त्तुं न हि शक्नोमि पार्थिव ॥१५॥

राजा का धर्म ही प्रजा का पालन करना है, इसलिए तुमको भी प्रजा की ही रक्षा करनी चाहिए। हे राजन्! तुम निःशंक होकर तप कर ही नहीं सकोगे ॥१५॥

ममाश्रमसमीपे वै समेषु मरुधन्वसु ।
समुद्रो वालुकापूर्णो उज्जालक इति स्मृतः ॥१६॥

मेरे आश्रम के समीप रेतीले सम प्रदेश में वालुका से पूर्ण समुद्र है, जिसको लोग उज्जालक कहते हैं। ॥१६॥

वहुयोजनविस्तीर्णो बहुयोजनमायतः ।
तत्र रौद्रो दानवेन्द्रो महावीर्य्यपराक्रमः ॥१७॥

मधुकैटभयोः पुत्रो धुन्धुर्नाम सुदारुणः ।
अन्तर्भूमिगतो राजन् वसत्यमितविक्रमः ॥१८॥

वहां अनेक योजन लम्बा चौड़ा, महा-शक्ति-शाली, पराक्रमी भयानक, मधुकैटभ का पुत्र, धुन्धु असुर है, जो वड़ा ही दारुण है। यह अत्यन्त पराक्रमी, भूमि के भीतर घर वना कर रहता है ॥

तं निहत्य महाराज वनं त्वं गन्तुमर्हसि ।
शेते लोकविनाशाय तप आस्थाय दारुणम् ॥१९॥

हे महाराज! तुम प्रथम उसको मारकर फिर वन को जा सकते हो। यह बड़ा भारी कठोर तप करके सो रहा है और उठते ही लोकों का विनाश करेगा ॥१९॥

त्रिदशानां विनाशाय लोकानाञ्चापि पार्थिव ।
अवध्यो देवतानां हि दैत्यानामथ रक्षसाम् ॥२०॥
नागानामथ यक्षाणां गन्धर्वाणाञ्च सर्वशः ।
अवाप्य स वरं राजन् सर्वलोकपितामहात् ॥२१॥

हे राजन्! यह देव और लोकों के विनाश के लिए तय्यारी कर रहा है। यह देव, दैत्य, राक्षस, नाग, यक्ष, गन्धर्वों से अवध्य है, क्योंकि इसने सब लोक के पितामह ब्रह्मा से वर पा रखा है ॥२०--२१॥

तं विनाशाय भद्रं ते मा ते बुद्धिरतोऽन्यथा ।
प्राप्स्यसे महतीं कीर्त्तिं शाश्वतीमव्ययां ध्रुवाम् ॥२२

अब तुम इसके विनाश की चेष्टा करो। तुम्हारी अन्य उलटे काम तप आदि में बुद्धि नहीं लगनी चाहिए। इस तरह तुम नित्य रहने वाली उत्तम महान् कीर्ति को प्राप्त करोगे ॥२२॥

क्रूरस्य तस्य स्वपतो वालुकान्तर्हितस्य च ।
सम्वत्सरस्य पर्य्यन्ते निश्वासः संप्रवर्त्तते ॥२३
यदा तदा भूश्चलति सशैलवनकानना ।
तस्य निश्वासवातेन रज उद्धूयते महत् ॥२४॥
आदित्यपथमाश्रित्य सप्ताहं भूमिकम्पनम् ।
सविस्फुलिङ्गं सज्वालं धूममिश्रं सुदारुणम् ॥२५॥
तेन राजन्न शक्नोमि तस्मिन् स्थातुं स्व आश्रमे ।
तं विनाशय राजेन्द्र लोकानां हितकाम्यया ॥२६॥

उस वालुका के भीतर सोते हुए, उस क्रूर असुर का सम्वत्सर के अन्त में जब श्वास निकलता है; तब वन और महावनों के सहित पृथ्वी डगमगाने लगती है। इसकी श्वास की वायु से बड़ी भारी धूलि उड़ती है। यह धूलि, सूर्य के मार्ग को रोक देती है और सात दिन तक भूमि काँपती रहती है। इस समय चिनगारी और दारुण धूम निकलने लगती हैं। हे राजन्! इस कारण से मैं अपने आश्रम में निवास भी नहीं कर सकता हूं। हे राजेन्द्र! लोकों के हित की कामना से आप इसका विनाश करो ॥२३-२६॥

लोकाः स्वस्था भविष्यन्ति तस्मिन् विनिहतेऽसुरे।
त्वं हि तस्य विनाशाय पर्य्याप्त इति मे मतिः ॥२७

इस दुष्ट असुर के मार लेने पर लोकों में शान्ति हो जावेगी--मेरी यह दृढ़ धारणा है, कि तू इस असुर के मारने के लिए पर्याप्त (काफी) है ॥२७॥

तेजसा तव तेजश्च विष्णुराप्याययिष्यति।
विष्णुना च वरो दत्तः पूर्वं मम महीपते ॥२८॥

हे राजन्! तेरे तेज को भगवान् विष्णु अपने तेज से पुष्ट करेगा। भगवान् विष्णु ने इस विषय में मुझे पूर्व में ही वर दे रखा है ॥२८॥

यस्तं महासुरं रौद्रं वधिष्यति महीपतिः।
तेजस्तं वैष्णवमिति प्रवेक्ष्यति दुरासदम् ॥२९॥

इस महाभयङ्कर महासुर को राजा मारेगा उसके भीतर विष्णु सम्बन्धी अद्भुत तेज पूर्व से ही प्रविष्ट हो जावेगा ॥२९॥

तत्तेजस्त्वं समाधाय राजेन्द्र भुवि दुःसहम् ।
तं निषूदय राजेन्द्र दैत्यं रौद्रपराक्रमम् ॥३०॥

हे राजेन्द्र ! भूमि पर असह्य उस वैष्णव तेज को प्राप्त कर के तुम उस भयानक पराक्रमी दैत्य को मार डालो ॥३०॥

न हि धुन्धुर्महातेजास्तेजसाल्पेन शक्यते ।
निर्दग्धुं पृथिवीपाल स हि वर्षशतैरपि ॥३१॥

इति श्रीमहाभारत आरण्यपर्वणि मार्कण्डेयसमास्यापर्वणि
धुन्धुमारोपाख्यान एकाधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥२०१॥

हे पृथ्वीपाल ! यह धुन्धु असुर महा तेजस्वी है । इसको कोई भी थोड़े तेज से सौ वर्ष में भी नहीं मार सकता है ॥३७॥

इति श्रीमहाभारत वनपर्वान्तर्गत मार्कण्डेयसामास्यापर्व में धुन्धुमार-उपाख्यान का दो सौ एकवां अध्याय पूरा हुआ

दोसौ दोवां अध्याय

मार्कण्डेय उवाच—

स एवमुक्तो राजर्षिरुतङ्केनापराजितः ।
उतङ्कं कौरवश्रेष्ठ कृताञ्जलिरथाब्रवीत् ॥१॥

मार्कण्डेय बोले—हे कौरव-श्रेष्ठ ! जब विजयी राजर्षि से महर्षि उत्तङ्क ने इतना कहा, तो वह राजा हाथ जोड़कर कहने लगा ॥१॥

न तेऽभिगमनं ब्रह्मन् मोघमेतद्भविष्यति ।
पुत्रो ममायं भगवन् कुवलाश्व इति स्मृतः ॥२॥
धृतिमान् क्षिप्रकारी च वीर्य्येणाप्रतिमो भुवि ।
प्रियश्च ते सर्वमेतत् करिष्यति न संशयः ॥३॥

हे ब्रह्मन् ! आपका आगमन निष्फल नहीं होगा । हे भगवन् ! मेरा पुत्र कुवलाश्व राजसिंहासन पर मौजूद है । पृथिवी पर यह बड़ा धैर्यशील, फुर्तीला और अद्वितीय पराक्रमी है । यह तुम्हारे सारे प्रिय कार्य को पूरा कर देगा—इसमें संशय नहीं है ॥२-३॥

पुत्रैः परिवृतः सर्वैः शूरैः परिघबाहुभिः ।
विसर्जयस्व मां ब्रह्मन् न्यस्तशस्त्रोऽस्मि साम्प्रतम् ॥

हे ब्रह्मन् ! यह परिघ (अर्गला) के तुल्य भुजा वाले, अनेक शूरवीर, पुत्रों से युक्त हैं। मैं तो शस्त्र छोड़ चुका हूँ-अब आप मुझे तो जाने दीजिए ॥४॥

तथास्त्विति च तेनोक्तो मुनिनामिततेजसा ।
स तमादिश्य तनयमुतङ्काय महात्मने ।
क्रियतामिति राजर्षिर्जगाम वनमुत्तमम् ॥५॥

इस अमित, तेजस्वी-मुनि ने कहा—अच्छी बात है । राजर्षि, महात्मा उत्तङ्क को अपने पुत्र को बताकर और यह कह कर कि अब तुम अपना काम करो—आप तपोवन को चला गया ॥५॥

युधिष्ठिर उवाच—

क एष भगवन् दैत्यो महावीर्य्यस्तपोधन ।
कस्य पुत्रोऽथ नप्ता वा एतदिच्छामि वेदितुम् ।
एवं महाबलो दैत्यो न श्रुतो मे तपोधन ॥६॥
एतदिच्छामि भगवन् याथातथ्येन वेदितुम् ।
सर्वमेतन्महाप्राज्ञ विस्तरेण तपोधन ॥७॥

युधिष्ठिर बोले—हे भगवन् ! तपोधन ! यह पराक्रमी दैत्य कौन था । यह किसका पुत्र या पौत्र था । मैं यह सब कुछ जानना चाहता हूं । हे तपस्विन् ! ऐसा महाबली दैत्य तो मैंने सुना ही नहीं है । मैं यह सब कुछ ठीक-ठीक जानना चाहता हूं । हे महाप्राज्ञ ! आप विस्तार से कहो ॥६-७॥

मार्कण्डेय उवाच—

शृणु राजन्निदं सर्वं यथावृत्तं नराधिप ।
कथ्यमानं महाप्राज्ञ विस्तरेण यथातथम् ॥८॥

मार्कण्डेय ने कहा—हे राजन्! आप बड़े बुद्धिमान् हो। मैं तुमको यह सारा वृत्तान्त ठीक २ विस्तार से सुनाता हूं। तुम मेरे कहे हुए इस वृत्तान्त को ध्यान से सुनना ॥८॥

एकार्णवे तथा लोके नष्टे स्थावरजङ्गमे।
प्रनष्टेषु च भूतेषु सर्वेषु भरतर्षभ ॥६॥

हे भरतर्षभ! जब प्रलय हुआ और स्थावर जङ्गम सृष्टि नष्ट हो गई, तब सारा जगत् जलमय था और सारे प्राणी तथा पञ्च महाभूत भी लीन हो चुके थे ॥६॥

प्रभवं लोककर्त्तारं विष्णुं शाश्वतमव्ययम्।
यमाहुर्मुनयः सिद्धाः सर्वलोकमहेश्वरम् ॥१०॥

सबके आदिकारण, लोक के कर्ता, सनातन, अव्यय, भगवान् विष्णु को ही सारे सिद्ध और मुनि सब लोक का महेश्वर कहते हैं ॥१०॥

सुष्वाप भगवान् विष्णुरप्सु योगत एव सः।
नागस्य भोगे महति शेषस्यामिततेजसः ॥११॥

ये ही भगवान् विष्णु, इस समय अपनी योग-माया का आश्रय लेकर अत्यन्त तेजस्वी शेष के विशाल फन पर सो जाते हैं ॥ ११ ॥

लोककर्त्ता महाभाग भगवानच्युतो हरिः।
नागभोगेन महता परिरभ्य महीमिमाम् ॥१२॥
स्वपतस्तस्य देवस्य पद्मं सूर्य्यसमप्रभम्।

नाभ्यां विनिःसृतं दिव्यं तत्रोत्पन्नः पितामहः॥१३॥
साक्षाल्लोकगुरुर्ब्रह्मा पद्मे सूर्य्यसमप्रभे।
चतुर्वेदश्चतुर्मूर्त्तिस्तथैव च चतुर्मुखः॥१४॥
स्वप्रभावाद् राधर्षो महाबलपराक्रमः।

हे महाभाग! लोक के कर्ता, अच्युत, भगवान्, हरि के शेष नाग के फन से सारी पृथ्वी को घेर कर सो जाने पर उन्हीं देव की नाभि से सूर्य के सदृश तेजस्वी दिव्य कमल उत्पन्न होता है। इसी कमल में ब्रह्मा उत्पन्न होते हैं। ये ब्रह्मा लोकों में पूज्य, चार वेदधारी, चतुर्मूर्ति और चार ही मुख वाला है। यह अपने प्रभाव से ही बड़ा दुराधर्ष, महाबली और पराक्रमी, इस सूर्य सदृश कमल पर बैठा रहता है॥१२-१४॥

कस्यचित्त्वथ कालस्य दानवौ वीर्य्यवत्तमौ॥१५॥
मधुश्च कैटभश्चैव दृष्टवन्तौ हरिं प्रभुम्।
शयानं शयने दिव्ये नागभोगे महाद्युतिम्॥१६॥
बहुयोजनविस्तीर्णे बहुयोजनमायते।
किरीटकौस्तुभधरं पीतकौशेयवाससम्॥१७॥
दीप्यमानं श्रिया राजंस्तेजसा वपुषा तथा।
सहस्रसूर्य्यप्रतिममद्भुतोपमदर्शनम्॥१८॥
विस्मयः सुमहानासीन्मधुकैटभयोस्तथा।

कुछ कालके चले जाने पर दो बल-शाली मधुकैटभ दानव ने शय्यारूप, बहु योजन लम्बे चौड़े शेषनाग के फन पर महाकान्तिमान्, मुकुट और कौस्तुभ मणि-धारी पीले रेशमी वस्त्र पहने हुए, कान्ति, तेज और सुन्दर शरीर से देदीप्यमान, सहस्रों सूर्य के सदृश तेजस्वी, अद्भुत सौन्दर्य से युक्त शक्ति-शाली भगवान् विष्णुको देखा। इनको देखकर मधुकैटभ दानवों को बड़ा अचम्भा हुआ ॥१५-१८॥

दृष्ट्वा पितामहश्चापि पद्मे पद्मनिभेक्षणम् ॥१९॥
वित्रासयेतामथ तौ ब्रह्माणममितौजसम् ।
वित्रास्यमानो बहुशो ब्रह्मा ताभ्यां महायशाः॥२०॥
अकम्पयत् पद्मनालं ततोऽबुध्यत केशवः ।
अथापश्यत् गोविन्दो दानवौ वीर्य्यवत्तरौ ॥२१॥
दृष्ट्वा तावब्रवीद्देवः स्वागतं वां महाबलौ ।
ददामि वां वरं श्रेष्ठं प्रीतिर्हि मम जायते ॥२२॥

ये दोनों कमल के सदृश नेत्र धारी, अत्यन्त-तेजस्वी, पितामह ब्रह्मा को कमल पर बैठा हुआ देखकर उसे डराने लगे। महायशस्वी, ब्रह्मा इनसे बड़ा डरा। इस झगड़े में कमल की नाल हिलने लगीं, जिससे भगवान् विष्णु जाग गए। अब भगवान् ने दोनों महाबली दैत्य देखे। इनको देखकर कहने लगे--हे दैत्यो! मैं तुमको वर देना चाहता हूं, मेरी तुम पर बड़ी प्रीति है १९-२०

तौ प्रहस्य हृषीकेशं महादर्पौ महाबलौ ।
प्रत्यब्रूतां महाराज सहितौ मधुसूदनम् ॥२३॥

हे महाराज ! महा-अभिमानी, महाबली ये दोनों दैत्य हँसकर एक साथ मधु दैत्य-नाशक, भगवन् विष्णु से बोले-।।२३

आवां वरय देव त्वं वरदौ स्वः सुरोत्तम ।
दातारौ स्वो वरं तुभ्यं तद्ब्रवीह्यविचारयन् ।।२४।।

हे सुर-श्रेष्ठ, विष्णो ! तुम ही हमसे वर मांगो, हम तो स्वयं वर देने वाले हैं। हम दोनों तुझ को वर देंगे-- तुम बिना विचारे शीघ्रता से मांगो ।।२४।।

भगवानुवाच—

प्रति गृह्णे वरं वीरावीप्सितश्च वरो मम ।
युवां हि वीर्य्यसम्पन्नौ न वामस्ति समः पुमान्।।२५।।
बध्यत्वमुपगच्छेतां मम सत्यपराक्रमौ ।
एतदिच्छाम्यहं कामं प्राप्तुं लोकहिताय वै ।।२६।।

भगवान् ने कहा— हे वीरो ! मैं एक वर ग्रहण करना चाहता हूं। इसकी मुझे बहुत ही आकांक्षा है। तुम दोनों महा-पराक्रम से युक्त हो, क्योंकि तुम्हारे समान कोई पुरुष नहीं हैं। हे सत्य पराक्रमी ! तुम मुझ से मृत्यु प्राप्त करो। मैं लोक के हित करने के लिए तुमसे यही वरदान ग्रहण करता हूं ।।२५-२६।।

मधुकैटभावूचतुः—

अनृतं नोक्तपूर्वं वै स्वैरेष्वपि कुतोऽन्यथा ।
सत्ये धर्मे च निरतौ विद्ध्यावां पुरुषोत्तम ।।२७।।
बले रूपे च सौन्दर्य्ये शमे च न समोऽस्ति नौ ।

धर्मे तपसि दाने च शीलसत्वदमेषु च ॥२८॥
उपप्लवो महानस्मानुपावर्त्तत केशव ।
उक्तं प्रतिकुरुष्व त्वं कालो हि दुरतिक्रमः ॥२९॥

मधुकैटभ बोले--हे पुरुषोत्तम ! हमने कभी पूर्वकाल में हँसी में भी मिथ्या नहीं कहा है । हम दोनों सत्य धर्म में दृढ़ हैं, यह तुम समझ लो । वल, रूप, सौन्दर्य, इन्द्रियों के विजय, धर्म, तप, दान, शील, सत्व और मन के विजय करने में कोई हमारे तुल्य नहीं है । हे केशव ! उस प्रतिज्ञा के पूर्ण करने में एक वड़ा भारी विघ्न है, तुम एक हमारा प्रत्युपकार करो, क्योंकि काल को कोई नहीं उलांघ सकता है ॥ २७—२९ ॥

आवामिच्छावहे देव कृतमेकं त्वया विभो ।
अनावृतेऽस्मिन्नाकाशे वधं सुरवरोत्तम ॥३०॥
पुत्रत्वमधिगच्छावस्तव चापि सुलोचन ।
वर एष वृतो देव तद्विद्धि सुरसत्तम ।
अनृतं वा भवेद्देव यद्विनौ संश्रुतं तदा ॥३१॥

हे सुरोत्तम ! देव ! हम तुमसे एक काम चाहते हैं, कि तुम हमारा वध, अनावृत आकाश के मध्य में करो । हे सुलोचन ! इसके वाद हम तुम्हारे पुत्र बनें । हे सुरसत्तम ! हम भी तुमसे यही वर चाहते हैं । यह तुमको मालूम होना चाहिए । हे देव ! जो हमने प्रतिज्ञा कर ली है, वह मिथ्या नहीं होनी चाहिए ३०-३१

श्रीभगवानुवाच—बाढमेवं करिष्यामि सर्वमेतद्भविष्यति ।

मार्कण्डेय उवाच—

विचिन्त्य त्वथ गोविन्दो नापश्यद्यदनावृतम् ॥३२॥
अवकाशं पृथिव्यां वा दिवि वा मधुसूदनः ।
स्वकावनावृतावूरू दृष्ट्वा देववरस्तदा ॥३३॥
मधुकैटभयो राजन् शिरसी मधुसूदनः ।
चक्रेण शितधारेण न्यकृन्तत महायशाः॥३४॥

इति श्रीमहाभारत आरण्यपर्वणि मार्कण्डेयसमास्यापर्वणि
धुन्धुमारोपाख्याने द्व्यधिकशततमोऽध्यायः॥२०२॥

श्रीभगवान् ने कहा--अच्छी बात है, मैं यह सब कर दूंगा। मार्कण्डेय ने कहा--जब भगवान् विष्णु ने विचारा, तो कहीं भी अनावृत (खुला) नहीं देखा। मधुसूदन देवने जब पृथिवी पर ऐसा कोई स्थान नहीं देखा। अब भगवान् ने अपनी जंघाओं को ही अनावृत पाया। हे राजन्! महा-यशस्वी, भगवान् विष्णु ने अपने तीक्ष्ण धार के चक्र से मधुकैटभ का शिर अपनी जंघाओं पर काट डाला ॥३२--३४॥

इति श्रीमहाभारत वनपर्वान्तर्गत मार्कण्डेय-
समास्यापर्व में धुन्धुमार उपाख्यान का
दौ सौ दोवाँ अध्याय पूरा हुआ

दो सौ तीनवां अध्याय

मार्कण्डेय उवाच—

धुन्धुर्नाम महाराज तयोः पुत्रो महाद्युतिः ।
स तपोऽतप्यत महान्महावीर्य्यपराक्रमः ॥१॥

मार्कण्डेय बोले—हे महाराज ! इन मधुकैटभ के तेजस्वी पुत्र का नाम धुन्धु था। इस महाशक्तिशाली और पराक्रमी असुर ने घोर तप करना आरम्भ किया ॥१॥

अतिष्ठदेकपादेन कृशो धमनिसन्ततः ।
तस्मै ब्रह्मा ददौ प्रीतो वरं वव्रे स च प्रभुम् ॥२॥
देवदानवयक्षाणां सर्पगन्धर्वरक्षसाम् ।
अवध्योऽहं भवेयं वै वर एष वृतो मया ॥३॥
एवं भवतु गच्छेति तमुवाच पितामहः ।
स एवमुक्तस्तत्पदौ मूर्द्ध्ना स्पृश्य जगाम ह ॥४॥

यह एक पैर से खड़ा हो गया। यह इतना दुर्बल हो गया, कि इसकी सारी नसें दिखाई देने लगी। ब्रह्माजीने प्रसन्न होकर इसको वरदान देनेको कहा। इसने भगवान् ब्रह्मासे यह वर मांगा, कि मैं देव, दानव, यक्ष, सर्प, गन्धर्व राक्षसों से नहीं मारा जाऊं। बस ? मैं यही वर माँगता हूं। ब्रह्माजी ने कहा—अच्छा ? ऐसा ही होगा। तुम अब जाओ। ब्रह्माजी के इतना कहने पर उनके चरणों में शिर नवाकर यह असुर वहां से चल दिया॥ २-४॥

स तु धुन्धुर्वरं लब्ध्वा महावीर्य्यपराक्रमः ।
अनुस्मरन् पितृवधं द्रुतं विष्णुमुपागमत् ॥५॥

यह महापराक्रमी धुन्धु असुर, वर पाकर युद्ध करने को भगवान् विष्णु के पास पहुंचा, क्योंकि इसको अपने पिता का वध खटक रहा था ॥५॥

स तु देवान् सगन्धर्वान् जित्वा धुन्धुरमर्षणः ।
ववाध सर्वानसकृद्विष्णुं देवांश्च वै भृशम् ॥६॥

इस असहनशील, धुन्धु नें गन्धर्वों के सहित सारे देवता जीत लिए । यह भगवान् विष्णु और सारे देवों को वार २ पीड़ा देने लगा ॥६॥

समुद्रे वालुकापूर्णे उज्जालक इति स्मृते ।
आगम्य च सदुष्टात्मा तं देशं भरतर्षभ ॥७॥
वाधते स्म परं शक्त्या तमुतङ्काश्रमं विभो ।
अन्तर्भूमिगतस्तत्र वालुकान्तर्हितस्तथा ॥८॥
मधुकैटभयोः पुत्रो धुन्धुर्भीमपराक्रमः ।
शेते लोकविनाशाय तपोवलमुपाश्रितः ॥९॥
उतङ्कस्याश्रमाभ्यासे निःश्वसन् पावकार्च्चिषः ।

हे भरतर्षभ ! यह दुष्ट राक्षस, वहां से वालुकापूर्ण, समुद्र के उज्जालक नामक स्थान पर आ गया । वहाँ महर्षि उत्तङ्क का आश्रम है । यह उस आश्रम में उपद्रव करता रहता है । महाभयानक पराक्रमी, मधुकैटभ का पुत्र, धुन्धु, भूमि के भीतर वालुका में सोता रहता है । इसने तपोवल का आश्रय लेकर लोकों के विनाश की तय्यारी कर रखी है । यह उत्तङ्क के आश्रम के पास आग की लपटों के तुल्य श्वास छोड़ता है ॥७-९॥

एतस्मिन्नेव काले तु राजा सबलवाहनः ॥१०॥
उतङ्कविप्रसहितः कुवलाश्वो महीपतिः ।
पुत्रैः सह महीपाल प्रययौ भरतर्षभ ॥११॥

हे भरत-वंश-श्रेष्ठ ! राजन ! इसी समय पृथिवीपति, राजा कुवलाश्व, अपनी सेना, पुत्र और वाहनों के साथ, उत्तङ्क मुनि को लेकर वहीं पहुंचा ॥१०--११॥

सहस्रैरेकविंशत्या पुत्राणामरिमर्दनः ।
कुवलाश्वो नरपतिरन्वितो बलशालिनाम् ॥१२॥
तमाविशत्ततो विष्णुर्भगवांस्तेजसा प्रभुः ।
उतङ्कस्य नियोगेन लोकानां हितकाम्यया ॥१३॥

यह राजा कुवलाश्व, इक्कीस हज़ार बलशाली पुत्रों से समन्वित था। इसके शरीर में लोक के हित की कामना और महर्षि उत्तङ्क की प्रेरणा से भगवान् विष्णु ने अपने तेज से प्रवेश किया ॥१२-१३॥

तस्मिन् प्रयाते दुर्द्धर्षे दिवि शब्दो महानभूत् ।
एष श्रीमानवध्योऽद्य धुन्धुमारो भविष्यति ॥१४॥
दिव्यैश्च पुष्पैस्तं देवाः समन्तात् पर्य्यवाकिरन् ।
देवदुन्दुभयश्चापि नेदुः स्वयमनीरिताः ॥१५॥

इस दुर्धर्ष कुवलाश्व के चढ़ाई करने पर आकाश में बड़ा भारी शब्द होने लगा, कि यह कान्तिमान्, कुवलाश्व, विजयी

होकर धुन्धुमार पदवी धारण करेगा। देवों ने इस राजा पर दिव्य पुष्पों की वर्षा की और देवों की दुन्दुभियाँ विना बजाए स्वयं बजने लगी ।।१४--१५।।

शीतश्च वायुः प्रववौ प्रयाणे तस्य धीमतः ।
विपांशुलां महीं कुर्वन् ववर्ष च सुरेश्वरः ।।१६।।

इस बुद्धिमान् कुवलाश्व के युद्धयात्रा कर देने पर शीतल वायु चलने लगी और इन्द्र ने वर्षा आरम्भ कर दी,जिससे सारी मिट्टी, दबकर भूमि,गमन के योग्य सुन्दर बन गई ।।१६।।

अन्तरीक्षे विमानानि देवतानां युधिष्ठिर ।
तत्रैव समदृश्यन्त धुन्धुर्यत्र महासुरः ।।१७।।

हे युधिष्ठिर ! देवताओं के विमान आकर उसी स्थान में चक्कर लगा रहे थे, जहां धुन्धु नामक असुर था ।।१७।।

कुवलाश्वस्य धुन्धोश्च युद्धं कौतूहलान्विताः ।
देवगन्धर्वसहिताः समवैक्षन्महर्षयः ।।१८।।

राजा कुवलाश्व और धुन्धु दैत्य के युद्ध को देव, दानव और गन्धर्वों के सहित, सारे महर्षि बड़ी उत्कण्ठा से देख रहे थे।

नारायणेन कौरव्य तेजसाप्यायितस्तदा ।
स गतो नृपतिः क्षिप्रं पुत्रैस्तैः सर्वतो दिशम् ।।१९।।

हे कुरु-वंश-श्रेष्ठ ! भगवान् नारायण के तेज से पुष्ट होकर राजा कुवलाश्व, अपने पुत्रों के साथ बड़ी शीघ्रता से वहाँ पहुंचा और उनको सारी दिशाओं से घेर लिया ।।१९।।

अर्णवं खानयामास कुवलाश्वो महीपतिः ।
कुवलाश्वस्य पुत्रैश्च तस्मिन् वै वालुकार्णवे ॥२०॥

इस राजा कुवलाश्व और इसके पुत्रों ने उस वालुकार्णव स्थान पर पहुंचकर उस समुद्र को ही खोद डाला ॥२०॥

सप्तभिर्दिवसैः खात्वा दृष्टो धुन्धुर्महाबलः ।
आसीद् घोरं वपुस्तस्य वालुकान्तर्हितं महत् ॥२१॥
दीप्यमानं यथा सूर्य्यं तेजसा भरतर्षभ ।

जब ये सात दिन तक खोदते रहे-- तब कहीं जाकर वह दैत्य दिखाई दिया । बालुका के भीतर इस दैत्य का बड़ा भयङ्कर शरीर देखा । हे भरतर्षभ ! यह दैत्य, तेज से सूर्य के समान देदीप्यमान हो रहा था ॥२१॥

ततो धुन्धुर्महाराज दिशमावृत्य पश्चिमाम् ॥२२॥
सुप्तोऽभूद्राजशार्दूल कालानलसमद्युतिः ।
कुवलाश्वस्य पुत्रैस्तु सर्वतः परिवारितः ॥२३॥

हे महाराज ! इस वालुका प्रदेश की पश्चिम दिशा को घेर कर प्रलय की आग के सदृश चमकीला, धुन्धु दैत्य सो रहा था, इसको कुवलाश्व के पुत्रों ने जाकर घेर लिया ॥२२-२३॥

अभिद्रुतः शरैस्तीक्ष्णैर्गदाभिर्मुसलैरपि ।
पट्टिशैः परिघैः प्राशैः खड्गैश्च विमलैः शितैः ॥२४॥
स वध्यमानः संक्रुद्धः समुत्तस्थौ महाबलः ।
क्रुद्धश्चाभक्षयत्तेषां शस्त्राणि विविधानि च ॥२५॥

इन्होंने बड़े तीक्ष्ण बाण, गदा, मुसल, पट्टिश, परिध, पाश, और चमकीले खड्गों से उस पर आक्रमण किया। इन अस्त्रों की चोटों से पीड़ित हुआ यह महाबली दैत्य, कुपित हो कर खड़ा हो गया। इसने क्रोध में भर कर इन राजपुत्रों के अस्त्रों को चबा डाला ॥२४-२५॥

आस्याद्वमन् पावकं स सम्वर्त्तकसमं तदा ।
तान् सर्वान्नृपतेः पुत्रानदहत् स्वेन तेजसा ॥२६॥

यह अपने मुख से प्रलय काल के अग्नि के तुल्य आग उगलने लगा और अपने तेज से उन राजपुत्रों को दग्ध करने की चेष्टा करने लगा ॥२६॥

मुखजेनाग्निना क्रुद्धो लोकानुद्वर्त्तयन्निव ।
क्षणेन राजशार्दूल पुरेव कपिलः प्रभुः ॥२७॥
सगरस्यात्मजान् क्रुद्धस्तदद्भुतमिवाभवत् ।
तेषु क्रोधाग्निदग्धेषु तदा भरतसत्तम ॥२८॥
तं प्रबुद्धं महात्मानं कुम्भकर्णमिवापरम् ।
आससाद महातेजाः कुवलाश्वो महीपतिः ॥२९॥

हे राज-शार्दूल ! यह क्रुद्ध होकर लोकों को उलट-पुलट सा कर रहा था। इसके मुख की आग से पूर्वकाल में शक्तिशाली कपिल की सी अद्भुत घटना हो गई। क्रुद्ध हुए कपिल ने जैसे सगर के पुत्र, दग्ध कर दिये थे, ऐसे ही इसने भी ये राजपुत्र जला डाले। हे भरत-सत्तम ! इन राजपुत्रों के दग्ध हो जाने

पर महातेजस्वी, राजा कुवलाश्व जगे हुए दूसरे महाबली कुम्भकर्ण के सदृश्य इस धुन्धुदैत्य के पास पहुंचा ॥२७-२६॥

तस्य वारि महाराज सुस्राव बहु देहतः ।
तदापीयत तत्तेजो राजा वारिमयं नृपः ॥३०॥
योगी योगेन वह्निश्च शमयामास वारिणा ।
ब्रह्मास्त्रेण च राजेन्द्र दैत्यं क्रूरपराक्रमम् ॥३१॥
ददाह भरतश्रेष्ठ सर्वलोकाभयाय वै ।

महाराज ! इस समय इसकी देह से बहुत सा पानी टपक रहा था । हे नृप ! इस जलमय होकर वहते जाते हुए तेज को राजा कुवलाश्व पी गया । इस कर्मयोगी ने अपनी युक्ति से जल द्वारा अग्नि शान्त कर दी । हे राजेन्द्र ! इसने ब्रह्मास्त्र से क्रूर पराक्रमी दैत्य को जला डाला, जिससे सारे लोक अभय हो गए ॥३०-३१॥

सोऽस्त्रेण दग्ध्वा राजर्षिः कुवलाश्वो महासुरम् ॥३२॥
सुरशत्रुममित्रघ्नं त्रैलोक्येश इवापरः ।

राजर्षि कुवलाश्व ने ब्रह्मास्त्र से इस महासुर को भस्म कर दिया, जो देवों का शत्रु और अपने शत्रु का नाशक था । यह राजा भी द्वितीय भगवान् विष्णु सा महाबली था ॥३२॥

धुन्धोर्वधात्तदा राजा कुवलाश्वो महामनाः ॥३३॥
धुन्धुमार इति ख्यातो नाम्नाप्रतिरथोऽभवत् ।

महामनस्वी राजा कुवलाश्व, धुन्धु दैत्य के मारने के कारण धुन्धुमार कहाया और अब इसकी जोट का अन्य कोई शत्रु नहीं रह गया ॥३३॥

प्रीतैश्च त्रिदशैः सर्वैर्महर्षिसहितैस्तदा ॥३४॥
वरं वृणीष्वेत्युक्तः स प्राञ्जलिः प्रणतस्तदा ।
अतीवमुदितो राजन्निदं वचनमब्रवीत् ॥३५॥

महर्षियों के साथ, सारे देवों ने प्रसन्न होकर कहा—कि अब तुम वर मांगो। यह हाथ जोड़कर देवों के सम्मुख झुक गया। हे राजन्! यह राजा बड़ा प्रसन्न होकर यह वचन बोला—॥३४-३५॥

दद्यां वित्तं द्विजाग्र्येभ्यः शत्रूणाञ्चापि दुर्जयः ।
सख्यञ्च विष्णुना मे स्याद्भूतेष्वद्रोह एव च ॥३६॥
धर्मे रतिश्च सततं स्वर्गे वासस्तथाक्षयः ।
तथास्त्विति ततो देवैः प्रीतैरुक्तः स पार्थिव ॥३७॥

हे देवो! मैं श्रेष्ठ ब्राह्मणों को दान देता रहूं और शत्रुओं से पराजित न हो सकूं। मेरी विष्णु से मित्रता हो जावे तथा मैं किसी भी प्राणी से द्रोह न करूं। मेरी धर्म में प्रीति और क्षीण नहीं होने वाला स्वर्ग में वास होवे। प्रसन्न हुए देवों ने राजासे कहा—ऐसा ही होगा ॥३६-३७॥

ऋषिभिश्च सगन्धर्वैरुतङ्केन च धीमता ।
सम्भाष्य चैनं विविधैराशीर्वादैस्ततो नृप ॥३८॥

हे नृप ! गन्धर्वों के सहित, सारे महर्षि और वुद्धिमान उत्तङ्क ने इस अनेक वातें की और अनेक प्रकार के आशीर्वादों से इसको सन्तुष्ट किया ॥३८॥

देवा महर्षयश्चापि स्वानि स्थानानि भेजिरे ।
तस्य पुत्रास्त्रयः शिष्टा युधिष्ठिर तदाभवन् ॥३९॥

हे युधिष्ठिर ! अव सारे देव और महर्षि, अपने २ स्थानों को चले गए । इस युद्ध में इस राजा कुवलाश्व के तीन ही पुत्र बच सके थे ॥३९॥

दृढाश्वः कपिलाश्वश्च चन्द्राश्वश्चैव भारत ।
तेभ्यः परम्परा राजन्निक्ष्वाकूणां महात्मनाम् ॥४०॥
वंशस्य सुमहाभाग राज्ञाममिततेजसाम् ।
एवं स निहतस्तेन कुवलाश्वेन सत्तम ॥४१॥
धुन्धुर्नाम महादैत्यो मधुकैटभयाः सुतः ।
कुवलाश्वश्च नृपतिर्धुन्धुमार इति स्मृतः ॥४२॥

हे भरत ! दृढ़ाश्व, कपिलाश्व और चन्द्राश्व इनके नाम थे । हे राजन् ! इन्हीं तीन पुत्रों से अत्यन्त तेजस्वी, महात्मा इक्ष्वाकु—वंशी राजाओं की वंश परम्परा चली है । हे राजसत्तम ! इस प्रकार राजा कुवलाश्व ने यह मधुकैटभ का पुत्र, महादैत्य धुन्धु मारा है । इसी के वध करने से कुवलाश्व धुन्धुमार नाम से प्रसिद्ध हो गया ॥४०-४२॥

नाम्ना च गुणसंयुक्तस्तदाप्रभृति सोऽभवत् ।
एतत्ते सर्वमाख्यातं यन्मां त्वं परिपृच्छसि ॥४३॥
धौन्धुमारमुपाख्यानं प्रथितं यस्य कर्मणा ।

उसी समय से यह राजा अपने नाम के अनुसार वीरतादि गुणों का धारण करने वाला हुआ। हे राजन्, जो तुमने मुझ से पूछा—वह मैंने तुमको सुना दिया है। इसी राजा के नाम से यह धुन्धुमार उपाख्यान प्रसिद्ध है ॥४३॥

इदन्तु पुण्यमाख्यानं विष्णोः समनुकीर्त्तनम् ॥४४॥
शृणुयाद्यः स धर्मात्मा पुत्रवांश्च भवेन्नरः ।
आयुष्मान् भूतिमांश्चैव श्रुत्वा भवति पर्वसु ।
न च व्याधिभयं किञ्चित् प्राप्नोति विगतज्वरः ॥४५

इति श्रीमहाभारत आरण्यपर्वणि मार्कण्डेयसमास्यापर्वणि
धुन्धुमारोपाख्याने त्र्यधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥२०३॥

यह बड़ा पवित्र उपाख्यान है, जिसमें भगवान् विष्णु की महिमा का वर्णन है। जो इस उपाख्यान को सुनता है, वह धर्मात्मा मनुष्य पुत्रवान् हो जाता है। जो इस उपाख्यान को पर्व काल में सुनता है, वह लम्बी आयु वाला और ऐश्वर्यवान् होता है। इसमनुष्य के सारे क्लेश दूर भाग जाते हैं और इसको किसी व्याधि से भय नहीं रहता है ॥४४-४५॥

इति श्रीमहाभारत वनपर्वान्तर्गत मार्कण्डेयसमास्यापर्व में धुन्धुमार उपाख्यान का दोसौ तीनवां अध्याय समाप्त हुआ।

दो सौ चारवां अध्याय

वैशम्पायन उवाच—

ततो युधिष्ठिरो राजा मार्कण्डेयं महाद्युतिम्।
पप्रच्छ भरतश्रेष्ठ धर्मप्रश्नं सुदुर्विदम् ॥१॥

वैशम्पायन बोले--हे भरत-श्रेष्ठ! इसके अनन्तर राजा युधिष्ठिर ने महाद्युति मार्कण्डेय मुनि से दुर्विज्ञेय धर्म विषयक प्रश्न पूछा ॥१॥

युधिष्ठिर उवाच—

श्रोतुमिच्छामि भगवन् स्त्रीणां माहात्म्यमुत्तमम्।
कथ्यमानं त्वया विप्र सूक्ष्मधर्मश्च तत्वतः ॥२॥

युधिष्ठिर बोले--हे भगवन्! ब्रह्मर्षे! मैं स्त्रियों का माहात्म्य सुनना चाहता हूं। तुम ठीक २ स्त्रियों के सूक्ष्म धर्म को मुझे सुनाओ ॥२॥

प्रत्यक्षेण हि दृश्यन्ते देवा विप्रर्षिसत्तम।
सूर्य्याचन्द्रमसौ वायुः पृथिवी वह्निरेव च ॥३॥
पिता माता च भगवन् गुरुरेव च सत्तम।
यच्चान्यद्देवविहितं तच्चापि भृगुनन्दन ॥४॥
मान्या हि गुरवः सर्वे एकपत्न्यस्तथा स्त्रियः।
पतिव्रतानां शुश्रूषा दुष्करा प्रतिभाति मे ॥५॥
पतिव्रतानां माहात्म्यं वक्तुमर्हसि नः प्रभो।

हे ब्रह्म-श्रेष्ठ ! सूर्य्य, चन्द्रमा, वायु, पृथिवी, अग्नि, पिता, माता, गुरु आदि देवता प्रत्यक्ष दिखाई दे रहे हैं और देवों का विधान भी सब प्रत्यक्ष ही है। इन सब पूज्यों का आदर करना चाहिए। विशेष करके पतिव्रता स्त्रियों का आदर करना उचित है। पतिव्रताओं की सेवा मुझे बड़ी ही दुष्कर प्रतीत होती है। हे प्रभो ! आप मुझे इन ही पतिव्रताओं के माहात्म्य को कहो ॥३-५॥

निरुध्य चेन्द्रियग्रामं मनः संरुध्य चानघ ॥६॥
पतिं दैवतवच्चापि चिन्तयन्त्यः स्थिता हि याः।
भगवन् दुष्करं त्वेतत् प्रतिभाति मम प्रभो ॥७॥

हे अनघ ! जो स्त्रियां अपने इन्द्रिय समूह और मन को रोक कर पति को देवता की तरह मानती है, मुझे उनका यह व्रत बड़ा ही कठिन प्रतीत होता है ॥६-७॥

मातापित्रोश्च शुश्रूषा स्त्रीणां भर्त्तरि च द्विज।
स्त्रीणां धर्मात् सुघोराद्धि नान्यं पश्यामि दुष्करम् ॥८॥

हे द्विज ! माता पिता की सेवा और स्त्रियों द्वारा पति की सेवा, बड़ी ही दुष्कर है। मैं तो स्त्रियों के इस घोर धर्म से कठिन अन्य धर्म को मानता ही नहीं हूं ॥८॥

साध्वाचाराः स्त्रियो ब्रह्मन् यत् कुर्वन्ति सदादृताः।
दुष्करं खलु कुर्वन्ति पितरं मातरञ्च वै ॥९॥
एकपत्न्यश्च या नार्य्यो याश्च सत्यं वदन्त्युत।

हे ब्रह्मन! जो सदा-चारिणी स्त्रियां आदर पाकर जिस कार्य को करती हैं, मैं उन कार्यों को दुष्कर ही समझता हूं और जो माता पिता की सेवा करते हैं, ये भी बड़े कठिन धर्म का आचरण करते हैं। जो स्त्रियां पतिव्रता या सत्यवादिनी हैं, वे बड़े ही असिधाराव्रत को धारण किये हुए हैं ॥९ ॥

कुक्षिणा दशमासांश्च गर्भं सन्धारयन्ति याः ॥१०॥
नार्य्यः कालेन सम्भूय किमद्भुततरं ततः ।
संशयं परमं प्राप्य वेदनामतुलामपि ॥११॥
प्रजायन्ते सुतान्नार्य्यो दुःखेन महता विभो ।
पुष्णन्ति चापि महता स्नेहेन द्विजपुङ्गव ॥१२॥

जो स्त्रियां दश मास तक अपनी कुक्षि से गर्भ धारण करती हैं, वे फिर समय पर सन्तान उत्पन्न कर देती है, इससे अधिक अचम्भे की क्या बात होगी। इनको अपने जीवन तक में सन्देह हो जाता है और प्रसव वेदना का क्लेश तो वहुत ही अधिक भोगना पड़ता है। हे राजन्! स्त्रियां बड़े कष्ट से जैसे तैसे पुत्र उत्पन्न कर पाती है। हे द्विज-श्रेष्ठ, इसके अनन्तर वे उस सन्तान को बड़े स्नेह से पालती हैं ॥१०-१२॥

ये च क्रूरेषु सर्वेषु वर्त्तमाना जुगुप्सिताः ।
स्वकर्म कुर्बन्ति सदा दुष्करं तच्च मे मतम् ॥१३॥

जो मनुष्य हिंसा आदि क्रूर कर्म में प्रवृत्त होकर निन्दा पाते हैं, यदि वे भी अपने कर्तव्य कर्म को समय पर करते हैं, मैं तो उनके इस कार्य को भी बड़ा कठिन समझता हूं ॥१३॥

क्षत्रधर्मसमाचारं तत्वं चाख्याहि मे द्विज ।
धर्मः सुदुर्लभो विप्र नृशंसेन महात्मनाम् ॥१४॥

हे द्विज! इसके आगे तुम क्षत्रियों के धर्म का ठीक २ निरूपण करो। नीच मनुष्यों को महात्माओं का धर्म निभाना बड़ा ही दुर्लभ है ॥१४॥

एतदिच्छामि भगवन् प्रश्नं प्रश्नविदाम्वर ।
श्रोतुं भृगुकुलश्रेष्ठ शुश्रूषे तव सुव्रत ॥१५॥

प्रश्न के उत्तार देने में चतुर, व्रतशील, भृगु-कुल-श्रेष्ठ! भगवन्, मार्कण्डेय, मैं इन प्रश्नों का उत्तार सुनना चाहता हूं। मैं इसके सुनने की आप से बड़ी ही इच्छा रखता हूं ॥१५॥

मार्कण्डेय उवाच---

हन्त ते सर्वमाख्यास्ये प्रश्नमेतं सुदुर्लभम् ।
तत्वेन भरतश्रेष्ठ गदतस्तन्निबोध मे ॥१६॥

मार्कण्डेय ने कहा—हे भरत-श्रेष्ठ, तू ने जो प्रश्न किया है, यह बड़ा ही दुर्लभ है। अब मैं इसकी तत्व के साथ व्याख्या करता हूं, तुम ध्यान से सुनो ॥१६॥

मातृस्तु गौरवादन्ये पितॄनन्ये तु मेनिरे ।
दुष्करं कुरुते माता विवर्द्धयति या प्रजाः ॥१७॥

हे राजन्! कोई तो गौरव में माता और पिता को बड़ा मानते हैं परन्तु मेरी सम्मति में तो माता ही बड़ी है, जो सन्तान को उत्पन्न करके उसका पालन-पोषण कर देती है। यह उसका बड़ा ही दुष्कर कार्य है ॥१७॥

तपसा देवतेज्याभिर्वन्दनेन तितिक्षया ।
अभिचारैरुपायैश्चापीहन्ते पितरः सुतान् ॥१८॥

पिता भी, तप, देव-पूजा, सबकी वन्दना, सहनशीलता और अभिचार (तान्त्रिक-क्रिया) द्वारा पुत्र उत्पन्न करना चाहते रहते हैं ॥१८॥

एवं कृच्छ्रेण महता पुत्रं प्राप्य सुदुर्ल्लभम् ।
चिन्तयन्ति सदा वीर कीदृशोऽयं भविष्यति ॥१६॥

हे वीर ! फिर ये दोनों माता-पिता, बड़े भारी क्लेश से महादुर्लभ पुत्र को पाकर सदा यही सोचते रहते हैं, कि यह हमारा पुत्र आगे कैसा निबटेगा ॥१६॥

आशंसते हि पुत्रेषु पिता माता च भारत ।
यशः कीर्तिमथैश्वर्य्यं प्रजा धर्मं तथैव च ॥२०॥

हे भारत , माता-पिता सदा पुत्रों में यश, कीर्ति, ऐश्वर्य प्रजा और धर्म-वृद्धि की आशा लगाए रहते हैं ॥२०॥

तयोराशान्तु सफलां यः करोति स धर्मवित् ।
माता पिता च राजेन्द्र तुष्यतो यस्य नित्यशः। २१॥

इन माता-पिता की आशा-लता को जो हरी भरी कर देता है वही धर्म का जानने वाला है । हे राजेन्द्र !, जिस सन्तान के माता-पिता नित्य सन्तुष्ट रहते हैं, उसकी इस लोक और पर लोक में अक्षय कीर्ति और धर्म की वृद्धि होती है ॥२१॥

इह प्रेत्य च तस्याथ कीर्त्तिर्धर्मश्च शाश्वतः ।
नैव यज्ञक्रियाः काश्चिन्न श्राद्धं नोपवासकम्॥२२॥

स्त्रियों को यज्ञ क्रिया, श्राद्‌ध और उपवास की कुछ भी आवश्यकता नहीं है। जो भर्ता की सेवा करता है, वही इन का सव कुछ है। ये उससे ही स्वर्ग का विजय करती हैं ॥२२॥

या तु भर्त्तरि शुश्रूषा तया स्वर्गं जयत्युत ।
एतत् प्रकरणं राजन्नधिकृत्य युधिष्ठिर ।
पतिव्रतानां नियतं धर्मश्चावहितः शृणु ॥२३॥

इति श्रीमहाभारत आरण्यपर्वणि मार्कण्डेयसमास्यापर्वणि
पतिव्रतोपाख्याने चतुरधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥२०४॥

हे राजन् ! युधिष्ठिर, अव पतिव्रताओं के उपाख्यान का प्रकरण छिड़ गया है। अव तुम सावधान होकर पतिव्रताओं के निश्चित धर्मों को सुनो ॥२३॥

इति श्रीमहाभारत वनपर्वान्तर्गत मार्कण्डेयसमास्यापर्व में
पतिव्रतोपाख्यान का दौ सौ चारवाँ अध्याय समाप्त हुआ

◆

दो सौ पांचवां अध्याय

मार्कण्डेय उवाच—

कश्चिद्द्विजातिप्रवरो वेदाध्यायी तपोधनः ।
तपस्वी धर्मशीलश्च कौशिको नाम भारत ॥१॥

मार्कण्डेय बोले—हे भारत! तप को ही धन मानने वाला, वेदपाठी, धर्मात्मा, तपस्वी, एक कौशिक नामक उत्तम ब्राह्मण था।

साङ्गोपनिषदो वेदानधीते द्विजसत्तमः ।
स वृक्षमूले कस्मिंश्चिद्वेदानुच्चारयन् स्थितः ॥२॥

यह ब्राह्मण-श्रेष्ठ, साङ्गवेद और उपनिषदों को अच्छी तरह जानने वाला था। यह एक दिन किसी वृक्ष के नीचे वेदपाठ कर रहा था ॥२॥

उपरिष्टाच्च वृक्षस्य बलाका संन्यलीयत ।
तयापुरीषमुत्सृष्टं ब्राह्मणस्य तदोपरि ॥३॥

इस वृक्ष के ऊपर कोई बलाका (बगुली) बैठी थी। इसने इस ब्राह्मण के ऊपर पुरीष (बींट) कर दी ॥३॥

तामवेक्ष्य ततः क्रुद्धः समपध्यायत द्विजः ।
भृशं क्रोधाभिभूतेन बलाका सा निरिक्षिता ॥४॥

इसने उस बलाका की ओर क्रुद्ध होकर देखा और वेद पढ़ता रहा। यह अत्यन्त क्रोध में भर कर वार २ उस बलाका की ओर देखता जाता था ॥४॥

अपध्याता च विप्रेण न्यपतद्धरणीतले ।
बलाकां पतितां दृष्ट्वा गतसत्वामचेतनाम् ॥५॥
कारुण्यादभिसन्तप्तः पर्य्यशोचत तां द्विजः ।
अकार्य्यं कृतवानस्मि रोषरागबलात्कृतः ॥६॥

ब्राह्मण के क्रोधपूर्ण विचार के साथ देखने से वह विचारी बलाका नीचे गिर पड़ी। मर कर अचेत पड़ी हुई बलाका को देख कर वह ब्राह्मण, करुणार्द्र हो गया और दुःखी होकर उसकी चिन्ता करने लगा। हाय ? मैंने क्रोध के वश में पड़ कर यह अकाये कर डाला ॥५-६॥

मार्कण्डेय उवाच—

इत्युक्त्वा बहुशो विद्वान् ग्रामं भैक्ष्याय संश्रितः ।
ग्रामे शुचीनि प्रचरन् कुलानि भरतर्षभ ॥७॥

मार्कण्डेय ने कहा—हे भरतर्षभ ! यह विद्वान् ब्राह्मण, इतना कहकर भिक्षा के लिए गांव की ओर चल दिया और वहां श्रेष्ठ आचार वाले परिवारों में घूमने लगा ॥७॥

प्रविष्टस्तत्कुलं यत्र पूर्वंश्चरितवांस्तु सः ।
देहीति याचमानोऽसौ तिष्ठेत्युक्तः स्त्रिया ततः॥८॥
शौचन्तु यावत् कुरुते भाजनस्य कुटुम्बिनी ।
एतस्मिन्नन्तरे राजन् क्षुधा सम्पीड़ितो भृशम्॥९॥

आज उस कुल में भिक्षा के लिए पहुंचा, जहां पहले भी यह भिक्षा ले चुका था । यहां जाकर द्वार पर इसने "भिक्षा

डालो" की आवाज़ लगाई। स्त्री ने कहा---ज़रा ठहरो। यह स्त्री इस समय वर्तन मांज रही थी। हे राजन्! इसी अन्तर में ब्राह्मण को भूख ने अत्यन्त व्याकुल कर दिया ॥८-९॥

भर्त्ता प्रविष्टः सहसा तस्या भरतसत्तम।
सा तु दृष्ट्वा पतिं साध्वी ब्राह्मणं व्यवहाय तम्॥१०॥
पाद्यमाचमनीयं वै ददौ भर्त्तुस्तथासनम्।
प्रह्वा पर्य्यचरच्चापि भर्तारमसितेक्षणा ॥११॥

आहारेणाथ भक्ष्यैश्च भोज्यैः सुमधुरैस्तथा।
उच्छिष्टं भाविता भर्त्तुर्भुङ्क्ते नित्यं युधिष्ठिर ॥१२॥
दैवतञ्च पतिं मेने भर्त्तुश्चित्तानुसारिणी।
कर्मणा मनसा वाचा नान्यचित्ताभ्यगात् पतिम्॥१३॥

हे भरत-सत्तम! इसी समय इसका पति घर में चला आया। यह साध्वी, पति को देखकर उसके पाद्य, आचमन तथा आसन, पान में लग गई और उस ब्राह्मण को भिक्षा डालना भूल गई। यह सुन्दरी नम्र होकर अपने पति की सेवा में तत्पर हो गई। यह अपने पति को मधुर २ भक्ष्य, भोज्य का आहार अर्पण करने लगी। हे युधिष्ठिर! पतिव्रता नित्य अपने पतिकी प्रीतिसे उच्छिष्ट खाती रहती थी। यह अपने पति को ही देवता मानती थी तथा मन, वाणी और कर्म से पति के चित्त के अनुसार ही कार्य करती थी। यह अन्य का ध्यान भी नहीं करके पति की सेवा करती रहती थी ॥१०-१३॥

तं सर्वभावोपगता पतिशुश्रूषणे रता ।
साध्वाचारा शुचिर्दक्षा कुटुम्बस्य हितैषिणी ॥१४॥
भर्त्तुश्चापि हितं यत्तत् सततं सानुवर्त्तते ।
देवतातिथिभृत्यानां श्वश्रूश्वशुरयोस्तथा ॥१५॥
शुश्रूषणपरा नित्यं सततं संयतेन्द्रिया ।
सा ब्राह्मणं तदा दृष्ट्वा संस्थितं भैक्ष्यकाङ्क्षिणम् १६
कुर्वती पतिशुश्रूषां सस्माराथ शुभेक्षणा ।
व्रीड़िता साभवत् साध्वी तदा भरतसत्तम ।
भिक्षामादाय विप्राय निर्जगाम यशस्विनी ॥१७॥

यह अपने पति की सब भावों से उपासना करती और सदा सेवा में उपस्थित रहती थी। यह बड़ी सदाचारिणी, पवित्र, चतुर और कुटुम्ब का हित चाहने वाली थी। जो पति का हित देखती थी, उसे ही करने लगती और देवता, अतिथि, सेवक, सास, ससुर इनकी सदा सेवा करती रहती थी। इसने इन्द्रियां वश में कर रखी थीं। पति की सेवा करती हुई, इस सुन्दरी ने द्वार पर भिक्षा को खड़े हुए ब्राह्मण को देखकर याद किया। हे भरत-सत्तम, इस समय यह साध्वी बड़ी ही लज्जित सी हुई। यह यशस्विनी, अब ब्राह्मण के लिए भिक्षा लेकर बाहर आई ॥१४-१७॥

ब्राह्मण उवाच—

किमिदं भवति त्वं मां तिष्ठेत्युक्त्वा वराङ्गने ।
उपरोधं कृतवती न विसर्ज्जितवत्यसि ॥१८॥

ब्राह्मण बोला—हे वराङ्गने ! यह क्या बात है। तुम तो ठहरो—ऐसा वचन कह कर भी रुक गई और भिक्षा डालने नहीं आई ॥१८॥

मार्कण्डेय उवाच—

ब्राह्मणं क्रोधसन्तप्तं ज्वलन्तमिव तेजसा ।
दृष्ट्वा साध्वी मनुष्येन्द्र सान्त्वपूर्वं वचोऽब्रवीत्॥१९

मार्कण्डेय कहने लगा—हे मनुष्येन्द्र ! यह साध्वी, क्रोध से सन्तप्त, तेज से जाज्वल्यमान ब्राह्मण को देखकर बड़ी शान्ति से यह वचन बोली ॥१९॥

स्त्र्युवाच—

क्षन्तुमर्हसि मे विद्वन् भर्त्ता मे दैवतं महत् ।
स चापि क्षुधितः श्रान्तः प्राप्तः शुश्रूषितो मया॥२०॥

हे विद्वन् ! आप मुझे क्षमा करें, मैं अपने भर्ता को ही देवता समझ कर पूजती रहती हूं। यह इस समय भूखा, प्यासा, थका हुआ आया था, मैं इसकी सेवा करने लग गई ॥२०॥

ब्राह्मण उवाच—

ब्राह्मणा न गरीयांसो गरीयांस्ते पतिः कृतः ।
गृहस्थधर्मे वर्त्तन्ती ब्राह्मणानवमन्यसे ।
इन्द्रोऽप्येषां प्रणमते किं पुनर्मानवो भुवि ॥२१॥

ब्राह्मण बोला—हे देवि ! तूने ब्राह्मणों को तो महत्व नहीं दिया और पति को महत्व दिया है। तू गृहस्थ धर्म का आचरण करती

हुई भी ब्राह्मणों की अवहेलना करती है। इन ब्राह्मणों को तो इन्द्र भी झुक जाता है, मनुष्यों की तो क्या चलाई है ॥२१॥

अवलिप्ते न जानीषे वृद्धानां न श्रुतं त्वया।
ब्राह्मणा ह्यग्निसदृशा दहेयुः पृथिवीमपि ॥२२॥

हे घमण्डन ! तू ने वृद्धों का यह वचन नहीं सुना है, कि ब्राह्मण अग्नि के सदृश होते हैं और ये पृथिवी भर को जलाकर भस्म कर सकते हैं ॥२२॥

स्त्र्युवाच—

नाहं बलाका विप्रेन्द्र त्यज क्रोधं तपोधन।
अनया क्रुद्धया दृष्ट्या क्रुद्धः किं मां करिष्यसि ॥२३॥

स्त्री ने कहा--हे तपोधन! विप्रेन्द्र ! मैं बलाका नहीं हूं, तुम अपने क्रोध को छोड़ दो। तुम क्रुद्ध होकर इस कुपित दृष्टि से मेरा क्या बिगाड़ सकते हो ॥२३॥

नापजानाम्यहं विप्रान् देवैस्तुल्यान् मनस्विनः।
अपराधमिमं विप्र क्षन्तुमर्हसि मेऽनघ ॥२४॥

हे अनघ ! मैं देवों के तुल्य, मनस्वी, ब्राह्मणों का अपमान नहीं करती हूं। हे विप्र, तुम मेरे इस अपराध को क्षमा कर दो ॥

जानामि तेजो विप्राणां महाभाग्यञ्च धीमताम्।
अपेयः सागरः क्रोधात् कृतो हि लवणोदकः ॥२५॥

मैं, तपस्वी ब्राह्मणों के तेज और महत्व को जानती हूं, जिन्होंने क्रोध में भरकर समुद्र को खारा करके अपेय बना दिया है ॥

तथैव दीप्ततपसां मुनीनां भावितात्मनाम् ।
येषां क्रोधाग्निरद्यापि दण्डके नोपशाम्यति ॥२६॥

इसी तरह प्रदीप्त तप वाले, महात्मा मुनियों को भी जानती हूं, जिनके क्रोध का अग्नि, आज भी दण्डकारण्य में नहीं बुझता है ॥२६॥

ब्राह्मणानां परिभवाद्वातापिः स दुरात्मवान् ।
अगस्त्यमृषिमासाद्य जीर्णः क्रूरो महासुरः ॥२७॥

ब्राह्मणों के अपमान के पाप से ही दुरात्मा, क्रूर, वातापि महासुर, अगस्त्य ऋषि को उदर में जाकर जीर्ण (हज्म) हो गया ।

बहुप्रभावाः श्रूयन्ते ब्राह्मणानां महात्मनाम् ।
क्रोधः सुविपुलो ब्रह्मन् प्रसादश्च महात्मनाम् ॥२८॥

हे ब्रह्मन्, महात्मा ब्राह्मणों के अनेक प्रभाव सुने जाते हैं। इन महात्माओं का बढा हुआ क्रोध और अनुग्रह बड़ा ही फल लाता है ॥२८॥

अस्मिंस्त्वतिक्रमे ब्रह्मन् क्षन्तुमर्हसि मेऽनघ ।
पतिशुश्रूषया धर्मो यः स मे रोचते द्विज ॥२९॥

हे ब्रह्मन् ! आप मेरे इस अपराध को क्षमा करें । पति की सेवा से जो धर्म प्राप्त होता है, मैं तो उसकी ही अभिलाषा रखती हूं ॥२९॥

दैवतेष्वपि सर्वेषु भर्त्ता मे दैवतं परम् ।
अविशेषेण तस्याहं कुर्य्यां धर्मं द्विजोत्तम ॥३०॥

हे द्विजोत्तम! मैं सारे देवों में पति को हो सबसे बड़ा देवता मानती हू । मैं विना किसी भेद के उसके सेवा धर्म के व्रत का निर्वाह करती हूं ॥३०॥

शुश्रूषायाः फलं पश्य पत्युर्ब्राह्मण यादृशम् ।
बलाका हि त्वया दग्धा रोषात्तद्विदितं मया ॥३१॥

हे ब्रह्मन्! मेरी इस पति की सेवा का फल भी जो हुआ—वह तुम्हारे सामने है, तुमने जो रोष में भर कर वन में बलाका भस्म कर दी थी, मुझे यहीं पर पता लग गया ॥३१॥

क्रोधः शत्रुः शरीरस्थो मनुष्याणां द्विजोत्तम ।
यः क्रोधमोहौ त्यजति तं देवा ब्राह्मणं विदुः ॥३२॥

हे द्विज--श्रेष्ठ! मनुष्यों के शरीर में क्रोध बड़ा ही भारी शत्रु है। जिसने क्रोध और मोह को जीत लिया, विद्वान् लोग उसको ही सच्चा ब्राह्मण मानते हैं ॥३२॥

यो वदेदिह सत्यानि गुरुं सन्तोषयेत च ।
हिंसितश्च न हिंसेत तं देवा ब्राह्मणं विदुः ॥३३॥

जो सदा सत्य भाषण करता है और गुरु की सेवा में तत्पर रहता है तथा अपकार करने वाले का भी अपकार नहीं करता। महात्मा, उसी को सच्चा ब्राह्मण कहते हैं ॥३३॥

जितेन्द्रियो धर्मपरः स्वाध्यायनिरतः शुचिः ।
कामक्रोधौ वशे यस्य तं देवा ब्राह्मणं विदुः ॥३४॥

जो जितेन्द्रिय, धर्मात्मा, स्वाध्याय-शील और पवित्र है, तथा जिसके काम क्रोध वश में हैं, उसको ही देवता ब्राह्मण कहते हैं।

यस्य चात्मसमो लोको धर्मज्ञस्य मनस्विनः।
सर्वधर्मेषु चरतस्तं देवा ब्राह्मणं विदुः ॥३५॥

जिस धर्म के ज्ञाता, मनस्वी, धर्म के आचरण करने वाले, ब्राह्मण को सारा संसार अपने आत्मा के सदृश ही प्रिय है, उसी को मनीषी ब्राह्मण मानते हैं ॥३५॥

योऽध्यापयेदधीयीत यजेद्वा याजयीत वा।
दद्याद्वापि यथाशक्ति यं देवा ब्राह्मणं विदुः ॥३६॥

जो विद्या पढ़ाता और स्वयं भी स्वाध्याय करता रहता है, तथा यज्ञ करता और कराता है एवं यथाशक्ति दान देता हैं, इसी को बुद्धिमान् लोग ब्राह्मण मानते हैं ॥३६॥

ब्रह्मचारी च वेदान् योऽप्यधीयाद्द्विजपुङ्गवः।
स्वाध्याये चाप्रमत्तो वै तं देवा ब्राह्मणं विदुः ॥३७॥

जो द्विज-श्रेष्ठ, ब्रह्मचारी रह कर वेदों का अध्ययन करता है और स्वाध्याय में सदा सावधान रहता है, उसी को देवता ब्राह्मण जानते हैं ॥३७॥

यद्ब्राह्मणानां कुशलं तदेषां परिकीर्त्तयेत्।
सत्यं तथा व्याहरतां नानृते रमते मनः ॥३८॥

जिसमें ब्राह्मणों की कुशल हो, यह वही मार्ग, इनको सूचित करता है। सत्य कहने वाले इन ब्राह्मणों का झूंठ में मन ही नहीं लगता है ॥३८॥

धर्मन्तु ब्राह्मणस्याहुः स्वाध्यायं दममार्ज्जवम् ।
इन्द्रियाणां निग्रहश्च शाश्वतं द्विजसत्तम ॥३९॥

हे द्विज-सत्तम ! ब्राह्मण का सनातन धर्म, स्वाध्याय, मन रोकना, सरलता और जितेन्द्रियता माना है । ॥३९॥

सत्यार्ज्जवं धर्ममाहुः परं धर्मविदो जनाः ।
दुर्ज्ञेयः शाश्वतो धर्मः स च सत्ये प्रतिष्ठतः ॥४०॥

धर्म के जानने वाले मनुष्य, सत्य और सरलता को ही धर्म कहते हैं । इस शाश्वत (नित्य) धर्म को मनुष्य बड़ी कठिनाई से जान सकते हैं । यह नित्य धर्म सत्व में प्रतिष्ठित है ॥४०॥

श्रुतिप्रमाणो धर्मः स्यादिति वृद्धानुशासनम् ।
बहुधा दृश्यते धर्मः सूक्ष्म एव द्विजोत्तम ॥४१॥

हे द्विजोत्तम ! धर्म का निश्चय तो वेद के आधार पर ही हो सकता है—यह वृद्धों की शिक्षा है । प्रायः धर्म का तत्व बड़ा ही सूक्ष्म है । ॥४१॥

भगवानपि धर्मज्ञः स्वाध्यायनिरतः शुचिः ।
न तु तत्त्वेन भगवन् धर्मं वेत्सीति मे मतिः ॥४२॥

हे भगवन् ! आप भी धर्म के जानने वाले, स्वाध्याय-शील और शुचि हो, परन्तु धर्म का तत्व ठीक २ नहीं जानते हो, ऐसा मेरा मत (खयाल) हैं ॥४२॥

यदि विप्र न जानीषे धर्मं परमकं द्विज ।
धर्मव्याधं ततः पृच्छ गत्वा तु मिथिलां पुरीम् ॥४३॥

हे द्विज ! यदि तुम धर्म के तत्व को नहीं जानते हो, तो मिथिलापुरी में जाकर धर्म-व्याध से पूछो ॥४३॥

मातापितृभ्यां शुश्रूषुः सत्यवादी जितेन्द्रियः ।
मिथिलायां वसेद्व्याधः स ते धर्मान् प्रवक्ष्यति ॥४४॥

यह व्याध, माता पिता का सेवक, सत्यवादी, जितेन्द्रिय है । इसका मिथिला में निवास है, यह तुमको धर्म का तत्व सुना देगा ॥४४॥

तत्र गच्छस्व भद्रन्ते यथाकामं द्विजोत्तम ।
अत्युक्तमपि मे सर्वं क्षन्तुमर्हस्यनिन्दित ।
स्त्रियो ह्यवध्याः सर्वेषां ये धर्ममभिविन्दते ॥४५॥

हे द्विजोत्तम ! तुम्हारा कल्याण हो और तुम्हारी इच्छा हो, तो वहां चले जाओ । हे अनिन्दनीय, जो कुछ मैंने बढ़ाकर कहा हो, उसको तुम क्षमा कर देना । जो धर्म प्राप्त करना चाहते हैं, उनको स्त्रियों के ऐसे अपराध क्षमा कर देने चाहिए ॥४५॥

ब्राह्मण उवाच—

प्रीतोऽस्मि तव भद्रन्ते गतः क्रोधश्च शोभने ।
उपालम्भस्त्वयात्युक्तो मम निःश्रेयसं परम् ।
स्वस्ति तेऽस्तु गमिष्यामि साधयिष्यामि शोभने ४६

ब्राह्मण बोला-हे शोभने ! तुम्हारा कल्याण हो-मैं तुम पर प्रसन्न हो गया हूं । तुमने जो उपालम्भ (उलाहना) दिया है, यह मेरा अत्यन्त कल्याण करेगा । हे सुन्दरि, तुम्हें सुख मिले-अब मैं जाता हूं और अपना कार्य सिद्ध करता हूं ॥४६॥

CC0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

मार्कण्डेय उवाच—

तया निसृष्टो निर्गम्य स्वमेव भवनं ययौ ।
विनिन्दन् स स्वमात्मानं कौशिको द्विजसत्तमः ॥४७

इति श्रीमहाभारत आरण्यपर्वणि मार्कण्डेयसमास्यापर्वणि
पतिव्रतोपाख्याने पञ्चाधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥२०५॥

मार्कण्डेय बोले--हे राजन्! इस स्त्री से विदा होकर ब्राह्मण चल दिया और अपने घर पहुँचा। यह द्विज-श्रेष्ठ, कौशिक, इस समय अपनी निन्दा सी करते हुए जा रहा था ॥४७॥

इति श्रीमहाभारत वनपर्वान्तर्गत मार्कण्डेयसमास्यापर्व में पतिव्रतोपाख्यान का दो सौ पांचवां अध्याय पूरा हुआ ।

दोसौ छःवां अध्याय

मार्कण्डेय उवाच—

चिन्तयित्वा तदाश्चर्य्यं स्त्रिया प्रोक्तमशेषतः ।
विनिन्दन् स स्वमात्मानमागस्कृत इवाबभौ ॥१॥

मार्कण्डेय बोले--हे राजन्! यह कौशिक ब्राह्मण, स्त्री के कहे हुए सारे आश्चर्यजनक वृत्तान्त को सोच २ कर अपने आप की निन्दा कर रहा था और अपने को अपराधी सा समझ रहा था ॥१॥

चिन्तयानः स्वधर्मस्य सूक्ष्मां गतिमथाब्रवीत् ।
श्रद्धानेन वै भाव्यं गच्छामि मिथिलामहम् । २॥

यह द्विज धर्म की सूक्ष्मगति का वार २ विचार करता हुआ बोला। मैं इस स्त्री के वचन में श्रद्धा रखकर मिथिलापुरी में अवश्य जाऊंगा ।।२।।

कृतात्मा धर्मवित्तस्यां व्याधो निवसते किल ।
तं गच्छाम्यहमद्यैव धर्मं प्रष्टुं तपोधनम् ।।३।।

इस पुरी में आत्मज्ञानी, धर्मात्मा, व्याध रहता है। मैं इसी तपोधन व्याध से धर्म पूछने को आज ही जाता हूँ ।।३।।

इति सञ्चिन्त्य मनसा श्रद्दधानः स्त्रिया वचः ।
बलाकाप्रत्ययेनासौ धर्म्यैश्च वचनैः शुभैः ।।४।।

इसने यह सब कुछ इसी लिए विचारा, कि इसको बलाका की घटना सुना देने से स्त्री के वचनों में विश्वास हो गया था तथा उसके धार्मिक वचन भी असर कर चुके थे ।।४।।

संप्रतस्थे स मिथिलां कौतूहलसमन्वितः ।
अतिक्रमन्नरण्यानि ग्रामांश्च नगराणि च ।।५।।

यह बड़ी उत्कण्ठा से वन, ग्राम और नगरों का उलङ्घन करता हुआ, मिथिलापुरी की ओर चल दिया ।।५।।

ततो जगाम मिथिलां जनकेन सुरक्षिताम् ।
धर्मसेतुसमाकीर्णां यज्ञोत्सववतीं शुभाम् ।।६।।

यह जनक-वंश से सुरक्षित, धर्मात्माओं से व्याप्त, यज्ञ और उत्सवों वाली, सुन्दर, मिथिलापुरी को चल दिया ।।५।।

गोपुराट्टालकवतीं हर्म्यप्राकारशोभनाम् ।
प्रविश्य नगरीं रम्यां विमानैर्बहुभिर्युताम् ।।७।।

पुष्पैश्च बहुभिर्युक्तां सुविभक्तमहापथाम् ।
अश्वैरथैस्तथा यानैर्योधैश्च बहुभिर्युताम् ॥८॥
हृष्टपुष्टजनाकीर्णां नित्योत्सवसमाकुलाम् ।
सोऽपश्यद्बहुवृत्तान्तां ब्राह्मणः समतिक्रमन् ॥९॥
धर्मव्याधमपृच्छच्च स चास्य कथितो द्विजैः ।
अपश्यत्तत्र गत्वा तं सूनामध्ये व्यवस्थितम् ॥१०॥
मार्गमाहिषमांसानि विक्रीणन्तं तपस्विनम् ।
आकुलत्वाच्च क्रेतॄणामेकान्ते संस्थितो द्विजः ॥११॥

यह नगरी, पुर के द्वार, अटारी, महल, प्राकारों (दीवार) से सुशोभित हो रही थी । यह ब्राह्मण, सात मंजिलों वाले मकानों से युक्त, मनोहर, अनेक भांति के पुष्पों सहित साफ, स्वच्छ चौड़ेर मार्गों वाली. अश्व, रथ, यान, बहुत से योधाओं से समन्वित, हृष्ट और पुष्ट जनों से व्याप्त, नित्य के उत्सवों से परिपूर्ण, अनेक वृत्तान्तों (गपसप) वाली, इस नगरी में घुसकर इधर उधर देखने लगा । इस नगरी में घूमते हुए इस ब्राह्मणने वहाँ के ब्राह्मणों से धर्मव्याध को पूछा । ब्राह्मणों ने इसको उसका पता बता दिया । वहां जाकर ब्राह्मण ने हिंसा के स्थान के मध्य में बैठे हुए और मृग, तथा भैंसों के मांसों को बेचते हुए, इस तपस्वी धर्मव्याध को देखा । यह मांस खरीदने वालों की झंझट में व्याकुल हो रहा था । यह देखकर ब्राह्मण खसक कर एकान्त में खड़ा हो गया ॥७--११॥

स तु ज्ञात्वा द्विजं प्राप्तं सहसा सम्भ्रमोत्थितः ।
आजगाम यतो विप्रः स्थित एकान्तदर्शने ॥१२॥

इसने जब सुना, कि तुमसे मिलने को कोई ब्राह्मण आया है, तो यह वेग से खड़ा हो गया। इसने देखा कि ब्राह्मण आया है और एकान्त देखकर खड़ा है ॥१२॥

व्याध उवाच—

अभिवादये त्वां भगवन् स्वागतन्ते द्विजोत्तम।
अहं व्याधो हि भद्रन्ते किं करोमि प्रशाधि माम् १३

व्याध ने कहा–हे भगवन्! मैं तुमको प्रणाम करता हूं। हे द्विजोत्तम! आपका स्वागत हो-मैं तो एक व्याध हूं। आप आज्ञा करो--मैं उसे ही पूरा करूंगा॥१३॥

एकपन्त्या यदुक्तोऽसि गच्छत्वं मिथिलामिति।
जानाम्येतदहं सर्वं यदर्थं त्वमुपागतः ॥१४॥

तुमसे उस पतिव्रता ने कहा है---कि तुम मिथिलापुरी को जाओ। मैं यह सब कुछ जान चुका हूँ, जिसलिए तुम आये हो।

श्रुत्वा च तस्य तद्वाक्यं स विप्रो भृशविस्मितः।
द्वितीयमिदमाश्चर्य्यमित्यचिन्तयत द्विजः ॥१५॥

इसका यह वाक्य सुनकर ब्राह्मण को फिर अत्यन्त अचम्भा हुआ। ब्राह्मण ने सोचा यह दूसरी आश्चर्य-जनक घटना हुई१५

अदेशस्थं हि ते स्थानमिति व्याधोऽब्रवीदिदम्।
गृहं गच्छाव भगवन् यदि ते रोचतेऽनघ ॥१६॥

व्याध ने कहा—हे भगवन्! यह स्थान आपके ठहरने के अयोग्य है। हे अनघ! यदि आपकी इच्छा हो, तो घर पर चलें ॥१६॥

वाढमित्येव तं विप्रो हृष्टो वचनमब्रवीत् ।
अग्रतस्तु द्विजं कृत्वा स जगाम गृहं प्रति ॥१७॥

मार्कण्डेय बोले—हे राजन् ! ब्राह्मण ने प्रसन्न होकर कहा—हां ? ठीक है--चलो । यह धर्मव्याध, ब्राह्मण को आगे करके घर की ओर चल दिया ॥१७॥

प्रविश्य च गृहं रम्यमासनेनाभिपूजितः ।
पाद्यमाचमनीयञ्च प्रतिगृह्य द्विजोत्तमः ॥१८॥
ततः सुखोपविष्टस्तं व्याधं वचनमब्रवीत् ।

यह इस व्याध के सुन्दर घर में घुसा । वहां इसने आसन बिछाकर इसका आदर प्रकट किया । अब ब्राह्मण, व्याध से पाद्य और आचमन ग्रहण करके सुख से बैठ गया और इस व्याध से पूछने लगा ॥१८॥

कर्मैतद्वै न सदृशं भवतः प्रतिभाति मे ।
अनुतप्ये भृशं तात तव घोरेण कर्म्मणा ॥१९॥

हे तात ! मुझे यह कर्म तुम्हारे योग्य प्रतीत नहीं होता है । मैं तो तुम्हारे इस घोर कर्म से बड़ा ही चिन्तित हो रहा हूं॥१९॥

व्याध उवाच—

कुलोचितमिदं कर्म्म पितृपैतामहं पदम् ।
वर्त्तमानस्य मे धर्मे स्वे मन्युं मा कृथा द्विज ।
विधात्रा विहितं पूर्वं कर्म्म स्वमनुपालयन् ॥२०॥

प्रयत्नाच्च गुरू वृद्धौ शुश्रूषेऽहं द्विजोत्तम ।
सत्यं वदे नाभ्यसूये यथाशक्ति ददामि च ।।२१।।
देवतातिथिभृत्यानामवशिष्टेन वर्त्तये ।
न कुत्सयाम्यहं किञ्चिन्न गर्हे बलवत्तरम् ।।२२।।

व्याध ने उत्तर दिया—हे ब्रह्मन् ! यह मेरा पिता, पितामह से प्राप्त हुआ, कुल क्रमागत कर्म है। मैं तो मेरे कर्म को करता हुआ धर्म में स्थित हूं, तुम व्यर्थ क्यों चिन्ता कर रहे हो । हे द्विजोत्तम ! विधाता के नियमित किये हुए कर्म का पालन करता हुआ, मैं बड़े प्रयत्न से वृद्ध माता-पिता की सेवा करता हूं । मैं सत्य भाषण करता हूं और किसी की निन्दा नहीं करता तथा यथाशक्ति दान देता रहता हूं । देवता, अतिथि, सेवकों से जो बच रहता है, मैं उससे ही अपना निर्वाह करता हूं । मैं किसी वस्तु को बुरी नहीं कहता और न बलवानों को ही कोसता हूं ।।२०-२२।।

कृतमन्वेति कर्त्तारं पुरा कर्म्म द्विजोत्तम ।
कृषिगोरक्षवाणिज्यमिह लोकस्य जीवनम् ।।२३।।
दण्डनीतिस्त्रयी विद्या तेन लोको भवत्युत ।
कर्म्म शूद्रे कृषिर्वैश्ये संग्रामः क्षत्रिये स्मृतः ।।२४।।
ब्रह्मचर्य्यतपोमन्त्राः सत्यञ्च ब्राह्मणे सदा ।

हे द्विजोत्तम ! पूर्व जन्म में किये हुए कर्म ही कर्ता के पास आते हैं । कृषि (खेती) गोरक्षा, व्यापार ही लोक में जीविका के उपाय माने हैं । इनके सिवा प्रजा शासन और वेदाध्ययन से तो

परलोक बनता है। शूद्र का कर्म (शिल्प या सेवा कर्म) वैश्य का कृषि, क्षत्रिय का युद्ध है। वेदाध्ययन, ब्रह्मचर्य, तप और सत्य, ये ब्राह्मण के कर्म माने हैं ॥२३-२४॥

राजा प्रशास्ति धर्मेण स्वधर्म्मनिरताः प्रजाः॥२५॥
विकर्माणश्च ये केचित्तान् युनक्ति स्वकर्म्मसु।
भेतव्यं हि सदा राज्ञां प्रजानामधिपा हि ते ॥२६॥

राजा अपने २ धर्म में वर्तमान प्रजा का धर्म से शासन करता है और धर्म-विरुद्ध कर्म करने वालों को अपने २ कर्मों में लगाता है। राजा के नियम से सब को डरना चाहिये, क्योंकि वे प्रजा के अधीश्वर हैं ॥२५-२६॥

वारयन्ति विकर्म्मस्थं नृपा मृगमिवेषुभिः।
जनकस्येह विप्रर्षे विकर्म्मस्थो न विद्यते ॥२७॥

हे ब्रह्मर्षि, राजा धर्म-विरुद्ध कर्म करने वाले को बाण से हरिण की तरह वहीं रोक देता है। हे विप्रर्षे, इस जनक के राज्य में कोई भी अपने कर्म से भ्रष्ट नहीं है ॥२७॥

स्वकर्म्मनिरता वर्णाश्चत्वारोऽपि द्विजोत्तम।
स एष जनको राजा दुर्वृत्तमपि चेत्सुतम् ॥२८॥
दण्ड्यं दण्डे निक्षिपति तथा न ग्लाति धार्म्मिकम्
स युक्तचारो नृपतिः सर्वं धर्मेण पश्यति ॥२९॥

हे द्विजोत्तम, यहां चारों वर्ण, अपने २ कर्म में लगे हुए हैं। यह जनक राजा, दुराचारी, दण्ड के योग्य अपने पुत्र को

भी दण्ड देता है और धार्मिक पुरुष को कुछ भी पीड़ा नहीं होने देता । यह गुप्त दूतों वाला राजा, सब को धर्म की दृष्टि से ही देखता है ॥२८-२६॥

श्रीश्च राज्यञ्च दण्डश्च क्षत्रियाणां द्विजोत्तम ।
राजानो हि स्वधर्मेण श्रियमिच्छन्ति भूयसीम् ॥३०॥
सर्वेषामेव वर्णानां त्राता राजा भवत्युत ।

श्रीप्राप्ति, राज्य और शासन, ये क्षत्रियों के कर्म हैं। उत्तम राजा धर्मानुसार ही पर्याप्त श्री की इच्छा करते हैं और राजा ही सारे वर्णों का रक्षक होता है ॥३०॥

परेण हि हतान् ब्रह्मन् वराहमहिषानहम् ॥३१॥
न स्वयं हन्मि विप्रर्षे विक्रीणामि सदा न्वहम् ।
न भक्षमामि मांसानि ऋतुगामी तथा ह्यहम् ॥३२॥

हे ब्रह्मन्! मैं तो अन्यों के मारे हुए वराह, भैंसे आदि का मांस बेचता रहता हूं, स्वयं इन जीवों का वध नहीं करता। मैं खुद मांस नहीं खाता और केवल ऋतुकाल में ही स्त्री के पास गमन करता हूं ॥३१-३२॥

सदोपवासी च तथा नक्तभोजी सदा द्विज ।
अशीलश्चापि पुरुषो भूत्वा भवति शीलवान् ॥३३॥

हे द्विज ! मैं प्रायः उपवास करता हूं और रात में एक बार भोजन करता हूं। पुरुष-शील (धर्म) से हीन होकर भी फिर शीलवान् बन सकता है ॥३३॥

प्राणिहिंसारतिश्चापि भवते धार्म्मिकः पुमान् ।
अभिचारान्नरेन्द्राणां धर्म्मः संकीर्य्यते महान् ॥३४॥

प्राणियों की हिंसा में प्रीति रखने वाला पुरुष भी कभी धार्मिक हो सकता है। राजाओं के स्वेच्छाचारी हो जाने पर धर्म का महान् सङ्कट खड़ा हो जाता है ॥३४॥

अधर्मो वर्त्तते चापि संकीर्य्यन्ते ततः प्रजाः ।
भेरुण्डा वामनाः कुब्जाः स्थूलशीर्षास्तथैव च ॥३५॥
क्लीबाश्चान्धाश्च बधिरा जायन्ते स्तब्धलोचनाः ।
पार्थिवानामधर्म्मत्वात् प्रजानामभवः सदा ॥३६॥

जब अधर्म का प्रचार बढ़ जाता है, तो प्रजा में वर्णसंकर उत्पन्न होने लगते हैं। इस दशा में भयानक आकारधारी वामन, कुबड़े, मोटे शिर वाले, नपुंसक, अन्धे, बहरे, बांकी-तीखी आंखों वाले जन, उत्पन्न होने लगते हैं। राजाओं के अधर्मी हो जाने से प्रजा का बड़ा ही नाश होता है ॥३५-३६॥

स एष राजा जनकः प्रजा धर्मेण पश्यति ।
अनुगृह्णन् प्रजाः सर्वा स्वधर्मे निरता सदा ॥३७॥

यह राजा जनक, प्रजा को धर्म के साथ देखता हैं। यह स्वधर्म में लगी हुई प्रजा पर बड़ा ही अनुग्रह रखता है ॥३७॥

ये चैव मां प्रशंसन्ति ये च निन्दन्ति मानवाः ।
सर्वान् सुपरिणीतेन कर्म्मणा तोषयाम्यहम् ॥३८॥

जो मनुष्य, मेरी प्रशंसा या निन्दा करते हैं, मैं उन सब को अपने उत्तम २ कर्मों से प्रसन्न करता रहता हूं ॥३८॥

ये जीवन्ति स्वधर्मेण संयुञ्जन्ति च पार्थिवाः ।
न किञ्चिदुपजीवन्ति दान्ता उत्थानशीलिनः ॥३९॥

जो राजा, धर्मानुसार जीवन धारण करते हैं. और सेना को ठीक स्थान पर लगाये रहते हैं। जो किसी का कुछ अपहरण नहीं करते, वे ही उदार नृपति, उन्नति-शील होते है ॥३९॥

शक्त्यान्नदानं सततं तितिक्षा धर्म्मनित्यता ।
यथार्हं प्रतिपूजा च सर्वभूतेषु वै सदा ॥४०॥
त्यागान्नान्यत्र मर्त्यानां गुणास्तिष्ठन्ति पूरुषे ।
मृषावादं परिहरेत् कुर्य्यात् प्रियमयाचितः ॥४१॥

सदा शक्ति के अनुसार अन्नदान, सहन-शीलता, धर्माचार, सब प्राणियों में पूज्यों की पूजा, मनुष्यों के ये गुण, त्याग (दान) के विना पुरुष में नहीं रह सकते हैं। मनुष्य, मिथ्या-भाषण का त्याग कर दे और अन्य का उपकार विना उसके कहे करता रहे ।

न च कामान्न संरम्भान्न द्वेषाद्धर्म्ममुत्सृजेत् ।
प्रिये नातिभृशं हृष्येदप्रिये न च संज्वरेत् ॥४२॥
न मुह्येदर्थकृच्छ्रेषु न च धर्म्मं परित्यजेत् ।
कर्म्म चेत् किञ्चिदन्यत् स्यादितरन्न तदाचरेत्॥४३॥

किसी कामना, भय, आवेश, द्वेष से धर्म को न छोड़े। प्रिय वस्तु पाकर अत्यन्त प्रसन्न न हो और अप्रिय की प्राप्ति में रातदिन

सन्ताप न करे। कामों में कठिनाई उपस्थित हो जाने पर व्याकुल न हो जावे और इस समय भी अपना धर्म न छोड़े। यदि अपना कर्म कुछ अन्य है, तो फिर अन्य कर्तव्य का अवलम्बन न करे ॥४२-४३॥

यत्कल्याणमभिध्यायेत्तत्रात्मानं नियोजयेत् ।
न पापे प्रतिपापः स्यात् साधुरेव सदा भवेत् ॥४४॥
आत्मनैव हतः पापो यः पापं कर्त्तुमिच्छति ।
कर्म चैतदसाधूनां वृजिनानामसाधुवत् ॥४५॥

जो कल्याणकारी काम हैं, उनको सोचे और उनमें ही अपने आप को नियुक्त करे। पापी पुरुष के साथ पापी न बन जावे। आप तो सदा सज्जन ही बना रहे। जो पाप करना चाहता है, वह पापी तो अपने आप मरा पड़ा है। ये कर्म तो चोरों के तुल्य व्यसनी, दुष्ट पुरुषों के हैं ॥४४-४५॥

न धर्मोस्तीतिमन्वानाः शुचीनवहसन्ति ये।
अश्रद्दधाना धर्मस्य ते नश्यन्ति न संशयः ॥४६॥
महादृतिरिवाध्मातः पापो भवति नित्यदा ।

जो यह मानते हैं, कि धर्म कोई चीज ही नहीं है और ऐसे पुरुष, धर्मशील पुरुषों का उपहास (मखौल) उड़ाया करते हैं, वे धर्महीन अश्रद्धालु अवश्य नष्ट होते हैं--इसमें संशय नहीं है। यह पाप तो बड़ी भारी चमड़े की भस्त्रा (धोंकनी) के समान व्यर्थ फूला रहता है ॥४६॥

मूढानामवलिप्तानामसारं भावितं भवेत् ॥४७॥
दर्शयत्यन्तरात्मा त दिवारूपमिवांशुमान् ।
न लोके राजते मूर्खः केवलात्मप्रशंसया ॥४८॥

अभिमानी मूर्खों का विचार, सारहीन होता है। दिन के रूप को सूर्य के सदृश अन्तरात्मा ही इन मूर्खों को अपना स्वरूप दिखाता रहता हैं। मूर्ख अपनी प्रशंसा से संसार में प्रतिष्ठा नहीं पा सकता है ॥४७-४८॥

अपि चेह श्रिया हीनः कृतविद्यः प्रकाशते ।
अब्रुवन् कस्यचिन्निन्दामात्मपूजामवर्णयन् ॥४९॥
न कश्चिद्गुणसम्पन्नः प्रकाशो भुवि दृश्यते ।
विकर्मणा तप्यमानः पापाद्धि परिमुच्यते ॥५०॥

इस लोक में पुरुष, चाहे ऐश्वर्य हीन भी क्यों न हो, यदि विद्या-युक्त है, तो प्रकाशित हो सकता है। विद्वान् को उचित हैं, कि वह किसी की निंदा और अपनी प्रशंसा की डींग न मारे। इन दोनों बातों के छोड़े बिना किसी भी गुणवान् का पृथिवी पर प्रकाश नहीं देखा गया है। जो मनुष्य, बुरे कर्मों का पश्चाताप. करता है, वह पाप से मुक्त हो जाता है ॥४९-५०॥

न तत् कुर्य्यां पुनरिति द्वितीयात् परिमुच्यते ।
कर्मणा येन तेनेह पापाद्द्विजवरोत्तम ।
एवं श्रुतिरियं ब्रह्मन् धर्मेषु परिदृश्यते ॥५१॥

हे द्विजोत्तम! जब मनुष्य, एक बार पाप करके उसको दुबारा नहीं करेगा--तो उसका फिर उससे छुटकारा हो ही जावेगा। जिन जप-दान आदि उत्तम कर्मों के आश्रय से यह पाप का परित्याग करेगा---उसी से यह पाप से भी मुक्त होगा। हे ब्रह्मन्! धर्म के विषय में यही वेद की मर्यादा हैं ॥५१॥

पापान्यबुद्ध्वेह पुराकृतानि प्राग्धर्मशीलोऽपि विहन्तिपश्चात्
धर्मो राजन्नुदते पूरुषाणां यत् कुर्वते पापमिह प्रमादात्५२

हे राजन्! पूर्व में किये हुए पापों पर दृष्टि न रख कर धर्मशील पुरुष भी अपने धर्म का नाश कर बैठता हैं। जो प्रमाद में होकर पाप कर्म करेंगे, उन पुरुषों के धर्म का ह्रास अवश्य होगा ॥५२॥

पापं कृत्वा हि मन्येत नाहमस्मीति पूरुषः।
तन्तु देवाः प्रपश्यन्ति स्वस्यैवान्तरपूरुषः ॥५३॥

मनुष्य, पाप करके समझता है, कि मुझे किसी ने देखा नहीं है। परन्तु इसको देवता और अन्तर्गत परमात्मा ही देखता रहता है ॥५३॥

चिकीर्षेदेव कल्याणं श्रद्दधानोऽनसूयकः।
वसनस्येव छिद्राणि साधूनां विवृणोति यः ॥५४॥
पापश्चेत् पुरुषः कृत्वा कल्याणमभिपद्यते।
मुच्यते सर्वपापेभ्यो महाभ्रेणेव चन्द्रमाः ॥५५॥

CC0. In Public Domain, Digitizaqtion by eGangotri

वही श्रद्धालु और अनिन्दक, कल्याण प्राप्ति की आशा करे, जो वस्त्रों के छिद्रों की भांति श्रेष्ठ--पुरुषों के छिद्रों को ढ़कता है। ऐसा पुरुष, पूर्व में पाप करके भी कल्याण पा जाता है। यह अन्त में मेघों के समूह से चन्द्रमा की भाँति पाप समूह से मुक्त होकर निकल आता है ॥५४--५५॥

यथादित्यः समुद्यन् वै तमः पूर्वं व्यपोहति ।
एवं कल्याणमातिष्ठन् सर्वपापैः प्रमुच्यते ॥५६॥

जब सूर्य का उदय होता है, तो यह प्रथम अन्धकार का नाश करता है। इसी प्रकार कल्याण (मोक्ष) प्राप्ति का उद्योग करने वाला पुरुष, सब पापों से छुट जाता है ॥५६॥

पापानां विद्ध्यधिष्ठानं लोभमेव द्विजोत्तम।
लुब्धाः पापं व्यवस्यन्ति नरा नातिबहुश्रुताः ॥५७॥

हे द्विजोत्तम ! सारे पापों का केन्द्र लोभ है , यह तुम समझ लो। शास्त्र-ज्ञान से हीन, लोभी पुरुष ही पाप किया करते हैं ॥

अधर्मा धर्मरूपेण तृणैः कूपा इवावृताः ।

तेषां दमः पवित्राणि प्रलापा धर्मसंश्रिताः ।

सर्वं हि विद्यते तेषु शिष्टाचारः सुदुर्लभः॥५८॥

ये अधर्मी, धर्मके रूप का ढ़ोंग रचते हैं। ये तृण से आच्छादित कूप की भाँति है। इनमें दम (जितेन्द्रियता) शौच, धर्म की बातचीत का सब ढ़ोंग होता है, परन्तु वास्तविक सदाचार का अभाव ही होता है ॥५८॥

मार्कण्डेय उवाच—

स तु विप्रो महाप्राज्ञो धर्मव्याधमपृच्छत ।
शिष्टाचारं कथमहं विद्यामिति नरोत्तम ॥५९॥
एतदिच्छामि भद्रन्ते श्रोतुं धर्मभृताम्वर ।
त्वत्तो महामते व्याध तद्ब्रवीहि यथातथम् ॥६०॥

मार्कण्डेय बोले--हे युधिष्ठिर! अब वह महाबुद्धिमान्, ब्राह्मण, पूछने लगा--हे नरोत्तम! मैं शिष्टाचार (सदाचार) को कैसे जान सकता हूं, यह भी बताइये। हे धर्मात्माओं में श्रेष्ठ! मैं यह सब कुछ तुमसे सुनना चाहता हूं। हे महामते! व्याध! आप ही ठीक २ कहिए॥५९--६०॥

व्याध उवाच—

यज्ञो दानं तपो वेदाः सत्यञ्च द्विजसत्तम ।
पञ्चैतानि पवित्राणि शिष्टाचारेषु नित्यदा ॥६१॥

व्याध कहने लगा-- हे द्विजोत्तम! यज्ञ, दान, तप, वेद और सत्य ये पांच पवित्र बातें शिष्टाचार युक्त पुरुष में नित्य विद्यमान होती हैं॥६१॥

कामक्रोधौ वशे कृत्वा दम्भं लोभमनार्जवम् ।
धर्ममित्येव सन्तुष्टास्ते शिष्टाः शिष्टसम्मताः ॥६२॥

जो काम, क्रोध, दम्भ, लोभ और अभिमान को वश में करके अपने कर्तव्य को धर्म समझ कर करता रहता है, वही शिष्ट (उत्तम पुरुष) और शिष्टों में मान्य है॥६२॥

न तेषां विद्यते वृत्तं यज्ञस्वाध्यायशीलिनाम् ।
आचारपालनञ्चैव द्वितीयं शिष्टलक्षणम् ॥६३॥

इन यज्ञ और स्वाध्याय-शील पुरुषों में स्वेच्छाचार नहीं होता है । सदाचार का पालन करना ही शिष्टों का द्वितीय लक्षण है ।

गुरुशुश्रूषणं सत्यमक्रोधो दानमेव च ।
एतच्चतुष्टयं ब्रह्मन् शिष्टाचारेषु नित्यदा ॥६४॥

हे ब्रह्मन्! शिष्टाचार वाले पुरुष में गुरु की सेवा, सत्य, क्रोधाभाव और दान ये चार बातें अवश्य होंगी ॥६४॥

शिष्टाचारे मनः कृत्वा प्रतिष्ठाप्य च सर्वशः ।
यामयं लभते वृत्तिं सा न शक्या ह्यतोऽन्यथा ॥६५॥

शिष्टाचार की प्राप्ति में मन को प्रवृत्त करके और सब ओर से खैंचकर उस ओर ही लगाकर यह पुरुष, जो वृत्ति (आचरण) स्वीकार करता है, वह गुरु सेवा आदि से भिन्न नहीं है ॥६५॥

वेदस्योपनिषत् सत्यः सत्यस्योपनिषद्दमः ।
दमस्योपनिषत्त्यागः शिष्टाचारेषु नित्यदा ॥६६

वेद का रहस्य सत्य, सत्य का रहस्य दम, दम का त्याग, (दान) है और यह त्याग शिष्टाचार वाले पुरुष में होता है ॥६६॥

ये तु धर्मानसूयन्ते बुद्धिमोहान्विता नराः ।
अपथा गच्छतां तेषामनुयाता च पीड्यते ॥६७॥

बुद्धि के मोह, अज्ञान के कारण जो मनुष्य, धर्मकी निन्दा करते हैं, वे स्वयं कुमार्ग से जाते हैं और उनके अनुयायी भी टक्कर मारते हुए पीड़ा भोगते हैं ॥६७॥

ये तु शिष्टाः सुनियताः श्रुतित्यागपरायणाः ।
धर्मपन्थानमारूढाः सत्यधर्मपरायणाः ॥६८॥

जो शिष्ट पुरुष हैं, वे सदा नियम शील, वेद और दान से युक्त, धर्म मार्ग के पथिक, सत्य धर्मानुगामी होते हैं ॥६८॥

नियच्छन्ति परां बुद्धिं शिष्टाचारान्विता जनाः ।
उपाध्यायमते युक्ताः स्थित्या धर्मार्थदर्शिनः ॥६९॥

जो शिष्टाचार से समन्वित पुरुष हैं, वे अपनी उत्कृष्ट (श्रेष्ठ) बुद्धि को रोककर वैराग्य धारण करते हैं, ये अपने गुरुकी आज्ञा में रहने वाले और धर्म की मर्यादाके मानने वाले होते हैं ॥६९॥

नास्तिकान् भिन्नमर्य्यादान् क्रूरान पापमतौ स्थितान्
त्यज तात ज्ञानमाश्रित्य धार्मिकानुपसेव्य च ॥७०॥

तुम मर्यादा हीन, क्रूर, पापी, नास्तिकों का साथ छोड़ दो और ज्ञान का अवलम्ब लेकर धार्मिक जनों की सेवा करो ॥७०॥

कामलोभग्रहाकीर्णां पञ्चेन्द्रियजलां नदीम् ।
नावं धृतिमयीं कृत्वा जन्मदुर्गाणि सन्तर ॥७१॥

काम, लोभ आदि ग्रहों से व्याप्त, पांच इन्द्रियों के जल से भरी हुई, इस देह रूपी नदी में धैर्य्य की नौका बना कर, जन्म मरण रूप दुर्गम स्थानों को पार कर जाओ ॥७१॥

क्रमेण सञ्चितो धर्मो बुद्धियोगमयो महान् ।
शिष्टाचारे भवेत् साधू रागः शुक्लेव वाससि ॥७२॥

क्रम पूर्वक सञ्चित किया हुआ धर्म, महान् ज्ञान-योग का साधन बन जाता है। शिष्टाचार में प्रवृत्त होते ही पुरुष, साधु बनता है, जैसे शुक्ल पट में रंगत असर कर जाती है ॥७२॥

अहिंसा सत्यवचनं सर्वभूतहितं परम् ।
अहिंसा परमो धर्मः स च सत्ये प्रतिष्ठितः ॥७३॥

अहिंसा, सत्य वचन, सब प्राणियों का हित, ये सर्वश्रेष्ठ हैं। अहिंसा ही परम धर्म हैं, जो सत्य में प्रतिष्ठित है ॥७३॥

सत्ये कृत्वा प्रतिष्ठान्तु प्रवर्त्तन्ते प्रवृत्तयः ।
सत्यमेव गरीयस्तु शिष्टाचारनिषेवितम् ॥७४॥

सत्य में स्थिति करके ही महात्माओं की प्रवृत्ति होती हैं। शिष्टाचार से युक्त सत्य ही सबसे गौरव-शाली वस्तु है ॥७४॥

आचारश्च सतां धर्मः सन्तश्चाचारलक्षणाः ।
यो यथाप्रकृतिर्जन्तुः स स्वां प्रकृतिमश्नुते ॥७५॥

सज्जनों का लक्षण ही आचार है या जिनमें आचार होता है, वे ही सज्जन होते हैं। जिस प्राणी का जैसा स्वभाव होता है, वह अपनी प्रकृत्ति के अनुसार अवश्य ही चलता है ॥७५॥

पापात्मा क्रोधकामादीन् दोषानाप्नोत्यनात्मवान् ।
आरम्भो न्याययुक्तो यः स हि धर्म इति स्मृतः ॥७६॥

जिसका चित्त वश में नहीं है, वह पापात्मा, काम, क्रोध आदि दोषों को ग्रहण कर लेता है और न्याय-युक्त कार्यों का आरम्भ करना ही धर्म कहाता है ॥७६॥

अनाचारस्त्वधर्मेति एतत् शिष्टानुशासनम् ।
अक्रुध्यन्तोऽनसूयन्तो निरहङ्कारमत्सराः ॥७७॥
ऋजवः शमसम्पन्नाः शिष्टाचारा भवन्ति ते ।

महात्माओं की तो यही शिक्षा है, कि अनाचार ही अधर्म है। जो क्रोध नहीं करने वाले, अनिन्दक, निरभिमानी, डाह और ईर्ष्या से रहित, सरल, शक्ति सम्पन्न मनुष्य हैं, वे ही शिष्टाचारी कहाते हैं ॥७७॥

त्रैविद्यवृद्धाः शुचयो वृत्तवन्तो मनस्विनः ॥७८॥
गुरुशुश्रूषवो दान्ता शिष्टाचारा भवन्त्युत ।
तेषामहीनसत्त्वानां दुष्कराचारकर्मणाम् ॥७९॥
स्वैः कर्मभिः सत्कृतानां घोरत्वं सम्प्रणश्यति ।

वेदत्रयी के अध्ययन करने वाले, शुचि, सदाचारी, मनस्वी, गुरु-भक्त, उदार पुरुष ही शिष्टाचारी होते हैं। इन महात्मा, दुष्कर आचार और कर्म वाले तथा अपने ही कर्मों से प्रतिष्ठा पाये हुए, पुरुषों के हिंसादि सारे दोष नष्ट हो जाते हैं ॥७८-७९॥

तं सदाचारमाश्चर्य्यं पुराणं शाश्वतं ध्रुवम् ॥८०॥
धर्मं धर्मेण पश्यन्तः स्वर्गं यान्ति मनीषिणः ।

जो मनीषी, आश्चर्य-जनक, सनातन, नित्य, निश्चल, सदाचार को धर्मानुसार धर्म का स्वरूप समझते हैं, वे ही स्वर्ग को प्राप्त करते हैं ॥८०॥

आस्तिका मानहीनाश्च द्विजातिजनपूजकाः ॥८१॥
श्रुतवृत्तोपसम्पन्नाः सन्तः स्वर्गनिवासिनः ।

जो आस्तिक निरभिमानी, ब्राह्मणों के पूजक, शास्त्रानुसार कर्मों के करने वाले हैं, वे महात्मा ही स्वर्ग में निवास कर पाते हैं ॥८१॥

वेदोक्तः परमो धर्मो धर्मशास्त्रेषु चापरः ॥८२॥
शिष्टाचारश्च शिष्टानां त्रिविधं धर्मलक्षणम् ।

प्रथम वेदोक्त, दूसरे धर्मशास्त्र प्रोक्त और तीसरा श्रेष्ठ पुरुषों का सदाचार धर्म माना गया है । इस प्रकार धर्म के तीन लक्षण कहे गए हैं ॥८२॥

पारणश्चापि विद्यानां तीर्थानामवगाहनम् ॥८३॥
क्षमासत्यार्जवं शौचं सतामाचारदर्शनम् ।

विद्या को पढ़कर समाप्त करना, तीर्थों का स्नान, क्षमा, सत्य, शौच, ये सज्जनों के आचार कहे हैं ॥८३॥

सर्वभूतदयावन्तो अहिंसानिरताः सदा ॥८४॥
परुषञ्च न भाषन्ते सदा सन्तो द्विजप्रियाः ।

जो सब प्राणियों पर दया करते हैं और किसी का चित्त तक क्लेशित नहीं करते एवं कभी कठोर नहीं बोलते, वे ही सज्जन ब्राह्मणों के प्रिय माने गए हैं ॥८४॥

शुभानामशुभानाञ्च कर्मणां फलसञ्चये ॥७५॥
विपाकमभिजानन्तस्ते शिष्टाः शिष्टसम्मताः ।

शुभ और अशुभ कर्मों के फल समूह और उनके विपाक में जो विश्वास रखते हैं, वे ही शिष्ट जनों में मान्य शिष्ट पुरुष कहे जाते हैं ॥८५॥

न्यायोपेता गुणोपेताः सर्वलोकहितैषिणः ॥८६॥
सन्तः स्वर्गजिताः शुक्लाः सन्निविष्टाश्च सत्पथे।

जो न्याय और गुणों से समन्वित, सब लोक का हित करने वाले, सन्मार्ग में लगे हुए हैं, वे ही शुद्ध हृदय, सज्जन, स्वर्ग के अधिकारी होते हैं ॥८६॥

दातारः संविभक्तारो दीनानुग्रहकारिणः ॥८७॥
सर्वपूज्याः श्रुतधनास्तथैव च तपस्विनः।
सर्वभूतदयावन्तस्ते शिष्टाः शिष्टसम्मताः ॥८८॥

जो दानी, अन्य कुटुम्बी के भाग को अर्पण कर देने वाले, दीनों पर अनुग्रह कर्ता, सब में मान्य, वेद को धन समझने वाले, तपस्वी और सब प्राणियों पर दया दिखाते हैं, वे ही शिष्ट, जनानुमोदित सभ्य पुरुष हैं ॥८७-८८॥

दाननिष्ठाः सुखांल्लोकानाप्नुवन्तीह च श्रियम्।
पीड़या च कलत्रस्य भृत्यानाञ्च समाहिताः ॥८९॥
अतिशक्त्या प्रयच्छन्ति सन्तः सद्भिः समागताः।

जो दानी हैं, वे सुखकारी लोकों को प्राप्त करते हैं और इस लोक में ऐश्वर्य पा लेते हैं। जो अपने घर की स्त्रियां और सेवकों की पीड़ा में सावधान है तथा उनको शक्ति से अधिक धन देते रहते हैं, वे ही सज्जन, भद्रपुरुषों में प्रतिष्ठित होते हैं ॥८९॥

लोकयात्राञ्च पश्यन्तो धर्ममात्महितानि च ॥९०॥
एवं सन्तो वर्त्तमानास्त्वेधन्ते शाश्वतीः समाः।

जो अपनी लोक यात्रा (जीविका) तथा अपने आत्मा के हित को देखते हैं, वे सज्जन, इस भांति के व्यवहार में वर्तमान होकर अनेक वर्ष तक वृद्धि प्राप्त करते रहते हैं ॥६०॥

अहिंसा सत्यवचनमानृशंस्यमथार्ज्जवम् ॥६१॥
अद्रोहो नाभिमानश्च ह्रीस्तितिक्षा दमः शमः ।

अहिंसा, सत्य वचन, उदारता, सरलता, सब प्राणियों से अद्रोह, अभिमानाभाव, लज्जा, सहन-शीलता, इन्द्रिय और मन का विजय आदि गुण, इन महात्माओं में ही रहते हैं ॥६१॥

धीमन्तो धृतिमन्तश्च भूतानामनुकम्पकाः ॥६२॥
अकामद्वेषसंयुक्तास्ते सन्तो लोकसाक्षिणः ।

जो बुद्धिमान् धैर्य शील रहकर प्राणियों पर दया करते और काम, द्वेष आदि से हीन रहते हैं, वे सज्जन ही लोक के उपकारक हो सकते हैं या लोक उनकी प्रतिष्ठा करता है ॥६२॥

त्रीण्येव तु सतामाहुः सन्तः पदमनुत्तमम् ॥६३॥
न चैव द्रुह्येद्दद्याच्च सत्यञ्चैव सदा वदेत् ।

सज्जन मनुष्य सज्जनों के तीन सर्वोत्तम पद (कार्य) मानते हैं, (१) किसी से द्रोह न करे, (२) दान देता रहे (३) और सदा सत्य भाषण करे ॥६३॥

सर्वत्र च दयावन्तः सन्तः करुणवेदिनः ॥६४॥
गच्छन्तीह सन्तुष्टा धर्मपन्थानमुत्तमम् ।
शिष्टाचारा महात्मनो येषां धर्मः सुनिश्चितः ॥६५॥

जो सज्जन होते हैं, वे सदा दया वाले और दूसरे के दर्द के अनुभव करने वाले होते हैं। ये प्रसन्न चित्त होकर उत्तम धर्म-मार्ग में सदा चलते रहते हैं। जिन मनुष्यों का धर्म निश्चित है, वे महात्मा शिष्टाचारी होते हैं ॥६४-६५॥

अनसूया क्षमा शान्तिः सन्तोषः प्रियवादिता ।
कामक्रोधपरित्यागः शिष्टाचारनिषेवणम् ॥६६॥
कर्म च श्रुतसम्पन्नं सतां मार्गमनुत्तमम् ।
शिष्टाचारं निषेवन्ते नित्यं धर्ममनुव्रताः ॥६७॥

अनसूया (किसी की निन्दा न करना) क्षमा, शान्ति, सन्तोष प्रियवादिता, काम और क्रोध का परित्याग, शिष्टाचार का सेवन और वेदोक्त कर्म ही सज्जनों का सर्वोत्तम मार्ग माना गया है। जो धर्म के अनुसार चलते हैं, वे नित्य शिष्टाचार का व्यवहार करते हैं ॥६६-६७॥

प्रज्ञाप्रासादमारुह्य मुच्यन्ते महतो भयात् ।
प्रेक्षन्ते लोकवृत्तानि विविधानि द्विजोत्तम ॥६८॥

हे द्विजोत्तम ! जो महानुभाव बुद्धि के महल में चढ़ जाते हैं, वे बड़े भारी भय से मुक्त हो जाते हैं और लोक के नाना प्रकार के भूत-भविष्यत् वृत्तान्तों का निरीक्षण करते हैं, ये पुण्यों को नष्ट कर देने वाले पापों से भी पार हो जाते हैं ॥६८॥

अतिपुण्यानि पापानि तानि द्विजवरोत्तम ।
एतत्ते सर्वमाख्यातं यथाप्रज्ञं यथाश्रुतम् ।
शिष्टाचारगुणं ब्रह्मन् पुरस्कृत्य द्विजर्षभ ॥६९॥

इति श्रीमहाभारत आरण्यपर्वणि मार्कण्डेयसमास्यापर्वणि ब्राह्मणव्याधसंवादे षडधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥२०६॥

हे द्विज-श्रेष्ठ ! मैंने शास्त्र और अपनी बुद्धि के अनुसार शिष्टाचार को लक्ष्य करके उसके गुणों का वर्णन कर दिया है ॥६६॥

इति श्रीमहाभारत वनपर्वान्तर्गत मार्कण्डेयसमास्यापर्व में ब्राह्मण-व्याध सम्वादका दोसौ छःवां अध्याय समाप्त हो गया ।

दोसौ सातवां अध्याय

मार्कण्डेय उवाच—

स तु विप्रमथोवाच धर्म्मव्याधो युधिष्ठिर ।
यदहमाचरे कर्म्म घोरमेतदसंशयम् ॥१॥

मार्कण्डेय बोले—हे युधिष्ठिर ! अब फिर धर्मव्याध, उस ब्राह्मण से कहने लगा---हे द्विज ! मैं जिस मांस विक्रय कर्म को कर रहा हूं, यह बड़ा ही घोर, नीच--कर्म है--इसमें संशय नहीं है ॥१॥

विधिस्तु बलवान् ब्रह्मन् दुस्तरं हि पुराकृतम् ।
पुराकृतस्य पापस्य कर्म्मदोषो भवत्ययम् ॥२॥

हे ब्रह्मन् ! विधाता बड़ा बलवान है और पूर्वजन्म का किया हुआ कर्म विना भोगे नहीं टलता है । यह तो पूर्वजन्म में किये हुए पापों का दोष है ॥२॥

दोषस्यैतस्य वै ब्रह्मन् विघाते यत्नवानहम् ।
विधिना हि हते पूर्वं निमित्तं घातको भवेत् ।।३।।

हे ब्रह्मन् ! मैं कर्मों के इसी दोष के नाश करने का यत्न कर रहा हूं । ये प्राणी तो पूर्व में विधाता से ही हत होते हैं, परन्तु घातक तो केवल निमित्त हो जाता है ।।३।।

निमित्तभूता हि वयं कर्म्मणोऽस्य द्विजोत्तम ।
येषां हतानां मांसानि विक्रीणामीह वै द्विज ।।४।।

हे द्विजोत्तम , मैं भी इस मांस-विक्रय रूप कर्म का निमित्त बना हुआ हूं, जो इन मारे हुए जन्तुओं का मुझे मांस वेचना पड़ता है ।।४।।

तेषामपि भवेद्धर्म्म उपयोगेन भक्षणे ।
देवतातिथिभृत्यानां पितॄणाञ्चापि पूजनम् ।।५।।

इन प्राणियों का भक्षण में उपयोग होता है तथा देवता, अतिथि, सेवक और पितरों का इनके मांस से पूजन होता है, इससे उनको भी पुण्य ही लगता है ।।५।।

ओषध्यो वीरुधश्चैव पशवो मृगपक्षिणः ।
अन्नाद्यभूता लोकस्य इत्यपि श्रूयते श्रुतिः।।६।।

औषधि, लता, पशु, मृग और पक्षी, ये जगत् के भोज्य तथा भक्ष्य माने हैं, ऐसा श्रुति में लिखा वताते हैं ।।६।।

आत्ममांसप्रदानेन शिबिरौशीनरो नृपः ।
स्वर्गश्च दुष्करं प्राप्तः क्षमावान् द्विजसत्तम ।।७।।

हे द्विजसत्तम ! उशीनर का पुत्र, क्षमाशील राजा शिवि, अपने शरीर का मांस प्रदान करके दुर्लभ स्वर्ग में पहुंच गया।

राज्ञो महानसे पूर्वं रन्तिदेवस्य वै द्विज ।
द्वे सहस्रे तु वध्येते पशूनामन्वहं तदा ॥८॥

हे द्विज ! राजा रन्तिदेव की रसोई में प्रतिदिन दो सहस्र पशुओं का मांस पकाया जाता था ॥८॥

अहन्यहनि वध्येते द्वे सहस्रे गवां तथा ।
स मांसं ददतो ह्यन्नं रन्तिदेवस्य नित्यशः ॥९॥
अतुला कीर्त्तिरभवन्नृपस्य द्विजसत्तम ।
चातुर्मास्ये च पशवो वध्यन्त इति नित्यशः ॥१०॥

हे द्विजसत्तम ! इस राजा के रसोई घर में प्रतिदिन दो हजार गौ मारी जाती थीं। यह रन्तिदेव, इस मांस को नित्य बांट दिया करता था। इस राजा की इस माँस दान से बहुत ही अधिक कीर्ति फैल गई। चातुर्मास्येष्टि में इसके नित्य पशु मारे जाते थे ॥९--१०॥

अग्नयो मांसकामाश्च इत्यपि श्रूयते श्रुतिः ।
यज्ञेषु पशवो ब्रह्मन् वध्यन्ते सततं द्विजैः ॥११॥

वेद में श्रुति बताई जाती है, कि अग्नि मांस से ही तृप्त होता है। हे ब्रह्मन् ! यज्ञ में पशुओं को सदा ब्राह्मण ही मारा करते हैं ॥११॥

संस्कृताः किल मन्त्रैश्च तेऽपि स्वर्गमवाप्नुवन् ।
यदि नैवाग्नयो ब्रह्मन् मांसकामा भवन् पुरा ॥१२॥

भक्ष्यं नैवाभवन्मांसं कस्यचिद्द्विजसत्तम ।
अत्रापि विधिरुक्तश्च मुनिभिर्मांसभक्षणे ।।१३।।
देवतानां पितृणाञ्च भुङ्क्ते दत्वापि यः सदा ।
यथाविधि यथाश्राद्धं न प्रदुष्यति भक्षणात् ।।१४।।

हे द्विजसत्तम ! ये पशु भी मन्त्रोंसे संस्कृत होकर स्वर्गमें पहुँच जाते हैं । हे ब्रह्मन्, यदि पूर्वकाल में अग्नि मांस की कामना नहीं रखता, तो मांस किसी को भी भक्ष्य नहीं कहा जाता । यहां भी मुनियों ने मांस भक्षण की व्यवस्था दे रखी है, कि देवता और पितरों के अर्पण करके श्राद्ध में जो विधि--पूर्वक मांस खा लेता है, वह दूषित नहीं होता है ।।१२-१४।।

अमांसाशी भवत्येवमित्यपि श्रूयते श्रुतिः ।
भार्यां गच्छन् ब्रह्मचारी ऋतौ भवति ब्राह्मणः १५

वेद का तो यह सिद्धान्त है, कि इस विधि से मांस खाने वाला निरामिष भोजी ही है, जैसे ऋतुकाल में अपनी भार्या के पास जाने वाला ब्राह्मण, ब्रह्मचारी ही माना गया है ।।१५।।

सत्यानृते विनिश्चित्य अत्रापि विधिरुच्यते ।
सौदासेन तदा राज्ञा मानुषा भक्षिता द्विज ।।१६।।
शापाभिभूतेन भृशमत्र किं प्रतिभाति ते ।
स्वधर्म इति कृत्वा तु न त्यजामि द्विजोत्तम ।।१७।।

सत्य और मिथ्या या ज्ञान ओर कर्म मार्ग का निश्चय करके यज्ञ में पशु वध की विधि ही मानी गई है । हे द्विज ! महाशापाक्रान्त राजा सौदास ने तो मनुष्यों तक का भक्षण किया है ।

अब बताओ, तुम्हें क्या जचती है। हे द्विजोत्तम! मैं स्वधर्म समझ कर ही इस कर्म को नहीं छोड़ता हूं ।।१६-१७।।

पुराकृतमिति ज्ञात्वा जीवाम्येतेन कर्मणा ।
स्वकर्म त्यजतो ब्रह्मन्नधर्म इति दृश्यते ।।१८।।

हे ब्रह्मन्! यह मेरे पूर्व कर्मों का फल है, इसी कारण से मैं मांस विक्रय-कर्म-द्वारा अपनी जीविका चलाता हूं। अपने प्राप्त हुए कर्म के छोड़ने में मुझे अधर्म ही जचता है ।।१८।।

स्वकर्मनिरतो यस्तु धर्मः स इति निश्चयः ।
पूर्वं हि विहितं कर्म्म देहिनं न विमुञ्चति ।।१९।।

जो अपने कर्तव्य कर्म में संलग्न है, वही धर्मात्मा है-यह निश्चय है। विधाता द्वारा पूर्व में ही निश्चित किया हुआ कर्म फिर प्राणी को नहीं छोड़ता है ।।१९।।

धात्रा विधिरयं दृष्टो बहुधा कर्म्मनिर्णये ।
द्रष्टव्या तु भवेत् प्रज्ञा क्रूरे कर्मणि वर्त्तता ।।२०।।
शुभं कर्म्म कथं कुर्य्यां कथं मुच्य पराभवात् ।
कर्म्मणस्तस्य घोरस्य बहुधा निर्णयो भवेत् ।।२१।।

प्रायः विधाता ने कर्म के निर्णय करने का ढंग रखा है। निषिद्ध कर्म में लगे हुए मनुष्य को अपनी बुद्धि की ओर देखना चाहिए। वह यही सोचे, कि मैं शुभ कर्म का आचरण कैसे कर सकता हूं और इस घोर पराभव (निन्दा) से कैसे बच सकता हूं। इस प्रकार इस घोर कर्म का प्रायः निर्णय हो जाता है ।।२०-२१।।

दाने सत्यवाक्ये च गुरुशुश्रूषणे तथा ।
द्विजातिपूजने चाहंधर्मे च निरतः सदा ॥२२॥
अभिमानातिवादाभ्यां निवृत्तोऽस्मि द्विजोत्तम ।
कृषिं साध्विति मन्यन्ते तत्र हिंसा परा स्मृता ॥२३॥

मैं दान, सत्य वाक्य, गुरु की सेवा, ब्राह्मणों के पूजन और धर्म में लगा रहता हूं । हे द्विज-श्रेष्ठ ! मैं अभिमान और अपनी प्रशंसा करने से निवृत्त हो चुका हूं । लोग, कृषि को उत्तम समझते हैं, परन्तु इसमें भी बड़ी भारी हिंसा मानी गई है ।

कर्षन्तो लाङ्गलैः पुंसो घ्नन्ति भूमिशयान् वहून् ।
जीवानन्यांश्च वहुशस्तत्र किं प्रतिभाति ते ॥२४॥

मनुष्य, हल से भूमि को जोतते हुए अनेक भूमिचारी तथा अन्य जीवों को मार डालते हैं, कहो-तुम्हारे क्या जचती है ॥२४॥

धान्यबीजानि यान्याहुर्व्रीह्यादीनि द्विजोत्तम ।
सर्वाण्येतानि जीवानि तत्र किं प्रतिभाति ते ॥२५॥

हे द्विजोत्तम ! धान्य के वीज, व्रीहि (चांवल) कहाते हैं । ये भी सारे जीव ही हैं, कहो- तुम्हारी क्या सम्मति है ॥२५॥

अध्याक्रम्य पशूंश्चापि घ्नन्ति वै भक्षयन्ति च ।
वृक्षांस्तथौषधींश्चापि छिन्दन्ति पुरुषा द्विज ॥२६॥
जीवा हि बहवो ब्रह्मन् वृक्षेषु च फलेषु च ।
उदके बहवश्चापि तत्र किं प्रतिभाति ते ॥२७॥

हे ब्रह्मन् ! जो पुरुष, पशुओं पर आक्रमण करके उनको मारते या खा जाते हैं, तथा वृक्ष और ओषधियों को काटते हैं। हे ब्रह्मन् ! इन वृक्ष और फलों में अनेक भांति के जीव रहते हैं तथा जल में भी जीव हैं, इस विषय में तुम्हारा क्या मत है२६-२७

सर्वं व्याप्तमिदं ब्रह्मन् प्राणिभिः प्राणिजीवनैः।
मत्स्यान् ग्रसन्ते मत्स्याश्च तत्र किं प्रतिभाति ते॥२८

हे द्विज ! यह सारा जगत्, प्राणियों के खाने वाले जीव-जन्तुओं से ही भरा है। बड़ी मछली, छोटी को खा जाती है, इसमें तुम्हारी क्या सम्मति है ॥२८॥

सत्त्वैः सत्त्वानि जीवन्ति बहुधा द्विजसत्तम।
प्राणिऽनोन्योन्यभक्षाश्च तत्र किं प्रतिभाति ते ॥२९॥

हे द्विज-सत्तम ! इस संसार में एक जीव के भक्षण से दूसरे जीव का प्राण धारण होता है। ये प्राणी तो परस्पर एक-दूसरे का भक्ष्य है, कहो—इसमें तुम्हें क्या सूझता है ॥२९॥

चंक्रम्यमानान् जीवांश्च धरणीसंश्रितान् बहून्।
पद्भ्या घ्नन्ति नरा विप्र तत्र किं प्रतिभाति ते॥३०॥

हे विप्र ! पृथिवी पर रहने वाले अनेक जीव घूमते हैं। इन जीवों को मनुष्य अपने चरणों से खूंद डालते हैं, इसमें तुम क्या कह सकते हो ॥३०॥

उपविष्टाः शयानाश्च घ्नन्ति जीवाननेकशः।
ज्ञानविज्ञानवन्तश्च तत्र किं प्रतिभाति ते ॥३१॥

ज्ञानी या विज्ञानी, कोई भी मनुष्य हो, बैठते और सोते हुए समय में भी अनेक भांति के जीवों को नष्ट कर देता है ॥३१॥

जीवैर्ग्रस्तमिदं सर्वमाकाशं पृथिवी तथा ।
अविज्ञानाच्च हिंसन्ति तत्र किं प्रतिभाति ते॥३२॥

यह आकाश और पृथिवी, जीवों से भरे पड़े हैं। लोग अज्ञान से भी अनेक जीवों को मार देते हैं—तुम इस विषय में क्या कहते हो ॥३२॥

अहिंसेति यदुक्तं हि पुरुषैर्विस्मितैः पुरा ।
के न हिंसन्ति जीवान् वै लोकेऽस्मिन् द्विजसत्तम॥३३॥

हे द्विज-सत्तम ! पूर्वकाल में चकित हुए पुरुषों ने अहिंसा का उपदेश किया है, परन्तु तुम यह तो बताओ कि इसलोक में हिंसा कौन नहीं करता है ॥३३॥

बहु सञ्चिन्त्य इति वै नास्ति कश्चिदहिंसकः ।
अहिंसायान्तु निरता यतयो द्विजसत्तम ॥३४॥

हे द्विज-श्रेष्ठ ! यह बार-बार सोचा, परन्तु कोई भी अहिंसक नहीं मिला । अहिंसा में तो यति लोग ही संलग्न हो सकते हैं ॥३४॥

कुर्वन्त्येव हि हिंसान्ते यत्नादल्पतरा भवेत् ।
अलक्ष्याश्चैव पुरुषाः कुले जाता महागुणाः॥३५॥

ये यति भी हिंसा करते हैं, परन्तु प्रयत्न से थोड़ी कर पाते हैं। हमको तो ऐसा महागुणी कुलीन, पुरुष ही कहीं दिखाई नहीं देते हैं जो हिंसा नहीं करते हैं ॥३५॥

महाघोराणि कर्माणि कृत्वा लज्जन्ति वै न च ।
सुहृदः सुहृदोऽन्यांश्च दुर्हृदश्चापि दुर्हृदः ॥३६॥
सम्यक् प्रवृत्तान् पुरुषान्न सम्यगनुपश्यतः ।
समृद्धैश्च न नन्दन्ति बान्धवा बन्धवैरपि ॥३७॥

मनुष्य, महाघोर बुरे कर्म करके भी लज्जित नहीं होते हैं। अपने २ ठीक कार्य में प्रवृत्त सज्जन, सज्जनों को और दुर्जन, दुर्जनो को अच्छी तरह देखता ही नहीं है। एक बान्धव, अपने दूसरे समृद्धिशाली भाई को देख कर प्रसन्न नहीं होता हैं।

गुरूंश्चैव विनिन्दन्ति मूढाः पण्डितमानिनः ।
बहुलोके विपर्य्यस्तं दृश्यते द्विजसत्तम ॥३८॥
धर्म्मयुक्तमधर्म्मश्च तत्र किं प्रतिभाति ते ।
वक्तुं बहुविधं शक्यं धर्माधर्मेषु कर्म्मसु।
स्वकर्म्मनिरतो यो हि स यशः प्राप्नुयान्महत् ॥३६॥

इति श्रीमहाभारत आरण्यपर्वणि मार्कण्डेयसमास्यापर्वणि ब्राह्मणव्याधसंवादे सप्ताधिकद्विशततमोऽध्यायः ।।२०८॥

मूर्ख, पण्डित होने का घमण्ड करके पूज्योंकी निन्दा करतेहैं। हे द्विजसत्तम! इस प्रकार संसार में प्रायः उलटी बातें देखी जाती है। लोग धर्म से युक्त अधर्म का आचरण कर रहे हैं, तुम यह मानते हो या नहीं। प्रत्येक मनुष्य धर्म और अधर्म के कर्मों की व्याख्या तो खूब कर सकते हैं, परन्तु जो अपने कर्म में लगा है, वही सच्चा यश पा सकता है ॥३८-३६॥

इति श्रीमहाभारत वनपर्वान्तर्गत मार्कण्डेयसमास्यापर्व में ब्राह्मण-व्याध-सम्वाद का दो सौ सातवां अध्याय पूरा हुआ।

दो सो आठवां अध्याय

मार्कण्डेय उवाच—

धर्म्मव्याधस्तु निपुणं पुनरेव युधिष्ठिर ।
विप्रर्षभमुवाचेदं सर्वधर्मभृताम्वरः ॥१॥

मार्कण्डेय ने कहा—हे युधिष्ठिर ! सब धर्मों के जानने वालों में श्रेष्ठ, धर्मव्याध, बड़ी कुशलता से फिर इस ब्राह्मण से कहने लगा ॥१॥

व्याध उवाच—

श्रुतिप्रमाणो धर्मोऽयमिति वृद्धानुशासनम् ।
सूक्ष्मा गतिर्हि धर्मस्य बहुशाखा ह्यनन्तिका ॥२॥

अपने कर्तव्य कर्म पर दृढ़ रहना ही वेद प्रतिपादित धर्म है--यह वृद्ध लोग कहते आ रहे हैं। धर्म की अनेक शाखा वाली, अनन्त, सूक्ष्म, गतियां हैं ॥२॥

प्राणान्तिके विवाहे च वक्तव्यमनृतं भवेत् ।
अनृतेन भवेत्सत्यं सत्येनैवानृतं भवेत् ॥३॥

प्राण संकट के उपस्थित होने या विवाह में उपहास के समय अनृत (झूंठ) भी बोला जा सकता है। कहीं झूंठ ही सत्य और कहीं सत्य भी झूंठ का सा फल लाता है ॥३॥

यद्भूतहितमत्यन्तं तत्सत्यमिति धारणा ।
विपर्ययकृतो धर्मः पश्य धर्मस्य सूक्ष्मताम् ॥४॥

जिससे प्राणियों का हित हो सके, वही सत्य है, यह निश्चित सिद्धान्त है। अधर्म का कार्य भी कहीं धर्म बन जाता है। तुम धर्म की सूक्ष्म गति का निरीक्षण करो ॥४॥

यत्करोत्यशुभं कर्म शुभं वा यदि सत्तम।
अवश्यं तत् समाप्नोति पुरुषो नात्र संशयः ॥५॥

हे महात्मन्! मनुष्य, जिन शुभ या अशुभ कर्मों को करता है, उनका फल वह अवश्य पाता है, इसमें सन्देह नहीं है ॥५॥

विषमाञ्च दशां प्राप्तो देवान् गर्हति वै भृशम्।
आत्मनः कर्मदोषाणि न विजानात्यपण्डितः ॥६॥

बड़ी विषम दशा को प्राप्त होकर देव तथा विद्वानों की अत्यन्त निन्दा करता हुआ, मूर्ख मनुष्य, अपने कर्म दोषों को नहीं जान पाता है ॥६॥

मूढो नैकृतिकश्चापि चपलश्च द्विजोत्तम।
सुखदुःखविपर्य्यासान् सदा समुपपद्यते ॥७॥

हे द्विजोत्तम! मूर्ख, छली, चञ्चल पुरुष, सदा दुःख और सुख के चक्करों में पड़ता रहता है ॥७॥

नैनं प्रज्ञा सुनीतं वा त्रायते नैव पौरुषम्।
यो यमिच्छेद्यथा कामं स तं कामं समाचरेत् ॥८॥
यदि स्यादपराधीनं पौरुषस्य क्रियाफलम्।

इस मनुष्य को अपनी बुद्धि, गुरु--शिक्षा और पुरुषार्थ कुछ भी नहीं बचा सकता है। इसको जिस २ कामना की अभिलाषा

होती है, यह उसके पीछे दौड़ने लगता है। परन्तु कामनाएं तो तभी प्राप्त हो सकती थी, जब पुरुषार्थ का फल दैव के अधीन न होता ॥८॥

संयताश्चापि दक्षाश्च मतिमन्तश्च मानवाः ॥९॥
दृश्यन्ते निष्फलाः सन्तः प्रहीणाः स्वस्वकर्मभिः ।

जो बड़े जितेन्द्रिय, चतुर, बुद्धिमान मनुष्य हैं, वे भी निष्फल (नाकामयाब) देखे जाते हैं और अपने उद्योगों के करने पर भी हीन दशा को पाते रहते हैं ॥९॥

भूतानामपरः कश्चिद्धिंसायां सततोत्थितः ॥१०॥
वञ्चनायाञ्च लोकस्य स सुखी जीवते सदा ।

मनुष्यों में एक पक्ष सदा हिंसा में तत्पर रहता है और सब संसारको धोखा देता है,परन्तु वह सदा सुखी देखा जाता है॥१०॥

अचेष्टमपि चासीनं श्रीः कश्चिदुपतिष्ठति ॥११॥
कश्चित् कर्माणि कुर्वन् हि न प्राप्यमधिगच्छति ।

किसी निरुद्योगी, आलसी के पास भी लक्ष्मी आ जाती है और कोई उद्योग पर उद्योग करता है, परन्तु उसको अपना प्राप्य (लक्ष्य) प्राप्त नहीं होता है ॥११॥

देवानिष्ट्वा तपः कृत्वा कृपणैः पुत्रगृद्धिभिः ॥१२॥
दशमासधृता गर्भे जायन्ते कुलपांसनाः ।

विचारे पुत्रों के इच्छुक, देवों को पूजकर और तप करके दश महीने में पुत्र पाते हैं, परन्तु वे पुत्र भी कुल के निन्दित करने वाले उत्पन्न हो जाते हैं ॥१२॥

अपरे धनधान्यैश्च भोगैश्च पितृसञ्चितैः ॥१३॥
विपुलैरभिजायन्ते लब्धास्तैरेव मङ्गलैः।

अन्य पुत्र, अपने पिता के इकट्ठे हुए भोग विलास के साधनों और विपुल धन धान्य के साथ उत्पन्न होते हैं। ये लौकिक मङ्गलाचारों (खेलकूद) से ही उत्पन्न हो जाते हैं। इनमें देव-पूजा आदि कुछ भी नहीं करनी पड़ती ॥१३॥

कर्मजा हि मनुष्याणां रोगा नास्त्यत्र संशयः ॥१४
आधिभिश्चैव बाध्यन्ते व्याधैः क्षुद्रमृगा इव।

मनुष्य को सारे रोग कर्म बन्धनों से ही लगे हैं, इसमें सन्देह नहीं है। व्याध जैसे क्षुद्र मृगों को पीड़ा देता है, ऐसे ही ये मनुष्य भी मन की चिन्ता आदि कर्म फलों से पीड़ित होते रहते हैं ॥१४॥

ते चापि कुशलैर्वैद्यैर्निपुणैः सम्भृतौषधैः ॥१५॥
व्याधयो विनिवार्य्यन्ते मृगा व्याधैरिव द्विज।

हे द्विज! व्याध जैसे मृगों को भगा देता है, वैसे ही जिनके पापों के फल पूर्ण होने को आये, उनकी व्याधियों को चतुर, क्रिया कुशल वैद्य, औषधियों से हटाते रहते हैं ॥१५॥

येषामस्ति च भोक्तव्यं ग्रहणीदोषपीड़िताः ॥१६॥
न शक्नुवन्ति ते भोक्तुं पश्य धर्मभृताम्वर।

हे धर्म-भृताम्वर! जिनके पास खाने के पदार्थ हैं, उनके उदर में संग्रहणी आदि रोग रहते हैं। देखो? वे उन पदार्थों को खा भी नहीं सकते हैं ॥१६॥

अपरे बाहुबलिनः क्लिश्यन्ति बहवो जनाः ॥१७॥
दुःखेन चाधिगच्छन्ति भोजनं द्विजसत्तम।

हे द्विज--राज! अनेक मनुष्य, बड़े शक्तिशाली हैं, परन्तु वे भोजन भी बड़े दुःख से कमा पाते हैं ॥१७॥

इति लोकमनाक्रन्दं मोहशोकपरिप्लुतम् ॥१८॥
स्रोतसासकृदाक्षिप्तं ह्रियमाणं बलीयसा।

इस प्रकार यह लोक, असहाय और मोह तथा शोक से व्याप्त है। यह, बलवान् कर्म प्रवाह से क्लेशित और बल--पूर्वक इधर उधर खैंचा जाता है॥१८॥

न म्रियेयुर्न जीर्येयुः सर्वेस्युः सर्वकामिकाः ॥१९॥
नाप्रियं प्रतिपद्येयुर्वशित्वं यदि वै भवेत्।

यदि मनुष्य स्वतन्त्र होते, तो वे न तो मरते और न जीर्ण होते तथा सब अपनी सारी कामना प्राप्त करके ही छोड़ते। ये कभी अपनी अप्रिय वस्तु को ग्रहण नहीं करते ॥१९॥

उपर्य्युपरि लोकस्य सर्वो गन्तुं समीहते ॥२०॥
यतते च यथाशक्ति न च तद्वर्त्तते तथा।

प्रत्येक अपनी दशा से उन्नत दशा प्राप्त करना चाहते हैं और उसकी प्राप्ति के लिए यथाशक्ति प्रयत्न भी करते हैं, परन्तु सारे ही उन्नत नहीं हो जाते हैं ॥२०॥

बहवः संप्रदृश्यन्ते तुल्यनक्षत्रमङ्गलाः ॥२१॥
महत्तु फलवैषम्यं दृश्यते कर्मसन्धिषु।

बहुत से मनुष्य एक ही नक्षत्र में उत्पन्न होते हैं। परन्तु उनकी अपने २ कर्मों के भेद से फल प्राप्ति में बड़ा भारी भेद हो जाता है।

न केचिदीशते ब्रह्मन् स्वयं ग्राह्यस्य सत्तम ॥२२॥
कर्मणा प्राकृतानां हि इह सिद्धिः प्रदृश्यते ।

हे ब्रह्मन्! कोई भी मनुष्य, अपनी ही वस्तु के ग्रहण करने में समर्थ नहीं है। जो केवल देहात्मवादी या प्रकृतिवादी हैं, वे तो उद्योग से ही कामों की सिद्धि मानते हैं ॥२२॥

यथाश्रुतिरियं ब्रह्मन् जीवः किल सनातनः ॥२३॥
शरीरमध्रुवं लोके सर्वेषां प्राणिनामिह ।

हे ब्रह्मन्! श्रुति के अनुसार तो यह जीवात्मा सनातन है। हाँ! सारे प्राणियों का शरीर अवश्य विनाशी है ॥२३॥

वध्यमाने शरीरे तु देहनाशो भवत्युत ।
जीवः संक्रमतेऽन्यत्र कर्मबन्धनिबन्धनः ॥२४॥

शरीर के काट डालने पर देह का नाश होता है, परन्तु जीव तो कर्म के बन्धनों में बँधा हुआ, अन्य शरीर में प्रविष्ट हो जाता है ॥२४॥

ब्राह्मण उवाच—

कथं कर्मविदां श्रेष्ठ जीवो भवति शाश्वतः ।
एतदिच्छाम्यहं ज्ञातुं तत्वेन वदताम्वर ॥२५॥

ब्राह्मण ने कहा—हे कर्म की व्यवस्था जानने वाला नर में श्रेष्ठ! वदताम्वर! यह जीव सनातन कैसे हैं? मैं इसको ठीक २ जानना चाहता हूं ॥२५॥

व्याध उवाच—

न जीवनाशोऽस्ति हि देहभेदे मिथ्यैतदाहुर्म्रियतीति मूढाः
जीवस्तु देहान्तरितः प्रयाति दशार्द्धतैवास्य शरीरभेदः २६

व्याध बोला—देह के नाश से जीव का नाश नहीं होता है। मूर्ख लोग यह मिथ्या कहते हैं, कि यह जीव देह के साथ ही नष्ट हो जाता है। जीव तो अन्य देह में चला जाता है। इसका अन्य देह में जाना ही इसका (पञ्चत्व) मरण है ॥२६॥

अन्यो हि नाश्नाति कृतं हि कर्म मनुष्यलोके मनुजस्य कश्चित्
यत्तेन किञ्चिद्धिकृतं हि कर्म तदश्नुते नास्ति कृतस्य नाशः॥

इस संसार में एक मनुष्य के किये हुए कर्म फल को अन्य नहीं भोगता है। मनुष्य जो कुछ भी कर्म करता है, वह उसका फल अवश्य भोगता है, क्योंकि किये हुए कर्म का विना भोग क्षय नहीं होता है ॥२७॥

सुपुण्यशीला हि भवन्ति पुण्या नराधमाः पापकृतो भवन्ति
नरोऽनुजातस्त्विहकर्मभिःस्वैस्ततःसमुत्पद्यतिभावितस्तैः ॥

जो पुण्य करते हैं, वे पुण्य-शील हो जाते हैं और जो पाप करने वाले हैं, वे नीच मनुष्य कहाते हैं। मनुष्य, तो अपने २ कर्मों का अनुगामी होता है और इन कर्मों के वश में होकर ही अन्य जन्म ग्रहण करता है ॥२८॥

ब्राह्मण उवाच—

कथं संभवते योनौ कथं वा पुण्यपापयोः।
जातीः पुण्यास्त्वपुण्याश्च कथं गच्छति सत्तम॥२९॥

ब्राह्मण ने कहा—हे सत्तम ! यह प्राणी अन्य योनियोंमें कैसे उत्पन्न होता है और कैसे पाप और पुण्य से इसका सम्बन्ध होता है तथा किस तरह पुण्य या पापमय जन्मों को ग्रहण करता है--यह सब बताओ ॥२६॥

व्याध उवाच—

गर्भाधानसमायुक्तं कर्मेदं सम्प्रदृश्यते ।
समासेन तु ते क्षिप्रं प्रवक्ष्यामि द्विजोत्तम ॥३०॥

व्याध ने कहा—हे द्विजोत्तम ! गर्भाधान से लेकर स्थूलदेह पर्यन्त यह सारा कर्मों का ही परिणाम है। मैं इस सब को संक्षेप में तुमसे कहता हूं ॥३०॥

यथासम्भृतसम्भारः पुनरेव प्रजायते ।
शुभकृत् शुभयोनीषु पापकृत् पापयोनिषु ।
शुभैः प्रयोगैर्देवत्वं व्यामिश्रैर्मानुषो भवेत् ॥३१॥
मोहनीयैर्वियोनीषु त्वधोगामी च किल्विषैः ।

यह प्राणी, अपने इकट्ठे किए हुए कर्म-बीजों से अन्य योनियों में जन्म लेता है। जो शुभ कर्मों का करने वाला है, वह शुभ योनियों में और जो अशुभ कर्म का कर्ता है, वह अशुभ योनियों में जन्म लेता है। जिसके शुभ ही शुभ कर्म होते हैं, वे देवता और जिसके शुभ अधिक और अशुभ थोड़े हैं, वह मनुष्य बनता है। जिसके मोहनीय कर्मों का उदय होता है, वह तिर्यञ्च योनि में और पाप कर्मों से मनुष्य नरकादि में जाता है ॥३१॥

जातिमृत्युजरादुःखैः सततं समभिद्रुतः ॥३२॥
संसारे पच्यमानश्च दोषैरात्मकृतैर्नरः ।

जन्म, मृत्यु, जरा और दुःखों से यह सदा क्लेशित रहता है। यह प्राणी, अपने किए हुए कर्मों के बन्धनों से ही संसार में बार-बार क्लेश भोगता है ॥३२॥

तिर्य्यग्योनिसहस्राणि गत्वा नरकमेव च ॥३३॥
जीवाः संपरिवर्त्तन्ते कर्मबन्धनिबन्धनाः ।

जीव, कर्म बन्धनों से बँधे हुए, तिर्यग् योनि और नरक योनि में जाकर फिर लौटते रहते हैं ॥३३॥

जन्तुस्तु कर्मभिस्तैस्तैः स्वकृतैः प्रेत्य दुःखितः॥३४॥
तद्दुःखप्रतिघातार्थमपुण्यां योनिमाप्नुते।

मनुष्य, अपने किये हुए कर्मों से परलोक में दुःख भोगता है। यह इन दुःखों के भोगने के लिए ही नीच योनियों में जन्म लेता है ॥३४॥

ततः कर्म समादत्ते पुनरन्यन्नवं बहु ॥३५॥
पच्यते तु पुनस्तेन भुक्त्वापथ्यमिवातुरः ।
अजस्रमेव दुःखार्त्तोऽदुःखितः सुखसंज्ञकः ॥३६॥

यह फिर इस जन्म में अन्य अनेक नये कर्म कर बैठता है जिनसे फिर दुःख में फँसता है जैसे रोगी कुपथ्य भोजन करके क्लेश उठाता है। यह प्राणी निरन्तर दुःख में फंसा रहता है। जब कभी दुःखाभाव होता है, तो उसे भी सुख कहने लगता है

ततोऽनिवृत्तबन्धत्वात् कर्मणामुदयादपि ।
परिक्रामति संसारे चक्रवद्बहुवेदनः ॥३७॥

जब तक इसके कर्म के बन्धनों का नाश नहीं होता और कर्मों का उदय हो रहा है, तब तक यह अनेक क्लेशों के साथ चक्र की तरह संसार में घूमता रहेगा ॥३७॥

स चेन्निवृत्तबन्धस्तु विशुद्धश्चापि कर्मभिः ।
तपोयोगसमारम्भं कुरुते द्विजसत्तम ॥३८॥

हे द्विज-सत्तम ! जब इस जीव के बन्धन कट जाते हैं और कर्मों से शुद्ध हो जाता है, तब यह तप और योग का आरम्भ कर देता है ॥३८॥

कमभिर्बहुभिश्चापि लोकानश्नाति मानवः ।
स चेन्निवृत्तबन्धस्तु विशुद्धश्चापि कर्मभिः ॥३९॥
प्राप्नोति सुकृतांल्लोकान् यत्र गत्वा न शोचति ।

मनुष्य, अपने अनेक कर्मों से अनेक लोकों को प्राप्त करता है और यह जब कर्म के बन्धनों से मुक्त होकर शुद्ध हो जाता है, तब पुण्य लोकों को प्राप्त करता है। जहां इसको शोक नहीं करना पड़ता है ॥३९॥

पापं कुर्बन् पापवृत्तः पापस्यान्तं न गच्छति ॥४०॥
तस्मात् पुण्यं यतेत्कर्त्तुं वर्ज्जयीत च पापकम् ।

पुरुष, पाप करता हुआ पाप में लिपट जाता है और पाप का अन्त नहीं कर सकता है, इससे मनुष्य को पुण्यकर्म करने का ही प्रयत्न करना चाहिये और पापकर्मों का परित्याग कर देना ही उचित है ॥४०॥

अनसूयुः कृतज्ञश्च कल्याणानि च सेवते ॥४१॥
सुखानि धर्ममर्थञ्च स्वर्गञ्च लभते नरः।

जो मनुष्य, किसी की निन्दा नहीं करता और कृतज्ञ रह कर कल्याणकारी कर्मों को करता है, वही सुख, धर्म, अर्थ और स्वर्ग प्राप्त करता है ॥४१॥

संस्कृतस्य च दान्तस्य नियतस्य यतात्मनः ॥४२॥
प्राज्ञस्यानन्तरा वृत्तिरिह लोके परत्र च।
सतां धर्मेण वर्तेत क्रियां शिष्टवदाचरेत् ॥४३॥

संस्कारों से युक्त, उदार, नियम-शील, जितेन्द्रिय, ज्ञानी पुरुष का जीवन इसलोक और परलोक में सुख युक्त रहता है, इसलिए प्रत्येक मनुष्य, सज्जनों के मार्ग से चले और श्रेष्ठ पुरुषों के तुल्य आचरण करे ॥४२-४३॥

असंक्लेशेन लोकस्य वृत्तिं लिप्सेत वै द्विज।
सन्ति ह्यागमविज्ञानाः शिष्टाः शास्त्रे विचक्षणाः४४

हे द्विज ! साधुपुरुष, किसी को कष्ट न पहुंचा कर अपनी वृत्ति (जीविका) करे। शिष्टजन वेद के जानने वाले और शास्त्रों में पारङ्गत होते हैं ॥४४॥

स्वधर्मेण क्रिया लोके कर्मणः सोऽप्यसङ्करः।
प्राज्ञो धर्मेण रमते धर्मञ्चैवोपजीवति ॥४५॥

अपने धर्म के अनुसार कर्मों को करे, इससे धर्मों की मिलावट नहीं होगी। बुद्धिमान् पुरुष, धर्म से ही प्रसन्न होता है और धर्म भी मनुष्य की रक्षा करता है ॥४५॥

तस्माद्धर्मादवाप्तेन धनेन द्विजसत्तम।
तस्यैव सिञ्चते मूलं गुणान् पश्यति यत्र वै ॥४६॥

हे द्विज-सत्तम ! यही कारण है कि भद्रपुरुष, धर्म से प्राप्त हुए धन से जिस धर्म में गुण देखता है, उस धर्म के मूल को ही सींच लेता है ॥४६॥

धर्मात्मा भवति ह्येवं चित्तञ्चास्य प्रसीदति।
स मित्रजनसन्तुष्ट इह प्रेत्य च नन्दति ॥४७॥

इस प्रकार मनुष्य, धर्मात्मा हो जाता है और उसका चित्त स्वच्छ हो जाता है। यह मित्रजनों से सन्तुष्ट होकर इस लोक और परलोक में बड़ा आनन्दित रहता है ॥४७॥

शब्दं स्पर्शं तथा रूपं गन्धानिष्टांश्च सत्तम।
प्रभुत्वं लभते चापि धर्मस्यैतत् फलं विदुः ॥४८॥

हे सत्तम ! मनुष्य, धर्म से शव्द, स्पर्श, रूप, उत्तम २ गंध और प्रभुता प्राप्त करता है। विद्वान लोग, धर्म का यही फल मानते हैं ॥४८॥

धर्मस्य च फलं लब्ध्वा न तुष्यति महाद्विज।
अतृप्यमाणो निर्वेदमापेदे ज्ञानचक्षुषा ॥४९॥

हे महाद्विज ! जो धर्म के इन लौकिक फलों को पाकर सन्तुष्ट नहीं होता है, वह असन्तुष्ट पुरुष ज्ञान-नेत्र द्वारा वैराग्य प्राप्त करता है ॥४९॥

प्रज्ञाचक्षुर्नर इह दोषं नैवानुरुध्यते।
विरज्यते यथाकामं न च धर्मं विमुञ्चति ॥५०॥

जिस मनुष्य ने अपनी बुद्धि को नेत्र बना लिए हैं, वह राग द्वेषादि के वश में नहीं होता है और यह अपनी इच्छानुसार वैराग्य युक्त होकर धर्म का परित्याग नहीं करता है ॥५०॥

सर्वत्यागे च यतते दृष्ट्वा लोकं क्षयात्मकम् ।
ततो मोक्षे प्रयतते नानुपायादुपायतः ॥५१॥

इस संसार को परिवर्तन-शील देखकर सब कुछ वस्तुओं के परित्याग में अपना मन लगा देता है। इसके अनन्तर यह उत्तम २ उपायों से मोक्ष प्राप्ति करता है और बुरे उपायों का दूर से ही परित्याग कर देता है ॥५१॥

एवं निर्वेदमादत्ते पापं कर्म जहाति च ।
धार्मिकश्चापि भवति मोक्षञ्च लभते परम् ॥५२॥

इस प्रकार संसार से वैराग्य प्राप्त करके पाप कर्मों का आचरण छोड़ देता है। अब यह धार्मिक हो जाता है और सर्वोत्तम मोक्ष को पा लेता है ॥५२॥

तपो निःश्रेयसं जन्तोस्तस्य मूलं शमो दमः ।
तेन सर्वानवाप्नोति कामान् यान्मनसेच्छति ॥५३॥

प्राणी का कल्याणकारी तप है और इसका मूल, मन और इन्द्रियों पर विजय करना है। अब यह जिन अभिलाषाओं को करता है, उन सबको इन शम दम के द्वारा पा लेता है ॥५३॥

इन्द्रियाणां निरोधेन सत्येन च दमेन च ।
ब्रह्मणः पदमाप्नोति यत् परं द्विजसत्तम ॥५४॥

हे द्विज-श्रेष्ठ! इन्द्रियों के निरोध, सत्य और दम से ब्रह्म का पद प्राप्त हो जाता है, जो बड़ा ही उत्कृष्ट है ॥५४॥

ब्राह्मण उवाच—

इन्द्रियाणि तु यान्याहुः कानि तानि यतव्रत।
निग्रहश्च कथं कार्य्यो निग्रहस्य च किं फलम् ॥५५॥
कथञ्च फलमाप्नोति तेषां धर्मभृताम्वर।
एतदिच्छामि तत्वेन धर्मं ज्ञातुं निबोध मे ॥५६॥

इति श्रीमहाभारत आरण्यपर्वणि मार्कण्डेयसमास्यापर्वणि
द्विजव्याधसंवादे अष्टाधिकद्विशततमोऽध्यायः॥२०८॥

ब्राह्मण ने कहा—हे व्रत-शील! जिन्हें तुम इन्द्रियां बता रहे हो-वे कौनसी हैं। इन इन्द्रियों का निग्रह कैसे होता है और इस निग्रह (निरोध) का क्या फल है। हे धर्मात्मन्! इनका फल कैसे मिलता है। मैं इन बातों को ठीक २ जानना चाहता हूं—तुम मुझे समझाओ ॥५५-५६॥

इति श्रीमहाभारत वनपर्वान्तगत मार्कण्डेयसमास्यापर्व में द्विज
और व्याधके सम्वादका दो सौ आठवां अध्याय समाप्त हुआ।

दो सौ नोवां अध्याय

मार्कण्डेय उवाच—

एवमुक्तस्तु विप्रेण धर्म्मव्याधो युधिष्ठिर ।
प्रत्युवाच यथा विप्रं तच्छृणुष्व नराधिप ॥१॥

मार्कण्डेय ने कहा—हे नराधिप ! युधिष्ठिर ! ब्राह्मण के इतना कहने पर जो कुछ धर्मव्याध ने कहा- वह तुम ध्यान से सुनो ॥१॥

व्याध उवाच—

विज्ञानार्थं मनुष्याणां मनः पूर्वं प्रवर्त्तते ।
तत् प्राप्य कामं भजते रोषञ्च द्विजसत्तम ॥२॥

व्याध बोला—हे द्विजसत्तम ! किसी वस्तु के इन्द्रिय द्वारा ज्ञान करने को प्रथम मन प्रवृत्त होता है। उस वस्तु के जान लेने पर फिर उसमें राग या द्वेष होता है ॥२॥

ततस्तदर्थं यतते कर्म्म चारभते महत् ।
इष्टानां रूपगन्धानामभ्यासञ्च निषेवते ॥३॥

इसके अनन्तर जिस वस्तु में राग उत्पन्न हो जाता है, तब पुरुष उसके लिये प्रयत्न करता है और बहुत बड़ा उद्योग छेड़ देता है। अब यह अपने अभीष्ट रूप गन्धादि का बार २ सेवन करने लगता है ॥३॥

ततो रागः प्रभवति द्वेषश्चैतदनन्तरम् ।
ततो लोभः प्रभवति मोहश्च तदनन्तरम् ॥४॥

इस प्रकार वस्तु में मनुष्यों को राग उत्पन्न हो जाता है और राग के अनन्तर द्वेष होता है, इसके बाद लोभ और फिर मोह होता है ।।४।।

ततो लोभाभिभूतस्य रागद्वेषहतस्य च ।
न धर्मे जायते बुद्धिर्व्याजाद्धर्मं करोति च ।।५।।

लोभ से आक्रान्त, राग द्वेष से पीड़ित किये हुए मनुष्यों की बुद्धि धर्म में नहीं लगती और फिर यह पुरुष, धर्म का बाहरी ढोंग दिखाने में प्रवृत्त हो जाता है ।।५।।

व्याजेन चरतो धर्म्ममर्थं व्याजेन रोचते ।
व्याजेन सिध्यमानेषु धनेषु द्विजसत्तम ।।६।।
तत्रैव रमते बुद्धिस्ततः पापं चिकीर्षति ।

हे द्विज सत्तम ! दम्भ से धर्म का आचरण करने वाले पुरुष को छल से धन कमाने की इच्छा हो जाती है। जब इसके पास छल से धन आ जाता है, तो इसकी बुद्धि वहीं अटक जाती है और यह फिर पाप करने लग जाता है ।।६।।

सुहृद्भिर्वार्य्यमाणश्च पण्डितैश्च द्विजोत्तम ।।७।।
उत्तरं श्रुतिसम्बन्धं ब्रवीत्यश्रुतियोजितम् ।

हे द्विजोत्तम ! यह पुरुष, पण्डित और मित्रों से रोके जाने पर जो उत्तर देता है, उसे वेद प्रतिपादित बताता है, यद्यपि वह वेद से बहिष्कृत होता है ।।७।।

अधर्म्मस्त्रिविधस्तस्य वर्त्तते रागदोषजः ।।८।।
पापश्चिन्तयते चैव ब्रवीति च करोति च ।
तस्याधर्मे प्रवृत्तस्य गुणा नश्यन्ति साधवः ।।९।।

ऐसे पुरुष के राग दोष से उत्पन्न हुआ, अधर्म भी तीन हीं तरह का होता हैं । प्रथम तो यह पाप सोचता है, फिर कहता है और अन्त में कर बैठता है । इसके अधर्म में प्रवृत्त हो जाने पर शम दम आदि गुण नष्ट हो जाते हैं ।।८-९।।

एकशीलैश्च मित्रत्वं भजन्ते पापकर्म्मिणः ।
स तेन दुःखमाप्नोति परत्र च विपद्यते ।।१०।।

यह पापी होने से पापकर्म करने वालों के साथ मित्रता करता है और फिर दुःख उठाता तथा परलोक में भी नष्ट हो जाता है । मनुष्य, इस क्रम से पापी हो जाता है । अब जैसे धर्म का लाभ होता है--वह ढंग मुझ से सुनो ।।१०।।

पापात्मा भवति ह्येवं धर्म्मलाभन्तु मे शृणु ।
यस्त्वेतान् प्रज्ञया दोषान् पूर्वमेवानुपश्यति ।।११।।
कुशलः सुखदुःखेषु साधूंश्चाप्युपसेवते ।
तस्य साधुसमारम्भाद् बुद्धिर्धर्मेषु जायते ।।१२।।

जो मनुष्य, इन दोषों को अपनी तीव्र बुद्धि से फौरन देख लेता है तथा यह चतुर सुख या दुःख में भी साधुओं की संगति करता रहता है, उसकी बुद्धि धर्म में प्रवृत्त हो जाती है, क्योंकि उसने अपना कार्य उचित ढंग से प्रारम्भ किया है।।११-१२

ब्राह्मण उवाच—

ब्रवीषि सूनृतं धर्मं यस्य वक्ता न विद्यते ।
दिव्यप्रभावः सुमहानृषिरेव मतोऽसि मे ॥१३॥

ब्राह्मण ने कहा—हे व्याध ! तुम तो ऐसे प्रिय धर्म का मुझ से वर्णन कर रहे हो--जिसका वर्णन अन्य कोई नहीं कर सकता है । तुम्हारा बड़ा दिव्य भाव है और तुम तो मुझे महर्षि प्रतीत हो रहे हो ॥१३॥

व्याध उवाच—

ब्राह्मणा वै महाभागाः पितरोऽग्रभुजः सदा ।
तेषां सर्वात्मना कार्य्यं प्रियं लोके मनीषिणा ॥१४॥

व्याध बोला—हे ब्रह्मन् ! महाभाग ब्राह्मण और पितर सब से प्रथम भोजन करने वाले माने गए हैं । मनीषी पुरुषों को इनका प्रिय कार्य सब भांति से सम्पादन करना चाहिए ॥१४॥

यत्तेषाञ्च प्रियं तत्ते वक्ष्यामि द्विजसत्तम ।
नमस्कृत्वा ब्राह्मणेभ्यो ब्राह्मीं विद्यां निबोध मे १५

हे द्विजसत्तम ! इनको जो प्रिय है, वह मैं ब्राह्मणों को नमस्कार करके तुमको बताता हूं । तुम मुझ से प्रथम ब्राह्मी (ब्रह्म सम्बन्धी) विद्या को ग्रहण करो ॥१५॥

इदं विश्वं जगत्सर्वमजय्यञ्चापि सर्वशः ।
महाभूतात्मकं ब्रह्म नातः परतरं भवेत् ॥१६॥

यह सारा चराचर जगत्, सब तरह से अगम्य है । इस महाभूतों से बने हुए जगत् में ब्रह्म से उत्कृष्ट कोई नहीं है ॥१६॥

महाभूतानि खं वायुरग्निरापस्तथा च भूः ।
शब्दः स्पर्शश्च रूपञ्च रसो गन्धश्च तद्गुणाः ॥१७॥
तेषामाप गुणाः सर्वे गुणवृत्तिः परस्परम् ।
पूर्वपूर्वगुणाः सर्वे क्रमशा गुणिषु त्रिषु ॥१८॥

आकाश, वायु, अग्नि जल और पृथिवी ये पञ्च महाभूत हैं। शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध तथा ब्रह्म के आश्रित रहने वाले मायात्मक सत्व, रज और तमोगुण तथा उन शब्दादिकों के भी उच्च नीच गुण, सब केवल दृश्य सृष्टि के विकार हैं। इनकी ओर आत्मा के गुणों का उलट फेर सा हो रहा है अर्थात् प्रकृति के गुणों को आत्मा अपने में अध्यासित करता है। ये पूर्व के सारे गुण क्रम से ईश, सूत्र और विराट् संज्ञक चैतन्य में ओत प्रोत है॥१७-१८॥

षष्ठस्तु चेतना नाम मन इत्यभिधीयते ।
सप्तमी तु भवेद्बुद्धिरहङ्कारस्ततः परम् ॥१९॥
इन्द्रियाणि च पञ्चात्मा रजः सत्वं तमस्तथा ।
इत्येष सप्तदशको राशिरव्यक्तसञ्ज्ञकः ॥२०॥

शब्दादि पांच से अधिक छटी वृत्ति है, जो मन कहाती है। मन संकल्प, बुद्धि-प्रकाश और अहंकार ज्ञानाभिमान का कारण है। मन के विना इनका कुछ भी कार्य नहीं हो सकता है, इससे सारा जगत् मनोमय हो है। सातवीं बुद्धि और इसके साथ अहंकार भी माना गया है। इस प्रकार पांच २ इन्द्रियां, आत्मा, सत्व, रज और तम, ये सब अव्यक्त अर्थात् मायामय ही हैं ॥१९-२०॥

सर्वैरिन्द्रियार्थैस्तु व्यक्ताव्यक्तैः सुसंवृतैः ।
चतुर्विंशक इत्येष व्यक्ताव्यक्तमयो गुणः ।
एतत्ते सर्वमाख्यातं किं भूयः श्रोतुमिच्छसि ॥२१॥

इति श्रीमहाभारत आरण्यपर्वणि मार्कण्डेयसमास्यापर्वणि द्विजव्याधसंवादे नवाधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥२०९॥

सारे बाह्येन्द्रियों से ग्राह्य व्यक्त और अन्तरिन्द्रियों से ग्राह्य अव्यक्त, बुद्धि में लीन इन्द्रियों के अर्थों से यह व्यक्त अव्यक्त रूप, चौबीस तत्वों का समूह भोग्य रूप है। इस प्रकार तुझे यह सारा तत्व ज्ञान सुना दिया है। अब तुम बताओ, आगे क्या सुनना चाहते हो ? ॥२१॥

इति श्रीमहाभारत वनपर्वान्तर्गत मार्कण्डेयसमास्यापर्व में द्विज और व्याध के सम्वाद का दो सौ नौवाँ अध्याय समाप्त हुआ

दो सौ दशवां अध्याय

मार्कण्डेय उवाच—

एवमुक्तः स विप्रस्तु धर्म्मव्याधेन भारत ।
कथामकथयद्भूयो मनसः प्रीतिवर्द्धनीम् ॥१॥

मार्कण्डेय बोले—हे भारत ! धर्मव्याध के इतना कहने पर वह ब्राह्मण, फिर मन के प्रीति करने वाली बात पूछने लगा।

ब्राह्मण उवाच—

महाभूतानि यान्याहुः पञ्च धर्म्मभृताम्वर ।
एकैकस्य गुणान् सम्यक् पञ्चानामपि मे वद ॥२॥

ब्राह्मण बोला---हे धर्मात्मन् ! तुमने जो पञ्च महाभूत गिनाए हैं, इनके प्रत्येक के मुझ से पृथक् २ लक्षण कहो ॥२॥

व्याध उवाच—

भूमिरापस्तथा ज्योतिर्वायुराकाशमेव च ।
गुणोत्तराणि सर्वाणि तेषां वक्ष्यामि ते गुणान् ॥३॥

व्याध ने कहा----भूमि, जल, तेज, वायु और आकाश में उत्तरोत्तर गुण हैं अर्थात् आकाश से वायु और वायु आदि से तेज आदि में अधिक गुण हैं। मैं तुमसे इनके गुणों का वर्णन करता हूँ ॥ ३ ॥

भूमिः पञ्चगुणा ब्रह्मन्नुदकञ्च चतुर्गुणम् ।
गुणास्त्रयस्तेजसि च त्रयश्चाकाशवातयोः ॥४॥

हे ब्रह्मन्! भूमि में पाँच, जल में चार, तेज में तीन, आकाश और वायु में भी तीन गुण हैं ॥४॥

शब्दः स्पर्शश्च रूपञ्च रसो गन्धश्च पञ्चमः ।
एते गुणाः पञ्च भूमेः सर्वेभ्यो गुणवत्तराः ॥५॥
शब्दः स्पर्शश्च रूपञ्च रसश्चापि द्विजोत्तम ।
अपामेते गुणा ब्रह्मन् कीर्त्तितास्तव सुव्रत ॥६॥
शब्दः स्पर्शश्च रूपञ्च तेजसोऽथ गुणास्त्रयः ।
शब्दः स्पर्शश्च वायौ तु शब्द आकाश एव तु ॥७॥

शब्द, स्पर्श, रूप, रस और पांचवां गन्ध, ये पांच भूमि के सब से अधिक गुण हैं। हे सुव्रत! शब्द, स्पर्श, रूप और रस ये जल के गुण माने हैं। शब्द, स्पर्श और रूप ये तीन तेज के गुण हैं। शब्द स्पर्श ये दो गुण वायु के और केवल अकेला शब्द, आकाश का गुण है ॥५--७॥

एते पञ्चदश ब्रह्मन् गुणा भूतेषु पञ्चसु ।
वर्त्तन्ते सर्वभूतेषु येषु लोकाः प्रतिष्ठिताः ॥८॥

हे ब्रह्मन्! इस प्रकार पन्द्रह गुण पांच महाभूतों में हो जाते हैं। ये पञ्च महाभूत, समस्त जरायुजादि प्राणियों में प्रतिष्ठित हैं।

अन्योऽन्यं नातिवर्त्तन्ते सम्यक् च भवति द्विज ।
यदा तु विषमं भावमाचरन्ति चराचराः ॥९॥
तदा देही देहमन्यं व्यतिरोहति कालतः ।
आनुपूर्व्या विनश्यन्ति जायते चानुपूर्वशः ॥१०॥

हे द्विज! जब ये पञ्च महाभूत, एक दूसरे का अतिक्रमण (त्याग) नहीं करते हैं, तभी तक ठीक स्थिति रहती है और जब जड़, चेतन जीव इनके विषम भाव को प्राप्त हो जाते हैं, तब आत्मा, समयानुसार अन्य देह में संक्रमण कर जाता है। इसी क्रम से प्राणी मरते रहते हैं और इसी तरह उत्पन्न होते हैं।

तत्र तत्र हि दृश्यन्ते धातवः पाञ्चभौतिकाः ।
यैरावृतमिदं सर्वं जगत्स्थावरजङ्गमम् ॥११॥

देह के प्रत्येक अङ्ग में रक्त आदि धातु इन पंचभूतों के ही परिणाम है। जिन्होंने सारे स्थावर, जङ्गम जगत् को व्याप्त कर रखा है ॥११॥

इन्द्रियैः सृज्यते यद्यत्तत्तद्व्यक्तमिति स्मृतम् ।
तदव्यक्तमिति ज्ञेयं लिङ्गग्राह्यमतीन्द्रियम् ॥१२॥

जिन भूतों को इन्द्रियों से संसर्ग होता है, वे व्यक्त कहाते हैं और जिनका इन्द्रियों से ग्रहण नहीं होता, किन्तु अनुमान लगाया जाता है, वे अव्यक्त पञ्च महाभूत हैं ॥१२॥

यथास्वं ग्राहकाण्येषां शब्दादीनामिमानि तु ।
इन्द्रियाणि यदा देही धारयन्निव तप्यते ॥१३॥

अपने २ विषयों का अतिक्रमण करके इन शब्द आदि विषयों को ग्रहण करने वाली, इन्द्रियों को यह जीवात्मा वश में करता हुआ, ब्रह्म का अनुभव सा करने लगता है ॥६३॥

लोके विततमात्मानं लोकञ्चात्मनि पश्यति ।
परापरज्ञः सक्तः सन् स तु भूतानि पश्यति ॥१४॥

जो ज्ञानी संसार में आत्मा को व्याप्त और आत्मा में संसार को ओतप्रोत देखता है, वह इस निरुपाधिक और सोपाधिक ब्रह्म का ज्ञाता होकर उसमें आसक्त हो जाता है और वह सब प्राणियों को आत्मा रूप से ही देखने लगता है ॥१४॥

पश्यतः सर्वभूतानि सर्वावस्थासु सर्वदा ।
ब्रह्मभूतस्य संयोगो नाशुभेनोपपद्यते ॥१५॥

जो सब अवस्थाओं में सदा सब भूतों को आत्मा ही समझता है, ब्रह्मभाव को प्राप्त हुए इस स्थित-प्रज्ञ का फिर अशुभ कर्मों से सम्पर्क नहीं होता है ॥१५॥

ज्ञानमूलात्मकं क्लेशमतिवृत्तस्य पौरुषम् ।
लोकवृत्तिप्रकाशेन ज्ञानमार्गेण गम्यते ॥१६॥

यह प्राणी लोक का जितना अधिक ज्ञान बढ़ाता जावेगा--उतना ही क्लेश में फंसेगा। इस क्लेश के अतिक्रमण कर जाने वाले पुरुष को लोक के तत्व के प्रकाश कर देने वाले ज्ञानमार्ग से ही मोक्ष मिलता है ॥१६॥

अनादिनिधनं जन्तुमात्मयोनिं सदाव्ययम् ।
अनौपम्यममूर्त्तञ्च भगवानाह बुद्धिमान् ॥१७॥

संसार को नियम में चलाने की बुद्धि रखने वाले ऐश्वर्यशील परमात्मा ने आदि अन्त से रहित, आत्म-योनि, सुख दुःख और सब तरह के विकारों से शून्य, तर्क से भी दुर्ज्ञेय, सर्वव्यापक जीवात्मा को बनाया है ॥१७॥

तपोमूलमिदं सर्वं यन्मां विप्रानुपृच्छसि ।
इन्द्रियाण्येव संयम्य तपो भवति नान्यथा ॥१८॥

हे विप्र ! जो कुछ तुमने पूछा है---इस सब के समझने के लिए तप (ध्यान) की आवश्यकता है। तप तो इन्द्रियों के संयमन से ही होता है, इसका अन्य कोई प्रकार नहीं है ॥१८॥

इन्द्रियाण्येव तत् सर्वं यत् स्वर्गनरकावुभौ ।
निगृहीतविसृष्टानि स्वर्गाय नरकाय च ॥१९॥

जो स्वर्ग और नरक हैं, ये सब इन्द्रियां ही हैं अर्थात् इनका संयमन करना स्वर्ग और स्वतन्त्र छोड़ देना नरक का कारण है।

एष योगविधिः कृत्स्नो यावदिन्द्रियधारणम् ।
एतन्मूलं हि तपसः कृत्स्नस्य नरकस्य च ॥२०॥

इन्द्रियों का रोक लेना ही सम्पूर्ण योगविधि है। इन्द्रियों का निग्रह ही तप का मूल और उनके परवश हो जाना ही नरक का हेतु हैं ॥२०॥

इन्द्रियाणां प्रसङ्गेन दोषमृच्छन्त्यसंशयम् ।
संनियम्य तु तान्येव ततः सिद्धिं समाप्नुयात् ॥२१॥

इन्द्रियों के पीछे २ भागने से निश्चय राग द्वेष बढ़ जाता है और जब इनका निग्रह कर लिया जाता है, तब सिद्धि भी अवश्य प्राप्त हो जाती है ॥२१॥

षण्णामात्मनि नित्यानामैश्वर्य्यं योऽधिगच्छति ।
न स पापैः कुतोऽनर्थैर्युज्यते विजितेन्द्रियः ॥२२॥

आत्मा में अध्यास रूप से नित्य प्रतीत होने वाले पांच इन्द्रिय और छटे मन के ऐश्वर्य को जो प्राप्त कर लेता है अर्थात् इनको वश में कर लेता है, वह जितेन्द्रिय पापों से मुक्त नहीं होता है। फिर अनर्थ अर्थात् महान्धकार में प्रवृत्त करने वाले कर्मों से तो इसका संयोग हो ही कैसे सकता है ॥२२॥

रथःशरीरंपुरुषस्यदृष्टमात्मानियन्तेन्द्रियाण्याहुरश्वान्
तैरप्रमत्तः कुशली सदश्वैर्दान्तैः सुखंयाति रथीव धीरः

पुरुष का शरीर रथ है, आत्मा सारथि है। इन्द्रियां अश्व हैं। इन उत्तम और उदार अश्वों से यह धीर, अप्रमादी, कुशल, जीवात्मा रथारोही की तरह सुख से अपनी जीवनयात्रा व्यतीत कर लेता है ॥२३॥

षण्णामात्मनि युक्तानामिन्द्रियाणां प्रमाथिनाम् ।
योधीरो धारयेद्रश्मीन् स स्यात् परमसारथिः ॥२४॥

आत्मा में प्रतीत होने वाली और मनुष्य को व्याकुल कर देने वाली, मन सहित पांचों इन्द्रियों की डोरी को जो विद्वान् ठीक पकड़ लेता है, वही सर्वोत्तम सारथि है ॥२४॥

इन्द्रियाणां प्रसृष्टानां हयानामिव वत्मनि ।
धृतिं कुर्वीत सारथ्ये धृत्या तानि जयेद् ध्रुवम् ॥२५॥

मार्ग में वेग के साथ छोड़े हुए घोड़ों की तरह छोड़ी हुई इन्द्रियों के नियमन में धैर्य दिखाता रहे । इस धैर्य से वह अन्त में उनको निश्चय जीत लेगा ॥२५॥

इन्द्रियाणां विचरतां यन्मनोऽनुविधीयते ।
तदस्य हरते बुद्धिं नावं वायुरिवाम्भसि ॥२६॥

इन्द्रियों के विषयों की ओर दौड़ने पर जो मन उनके पीछे चल पड़ता है । यह इसकी बुद्धि को इस तरह खैंच ले जाता है जैसे वायु नौका को मझधार में ले जाता है ॥२६॥

येषु विप्रतिपद्यन्ते षट्सु मोहात् फलागमे ।
तेष्वध्यवसिताध्यायी विन्दते ध्यानजे फलम् ॥२७॥

इति श्रीमहाभारत आरण्यपर्वणि मार्कण्डेयसमास्यापर्वणि
द्विजव्याधसंवादे दशाधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥२१०॥

पांचों इन्द्रिय और छटे मन के विषयों में मोह से अज्ञानी सुख की भावना करता रहता है । उनमें वस्तुतत्त्व का देख लेने वाला वीतराग ही ध्यान का फल पाता है ॥२७॥

इति श्रीमहाभारत वनपर्वान्तर्गत मार्कण्डेयसमास्यापर्व में द्विज व्याध के सम्वाद का दो सौ दशवां अध्याय समाप्त हुआ ।

दो सौ ग्यारहवां अध्याय

मार्कण्डेय उवाच—

एवञ्च सूक्ष्मे कथिते धर्म्मव्याधेन भारत ।
ब्राह्मणः स पुनः सूक्ष्मं पप्रच्छ सुसमाहितः ॥१॥

मार्कण्डेय ने कहा—हे भारत ! इस प्रकार धर्मव्याध के सूक्ष्म तत्वों के विवेचन कर देने पर ब्राह्मण ने सावधानी से फिर सूक्ष्म प्रश्न कर दिया ॥१॥

ब्राह्मण उवाच—

सत्वस्य रजसश्चैव तमसश्च यथातथम् ।
गुणांस्तत्वेन मे ब्रूहि यथावदिह पृच्छतः ॥२॥

ब्राह्मण ने कहा—हे महात्मन् ! अब तुम सत्व, रज और तम के गुणों का ठीक २ विवेचन करो। मैं आपसे बड़ी श्रद्धा से पूछ रहा हूं ॥२॥

व्याध उवाच—

हन्त ते कथयिष्यामि यन्मां त्वं परिपृच्छसि ।
एषां गुणान् पृथक्त्वेन निबोध गदतो मम ॥३॥

व्याध बोला—हे ब्रह्मन् ! अच्छी बात है---जो तुम मुझ से पूछ रहे हो - मैं उनके गुणों को भिन्न २ करके तुमसे कहता हूं । तुम ध्यान से सुनो ॥३॥

मोहात्मकं तमस्तेषां रज एषां प्रवर्त्तकम् ।
प्रकाशबहुलत्वाच्च सत्वं ज्याय इहोच्यते ॥४॥

मनुष्यों को मोहित करने वाला, तमोगुण, किसी कार्य की ओर प्रवृत्त करने वाला रजोगुण और प्रकाश रूप सत्वगुण है यह सत्वगुण सब से श्रेष्ठ माना गया है ॥४॥

अविद्याबहुलो मूढः स्वप्नशीलो विचेतनः ।
दुर्हृषीकस्तमोध्वस्तः सक्रोधस्तामसोऽलसः ॥५॥

जो पुरुष अविद्या में ग्रस्त, मूढ, अधिक सोने वाला, बेसमझ, इन्द्रियलोलुप, अन्धकार-निमग्न, आलसी और क्रोधी है, वह तमोगुणी माना गया है ॥५॥

प्रवृत्तवाक्यो मन्त्री च यो नराग्र्योऽनसूयकः ।
विधित्समानो विप्रर्षे स्तब्धो मानी स राजसः ॥६॥

जो नरश्रेष्ठ, अधिक वाचाल, विचार शील, अनिन्दक, अधिक तृष्णा करने वाला, अकड़ और अभिमानी है, यह रजोगुणी है ॥६॥

प्रकाशबहुलो धीरो निर्विधित्सोऽनसूयकः ।
अक्रोधनो नरो धीमान् दान्तश्चैव स सात्विकः ॥७॥

जिसके हृदय में प्रकाश अधिक है और जिसने तृष्णा का त्याग कर दिया, वह अनिन्दक, धीर, क्रोध-शून्य, बुद्धिमान, उदार मनुष्य सात्विक माना है ॥७॥

सात्विकस्त्वथ संबुद्धो लोकवृत्तेन क्लिश्यते ।
यदा बुध्यति बोद्धव्यं लोकवृत्तं जुगुप्सते ॥८॥

सात्विक पुरुष को जब लोकचर्चा का तत्व मालूम होने लगता है, तब इसको बड़ा क्लेश होता है और जब जानने योग्य आत्मा का इसको ज्ञान हो जाता है, तब यह रज, तम के कार्य लोक के व्यवहारों की निन्दा करने लग जाता है ॥८॥

विरागस्य च रूपन्तु पूर्वमेव प्रवर्तते ।
मृदुर्भवत्यहङ्कारः प्रसीदत्यार्जवञ्च यत् ॥९॥

इस दशा से पूर्व ही इसके विराग के चिन्ह प्रकाशित हो जाते हैं। इसका अहङ्कार मृदु (ढ़ीला) पड़ जाता है और सरलता बढ़ जाती है ॥९॥

ततोऽस्य सर्वद्वन्द्वानि प्रशाम्यन्ति परस्परम् ।
न चास्य संशयो नाम कश्चिद्भवति कश्चन ॥१०॥

अब इसके सारे द्वन्द्व, भूख, प्यास, शीतोष्ण या मानापमानादि परस्पर शान्त हो जाते हैं और किसी भी तत्व ज्ञान में इसको शंका या सन्देह नहीं रह जाता है ॥१०॥

शूद्रयोनौ हि जातस्य सद्गुणानुपतिष्ठतः ।
वैश्यत्वं लभते ब्रह्मन् क्षत्रियत्वं तथैव च ॥११॥
आर्जवे वर्तमानस्य ब्राह्मण्यमभिजायते ।
गुणास्ते कीर्तिताः सर्वे किं भूयः श्रोतुमिच्छसि ॥१२॥

इति श्रीमहाभारत आरण्यपर्वणि मार्कण्डेयसमास्यापर्वणि द्विजव्याधसंवादे एकादशाधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥२११

हे ब्रह्मन्! जो मनुष्य, शूद्रयोनि में उत्पन्न हुआ है और श्रेष्ठ धर्मों का आचरण करता है, वह वैश्यत्व या क्षत्रियत्व प्राप्त कर लेता है। जब यह अत्यन्त ही सरल हो जाता है, तो इसको ब्राह्मणत्व मिलता है। इस प्रकार मैंने तुमको गुणों की व्याख्या सुना दी है। अब तुम और क्या सुनना चाहते हो ॥११-१२॥

इति श्रीमहाभारत वनपर्वान्तर्गत मार्कण्डेयसमास्यापर्व में द्विज व्याधं का दोसौ ग्यारहवां अध्याय पूरा हुआ।

* * *

दो सौ बारहवां अध्याय

ब्राह्मण उवाच—

पार्थिवं धातुमासाद्य शारीरोऽग्निः कथं भवेत्।
अवकाशविशेषेण कथं वर्त्तयतेऽनिलः ॥१॥

ब्राह्मण बोला--हे महाभाग! पृथिवी तत्व की प्रधानता से निर्मित त्वचादि धातु निर्मित देह को प्राप्त करके यह उदर का अग्नि क्या करता है और अपने २ स्थान को प्राप्त होकर वायु क्या करता रहता है ॥१॥

मार्कण्डेय उवाच—

प्रश्नमेतं समुद्दिष्टं ब्राह्मणेन युधिष्ठिर।
व्याधस्तु कथयामास ब्राह्मणाय महात्मने ॥२॥

मार्कण्डेय ने कहा—हे युधिष्ठिर! जब ब्राह्मण ने यह प्रश्न किया, तो इसको सुनते ही व्याध महात्मा ब्राह्मण से कहने लगा।

व्याध उवाच----

मूर्द्धानमाश्रितो वह्निः शरीरं परिपालयन् ।
प्राणो मूर्द्धनि चाग्नौ च वर्त्तमानो विचेष्टते ॥३॥

यह वन्हि, शरीर को चेष्टा देता हुआ मस्तक में आश्रय करता है। प्राणवायु भी जब मस्तक और आत्मा से संयोग करता है, तभी प्राणी चेष्टा करता है ॥३॥

भूतं भव्यं भविष्यञ्च सर्वं प्राणे प्रतिष्ठितम् ।
श्रेष्ठं तदेव भूतानां ब्रह्मयोनिमुपास्महे ॥४॥

भूत, भविष्य, वर्तमान यह सब प्राण वायु पंचभूतों में श्रेष्ठ है। हम ब्रह्म से उत्पन्न इसी प्राण की उपासना करते हैं ॥४॥

स जन्तुः सर्वभूतात्मा पुरुषः स सनातनः ।
महान् बुद्धिरहङ्कारो भूतानां विषयश्च सः ॥५॥

यह आत्मा ही सब भूतों में व्यापक है। यही सनातन पुरुष (ब्रह्म) है यही महत्तत्व (बुद्धि) अहङ्कार है और यही भूतों का विषय (आश्रय) है अर्थात् इसी सत्य आत्मा में बुद्धि तत्वादि प्रतिभासित होते हैं ॥५॥

एवन्त्विह स सर्वत्र प्राणेन परिपाल्यते ।
पृष्ठतस्तु समानेन स्वां स्वां गतिमपाश्रितः ॥६॥

इस अन्तरात्मा और बाह्य शरीर की यह प्राण वायु पुष्टि करता है। पीछे समान वायु होकर अपनी २ गति द्वारा भोजन पान को पचाता है ॥६॥

वस्तिमूले गुदे चैव पाचकं समुपाश्रितः ।
वहन्मूत्रं पुरीषं चाप्यपानः परिवर्त्तते ।।७।।

यही प्राणवायु, वस्ति मूल गुदा में सञ्चार करता है और जठराग्नि का सम्पर्क पाता है। फिर यह मूत्र और पुरीष को नीचे की ओर लाता हुआ अपान संज्ञाक हो जाता है ।।७।।

प्रयत्ने कर्मणि बले स एकस्त्रिषु वर्त्तते ।
उदानमिति तं प्राहुरध्यात्मविदुषो जनाः ।।८।।

यही एक वायु गमन आदि के प्रयत्न, गमन और बल का कारण होता है । अध्यात्मशास्त्रों के जानने वाले इसको उदान वायु कहते हैं ।।८।।

सन्धौ सन्धौ सन्निविष्टः सर्वेष्वपि तथानिलः ।
शरीरेषु मनुष्याणां व्यान इत्युपदिश्यते ।।९।।

मनुष्यों के सारे शरीरों की सन्धि २ में प्रविष्ट हुआ वायु, व्यान कहलाता है ।।९।।

धातुष्वग्निस्तु विततः स तु वायुसमीरितः ।
रसान् धातूंश्च दोषांश्च वर्त्तयन् परिधावति ।।१०।।

शरीर के सारे धातुओं में अग्नि व्यापक है । इसको वायु प्रज्वलित रखता है । यही रस-धातु, वातादि दोषों को ठीक रखता हुआ दौड़ता है ।।१०।।

प्राणानां सन्निपातात्तु सन्निपातः प्रजायते ।
उष्मा चाग्निरिति ज्ञेयो योऽन्नं पचति देहिनाम् ।।११

प्राणवायु के संघर्ष से इस अग्नि में भी संघर्ष होता है। शरीर में जो उष्मा (गर्मी) है, यही अग्नि है और यही मनुष्यों के भोजन किये हुए अन्न को पचाता है ॥११॥

समानोदानयोर्मध्ये प्राणापानौ समाहितौ ।
समन्वितस्त्वधिष्ठानं सम्यक् पचति पावकः ॥१२॥

समान और उदान वायु के मध्य में प्राण और अपान वायु रहते हैं। इन वायुओं से निष्पादित (प्रज्वलित) हुआ, अग्नि इन के अधिष्ठान शरीर को भली भांति पुष्ट करता है ॥१२॥

तस्यापि पायुपर्य्यन्तस्तथा स्याद् गुदसंज्ञितः ।
स्रोतांसि तस्माज्जायन्ते सर्वप्राणेषु देहिनाम् ॥१३॥

इस अग्नि का आवेश गुदा तक होता है, यहां गुद (अपान) संज्ञकवायु उत्पन्न होता है। मनुष्यों के शरीरों में समस्त वायुओं के सञ्चार के लिए इसी अग्नि और वायु के मेल से नाड़ी मार्ग प्रादुर्भूत होते हैं ॥१३॥

अग्निवेगवहः प्राणो गुदान्ते प्रतिहन्यते ।
स ऊर्ध्वमागम्य पुनः समुत्क्षिपति पावकम् ॥१४॥
पक्वाशयस्त्वधो नाभ्यामूर्ध्वमामाशयः स्थितः ।
नाभिमध्ये शरीरस्य प्राणाः सर्वे प्रतिष्ठिताः ॥१५॥

अग्नि के वेग का धारण करने वाला प्राणवायु, गुदा तक जाता है। यहीं फिर ऊपर की ओर आकर अग्नि को जलाता है। नाभि के नीचे पक्वाशय और ऊपर आमाशय है। शरीर में नाभि के मध्य में सारे प्राणों की स्थिति है ॥१५॥

प्रवृत्ता हृदयात् सर्वास्तिर्य्यगूर्ध्वमधस्तथा ।
वहन्त्यन्नरसान्नाड्यो दशप्राणप्रचोदिताः ॥१६॥

हृदय से ही इधर-उधर ऊपर-नीचे नाड़ियां फैली हुई हैं। दश वायु (प्राणादि पांच और नागादि पांच) द्वारा प्रेरित हुई नाड़ियां ही अन्न के रस को धारण करती हैं॥१६॥

योगिनामेष मार्गस्तु येन गच्छन्ति तत्परम् ।
जितक्लमाः समा धीरा मूर्द्धन्यात्मानमादधुः ॥१७॥
एवं सर्वेषु विततौ प्राणापानौ हि देहिषु ।

इन दश वायुओं का निरोध करना ही योगियों का मार्ग है। इसी मार्ग से सारे क्लेशों के विजेता, उदासीन धीर पुरुष ही, मस्तक (ब्रह्मरन्ध्र) में उस परमात्मा को प्राप्त कर लेते हैं। इस प्रकार सारे मनुष्यों के देहमें प्राण और अपान फैल रहे हैं॥१७॥

एकादशविकारात्मा कलासम्भारसम्भृतः ॥१८॥
मूर्त्तिमन्तं हि तं विद्धि नित्यं कर्म्मजितात्मकम् ।

दश इन्द्रियां और बुद्धि इन एकादश विकार वाले लिङ्ग-शरीर और प्राण, श्रद्धा, आकाश, वायु आदि सोलह कलाओं से समन्वित यह आत्मा है। इस प्रकार यह आत्मा, कर्मचक्र में फंसा हुआ मूर्तिमान् समझना चाहिये ॥१८॥

तस्मिन् यः संस्थितो ह्यग्निर्नित्यं स्थाल्यामिवाहितः॥
आत्मानं हि विजानीहि नित्यं योगिजितात्मकम् ।

स्थाली (देगची) में व्याप्त हुए अग्नि के तुल्य, इन कलात्मक शरीर में व्याप्त आत्मा को समझो, जो नित्य है और योगियों को गम्य है ॥१९॥

देवो यः संस्थितस्तस्मिन्नब्बिन्दुरिव पुष्करे ॥२०॥
क्षेत्रज्ञं तं विजानीहि नित्यं योगिजितात्मकम् ।

इस देह में जो देव स्थित है, वह कमलपत्र पर बिन्दु की तरह निर्लिप्त है। मनीषी, योग से बुद्धि (माया) के विजेता, नित्य, इसी देव को क्षेत्रज्ञ (परमात्मा) कहते हैं ॥२०॥

जीवात्मकानि जानीहि रजः सत्वं तमस्तथा ।
जीवमात्मगुणं विद्धि तथात्मानं परात्मकम् ॥२१॥

रज, तम और सत्व की उपाधि से ही इसकी जीवात्मा संज्ञा है। इस जीवात्मा को परमात्मा के गुण वाला और परमेश्वर को निर्गुण मानना चाहिए ॥२१॥

अचेतनं जीवगुणं वदन्ति स चेष्टते चेष्टयते च सर्वम् ।
ततः परं क्षेत्रविदो वदन्ति प्रावर्त्तयद्यो भुवनानि सप्त॥

इस शरीर को जीवात्मा का भोग का साधन कहा जाता है। यही आत्मा चेष्टा करता है और चेष्टा कराता है। इससे उत्कृष्ट परमात्मा को विद्वान् मानते हैं, जिससे सारे भुवनों की सृष्टि होती है ॥२२॥

एवं भूतेषु सर्वेषु भूतात्मा संप्रकाशते ।
दृश्यते त्वग्र्यया बुद्ध्या सूक्ष्मया ज्ञानवेदिभिः ॥२३॥

इस प्रकार सारे भूतों (प्राणी और पंचभूतों) में नित्य सिद्ध आत्मा प्रकाशित हो रहा है। यह सूक्ष्म और तीव्र बुद्धि से ब्रह्माकार वृत्ति वाले ज्ञानी पुरुषों को ही दृष्टिगोचर होता है।

चित्तस्य हि प्रसादेन हन्ति कर्म्म शुभाशुभम् ।
प्रसन्नात्मात्मनि स्थित्वा सुखमानन्त्यमश्नुते ॥२४॥

विशुद्ध चित्त वाला पुरुष, चित्त शुद्धि हो जाने से शुभ अशुभ कर्मों को दग्ध कर लेता हैं और आत्मा में बुद्धि का निवेश करके अपना सुख प्राप्त करता है ॥२४॥

लक्षणन्तु प्रसादस्य यथा तृप्तः सुखं स्वपेत् ।
निवाते वा यथा दीपो दीप्येत् कुशलदीपितः ॥२५॥

चित्त की प्रसन्नता का यही चिन्ह है, कि ज्ञानी पुरुष निर्द्वन्द होकर सुख से सोता है, जैसे कुशल पुरुष से बात रहित स्थान में प्रदीप्त किया हुआ दीपक, जलता रहता है ॥२५॥

पूर्वरात्रे परे चैव युञ्जानः सततं मनः ।
लघ्वाहारो विशुद्धात्मा पश्यन्नात्मानमात्मनि ॥२६॥
प्रदीप्तेनेव दीपेन मनोदीपेन पश्यति ।
दृष्ट्वात्मानं निरात्मानं स तदा विप्रमुच्यते ॥२७॥

रात्रि के पूर्व-भाग या पर-भाग में अपने मन को योग द्वारा हृदयमें लीन कर दे। इस प्रकार लघु (हल्का) आहार करने वाला, विशुद्ध चित्त पुरुष, अपने हृदय में ब्रह्म का साक्षात्कार कर सकता है। यह मनुष्य, प्रदीप्त दीपक की तरह अपने मनोमय दीपक से सब कुछ देखता है। अब यह इस निर्गुण आत्मा का अनुभव करके संसार के क्लेशों से छुट जाता है ॥२६-२७॥

सर्वोपायैस्तु लोभस्य क्रोधस्य च विनिग्रहः ।
एतत् पवित्रं लोकानां तपो वै संक्रमो मतः ॥२८॥

मनुष्य को सारे उपाय करके लोभ और मोह पर विजय प्राप्त करना चाहिए। यही जगत् में पवित्र तप है और यही पार कर देने वाला सेतु है ॥२८॥

नित्यं क्रोधात्तपो रक्षेत् धर्म्मं रक्षेच्च मत्सरात् ।
विद्यां मानापमानाभ्यामात्मानन्तु प्रमादतः ॥२९॥

ज्ञानी पुरुष, क्रोध से तप, ईर्ष्या द्वेष से धर्म, मानापमान से विद्या और प्रमाद से अपने आत्मा की सदा रक्षा करे ॥२९॥

आनृशंस्यं परो धर्म्मः क्षमा च परमं बलम् ।
आत्मज्ञानं परं ज्ञानं सत्यं व्रतपरं व्रतम् ॥३०॥

नीच वृत्ति नहीं रखना ही परम धर्म है। क्षमा परम बल है। आत्मज्ञान ही श्रेष्ठ ज्ञान है और सत्य का व्रत ही सर्वोत्कृष्ट व्रत है ॥३०॥

सत्यस्य वचनं श्रेयः सत्ये ज्ञानं हितं भवेत् ।
यद्भूतहितमत्यन्तं तद्वै सत्यं परं मतम् ॥३१॥

सत्य वचन सदा कल्याणकारी है और सत्य वचन में ही ज्ञान की स्थिति है। जिससे प्राणी मात्र का हित हो सके वह अनृत वचन सर्वोत्तम सत्य है ॥३१॥

यस्य सर्वे समारम्भा निराशीर्बन्धनाः सदा ।
त्यागे यस्य हुतं सर्वं स त्यागी स च बुद्धिमान् ॥३२॥

जिसके सारे कर्म, आशा तृष्णा से रहित हैं, वे कभी बन्धन के हेतु नहीं होते हैं और जिसने होम यज्ञादि के फल का त्याग कर दिया है, वही त्यागी और बुद्धिमान् है ॥३२॥

यतो न गुरुरप्येनं श्रावयेदुपपादयेत् ।
तं विद्याद् ब्रह्मणो योगं वियोगं योगसंज्ञितम् ॥३३॥

अब गुरु, इस मुमुक्षु को ब्रह्म का योग (ब्रह्म का विवेचन) शब्द से न सुनावे, किन्तु व्यवहार में अनुभव करा दे। इस आत्मा और चित्त के वियोग को वास्तव में ब्रह्म का संयोग ही कहना चाहिए ॥३३॥

न हिंस्यात् सर्वभूतानि मैत्रायणगतिश्चरेत् ।
नेदं जीवितमासाद्य वैरं कुर्वीत केनचित् ॥३४॥

किसी भी प्राणी की हिंसा न करे, किन्तु सबको मित्र की दृष्टि से देखे। इस अनित्य जीवन को पाकर किसी के साथ वैर नहीं करना चाहिए ॥३४॥

आकिञ्चन्यं सुसन्तोषो निराशित्वमचापलम् ।
एतदेव परं ज्ञानं सदात्मज्ञानमुत्तमम् ॥३५॥

संग्रह-हीनता, सन्तोष, अलोभ और चञ्चलता का त्याग ही परम ज्ञान है। यही ज्ञान उत्तम आत्मज्ञान का साधन है ॥३५॥

परिग्रहं परित्यज्य भवेद् बुद्ध्या यतव्रतः ।
अशोकं स्थानमासाद्य निश्चलं प्रेत्य चेह च ॥३६॥

अत्यन्त संग्रह का परित्याग करके जो साम्य-बुद्धि-द्वारा धार्मिक नियमों में दृढ़ रहता है, वह अशोक स्थान (वैराग्य) को पाकर लोक और परलोक में निश्चल सुखी हो जाता है ॥३६॥

तपोनित्येन दान्तेन मुनिना संयतात्मना ।
अजितं जेतुकामेन भव्यं सङ्गेष्वसङ्गिना ॥३७॥

नित्य तप में तत्पर, उदार, जितेन्द्रिय, मननशील, नहीं जीती हुई इन्द्रियों के जीतने की कामना वाले पुरुषों को, संसार के स्त्री, धनादि के सङ्गों से दूर ही रहना चाहिए ॥३७॥

गुणागुणमनासङ्गमेककार्य्यमनन्तरम् ।
एतत्तु ब्रह्मणो वृत्तमाहुरेकपदं सुखम् ॥३८॥

लोक और वेद को भी दुर्गम स्त्री आदि के सङ्ग से रहित, एक सर्वव्यापी आत्मा का कार्य, अज्ञान के हटने से सुलभ, ज्ञाता, ज्ञान, ज्ञेय के विभाग से शून्य, सुखदायी, ब्रह्म का स्थान (मोक्ष) माना गया है ॥३८॥

परित्यजति यो दुःखं सुखञ्चाप्युभयं नरः ।
ब्रह्म प्राप्नोति सोऽत्यन्तमसङ्गेन च गच्छति ॥३९॥

जो मनुष्य दुःखों में दुःखी होना और सुख में हर्षित होना, इन दोनों बातों को छोड़ देता है तथा जो विषयों के सङ्ग से रहित होकर आचरण करता है, वह अवश्य ब्रह्म को पा लेता है ॥३९॥

यथाश्रुतमिदं सर्वं समासेन द्विजोत्तम ।
एतत्ते सर्वमाख्यातं किं भूयः श्रोतुमिच्छसि ॥४०॥

इति श्रीमहाभारत आरण्यपर्वणि मार्कण्डेयसमास्यापर्वणि ब्राह्मणव्याधसंवादे द्वादशाधिकद्विशततमोऽध्यायः॥२१२॥

हे द्विजोत्तम ! मैंने यह वेद के अनुसार संक्षेप में सब कुछ कह दिया है। अब बताओ-आगे क्या सुनना चाहते हो ॥४०॥

इति श्रीमहाभारत वनपर्वान्तर्गत मार्कण्डेयसमास्यापर्व में ब्राह्मण और व्याध के सम्वाद का दो सौ बारहवां अध्याय समाप्त हुआ।

दो सौ तेरहवां अध्याय

मार्कण्डेय उवाच—

एवं संकथिते कृत्स्ने मोक्षधर्मे युधिष्ठिर ।
दृढ़ प्रीतमना विप्रो धर्म्मव्याधमुवाच ह ॥१॥

मार्कण्डेय ने कहा—हे युधिष्ठिर! इस प्रकार धर्म व्याध के मोक्ष धर्म का विवेचन कर देने पर ब्राह्मण, बड़ा ही प्रसन्न हुआ और धर्मव्याध से कहने लगा ॥१॥

न्याययुक्तमिदं सर्वं भवता परिकीर्तितम् ।
न तेऽस्त्यविदितं किञ्चिद्धर्मेष्विह हि दृश्यते ॥२॥

हे महाभाग! तुमने जितना विवेचन किया, वह सब न्याय से परिपूर्ण है। मुझे तो यह मालूम होता है, कि धर्म के विषय में तुम्हें कुछ अज्ञात नहीं है ॥२॥

व्याध उवाच—

प्रत्यक्षं मम यो धर्म्मस्तञ्च पश्य द्विजोत्तम ।
येन सिद्धिरियं प्राप्ता मया ब्राह्मणपुङ्गव ॥३॥

व्याध ने कहा—हे द्विजोत्तम! ब्राह्मण-श्रेष्ठ! तुम मेरे प्रत्यक्ष धर्म को देखो, जिसके कारण मैंने यह सब कुछ सिद्धि पाई है ॥३॥

उत्तिष्ठ भगवन् क्षिप्रं प्रविश्याभ्यन्तरं गृहम् ।
द्रष्टुमर्हसि धर्म्मज्ञ मातरं पितरञ्च मे ॥४॥

हे भगवन् ! अब शीघ्र उठो और घर के भीतर चलो । हे धर्मात्मन् ! वहां तुम मेरे माता और पिता के दर्शन करो ।।४।।

मार्कण्डेय उवाच—

इत्युक्तः स प्रविश्याथ ददर्श परमार्च्चितम् ।
सौधं हृद्यश्चतुः शालमतीव च मनोरमम् ।।५।।

मार्कण्डेय बोले—हे राजन् ! व्याध के इतना कहने पर यह गृह के भीतर गया । वहां इसने चहुं ओर शालाओं (कमरों) से युक्त, हृदय को पकड़ने वाले सुन्दर भवन को देखा ।।५।।

देवतागृहसङ्काशं दैवतैश्च सुपूजितम् ।
शयनासनसम्बाधं गन्धैश्च परमैर्युतम् ।।६।।

यह भवन देवों के गृहों के सदृश था और देवता गण स्वयं इसकी प्रशंसा करते थे, यह सोने बिछाने के वस्त्रों (गलीचे आदि) परिपूर्ण और सुगन्ध से सुरभित (महक) हो रहा था ।।६।।

तत्र शुक्लाम्बरधरौ पितरावस्य पूजितौ ।
कृताहारौ सुसन्तुष्टावुपविष्टौ वरासने ।।७।।
धर्म्मव्याधस्तु तौ दृष्ट्वा पादेषु शिरसापतत् ।

इस भवन में शुद्ध श्वेत वस्त्र पहने हुए, आदर योग इस के माता पिता, शिष्टाचार से युक्त, अत्यन्त सन्तुष्ट, उत्तम आसन (गलीचे) पर बैठे हुए थे । धर्मव्याध इन दोनों को देखकर और शिर रखकर चरणों में गिर गया ।।७।।

वृद्धावूचतुः----

उत्तिष्ठोत्तिष्ठ धर्मज्ञ धर्मस्त्वामभिरक्षतु ।
प्रीतौ स्वस्तव शौचेन दीर्घमायुरवाप्नुहि ।

गतिमिष्टां तपो ज्ञानं मेधाञ्च परमाङ्गतः ॥८॥

वृद्ध माता पिता बोले—हे धर्मज्ञ ! उठो उठो ! धर्म तेरी रक्षा करे। हम तेरे शुद्ध भाव से बड़े प्रसन्न हैं,तू दीर्घ आयु, मनोरथ, तप, ज्ञान और उत्तम बुद्धि को प्राप्त कर ॥८॥

सत्पुत्रेण त्वया पुत्र नित्यं काले सुपूजितौ ।
न तेऽन्यद्दैवतं किञ्चिद्दैवतेष्वपि वर्त्तते ॥९॥

हे पुत्र ! तू बड़ा सत्पुत्र है, हमारी नित्य पूजा करता है। तुझे तो इन देवों में हमारे सिवा अन्य कोई देवता भी पसन्द नहीं है ॥९॥

प्रयतत्वाद्द्विजातीनां दमेनासि समन्वितः ।
पितुः पितामहा ये च तथैव प्रपितामहाः ॥१०॥
प्रीतास्ते सततं पुत्र दमेनावाञ्च पूजया ।
मनसा कर्मणा वाचा शुश्रूषा नैव हीयते ॥११॥

द्विजातियों के भक्त होने से तू इन्द्रिय और मन के विजय से भी समन्वित है। तेरे इस दम और हमारी पूजा से तेरे परिवार के पितामह (दादा) प्रपितामहादि सब बड़े ही सन्तुष्ट हैं। मन, वाणी और कर्म से सम्पादन की हुई तेरी सेवा में कुछ भी त्रुटि नहीं है ॥१०-११॥

न चान्या हि तथाबुद्धिर्दृश्यते साम्प्रतं तव ।
जामदग्न्येन रामेण यथा वृद्धौ सुपूजितौ ॥१२॥
तथा त्वया कृतं सर्वं तद्विशिष्टञ्च पुत्रक ।
ततस्तं ब्राह्मणं ताभ्यां धर्मव्याधो न्यवेदयत् ॥१३॥

हे पुत्र ! तेरी बुद्धि तो इस समय परशुराम की सी दिखाई दे रही है। उससे इसमें कुछ भी भेद नहीं है। हे पुत्र ! जमदग्नि पुत्र परशुराम ने जिस तरह अपने वृद्ध माता-पिता की पूजा की है, तू ने वैसी ही क्या ? उससे भी अधिक पूजा कर दिखाई है। इसके अनन्तर धर्मव्याध ने अपने माता-पिताओं से इस ब्राह्मण का परिचय कराया ॥१२-१३॥

तौ स्वागतेन तं विप्रमर्चयामासतुस्तदा ।
प्रतिपूज्य च तां पूजां द्विजः पप्रच्छ तावुभौ ॥१४॥

इन दोनों ने ब्राह्मण का अत्यन्त स्वागत करके उसका सत्कार प्रदर्शित किया। ब्राह्मण ने भी उस सत्कार के बदले में उन वृद्धों का आदर करके यह पूछा—॥१४॥

स पुत्राभ्यां सभृत्याभ्यां कच्चिद्वां कुशलं गृहे ।
अनामयश्च वां कच्चित् सदैवेह शरीरयोः ॥१५॥

हे महानुभावो ! पुत्र, सेवकों सहित तुम्हारे घर में कुशल तो है और तुम्हारे शरीर में सदा रोग का अभाव तो रहता हैं ॥१५॥

वृद्धावूचतुः—

कुशलं नौ गृहे विप्र भृत्यवर्गे च सर्वशः ।
कच्चित्त्वमप्यविघ्नेन संप्राप्तो भगवन्निति ॥१६॥

वृद्धों ने कहा—हे विप्र ! हमारे घर और सेवक समूह में कुशल है। हे भगवन् ! तुम तो निर्विघ्नता से यहां तक आ पहुंचे हो ॥१६॥

मार्कण्डेय उवाच—

वाढमित्येव तौ विप्रः प्रत्युवाच मुदान्वितः ।
धर्मव्याधो निरीक्ष्याथ ततस्तं वाक्यमब्रवीत् ॥१७॥

ब्राह्मण ने भी बड़ी प्रसन्नता से उत्तर दिया, कि हां ? मैं निर्विघ्नता से यहाँ तक आ पहुंचा हूँ । अब धर्मव्याध ब्राह्मण की ओर देखकर बोला ॥१७॥

व्याध उवाच—

पिता माता च भगवन्नेतौ मे दैवतं परम् ।
यद्दैवतेभ्यः कर्त्तव्यं तदेताभ्यां करोम्यहम् ॥१८॥

हे भगवन् ! ये मेरे माता पिता मेरे बड़े देवता हैं । जो देवों के साथ किया जाता है, वह व्यवहार मैं इनके साथ करता हूं ।

त्रयस्त्रिंशद्यथा देवाः सर्वे शक्रपुरोगमाः ।
संपूज्याः सर्वलोकस्य तथा वृद्धाविमौ मम ॥१९॥

इन्द्र के सहित जो तेतीस देवता, जिस भांति लोक के पूज्य हैं, वैसे ही ये माता पिता मेरे पूज्य हैं ॥१९॥

उपहारानाहरन्तो देवतानां यथा द्विजाः ।
कुर्वन्ति तद्वदेताभ्यां करोम्यहमतन्द्रितः ॥२०॥

जिस भांति ब्राह्मण लोग देवों के सम्मुख भेंट अर्पण करते हैं, वैसे ही मैं भी बड़ी सावधानी से इनको भेंट समर्पण करता रहता हूं ॥२०॥

एतौ मे परम ब्रह्मन् पिता माता च दैवतम् ।
एतौ पुष्पैः फलै रत्नै स्तोषयामि सदा द्विज ॥२१॥

हे ब्रह्मन् ! ये मेरे माता पिता मेरे बड़े देवता हैं। हे द्विज ! मैं इनको सदा पुष्प, फल और रत्नादि की भेटों से सन्तुष्ट करता हूं ॥२१॥

एतावेवाग्नयो मह्यं यान् वदन्ति मनीषिणः ।
यज्ञा वेदाश्च चत्वारः सर्वमेतौ मम द्विज ॥२२॥

मनीषी लोग, जिस अग्नि को पवित्र कहते हैं, मेरे तो ये वही पवित्र अग्नि है। हे द्विज! मैं तो यज्ञ और चारों वेद इनको ही मानता हूं ॥२२॥

एतदर्थं मम प्राणा भार्य्या पुत्रः सुहृज्जनः ।
सपुत्रदारः शुश्रूषां नित्यमेव करोम्यहम् ॥२३॥

इनके निमित्त ही मेरे प्राण, भार्या, पुत्र और सुहृद जन है मैं तो अपने पुत्र और स्त्री के साथ इनकी ही सेवा नित्य करता रहता हूं ॥२३॥

स्वयञ्च स्नापयाम्येतौ तथा पादौ प्रधावये ।
आहारं सम्प्रयच्छामि स्वयञ्च द्विजसत्तम ॥२४॥

हे द्विज-श्रेष्ठ ! मैं स्वयं इनको स्नान कराता हूं, चरणों को धोता हूं और आहार अर्पण करता हूँ ॥२४॥

अनुकूलं तथा वच्मि विप्रियं परिवर्जये ।
अधर्मेणापि संयुक्तं प्रियमाभ्यां करोम्यहम् ॥२५॥

मैं इनके अनुकूल वचन बोलता हूं और इनके विप्रिय काम का परित्याग कर देता हूं। यदि कोई कार्य अधर्म से भी संयुक्त, इनको प्रिय हो--तो मैं उसके करने को भी उद्युक्त रहता हूँ ॥२५॥

धर्म्ममेव गुरुं ज्ञात्वा करोमि द्विजसत्तम ।
अतन्द्रितः सदा विप्र शुश्रूषां वै करोम्यहम् ॥२६॥

हे द्विजसत्तम ! मैं यह सब कुछ धर्म को गुरु (भारी) समझ कर ही करता हूं। हे विप्र ! मैं आलस्य छोड़कर सदा इनकी सेवा में तत्पर रहता हूं ॥२६॥

पञ्चैव गुरवो ब्रह्मन् पुरुषस्य बुभूषतः।
पिता माताग्निरात्मा च गुरुश्च द्विजसत्तम । २७॥

हे ब्रह्मन् ! कल्याण चाहने वाले पुरुष के पांच व्यक्ति पूज्य मानने चाहिए। (१) पिता, (२) माता, (३) आत्मा, (४) गुरु और (५) अग्नि ॥२७॥

एतेषु यस्तु वर्त्तेत सम्यगेव द्विजोत्तम ।
भवेयुरग्नयस्तस्य परिचीर्णास्तु नित्यशः ।
गार्हस्थ्ये वर्त्तमानस्य एष धर्म्मः सनातनः ॥२८॥

इति श्रीमहाभारत आरण्यपर्वणि मार्कण्डेयसमास्यापर्वणि द्विजव्याधसंवादे त्रयोदशाधिकद्विशततमोऽध्यायः॥२१३॥

हे द्विजोत्तम ! इनसे जो धर्मानुसार व्यवहार करता है, उसके अग्नि, नित्य हवन से सन्तुष्ट हुआ सा रहता है। गृहस्थाश्रम में रहने वाले पुरुष का यह सनातन धर्म है ॥२८॥

इति श्रीमहाभारत वनपर्वान्तर्गत मार्कण्डेयसमास्यापर्व में द्विज और व्याध के सम्वाद का दोसौ तेरहवां अध्याय सम्पूर्ण हुआ

दो सौ चौदहवां अध्याय

मार्कण्डेय उवाच—

गुरू निवेद्य विप्राय तौ मातापितरावुभौ ।
पुनरेव स धर्मात्मा व्याधो ब्राह्मणमब्रवीत् ॥१॥

मार्कण्डेय ने कहा—हे राजन् ! ब्राह्मण से अपने माता पिता की कथा कहकर फिर धर्मात्मा व्याध, उसी ब्राह्मण से बोला ॥१॥

प्रवृत्तचक्षुर्जातोऽस्मि संपश्य तपसो बलम् ।
यदर्थमुक्तोऽसि तया गच्छस्व मिथिलामिति ॥२॥
पतिशुश्रूषपरया दान्तया सत्यशीलया ।
मिथिलायां वसेद्व्याधः स ते धर्मान् प्रवक्ष्यति ॥३॥

तुम मेरे इन माता पिता की सेवा के बल को देखो, कि मैं दिव्य-दृष्टि हो गया हूं । जिस कारण से तुम्हें, पति की शुश्रूषा करने वाली, उदार, सत्य व्यवहार वाली, उस महिला ने कहा था, कि तुम मिथिलापुर को जाओ, वहां व्याध, तुमको धर्म का उपदेश करेगा । उसने इन माता पिता की सेवा को ही लक्ष्य करके कहा था ॥२-३॥

ब्राह्मण उवाच—

पतिव्रतायाः सत्यायाः शीलाढ्याया यतव्रत ।
संस्मृत्य वाक्यं धर्म्मज्ञ गुणवानसि मे मतः ॥४॥

हे व्रत-शील ! धर्मज्ञ ! सत्य आचरण करने वाली, सदाचारिणी, पतिव्रता के वाक्यों को स्मरण करके मुझे निश्चय हो गया, कि तुम गुणवान् (धर्मात्मा) हो ॥४॥

व्याध उवाच—

यत्तदा त्वं द्विजश्रेष्ठ तयोक्तो मां प्रति प्रभो ।
दृष्टमेव तया सम्यगेकपत्न्या न संशयः ॥५॥

व्याधने कहा--हे द्विज-श्रेष्ठ! उस पतिव्रता ने जब तुमको मेरे विषय में यह कहा- उसी समय उस पतिव्रता ने मेरे इस व्यवहार को धर्म-युक्त समझ लिया होगा, इसमें संशय नहीं है ॥५॥

त्वदनुग्रहबुद्ध्या तु विप्रैतद्दर्शितं मया ।
वाक्यञ्च शृणु मे तात यत्ते वक्ष्ये हितं द्विज ॥६॥

हे तात ! तुझ पर अनुग्रह करके मैंने यह सब कुछ दिखा दिया है ! हे द्विज ! अब जो मैं हितकारी वाक्य कहता हूं, तुम उसको ध्यान से सुनो ॥६॥

त्वया विनिकृता माता पिता च द्विजसत्तम ।
अनिसृष्टोऽसि निष्क्रान्तो गृहात्ताभ्यामनिन्दित ॥७॥

हे प्रशंसा के योग्य, द्विज-श्रेष्ठ ! तुमने अपने माता पिताओं का निरादर किया है । तुमको उन्होंने विदा नहीं दी और तुम घर से निकल आए हो ॥७॥

वेदोच्चारणकार्य्यार्थमयुक्तं तत् त्वया कृतम् ।
तव शोकेन वृद्धौ तावन्धीभूतौ तपस्विनौ ॥८॥

यद्यपि तुमने यह सब कुछ वेद के अध्ययन के लिए किया, परन्तु यह अनुचित ही हुआ है। तेरे शोक से वे दोनों दीन माता पिता अन्धे हो चुके हैं ॥८॥

तौ प्रसादयितुं गच्छ मा त्वां धर्मोऽत्यगादयम् ।
तपस्वी त्वं महात्मा च धर्मे च निरतः सदा ॥९॥
सर्वमेतदपार्थन्ते क्षिप्रं तौ सम्प्रसादय ।
श्रद्धत्स्व मम ब्रह्मन्नान्यथा कर्त्तुमर्हसि ॥१०॥
गम्यतामद्य विप्रर्षे श्रेयस्ते कथयाम्यहम् ।

अब तू उनके प्रसन्न करने को जा, इस प्रकार तेरा धर्म नष्ट नही होगा। तू तपस्वी, महात्मा है तथा नित्य धर्म के कार्यों में लगा रहता है, परन्तु ये सब का कार्य निरर्थक हैं। तू शीघ्र जा और उनको सन्तुष्ट कर। हे ब्रह्मन्! तू मेरे वचन में श्रद्धा कर और मेरे कथन के विरुद्ध न करना। हे ब्रह्मर्षे! अब तुम जाओ, मैंने तुमको यह कल्याण-कारी मार्ग बता दिया ॥९-१०॥

ब्राह्मण उवाच---—

यदेतदुक्तं भवता सर्वं सत्यमसंशयम् ।
प्रीतोऽस्मि तव भद्रन्ते धर्माचारगुणान्वित ॥११॥

ब्राह्मण ने कहा--हे धर्म और आचार के गुणों से युक्त! महाभाग! यह जो तुमने कहा है, यह निश्चय सारा सत्य है। मैं आज बड़ा प्रसन्न हो रहा हूं। अब तुम्हारा कल्याण हो ॥११॥

व्याध उवाच—

दैवतप्रतिमो हि त्वं यस्त्वं धर्म्ममनुव्रतः ।
पुराणं शाश्वतं दिव्यं दुष्प्राप्यमकृतात्मभिः ।
मातापित्रोः सकाशं हि गत्वा त्वं द्विजसत्तम ॥१२॥
अतन्द्रितः कुरु क्षिप्रं मातापित्रोर्हि पूजनम् ।
अतः परमहं धर्म्मं नान्यं पश्यामि कञ्चन ॥१३॥

व्याध बोला–हे ब्रह्मन् ! तू मेरा देवता है, क्योंकि तू धर्म के आचरण करने को तय्यार हो गया है। यह धर्म, सनातन, नित्य और दिव्य है। इसको क्षुद्र बुद्धि मनुष्य नहीं प्राप्त कर सकते हैं। हे द्विज-सत्तम ! अब तुम प्रथम माता पिता के पास जाओ और वहां सावधानी से उन माता पिता की सेवा करो। इस समय में तुम्हारा इससे अधिक अन्य धर्म नहीं देखता हूं ॥

ब्राह्मण उवाच—

इहाहमागतो दिष्ट्या दिष्ट्या मे सङ्गतं त्वया ।
ईदृशा दुर्लभा लोके नरा धर्म्मप्रदर्शकाः ॥१४॥

ब्राह्मण बोला-हे महात्मन् ! मुझे इसकी बड़ी प्रसन्नता है, कि मैं यहां आया और तुमसे मिला। तुम्हारे सदृश धर्म के प्रदर्शक मनुष्य मिलने दुर्लभ है ॥१४॥

एको नरः सहस्रेषु धर्म्मविद्विद्यते न वा ।
प्रीतोऽस्मि तव सत्येन भद्रन्ते पुरुषर्षभ ॥१५॥

हे पुरुषर्षभ ! मुझे तो आज विश्वास हो गया, कि सहस्रों मनुष्यों में शायद कोई एक हो धर्म का तत्व जानता हो या वह

भी न जानता हो । मैं तुम्हारे सत्य व्यवहार से बड़ा सन्तुष्ट हूं, तुम्हारा कल्याण हो ॥१५॥

पतमानोऽद्य नरके भवतास्मि समुद्धृतः ।
भवितव्यमथैवञ्च यद्दृष्टोऽसि मयानघ ॥१६॥

हे अनघ ! मैं तो नरक में गिरने जा रहा था, आज तुमने मेरा उद्धार कर दिया । यह मेरे कोई पूर्व कर्मों का उदय है, जिससे आपके ये दर्शन हो सके हैं ॥१६॥

राजा ययातिर्दौहित्रैः पतितस्तारितो यथा ।
सद्भिः पुरुषशार्दूल तथाहं भवता त्विह ॥१७॥

हे पुरुष-श्रेष्ठ ! जैसे राजा ययाति का उद्धार उसके महात्मा दौहितों ने कर दिया, वैसे ही आज आपने मेरा उद्धार किया है ॥१७॥

मातापितृभ्यां शुश्रूषां करिष्ये वचनात्तव ।
नाकृतात्मा वेदयति धर्माधर्मविनिश्चयम् ॥१८॥

अब मैं भी आपकी आज्ञानुसार माता और पिताओं की सेवा करूंगा । शुद्ध बुद्धि बिना कोई भी धर्म अधर्म का निश्चय नहीं कर सकता है ॥१८॥

दुर्ज्ञेयः शाश्वतो धर्मः शुद्रयोनौ हि वर्त्तते ।
न त्वां शुद्रमहं मन्ये भवितव्यं हि कारणम् ॥१९॥
येन कर्मविशेषेण प्राप्तेयं शूद्रता त्वया ।
एतदिच्छामि विज्ञातुं तत्वेन हि महामते ।
कामया ब्रूहि मे सर्वं सत्येन प्रयतात्मना ॥२०॥

सनातन धर्म के तत्व को जानना बड़ा कठिन है। तुम शूद्र-योनि में उत्पन्न हुए, परन्तु मैं तो तुमको शूद्र ही नहीं मानता हूं। इस शूद्रत्व का कारण पूर्व किसी कर्म का उदय है, जिस विशेष कर्म से तुमने यह शूद्र योनि पाई है—हे महामते !मैं उस कर्म को जानना चाहता हूं। यदि आपकी इच्छा हो तो आप इसको भी सावधानता के साथ सत्य २ सुना दीजिए ॥१९-२०॥

व्याध उवाच—

अनतिक्रमणीया वै ब्राह्मणा मे द्विजोत्तम।
शृणु सर्वमिदं वृत्तं पूर्वदेहे ममानघ ॥२१॥

व्याध ने कहा- हे द्विजोत्तम ! मैं ब्राह्मण के वचनों का उल्लङ्घन नहीं करता हूं। अब तुम इस वृत्तान्त को सुनो--ज मेरी पूर्व देह में हुआ है ॥२१॥

अहं हि ब्राह्मणः पूर्वमासं द्विजवरात्मजः।
वेदाध्यायी सुकुलो वेदाङ्गानाञ्च पारगः ॥२२॥
आत्मदोषकृतैर्ब्रह्मन्नवस्थामाप्तवानिमाम्।

मैं पूर्वजन्म में एक उत्तम ब्राह्मण का पुत्र होकर ब्राह्मण कुल में उत्पन्न हुआ था। मैं कुलीन, वेद का स्वाध्यायी और वेदाङ्गों का पारङ्गत था। मैंने अपने दोषों से ही यह योनि पाई है ॥२२॥

कश्चिद्राजा मम सखा धनुर्वेदपरायणः ॥२३॥
संसर्गाद्धनुषि श्रेष्ठस्ततोऽहमभवं द्विज।
एतस्मिन्नेव काले तु मृगयां निर्गतो नृपः ॥२४॥

सहितो योधमुख्यैश्च मन्त्रिभिश्च सुसंवृतः ।
ततोऽभ्यहन्मृगांस्तत्र सुबहूनाश्रमं प्रति ॥२५॥

हे ब्राह्मण ! धनुर्वेद में पारगामी एक राजा मेरा मित्र था। उसी की सङ्गति से मैंने भी धनुष चलाना बड़ी उत्तम रीति से सीख लिया। एक वार यह राजा शिकार खेलने लगा, इसके साथ मुख्य २ योधा और मन्त्री थे। इसने किसी आश्रम के पास मृगों को मार २ कर ढेर लगा दिया ॥२३-२५॥

अथ क्षिप्तः शरो घोरो मयापि द्विजसत्तम ।
ताडितश्च ऋषिस्तेन शरेणानतपर्वणा ॥२६॥

हे द्विजराज ! होनहार की बात है, कि मैंने भी घोर बाण छोड़ा। धनुष के झुके हुए पर्व से छुटे हुए उस बाणने ऋषि को विक्षत (जख्मी) जा किया ॥२६॥

भूमौ निपतितो ब्रह्मन्नुवाच प्रतिनादयन् ।
नापराध्याम्यहं किञ्चित् केन पापमिदं कृतम् ॥२७

हे ब्रह्मन् ! वह भूमि में गिर गया और तड़फड़ाता हुआ कहने लगा। मैंने किसी का कुछ अपराध नहीं किया, फिर यह पाप किसने कर डाला है ॥२७॥

मन्वानस्तं मृगञ्चाहं संप्राप्तः सहसा विभो ।
अपश्यंषिं तमृविद्धं शरेणानतपर्वणा ॥२८॥

हे महाभाग ! मैंने तो उसको (मृगचर्म ओढ़े होने के कारण) मृग समझा था, इसलिए मैं उसके पास दौड़कर पहुंचा। यहां

मैंने आनतपर्व अर्थात् अत्यन्त खैंचे हुए धनुष से छोड़ते हुए बाण से विंधा हुआ ऋषि देखा-॥२८॥

अकार्य्यकरणाच्चापि भृशं मे व्यथितं मनः ।
तमुग्रतपसं विप्रं निष्टनन्तं महीतले ॥२९॥

इस दुष्कर्म के कर देने से मेरा मन बड़ा ही दुःखी हुआ । मैं उस महातपस्वी, विप्र को भूमि पर चिल्लाता देखकर बड़ा व्याकुल हुआ ॥२९॥

अजानता कृतमिदं मयेत्यहमथाब्रुवम् ।
क्षन्तुमर्हसि मे सर्वमिति चोक्तो मया मुनिः ॥३०॥

मैंने इस ऋषि से कहा---हे भगवन्! मैंने तो यह पाप अज्ञान में कर डाला है---आप मुझे क्षमा करें ॥३०॥

ततः प्रत्यब्रवीद्वाक्यमृषिर्मां क्रोधमूर्च्छितः ।
व्याधस्त्वं भविता क्रूर शूद्रयोनाविति द्विज ॥३१॥

इति श्रीमहाभारत आरण्यपर्वणि मार्कण्डेयसमास्यापर्वणि ब्राह्मणव्याधसंवादे चतुर्दशाधिकद्विशततमोऽध्यायः २१४

हे द्विज! यह ऋषि क्रोध में भरकर मुझ से बोला---अरे क्रूर! तू शूद्रयोनि में जन्म लेकर व्याध बन जावेगा ॥३१॥

इति श्रीमहाभारत वनपर्वान्तर्गत मार्कण्डेयसमास्यापर्व में ब्राह्मण व्याध के सम्वाद का दो सौ चौदहवां अध्याय समाप्त हुआ ।

दो सौ पन्द्रहवां अध्याय

व्याध उवाच—

एवं शप्तोऽहमृषिणा तदा द्विजवरोत्तम ।
अभिप्रसादयमृषिं गिरा त्राहीति मां तदा ॥१॥

व्याध बोला---हे द्विजवरोत्तम ! जब ऋषि ने मुझे शाप दिया----तो मैंने रक्षा करो:----ऐसी आर्तवाणी से ऋषि को प्रसन्न कर लिया ॥१॥

अजानता मया कार्य्यमिदमद्य कृतं मुने ।
क्षन्तुमर्हसि तत्सर्वं प्रसीद भगवन्निति ॥२॥

हे मुने ! मैंने तो यह कार्य अज्ञान से किया है । हे भगवन् ! तुम प्रसन्न होकर मेरे इस अपराध को क्षमा करो ॥२॥

ऋषिरुवाच—

नान्यथा भविता शाप एवमेतदसंशयम् ।
आनृशंस्यात्वहं किञ्चित् कर्त्तानुग्रहमद्य ते ॥३॥

ऋषि ने कहा----मेरा शाप तो झूंठा हो नहीं सकता है--यह तो निश्चय इसी तरह होकर रहेगा । हां ? क्रूरता में कुछ न्यूनता कर सकता हूं । जो भी एक अनुग्रह ही होगा ॥३॥

शूद्रयोन्यां वर्त्तमानो धर्मज्ञो हि भविष्यसि ।
मातापित्रोश्च शुश्रूषां करिष्यसि न संशयः ॥४॥

तू शूद्रयोनि में उत्पन्न होकर भी धर्मज्ञ होगा और अपने माता पिता की सेवा करता रहेगा । यह निश्चय समझो ॥४॥

तया शुश्रूषया सिद्धिं महतीं समवाप्स्यसि ।
जातिस्मरश्च भविता स्वर्गञ्चैव गमिष्यसि ॥५॥

इस माता पिता की सेवा से तुम्हें बड़ी सिद्धि प्राप्त होगी। तुम अपने पूर्वजन्म का स्मरण रख सकोगे और अन्त में स्वर्ग प्राप्त करोगे ॥५॥

शापक्षये तु निर्वृत्ते भवितासि पुनर्द्विजः ।
एवं शप्तः पुरा तेन ऋषिणास्म्युग्रतेजसा ॥६॥

जब शाप की अवधि समाप्त हो जावेगी, तब फिर द्विज बन जावोगे--इस प्रकार उस उग्र-तेजस्वी ऋषि ने मुझे शाप दिया था।

प्रसादश्च कृतस्तेन ममैव द्विपदाम्वर ।
शरश्चोद्धृतवानस्मि तस्य वै द्विजसत्तम ॥७॥
आश्रमञ्च मया नीतो न च प्राणैर्व्ययुज्यत ।

हे मनुज-श्रेष्ठ ! ब्रह्मन् ! उस मुनि ने मुझ पर बड़ी कृपा की। मैंने उस ऋषि के शरीर से बाण निकाल दिया और उसके आश्रम में पहुँचा दिया। बड़े हर्ष की बात यह हुई, कि वह ऋषि मरा नहीं ॥७॥

एतत्ते सर्वमाख्यातं यथा मम पुराभवत् ।
अभितश्चापि गन्तव्यं मया स्वर्गं द्विजोत्तम ॥८॥

हे द्विजोत्तम ! यह मैंने तुमको सारी कथा सुना दी है, जो मेरे पूर्वजन्म में हुई है, सम्भव है---मैं थोड़े काल में ही स्वर्ग चला जाऊंगा ॥८॥

ब्राह्मण उवाच—

एवमेतानि पुरुषा दुःखानि च सुखानि च ।
आप्नुवन्ति महाबुद्धे नोत्कण्ठां कर्त्तुमर्हसि ।
दुष्करं हि कृतं कर्म जानता जातिमात्मनः ॥९॥

ब्राह्मण ने कहा—हे महा-बुद्धिमन् ! मनुष्य, इस तरह दुःख और सुख पाते ही रहते हैं। तुम उन सुखों को याद करके अपने को क्लेशित मत करो। तुम अपनी जाति को जानकर महान् दुष्कर कर्म कर रहे हो ॥९॥

लोकवृत्तान्ततत्वज्ञ नित्यं धर्मपरायण ।
कर्मदोषश्च वै विद्वन्नात्मजातिकृतेन वै ॥१०॥

हे लोक के वृत्तान्त जानने वाले ! धर्मात्मन् ! विद्वन् ! यह तो तुम्हारा पूर्वजन्म के कर्मों का दोष है, इस जन्म का दोष नहीं है।

कञ्चित्कालमुष्यतां वै ततोऽसि भविता द्विजः ।
साम्प्रतञ्च मतो मेऽसि ब्राह्मणो नात्र संशयः ॥११॥

अब तुम कुछ काल निवास करो और थोड़े काल में द्विज बन जाओगे। मैं तो तुमको अब भी ब्राह्मण ही मानता हूं, इसमें सन्देह नहीं है ॥११॥

ब्राह्मणः पतनीयेषु वर्त्तमानो विकर्मसु ।
दाम्भिको दुष्कृतः प्रायः शूद्रेण सदृशो भवेत् ॥१२

पतन करने वाले बुरे कर्मों में फंसा हुआ, दम्भी पाखण्डी ब्राह्मण, प्रायः शूद्र के सदृश ही माना गया है ॥१२॥

यस्तु शूद्रो दमे सत्ये धर्मे च सततोत्थितः ।
तं ब्राह्मणमहं मन्ये वृत्तेन हि भवेद्द्विजः ॥१३॥

जो शूद्र, दम, सत्य और धर्म में परायण है—मैं उसको ब्राह्मण कहता हूं, क्योंकि आचार से ही द्विज बनता है ॥१३॥

कर्मदोषेण विषमां गतिमाप्नोति दारुणाम् ।
क्षीणदोषमहं मन्ये चाभितस्त्वां नरोत्तम ॥१४॥

हे नरोत्तम ! आप कर्म के दोष से इस दारुण विषम गति को पा रहे हो। मेरा ख्याल है, कि तुम अब थोड़े ही समय में इस दोष से मुक्त हो जावोगे ॥१४॥

कर्त्तुमर्हसि नोत्कण्ठां त्वद्विधा ह्यविषादिनः ।
लोकवृत्तानुवृत्तज्ञा नित्यं धर्मपरायणाः ॥१५॥

तुम जैसे दुःख सुख नहीं मानने वाले मनुष्यों को उन पुरानी बातों को याद नहीं करना चाहिए । तुम तो संसार की गति जानते हो और धर्म के तत्व को पहचानने वाले हो ॥१५॥

व्याध उवाच—

प्रज्ञया मानसं दुःखं हन्याच्छारीरमौषधैः ।
एतद्विज्ञानसामर्थ्यं न बालैः समतामियात् ॥१६॥

व्याध ने कहा--मन के दुःखों को बुद्धि से और शरीर के रोगों को औषधियों से नष्ट करते रहना चाहिए। यह सब विज्ञान के बल से हो सकता है। मनुष्य को बालकों की तरह क्लेश को देखकर रो नहीं देना चाहिए ॥१६॥

अनिष्टसंप्रयोगाच्च विप्रयोगात् प्रियस्य च।
मनुष्या मानसैर्दुःखैर्युज्यन्ते चाल्पबुद्धयः ॥१७॥

अनिष्ट वस्तु के प्राप्त होने और इष्ट वस्तु के वियोग से थोड़ी बुद्धि वाले मनुष्य, मानसिक दुःखों से जलने लगते हैं।

गुणैर्भूतानि युज्यन्ते वियुज्यन्ते तथैवच।
सर्वाणि नैतदेकस्य शोकस्थानं हि विद्यते ॥१८॥

सारे प्राणी कभी रज आदि गुणों से उत्पन्न होने वाले, सुख दुःख में फंस जाते हैं और कभी इनसे मुक्त हो जाते हैं। किसी एक को ही सदा शोक नहीं घेरे रहता है ॥१८॥

अनिष्टश्चान्वितं पश्यंस्तथा क्षिप्रं विरज्यते।
ततश्च प्रतिकुर्वन्ति यदि पश्यन्त्युपक्रमात् ॥१९॥

यह पुरुष, अनिष्ट पदार्थ का संयोग सम्मुख देखकर उससे बहुत जल्दी दूर भागता है और यदि अनिष्ट पदार्थों का संयोग आरम्भ हो गया है, तो यह उनका प्रतिकार करने लगता है ॥१९॥

शोचतो न भवेत्किञ्चित् केवलं परितप्यते।
परित्यजन्ति ये दुःखं सुखं चाप्युभयं नराः ॥२०॥
त एव सुखमेधन्ते ज्ञानतृप्ता मनीषिणः।
असन्तोषपरा मूढाः सन्तोषं यान्ति पण्डिताः ॥२१॥

चिन्ता करने से कुछ नहीं बनता है, केवल सन्ताप मात्र होता है। जो मनुष्य दुःख सुख इन दोनों को छोड़ देता है, वे ही ज्ञान से सन्तुष्ट होने वाले मनीषी, सुखी होते हैं। मूर्ख तो

असन्तोष में मरते रहते हैं और पण्डित सन्तोष में तृप्त रहते हैं ॥२०-२१॥

असन्तोषस्य नास्त्यन्तस्तुष्टिस्तु परमं सुखम् ।
न शोचन्ति गताध्वानः पश्यन्तः परमां गतिम्॥२२॥

असन्तोष का तो अन्त ही नहीं है, संतोष में ही परम सुख है। जिन्होंने ज्ञान मार्ग प्राप्त कर लिया है, वे परमगति की ओर देखते हुए, किसी क्लेश को नहीं प्राप्त होते हैं ॥२२॥

न विषादे मनः कार्य्यं विषादो विषमुत्तमम् ।
मारयत्यकृतप्रज्ञं बालं क्रुद्ध इवोरगः ॥२३॥

कभी विषाद नहीं करना चाहिए, क्योंकि विषाद, बड़ा ही भारी विष है। बुद्धि-विहीन मूर्ख को क्रुद्ध सर्प की तरह विषाद मार डालता है ॥२३॥

यं विषादोऽभिभवति विक्रमे समुपस्थिते ।
तेजसा तस्य हीनस्य पुरुषार्थो न विद्यते ॥२४॥

विक्रम करने के समय जिस पर विषाद आक्रमण कर बैठता है, उस तेजोहीन पुरुष में फिर पुरुषार्थ ही नहीं उपज सकता है ॥२४॥

अवश्यं क्रियमाणस्य कर्म्मणो दृश्यते फलम् ।
न हि निर्वेदमागम्य किञ्चित् प्राप्नोति शोभनम्॥२५॥

किये हुए कर्मों का अवश्य फल होता है। जो निर्वेद (विषाद) को प्राप्त हो जाता है, उसको कुछ भी कल्याण प्राप्त नहीं हो सकता है ॥२५॥

अथाप्युपायं पश्येत दुःखस्य परिमोक्षणे ।
अशोचन्नारभेतैव मुक्तश्चाव्यसनी भवेत् ॥२६॥

जहां तक हो सके, मनुष्य, दुःख से छूटने के उपाय करे। जिसको चिन्ता नहीं होती है, वही दुःख से छूटने का उद्योग कर सकता है और जो उद्योगी है, वही क्लेशों से मुक्त हो सकता है ॥२६॥

भूतेष्वभावं सञ्चिन्त्य ये तु बुद्धेः परङ्गताः ।
न शोचन्ति कृतप्रज्ञाः पश्यन्तः परमाङ्गतिम् ॥२७॥

भूतों का अभाव निश्चित है, यह विचार कर तत्व ज्ञान से परब्रह्म को प्राप्त कर लेने वाले बुद्धिमान्, परमगति की ओर देखते हुए कुछ भी शोक नहीं करते हैं ॥२७॥

न शोचामि च वै विद्वन् कालाकाङ्क्षी स्थितोह्यहम् ।
एतैर्निर्दर्शनैर्ब्रह्मन्नावसीदामि सत्तम ॥२८॥

हे ब्रह्मन्! मैं कोई चिन्ता नहीं करता हूं—केवल समय की प्रतीक्षा कर रहा हूं। हे सत्तम! मैं तो इन निर्दशनों (दृश्यों) को देखकर कुछ पीड़ित सा होता हूं ॥२८॥

ब्राह्मण उवाच—

कृतप्रज्ञोऽसि मेधावी बुद्धिश्च विपुला तव ।
नाहं भवन्तं शोचामि ज्ञानतृप्तोऽसि धर्म्मवित् ॥२९॥

ब्राह्मण ने कहा----हे महात्मन्! तुम बड़ी सुलझी बुद्धि वाले मेधावी हो। तुम्हारी बड़ी विस्तृत बुद्धि है। तुम ज्ञान से

तृप्त और धर्म के जानने वाले हो। मैं तो तुम्हारा सोच करता नहीं हूं ॥२६॥

आपृच्छे त्वां स्वस्ति तेऽस्तु धर्म्मस्त्वां परिरक्षतु।
अप्रमादस्तु कर्त्तव्यो धर्मे धर्म्मभृताम्वर ॥३०॥

अब मैं तुम से विदा लेना चाहता हूं---तुम्हारा कल्याण हो। धर्म तुम्हारी रक्षा करे। हे धर्मभृताम्वर! तुम धर्म के आचरण करने में प्रमाद न करना ॥३०॥

मार्कण्डेय उवाच—

वाढमित्येव तं व्याधः कृताञ्जलिरुवाच ह ।
प्रदक्षिणमथो कृत्वा प्रस्थितो द्विजसत्तमः ॥३१॥

मार्कण्डेय ने कहा---हे राजन्! व्याध ने हाथ जोड़कर कहा---अच्छा ? पधारो। ब्राह्मण भी प्रदक्षिणा करके चल दिया।

स तु गत्वा द्विजः सर्वाः शुश्रूषाः कृतवांस्तदा ।
मातापितृभ्यां वृद्धाभ्यां यथान्यायं सुशंसितः॥३२॥

यह ब्राह्मण भी घर पहुंचा और इसने भी अपने वृद्ध माता पिता की न्यायानुकूल सब कुछ सेवा की। जिससे इसकी बड़ी प्रशंसा हुई ॥३२॥

एतत्ते सर्वमाख्यातं निखिलेन युधिष्ठिर ।
पृष्टवानसि यत्तात धर्मं धर्म्मभृताम्वर ॥३३॥

पतिव्रताया माहात्म्यं ब्राह्मणस्य च सत्तम ।
मातापित्रोश्च शुश्रूषा धर्म्मव्याधेन कीर्त्तिता ॥३४॥

हे धर्मभृताम्वर! तात! युधिष्ठिर! जो तुमने धर्म के विषय में प्रश्न किया है-- मैंने उस सब का उत्तर दे दिया। इस उपाख्यान में धर्मव्याध ने पतिव्रता का माहात्म्य, ब्राह्मण का महत्व, माता-पिता की सेवा का वर्णन, अच्छी तरह कह दिया है।

युधिष्ठिर उवाच—

अत्यद्भुतमिदं ब्रह्मन् धर्माख्यानमनुत्तमम्।
सर्वधर्म्मविदां श्रेष्ठ कथितं मुनिसत्तम ॥३५॥

युधिष्ठिर ने पूछा--हे ब्रह्मन्! यह तो बड़ा ही उत्तम और अद्भुत उपाख्यान है। हे सब धर्मों के जनने वालों में श्रेष्ठ! मुनिराज! आपने यह मुझे बड़े उत्तम ढंग से सुना दिया है॥३५॥

सुख श्रव्यतया विद्वन् मुहूर्त्त इव मे गतः।
न हि तृप्तोऽस्मि भगवन् शृण्वानो धर्ममुत्तमम्॥३६॥

इति श्रीमहाभारत आरण्यपर्वणि मार्कण्डेयसमास्यापर्वणि पतिव्रतोपाख्याने पञ्चदशाधिकद्विशततमोऽध्यायः॥२१५॥

हे विद्वन्! इस उपाख्यान के मधुर होने के कारण मेरा इतना लम्बा समय भी क्षण भर बीतने के तुल्य बीता है। हे भगवन्! मैं उत्तम २ धर्मों को सुनता हुआ तृप्त नहीं होता हूं॥३६॥

इति श्रीमहाभारत वनपर्वान्तर्गत मार्कण्डेयसमास्यापर्व में पतिव्रतोपाख्यान का दो सौ पन्द्रहवां अध्याय समाप्त हुआ।

❧

दो सौ सोलहवां अध्याय

वैशम्पायन उवाच—

श्रुत्वेमां धर्मसंयुक्तां धर्मराजः कथां शुभाम् ।
पुनः पप्रच्छ तमृषिं मार्कण्डेयमिदं तदा ॥१॥

वैशम्पायन बोले--हे जनमेजय ! धर्मराज राजा युधिष्ठिर, धर्म संयुक्त इस शुभ कथा को सुनकर फिर महर्षि मार्कण्डेय से पूछने लगे ॥१॥

युधिष्ठिर उवाच—

कथमग्निर्वनं यातः कथञ्चाप्यङ्गिराः पुनः ।
नष्टेऽग्नौ हव्यमवहदग्निर्भूत्वा महाद्युतिः ॥२॥

युधिष्ठिर बोले-हे ब्रह्मर्षे ! अग्निवन [जल] में कैसे प्रविष्ट हुआ और किस तरह महाकान्तिमान्, अङ्गिरा ऋषिने अग्नि के नष्ट हो जाने पर अग्नि बनकर हव्य को धारण किया ॥२॥

अग्निर्यदा त्वेक एव बहुत्वञ्चास्य कर्मसु ।
दृश्यते भगवन् सर्वमेतदिच्छामि वेदितुम् ॥३॥

हे भगवन् ! अग्नि तो एकही है, परन्तु याज्ञिक, कर्म-विशेषों में किस प्रकार भिन्न २ रूप धारण कर लेता है। मैं इन सब बातों को जानना चाहता हूं ॥३॥

कुमारश्च यथोत्पन्नो यथा चाग्नेः सुतोऽभवत् ।
यथा रुद्राच्च सम्भूतो गङ्गायां कृत्तिकासु च॥४॥

एतदिच्छाम्यहं त्वत्तः श्रोतुं भार्गवसत्तम।
कौतूहलसमाविष्टो याथातथ्यं महामुने ॥५॥

हे भार्गवसत्तम! महामुने! जिस तरह कुमार (स्कन्द) की उत्पत्ति हुई और वह अग्नि का पुत्र कहलाया तथा रुद्र से गङ्गा और कृत्तिका में उत्पन्न हुआ--मैं यह सब कुछ तुम से सुनना चाहता हूँ। इन बातों के जानने की मुझे बड़ी उत्कण्ठा है॥ ४--५॥

मार्कण्डेय उवाच—

अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम्
यथा क्रुद्धो हुतवहस्तपस्तप्तुं वनङ्गतः ॥६॥
यथा च भगवानग्निः स्वयमेवाङ्गिराभवत्।
सन्तापयंश्च प्रभया नाशयंस्तिमिराणि च ॥७॥

मार्कण्डेय ने कहा—हे राजन्! इस विषय में एक पुराना इतिहास कहा जाता है, उसमें जिस तरह भगवान् अग्नि कुपित हुआ और तप करने को वन में चला गया तथा स्वयं ही अङ्गिरा बन गया और अपनी चमक से सब को सन्तापित कर के अन्धकार का नाश किया----यह सब कुछ वर्णन आ जाता है। तुम इस इतिहास को ध्यान से सुनो॥ ६--७॥

पुराङ्गिरा महाबाहो चचार तप उत्तमम्।
आश्रमस्थो महाभागो हव्यवाहं विशेषयन् ॥८॥
तथा स भूत्वा तु तदा जगत्सर्वं व्यकाशयत्।
तपश्चरंस्तु हुतभुक् सन्तप्तस्तस्य तेजसा ॥९॥

हे महावाहो ! पूर्वकाल में महाभाग अङ्गिरा ऋषि आश्रम में निवास करके बड़ा उत्तम तप करने लगे। यह इस समय अग्नि से भी बढ़ गया। यह अति तेजस्वी होकर सारे जगत् को प्रकाशित करने लगा। अग्नि भी तप कर रहा था, वह भी इस अङ्गिरा के तेज से सन्तप्त हो उठा ॥ ८--९ ॥

भृशं ग्लानश्च तेजस्वी न च किञ्चित् प्रजज्ञिवान् ।
अथ सञ्चिन्तयामास भगवान् हव्यवाहनः ॥१०॥
अन्योऽग्निरिह लोकानां ब्रह्मणा सम्प्रकल्पितः ।
अग्नित्वं विप्रनष्टं सि तप्यमानस्य से तपः ॥११॥

अग्नि बड़ा क्लेशित हुआ, परन्तु उसको कुछ पता नहीं लगा। अत्यन्त प्रकाशवान अग्नि ने विचारा, कि ब्रह्मा ने लोकों में दूसरा अग्नि बना दिया दिखता है। मुझ तप करने वाले का अग्निपन नष्ट हो चुका है---यही प्रतीत होता है ॥१०--११॥

कथमग्निः पुनरहं भवेयमिति चिन्त्य सः ।
अपश्यदग्निवल्लोकांस्तापयन्तं महामुनिम् ॥१२॥

अब मैं कैसे फिर अग्नि बन सकता हूँ---यह यही विचारने लगा। इसने अग्नि की तरह लोकों को सन्तप्त करते हुए महामुनि अङ्गिरा को देखा ॥ १२ ॥

सोऽपासर्पच्छनैर्भीतस्तमुवाच तदाङ्गिराः ।
शीघ्रमेव भवस्वाग्निस्त्वं पुनर्लोकभावनः ॥१३॥
विज्ञातश्चासि लोकेषु त्रिषु संस्थानचारिषु ।

यह डरता हुआ, धीरे २ मुनि के पास पहुंचा। अङ्गिरा मुनि ने इससे कहा---हे अग्ने ! तुम शीघ्र ही फिर लोकों में मान्य

अग्नि बन जाओ; क्योंकि स्थावर-जङ्गम जीवधारी तीनों लोकों में तुम्हें सब अच्छी तरह जानते हैं ॥१३॥

त्वमग्निः प्रथमं सृष्टो ब्रह्मणा तिमिरापहः ।
स्वस्थानं प्रतिपद्यस्व शीघ्रमेव तमोनुद ॥१४॥

ब्रह्माजी ने प्रथम तुमको ही अन्धकार-नाशक, अग्नि बनाया है। हे अन्धकार-नाशक! अग्ने! तुम अपने स्थान को शीघ्र सम्हालो ॥१४॥

अग्निरुवाच—

नष्टकीर्तिरहं लोके भवान् जातो हुताशनः ।
भवन्तमेव ज्ञास्यन्ति पावकं न तु मां जनाः ॥१५॥

अग्नि ने कहा—हे मुने! लोकों में मेरी तो कीर्ति नष्ट हो चुकी—अब तो आप अग्नि बन गए हो। लोग तुमको ही अग्नि समझते हैं, मुझे तो भूल से गए हैं ॥१५॥

निक्षिपाम्यहमग्नित्वं त्वमग्नि प्रथमो भव ।
भविष्यामि द्वितीयोऽहं प्राजापत्यक एव च ॥१६॥

मैं तो अपने अग्निपन को छोड़ देता हूं। अब तुम प्रथम अग्नि बन जाओ। मैं तो द्वितीय प्राजापत्य नामक अग्नि रहूंगा।

अङ्गिरा उवाच—

कुरु पुण्यं प्रजास्वर्ग्यं भवाग्निस्तिमिरापहः ।
माञ्च देव कुरुष्वाग्ने प्रथमं पुत्रमञ्जसा ॥१७॥

अङ्गिरा बोला---प्रजा को स्वर्ग के लिए उपयोगी हवि को तुम धारण करो, क्योंकि तुम ही अन्धकार-नाशक अग्नि हो। हे अग्निदेव ! मुझे तो तुम शीघ्र केवल अपना प्रथम पुत्र बना लो।

मार्कण्डेय उवाच—

तच्छ्रुत्वाङ्गिरसो वाक्यं जातवेदास्तथाकरोत् ।
राजन् बृहस्पतिर्नामस तस्याङ्गिरसः सुतः ॥१८॥

मार्कण्डेय बोले---हे राजन् ! अङ्गिरामुनि के ये वचन सुनकर अग्नि ने वैसा ही किया। अङ्गिरा को अपना पुत्र बनाया। इस अङ्गिरा के बृहस्पति नामक पुत्र हुआ ॥१८॥

ज्ञात्वा प्रथमजं तन्तु वह्नेराङ्गिरसं सुतम् ।
उपेत्य देवाः पप्रच्छुः कारणं तत्र भारत ॥१९॥

हे भारत ! अग्नि का प्रथम पुत्र अङ्गिरा और उसके पुत्र बृहस्पति को सुनकर देवता आए और इसका कारण पूछने लगे ॥ १९ ॥

स तु पृष्टस्तदा देवैस्ततः कारणमब्रवीत् ।
प्रत्यगृह्णंस्तु देवाश्च तद्वचोऽङ्गिरसस्तदा ॥२०॥
तत्र नानाविधानग्नीन् प्रवक्ष्यामि महाप्रभान् ।
कर्म्मभिर्बहुभिः ख्यातान्नानार्थान् ब्राह्मणेष्विह ॥२१

इति श्रीमहाभारत आरण्यपर्वणि मार्कण्डेयसमास्यापर्वणि आङ्गिरसोपाख्याने षोड़शाधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥२१६

जब देवों ने अग्नि से बृहस्पति के विषय में पूछा--तो उसने सब कुछ कारण कह सुनाया। देवों ने आङ्गिरस (बृहस्पति) के विषय में [यह तुम्हारा गुरु है---] सब कुछ स्वीकार कर लिया। अब मैं ब्राह्मणों के कर्मविधि वाक्यों में जो नाना प्रकारके भिन्न२ प्रयोजनों को लेकर अनेक कर्मों से प्रसिद्ध, कान्तिमान् अग्नियों का वर्णन करूंगा ॥२०--२१॥

इति श्रीमहाभारत वनपर्वान्तर्गत मार्कण्डेयसमास्यापर्व में आङ्गिरसोपाख्यान का दो सौ सोलहवां अध्याय समाप्त हुआ।

दोसौ सत्रहवां अध्याय

मार्कण्डेय उवाच---

ब्रह्मणो यस्तृतीयस्तु पुत्रः कुरुकुलोद्वह ।
तस्याभवत् शुभा भार्य्या प्रजास्तस्याश्च मे शृणु ॥१॥

मार्कण्डेय ने कहा----हे कुरुकुलोद्वह ! ब्रह्माजी के तृतीय पुत्र (अङ्गिरा) की भार्या का नाम शुभा था। उसमें जो सन्तान उत्पन्न हुई, मैं तुमको वह सुनाता हूं ॥१॥

बृहत्कीर्त्तिर्बृहज्ज्योतिर्बृहद्ब्रह्मा बृहन्मनाः ।
बृहन्मन्त्रो बृहद्भासस्तथा राजन् बृहस्पतिः ॥२॥

इसके बृहत्कीर्ति (विशालकीर्ति) बृहज्ज्योति,(अत्यन्त प्रकाशमान) ब्रह्माद्ब्रह्मा (वेद का ज्ञाता) बृहन्मना (मनस्वी) बृहन्मन्त्र

(विचार-शील] बृहन्भास [प्रतिभाशाली,] बृहस्पति नामक पुत्र उत्पन्न हुआ था ये सात पुत्र उत्पन्न हुए ॥२॥

प्रजासु तासु सर्वासु रूपेणाप्रतिमाभवत् ।
देवी भानुमती नाम प्रथमाङ्गिरसः सुता ॥३॥

इसकी सारी पुत्रियों में रूप में अद्वितीय भानुमती [दिवसाभिमानिनी] नाम की पुत्री थी, जो अङ्गिरा की सबसे प्रथम पुत्री थी ॥३॥

भूतानामेव सर्वेषां तस्यां रागस्तदाभवत् ।
रागाद्रागेति यामाहुर्द्वितीयाङ्गिरसः सुताम् ॥४॥

प्राणियों का इसकी दूसरी पुत्री में बड़ा राग [प्रीति] था। इस राग के कारण अङ्गिरा की इस द्वितीय पुत्री का नाम रागा [रात्रि] था ॥४॥

यां कपर्दिसुतामाहुर्दृश्यादृश्येति देहिनः ।
तनुत्वात् सा सिनीवाली तृतीयाङ्गिरसः सुता ॥५॥

शिर में धारण करने से जिसको लोग कपर्दी [शंकर] की सुता कहते हैं, उस चन्द्रकला के सूक्ष्म होने से दृश्य-अदृश्य दो रूप हैं। अमावस्या में यह चन्द्रकला बहुत ही सूक्ष्म होती है। इसी कारण से अङ्गिरा की तृतीया पुत्री को सिनीवाली [चतुर्दशीयुक्त अमावस्या] कहते हैं ॥५॥

पश्यत्यर्चिष्मती भाभिर्हविर्भिश्च हविष्मती ।
षष्ठीमङ्गिरसः कन्यां पुण्यामाहुर्महिष्मतीम् ॥६॥

जिसमें चांदनी के प्रकाश में लोग देख सकते हैं, इससे अर्चिष्मती तथा [पौर्णमासी] जिसमें हवि से हवन किया जाताहै इससे हविष्मती [प्रतिपत्सहिता पूर्णिमा] तथा पुण्य जनक महिष्मती [चतुर्दशीयुक्ता पूर्णिमा] इन नामों वाली इसकी तीसरी कन्या थी ॥६॥

महामखेष्वाङ्गिरसी दीप्तिमत्सु महामते ।
महामतीति विख्याता सप्तमी कथ्यते सुता ॥७॥

हे महामते ! दीप्तिमान् महामखों में दीप्तिमती अङ्गिरा की सातवीं कन्या का नाम महामती [शुद्धअमावस्या] विख्यात था ।

यान्तु दृष्ट्वा भगवतीं जनः कुहुकुहायते ।
एकानंशेति तामाहुः कुहूमङ्गिरसः सुताम् ॥८॥

इति श्रीमहाभारत आरण्यपर्वणि मार्कण्डेयसमास्यापर्वणि
आङ्गिरसे सप्तदशाधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥२१७॥

जिस भगवती को देखकर मनुष्य कुहकुह करने लगते हैं अर्थात् विस्मित हो जाते हैं, उसी अङ्गिरा की पुत्री कुहू [प्रतिपद्युक्ता आमावस्या] को लोग एकानंशा [अल्पवंश वाली एक कलायुक्त अमावस्या] कहते हैं ॥८॥

इति श्रीमहाभारत वनपर्वान्तर्गत मार्कण्डेयसमास्यापर्व में अङ्गिरा के उपाख्यान का दो सौ सत्रहवां अध्याय पूरा हुआ ।

⁂

दो सौ अठारहवां अध्याय

मार्कण्डेय उवाच—

बृहस्पतेश्चान्द्रमसी भार्य्याभूद्या यशस्विनी ।
अग्नीन् साजनयत् पुण्यान् षडेकाञ्चापि पुत्रकाम् ॥१

मार्कण्डेय ने कहा—हे राजन्! बृहस्पति के चन्द्रमा से सम्बन्ध रखने वाली तारा नाम की स्त्री थी। इस यशस्विनी ने बड़े पवित्र छः अग्नि-पुत्र और एक पुत्री उत्पन्न की। जिसका नाम स्वाहा था ॥१॥

आहुतिष्वेव यस्याग्नेर्हविषाज्यं विधीयते ।
सोऽग्निर्बृहस्पतेः पुत्रः शंयुर्नाम महाव्रतः ॥२॥

जिस अग्नि को प्रधान आहुतियों में घृत की प्रथम हवि दी जाती है, उस महाव्रत, बृहस्पति के पुत्र, अग्नि का नाम शंयु था।

चातुर्मास्येषु यस्येष्ट्यांमश्वमेधेऽग्रजः पशुः ।
दीप्तो ज्वालैरनेकाभैरग्निरेषोऽथ वीर्य्यवान् ॥३॥

चतुर्मास में किये जाने वाले वैश्वदेव आदि पर्वों में तथा अश्वमेध यज्ञ में इष्टि के समीप जिसको सर्व प्रथम पशु बलि दिया जाता है, उसी अनेक ज्वालाओं से प्रदीप्त, वीर्यवान् बार्हस्पत्य अग्नि का नाम शंयु है ॥३॥

शंयोरप्रतिमा भार्य्या सत्यासत्याथ धर्मजा ।
अग्निस्तस्य सुतो दीप्तस्तिस्रः कन्याश्च सुव्रताः ॥४॥

इस शंयु की सुन्दरी भार्या का नाम सत्या था। यह सत्या धर्म की पुत्री थी। इसके भी दीप्तिमान् एक अग्नि-पुत्र था और तीन व्रतशील कन्याएं थीं ॥४॥

प्रथमेनाज्यभागेन पूज्यते योऽग्निरध्वरे।
अग्निस्तस्य भरद्वाजः प्रथमः पुत्रः उच्यते ॥५॥

यज्ञ में प्रथम आज्यभाग से जिस अग्नि का पूजन किया जाता है, वही भरद्वाज नामक अग्नि इसका प्रथम पुत्र था ॥५॥

पौर्णमास्येषु सर्वेषु हविषाज्यं स्रुचोद्यतम्।
भरतो नामतः सोऽग्निर्द्वितीयः शंयुतः सुतः ॥६॥

सारे पौर्णमास्य यज्ञों में स्रुवा से उठा कर आज्य की हवि दी जाती है, उस हवि का देवता भरत है, जो शंयु का दूसरा पुत्र होता है ॥६॥

तिस्रः कन्या भवन्त्यन्या यासां स भरतः पतिः।
भरतस्तु सुतस्तस्य भरत्येका च पुत्रिका ॥७॥

तीन अन्य की कन्याएं थीं, जिनका यह भरत पति था। इसके भरत (ऊर्ज) नामक ही पुत्र और भरती नाम की कन्या थी।

भरतो भरतस्याग्नेः पावकस्तु प्रजापतेः।
महानत्यर्थमहितस्तथा भरतसत्तम ॥८॥

भरण पोषण करने वाले, प्रजापति भरत अग्नि के पावक (अग्नि) ही पुत्र हुआ। हे भरत-सत्तम! यह महान् फल का दाता अत्यन्त तेजस्वी, अग्नि है ॥८॥

भरद्वाजस्य भार्य्या तु वीरा वीरस्य पिण्डदा ।
प्राहुराज्येन तस्येज्यां सोमस्येव द्विजाः शनैः ॥६॥

भरद्वाज की भार्या का नाम वीरा था, जो वीर नामक अग्नि के शरीर की रचने वाली कही जाती है। जिसकी घृत से सोम की तरह उसके साथ ही उसकी इज्या [आहुति] बताई जाती है ॥६॥

हविषा यो द्वितीयेन सोमेन सह युज्यते ।
रथप्रभूरयाध्वानः कुम्भरेताः स उच्यते ॥१०॥

जब इसको द्वितीय घृत की आहुति सोम के साथ दी जाती है, तब इसका नाम रथ-प्रभू, रयाध्वान और कुम्भरेता हो जाता है।

शरय्वां जनयन् सिद्धिं भानुं भाभिः समावृणोत् ।
आग्नेयं मानयन्नित्यमाह्वाने ह्येष सूयते ॥११॥

रथप्रभु ने शरयू नामक भार्या में सिद्धि नामक पुत्र उत्पन्न किया, जिसने अपनी चमक से सूर्य को भी ढक लिया। यह आग्नेय संज्ञक याग कहलाता है। इस याग के आह्वान करने से ही इसकी प्रशंसा होती है ॥११॥

यस्तु न च्यवते नित्यं यशसा वर्च्चसा श्रिया ।
अग्निर्निश्च्यवनो नाम पृथिवीं स्तौति केवलम् ॥१२॥

बृहस्पति का दूसरा पुत्र निश्च्यवन नामक अग्नि था। जो नित्य यश, तेज और कान्ति से हीन नहीं होता था। यह वाणी रूपी निश्च्यवन अग्नि पृथिवी की स्तुति करता था ॥१२॥

विपाप्मा कलुषैर्मुक्तो विशुद्धश्चार्चिषा ज्वलन् ।
विपापोऽग्निः सुतस्तस्य सत्यः समयधर्म्मकृत् ॥१३॥

पापरहित, मलिनता से मुक्त, विशुद्‌ध, ज्वालाओं से देदीप्यमान, क्लेशों से रहित, इसका सत्य नामक अग्नि पुत्र था । जो समयानुसार धर्म का आचरण करने वाला था या वाच्य वाचक सम्बन्ध का कर्ता था ॥१३॥

आक्रोशतां हि भूतानां यः करोतीह निष्कृतिम् ।
अग्निः स निष्कृतिर्नाम शोभयत्यभिसेवितः॥१४॥

जो रोने चिल्लाने वाले प्राणियों की निष्कृति [मुक्ति] कर देता है, उस अग्नि का निष्कृति [सत्य] नाम है जिसकी सेवा करने वाला मनुष्य भी तेजस्वी बन-जाता है ॥१४॥

अनुकूजन्ति येनेह वेदनार्त्ताः स्वयं जनाः ।
तस्य पुत्रः स्वनो नाम पावकः स रुजस्करः॥१५॥

दुःख से आक्रान्त जन, जिसके कारण स्वयं रोते चिल्लाते रहे, उस अग्नि का नाम स्वन है, जो सबको पीड़ा कारक है ॥१५॥

यस्तु विश्वस्य जगतो बुद्धिमाक्रम्य तिष्ठति ।
तं प्राहुरध्यात्मविदो विश्वजिन्नाम पावकम् ॥१६॥

जो समस्त संसार की बुद्‌धि पर आक्रमण करके स्थित हो, अध्यात्मज्ञानी उसको विश्वजित् नामक अग्नि कहते हैं ॥१६॥

अन्तरग्निः स्मृतो यस्तु भुक्तं पचति देहिनाम् ।
स जज्ञे विश्वभुक्नाम सर्वलोकेषु भारत ॥१७॥

हे भारत ! भणियों के उदर के भीतर जो अग्नि बताया जाता है और जो भोजन को पचाता रहता है, सारे लोकों में इस अग्नि नाम विश्वभुक् है। इस विश्वजित् अग्निसे यह विश्वभुक् अग्नि उत्पन्न हुआ ॥१७॥

ब्रह्मचारी यतात्मा च सततं विपुलव्रताः ।
ब्राह्मणाः पूजयन्त्येनं पाकयज्ञेषु पावकम् ॥१८॥

ब्रह्मचारी, जितेन्द्रिय, तथा महाव्रतशील, ब्राह्मण, पाकयज्ञोंमें इस अग्नि की पूजा करते हैं ॥१८॥

पवित्रा गोमती नाम नदी यस्याभवत् प्रिया ।
तस्मिन् कर्माणि सर्वाणि क्रियन्ते धर्म्मकर्तृभिः॥१९॥

इस अग्नि की पवित्र, गोमती नामक नदी धर्म की पत्नी बनी । इसी पावक में धर्मात्मा सारे काम करते हैं ॥१९॥

वड़वाग्निः पिबत्यम्भो योऽसौ परमदारुणः
ऊर्ध्वभागूर्ध्वभाङ्नाम कविः प्राणाश्रितस्तु सः॥२०॥

जो अत्यन्त दारुण वड़वाग्नि, समुद्र का जल पीता रहता है, यह ऊर्ध्वभाक् या ऊर्ध्व भाङ् नामक क्रान्तदर्शी प्राण अग्नि, वायु का आधार है ॥२०॥

उदग्द्वारं हविर्यस्य गृहे नित्यं प्रदीयते ।
ततः स्विष्टं भवेदाज्यं स्विष्टकृत् परमः स्मृतः॥२१॥

उत्तर के द्वार पर जिस घर में नित्य हवि डाली जाती है और घृत जिसको स्विष्ट अत्यन्त इष्ट होता है, उस अग्नि को स्विष्टकृत् कहते हैं ॥२०॥

यः प्रशान्तेषु भूतेषु मन्युर्भवति पावकः ।
क्रुद्धस्य तरसा जज्ञे मन्यन्ती चाथ पुत्रिका ॥२२॥

प्राणियों के शान्त होजाने पर पावक (बृहस्पति) क्रुद्ध होता है, उस समय जो पुत्री उत्पन्न होती है, उसका नाम मन्यन्ती है ॥२२॥

स्वाहेति दारुणा क्रूरा सर्वभूतेषु तिष्ठति ।
त्रिदिवे यस्य सदृशो नास्ति रूपेण कश्चन ॥२३॥

इसका स्वाहा नाम है, जो बड़ी दारुण और क्रूर है तथा सब प्राणियों में विद्यमान है। उसके रूप के सदृश तो स्वर्ग में भी कोई प्राणी नहीं हो सकता है ॥२३॥

अतुल्यत्वात् कृतो देवैर्नाम्ना कामस्तु पावकः ।
संहर्षाद्धारयन् क्रोधं धन्वी स्रग्वी रथे स्थितः॥२४॥
समरे नाशयेच्छत्रूनमोघो नाम पावकः ।
उक्थो नाम महाभाग त्रिभिरुक्थैरभिष्टुतः ।
महावाचन्त्वजनयत् समाश्वासं हि यं विदुः ॥२५॥

इति श्रीमहाभारत आरण्यपर्वणि मार्कण्डेयसमास्यापर्वणि आङ्गिरसे अष्टादशाधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥२१८॥

इसके अद्वितीय होने से देवों ने इस अग्नि की काम संज्ञा की । यह हर्ष के वेग से क्रोध को धारण करके धनुषधारी और माला पहिने हुए रथ में बैठकर चल दिया यह

अमोघ नामक अग्नि युद्ध में शत्रु का नाश कर सकता है। हे महाभाग ! उक्थ नामक अग्नि इसका पुत्र था, जिसकी तीन उक्थों से स्तुति की गई । इसने महावाच को पैदा किया, जिसको समाश्वास भी कहते हैं। [यह यज्ञ का आलङ्कारिक वर्णन किया है] ॥२४--२५॥

इति श्रीमहाभारत वनपर्वान्तर्गत मार्कण्डेयसमास्यापर्व में अङ्गिरा के उपाख्यान का दो सौ अट्ठारहवां अध्याय सम्पूर्ण हुआ ।

दो सौ उन्नीसवां अध्याय

मार्कण्डेय उवाच--

काश्यपो ह्यथ वाशिष्ठः प्राणश्च प्राणपुत्रकः ।
अग्निराङ्गिरसश्चैव च्यवनस्त्रिषुवर्च्चकः ॥१॥

मार्कण्डेय ने कहा-हे राजन् ! काश्यप [उक्थ] वासिष्ठ, प्राण पुत्र, प्राण अङ्गिरा से उत्पन्न अग्नि, च्यवन और वर्चक ये पांच ऋषि थे ॥१॥

अचरत् स तपस्तीव्रं पुत्रार्थे बहुवार्षिकम् ।
पुत्रं लभेयं धर्म्मिष्ठं यशसा ब्रह्मणा समम् ॥२॥

इस उक्थ ने पुत्र, के लिए बहुत वर्षों तक तीव्र तप किया । यह चाहता था, कि मैं यश में ब्रह्मा के सदृश धार्मिक पुत्र प्राप्त करूं ॥२ ॥

महाव्याहृतिभिर्ध्यातः पञ्चभिस्तैस्तदा त्वथ ।
जज्ञे तेजो महार्चिष्मान् पञ्चवर्णः प्रभावनः ॥३॥

इन पांचों मुनियों ने पञ्च महाव्याहृतियों से ध्यान किया, जिससे महादीप्तिमान् तेज उत्पन्न हुआ। जो पांच-वर्ण-वाला वंश का कर्ता बना ॥३॥

समिद्धोऽग्निः शिरस्तस्य बाहू सूर्य्यनिभौ तथा ।
त्वङ्नेत्रे च सुवर्णाभे कृष्णे जङ्घे च भारत ॥४॥

हे भारत ! इसका प्रदीप्त अग्नि के तुल्य शिर, सूर्य के सदृश बाहु, सुवर्ण के समान त्वचा और नेत्र तथा काली जंघाएं थी ॥४॥

पञ्चवर्णं स तपसा कृतस्तैः पञ्चभिर्जनैः ।
पाञ्चजन्यः श्रुतो देवः पञ्चवंशकरस्तु सः ॥५॥

इस पञ्चवर्ण को इन पांच ऋषियों ने उत्पन्न किया, इससे इसका नाम पाञ्चजन्य हुआ, जिससे पांच वंशों की प्रवृत्ति हुई॥५॥

दशवर्षसहस्राणि तपस्तप्त्वा महातपाः ।
जनयत् पावकं घोरं पितॄणां स प्रजाः सृजन् ॥६॥

इस महातपस्वी ने दश हज़ार वर्ष तक तप किया। सन्तान उत्पन्न करने में प्रवृत्त हुए इस पाञ्चजन्य ने पितरों के घोर अग्नि [दक्षिणाग्नि] को उत्पन्न किया ॥६॥

बृहद्रथन्तरं मूर्द्ध्नो वक्त्राद्वा तरसाहरौ ।
शिवं नाभ्यां बलादिन्द्रं वाय्वग्नी प्राणतोऽसृजत् ॥७

इसने विशाल मस्तक से रथन्तर, मुख से तरसाहर (वेग से आयु हरने वाले) तथा नाभि से रुद्र, बल से इन्द्र और प्राण से वायु तथा अग्नि को उत्पन्न किया ॥७॥

बाहुभ्यामनुदात्तौ च विश्वे भूतानि चैव ह ।
एतान् सृष्ट्वा ततः पञ्च पितृणामसृजत् सुतान् ॥८॥

बाहुओं से वेद संहिता और ब्राह्मण भाग, मन और इन्द्रियों के देवता और पंच महाभूतों को रच कर पितर संज्ञक पांच पुत्र उत्पन्न किए ॥८॥

बृहद्रथस्य प्रणिधिः काश्यपस्य महत्तरः ।
भानुरङ्गिरसो धीरः पुत्रो वर्चस्य सौभरः ॥६॥
प्राणस्य चानुदात्तस्तु व्याख्याताः पञ्चविंशतिः ।
देवान् यज्ञमुषश्चान्यान् सृजत् पञ्चदशोत्तरान् ॥१०॥

बृहद्रथ (वासिष्ठ) का प्रणिधि, कश्यप का महत्तर, अङ्गिरा का भानु और वर्चक का सौभर पुत्र था। जो बड़ा धीर था। प्राण का अनुदात्त पुत्र था। ये पञ्चविंशति पुरुषों का कथन कर दिया है। सबसे प्रथम यज्ञ के भाग को ग्रहण करने वाले पन्द्रह देवों को रचा ॥६-१०॥

सुभीममतिभीमञ्च भीमं भीमबलोबलम् ।
एतान् यज्ञमुषः पञ्च देवानां ह्यसृजत्तपः ॥११॥

सुभीम, अतिभीम, भीम, भीमबल और अबल, ये पांच यज्ञ-भाग के ग्रहणकर्ता पांच देवता, तप संज्ञक पांचजन्य से उत्पन्न हुए ॥११॥

सुमित्रं मित्रवन्तश्च मित्रज्ञं मित्रवर्द्धनम् ।
मित्रधर्माणमित्येतान् देवानभ्यसृजत्तपः ॥१२॥

सुमित्र, मित्रवान्, मित्रज्ञ, मित्रवर्धन, मित्र-धर्मा नामक देवों को भी तप संज्ञक पांचजन्य ने ही पैदा किया ॥१२॥

सुरप्रवीरं वीरञ्च सुवेशं सुरवर्चसम् ।
सुराणामपि हन्तारं पञ्चैतानसृजत्तपः ॥१३॥

सुरप्रवीर, वीर, सुवेश, सुरवर्चस और सुरहन्ता इन पांच असुरों को भी तप ने ही उत्पन्न किया ॥१३॥

त्रिविधं संस्थिता ह्येते पञ्च पञ्च पृथक् पृथक् ।
मुष्णन्त्यत्र स्थिता ह्येते स्वर्गतो यज्ञयाजिनः ॥१४॥

पृथक् २ पांच २ ग्रह, जो तीन पंक्तियों में गिनाए हैं, ये स्वर्ग में गये हुए यज्ञ द्वारा यजन करने वालों के इष्ट पदार्थों का अपहरण कर लेते हैं ॥ १४ ॥

तेषामिष्टं हरन्त्येते निघ्नन्ति च महद्धविः ।
स्पर्द्धया हव्यवाहानां निघ्नन्त्येते हरन्ति च ॥१५॥

ये उन यज्ञ द्वारा यजन करने वालों का इष्ट भी हर लेते हैं और उनकी हवि भी नष्ट कर देते हैं। ये हव्यवाहों (अग्नि) की स्पर्धा से हवि का अपहरण या नाश करते रहते हैं ॥१५॥

बहिर्वेद्यां तदा दानं कुशलैः सम्प्रवर्त्तितम् ।
तदेते नोपसर्पन्ति यत्र चाग्निः स्थितो भवेत् ॥१६॥

वेदी के बाहर इनको कुछ दे देना ही कुशल पुरुषों ने निश्चित कर दिया है, इससे ये वेदी पर नहीं जाते हैं, जहां अग्नि प्रज्वलित रहता है ॥१६॥

चिताग्नेरुद्वहन्नाज्यं पद्माभ्यां तत् प्रवर्त्तितम् ।
मन्त्रैः प्रशमिता ह्येते नेष्टं मुष्णन्ति यज्ञियम् ॥१७॥

पद्मों की तरह चक्राकार से प्रवर्तित किये हुए, चयन में चिता की अग्नि से ये हवि को ले जाते हैं। मन्त्रों से प्रशमन को प्राप्त हुए, ये असुर, यज्ञोपयोगी हवि का अपहरण नही कर पाते हैं ॥१७॥

बृहदुक्थस्तपस्यैव पुत्रो भूमिमुपास्थितः ।
अग्निहोत्रे हूयमाने पृथिव्यां सद्भिरिज्यते ॥१८॥

तप का पुत्र बृहदुक्थ, भूमि में स्थित हो गया । अग्निहोत्र करने के समय सज्जन पृथिवी में ही उसकी पूजा कर देते हैं ॥१८॥

रथन्तरश्च तपसः पुत्रोऽग्निः परिपठ्यते ।
मित्रविन्दाय वै तस्मै हविरध्वर्यवो विदुः ।
मुमुदे परमप्रीतः सह पुत्रैर्महायशाः ॥१९॥

इति श्रीमहाभारत आरण्यपर्वणि मार्कण्डेयसमास्यापर्वणि आङ्गिरसे एकोनविंशत्याधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥२१९॥

तप का पुत्र रथन्तर नामक अग्नि है। अध्वर्यु लोग, मित्र विन्द के लिए हवि अर्पण करते हैं। यह महायशस्वी, तप (पाञ्चजन्य) अपने पुत्रों के साथ प्रसन्नतापूर्वक आनन्द मनाता रहता है ॥१९॥

इति श्रीमहाभारत वनपर्वान्तर्गत मार्कण्डेयसमास्यापर्व में अङ्गिरसोपाख्यान में दो सौ उन्नीसवां अध्याय समाप्त हुआ।

दो सौ बीसवां अध्याय

मार्कण्डेय उवाच—

गुरुभिर्नियमैर्जातो भरतो नाम पावकः ।
अग्निः पुष्टिमतिर्नाम तुष्टः पुष्टिं प्रयच्छति ॥१॥

मार्कण्डेय बोले- हे राजन् ! बड़े २ नियमों से उत्पन्न हुआ भरत नामक अग्नि है, यह पुष्ट-मति (भरत) संज्ञक अग्नि, प्रसन्न होकर पुष्टि प्रदान करता है ॥१॥

भरत्येष प्रजाः सर्वास्ततो भरत उच्यते ।
अग्निर्यश्च शिवो नाम शक्तिपूजापरश्च यः ॥२॥

यह सारी प्रजा का भरण करता है,इस से इसका नाम भरत है; और जो शिव नाम का अग्नि है, वह शक्ति (चिच्छक्ति) की पूजा में तत्पर रहता है ॥२॥

दुःखार्त्तानाश्च सर्वेषां शिवकृत् सततं शिवः ।
तपसस्तु फलं दृष्ट्वा सम्प्रवृद्धं तपो महत् ॥३॥
उद्धर्त्तुकामो मतिमान् पुत्रो जज्ञे पुरन्दरः ।
उष्मा चैवोष्मणो जज्ञे सोऽग्निर्भूतेषु लक्ष्यते ॥४॥

यह शिव अग्नि, सारे दुःखार्तों का कल्याणकारी है। तप नामक अग्नि का बढ़ा हुआ ऐश्वर्य और महान् तप देखकर उसे ग्रहण करने के लिए मतिमान पुरन्दर नामक पुत्र हुआ। इस अग्नि की उष्मा से उष्मा नामक पुत्र उत्पन्न हुआ, यह उष्मा नामक अग्नि, भूतों में दिखाई देता है ॥४॥

अग्निश्चापि मनुर्नाम प्राजापत्यमकारयत् ।
शम्भुमग्निमथ प्राहुर्ब्राह्मणाः वेदपारगाः ॥५॥
आवसथ्यं द्विजाः प्राहुर्दीप्तमग्निं महाप्रभम् ।

तीसरे मनु नामक अग्नि ने प्रजापति पद प्राप्त किया । वेद-पार-गामी ब्राह्मण, चौथे अग्नि को शम्भु नाम से पुकारते हैं। अत्यन्त दीप्त, महाकान्तिधारी अग्नि को द्विज, आवसथ्याग्नि कहते हैं ॥५॥

ऊर्ज्जस्करान् हव्यवाहान् सुवर्णसदृशप्रभान् ॥६॥
ततस्तपो ह्यजनयत् पञ्चयज्ञसुतानिह ।

सुवर्ण के सदृश तेजधारी, प्रकाशमान. सोमभागी पांच अग्नियों को तप ने ही उत्पन्न किया ॥६॥

प्रशान्तेऽग्निर्महाभागः परिश्रान्तो गवाम्पतिः ॥७॥
असुरान् जनयन् घोरान्मर्त्यांश्चैव पृथग्विधान् ।

अस्तकाल में महाभाग, सूर्य श्रान्त होकर छुप जाता है या अग्नि में प्रविष्ट हो जाता है । यह इस समय घोर असुर और भिन्न २ मनुष्यों को उत्पन्न करता है ॥७॥

तपसश्च मनुं पुत्रं भानुश्चाप्यङ्गिराः सृजत् ॥८॥
बृहद्भानुन्तु तं प्राहुर्ब्राह्मणा वेदपारगाः ।

तप के पुत्र मनु और भानु को अङ्गिरा ने प्रादुर्भूत किया है । इसको वेद के पारङ्गत ब्राह्मण, बृहद्भानु कहते हैं ॥८॥

भानोर्भार्य्या सुप्रजा तु बृहद्भासा तु सूर्य्यजा ॥९॥
असृजेतान्तु षट् पुत्रान् शृणु तासां प्रजाविधिम्।

भानु की भार्या सुप्रजा, बड़ी चमकीलो सूर्य की पुत्री थी। इसने छः पुत्र उत्पन्न किये। अब तुम उनकी सन्तानों को सुनो।

दुर्बलानान्तु भूतानामसून् यः सम्प्रयच्छति॥१०॥
तमग्निं बलदं प्राहुः प्रथमं भानुतः सुतम्।

जो दुर्बल प्राणियों को प्राण प्रदान करते हैं, उसको बलद नामक अग्नि कहते हैं। यह भानु का प्रथम पुत्र माना जाता है॥१०॥

यः प्रशान्तेषु भूतेषु मन्युर्भवति दारुणः॥११॥
अग्निः स मन्युमान्नाम द्वितीयो भानुतः सुतः।
दर्शे च पौर्णमासे च यस्येह हविरुच्यते॥१२॥

जो शान्त प्राणियों में भी दारुण क्रोध उत्पन्न होता है यह भानु का द्वितीय मन्युमान् नामक पुत्र है। जिसको दर्श और पौर्णमास में हवि प्रदान की जाती है॥११-१२॥

विष्णुर्नामेह योऽग्निस्तु धृतिमान् नाम सोऽङ्गिराः।
इन्द्रेण सहितं यस्य हविराग्रयणं स्मृतम्॥१३॥

विष्णु नामक जो अग्नि है, उसी का धृतिमान या अङ्गिरा नाम है। इन्द्र के साथ इसको आग्रायण नामक हविः प्रदान की जाती है॥१३॥

अग्निराग्रायणो नाम भानोरेवान्वयस्तु सः।
चातुर्मास्येषु नित्यानां हविषां योनिरग्रहः॥१४॥

भानु का वंशज, आग्रायण नाम अग्नि है। यह अग्नेय आदि आठ अग्नियों का चातुर्मास्य संज्ञक यज्ञ में कारण है। इसी को अग्रह माना है॥१४॥

चतुर्भिः सहितः पुत्रैर्भानोरेवान्वयः स्तुभः ।
निशा त्वजनयत् कन्यामग्नीसोमावुभौ तथा ॥१५॥

चार पुत्रों के साथ स्तुभ भी भानु का वंशज है। निशा नाम की भानु (मनु) की तीसरी स्त्री है। निशा ने एक कन्या और अग्नि सोम नामक दो पुत्र उत्पन्न किये ॥१५॥

भानोरेवाभवद्भार्य्या सुषुवे पञ्च पावकान् ।
पूज्यते हविषाग्रेण चातुर्मास्येषु पावकः ॥१६॥

इस भानु की भार्या ने पांच पावक पुत्र और पैदा किए। यह पावक, चातुर्मास्य यज्ञ में उत्तम हवि द्वारा पूजा जाता है।

पर्ज्जन्यसहितः श्रीमानग्निर्वैश्वानरस्तु सः ।
अस्य लोकस्य सर्वस्य यः प्रभुः परिपठ्यते ॥१७॥

पर्जन्य (पार्जन्येष्टि) के साथ इस अग्नि का नाम वैश्वानर है। जो बड़ा दीप्तिमान है। यह इस सारे लोक का प्रभु कहा जाता है ॥१७॥

सोऽग्निर्विश्वपतिर्नाम द्वितीयो वै मनो सुतः ।
ततः स्विष्टं भवेदाज्यं स्विष्टकृत् परमस्तु सः ॥१८॥

मनु का द्वितीय पुत्र विश्वपति नामक अग्नि हैं। इसको घृत बड़ा इष्ट है, इससे इसको स्विष्टकृत् अग्नि भी कहते हैं ॥१८॥

कन्या सा रोहिणी नाम हिरण्यकशिपोः सुता ।
कर्म्मणासौ बभौ भार्य्या स वह्निः स प्रजापतिः १९

हिरण्यकशिपु की पुत्री वही रोहिणी कहलाती है। यह कर्म-भेद से भार्या बनी, नहीं तो यही अग्नि और यही प्रजापति है।

प्राणानाश्रित्य यो देहं प्रवर्त्तयति देहिनाम् ।
तस्य सन्निहितो नाम शब्दरूपस्य साधनः ॥२०॥

जो प्राणों का आश्रय लेकर प्राणियों की देह को प्रवर्तित करता है—यह सन्निहित नामक अग्नि है। यही शब्द और रूप के ग्रहण का साधन है ॥२०॥

शुक्लकृष्णगतिर्देवो यो बिभर्त्ति हुताशनम् ।
अकल्मषः कल्मषाणां कर्त्ता क्रोधाश्रितस्तु सः॥२१॥

शुक्ल (अर्चिरादि मार्ग) और कृष्ण, [धूमदिमार्ग] गति वाला यह देव [अग्नि] अन्य हुताशन [अग्नि] को पुष्ट करता है। यह शुक्ल मार्ग अकल्मष [अपुनरावृत्ति] वाला है और धूमादिमार्ग, क्रोधाश्रित काम्य कर्मों का कर्ता है ॥२१॥

कपिलं परमर्षिञ्च यम्प्राहुर्यतयः सदा ।
अग्निः स कपिलो नाम साङ्ख्ययोगप्रवर्त्तकः ॥२२॥

यति लोग जिसको महर्षि कपिल कहते हैं, यह अग्नि, साङ्ख्य-योग का प्रवर्तक कपिल ऋषि है ॥२२॥

अग्रं गच्छन्ति भूतानां येन भूतानि नित्यदा
कर्म्मस्विह विचित्रेषु सोऽग्रणीर्वह्निरुच्यते ॥२३॥

जिस अग्नि से नित्य प्राणी अन्य प्राणियों से आगे जाते हैं, इन विचित्र कर्मों में जो अग्नि है, वह अग्रणी कहाता है ॥२३॥

इमानन्यान् समसृजत् पावकान् प्रथितान् भुवि ।
अग्निहोत्रस्य दुष्टस्य प्रायश्चित्तार्थमुल्बणान् ॥२४॥

इन अन्य प्रसिद्ध, दुष्ट अग्निहोत्र के प्रायश्चित के लिए उवल्ए अग्नियों को रचा है ॥२४॥

संस्पृशेयुर्यदान्योन्यं कथञ्चिद्वायुनाग्नयः ।
इष्टिरष्टाकपालेन कार्य्या वै शुचयेऽग्नये ॥२५॥

किसी प्रकार वायु द्वारा एक अग्नि दूसरे से मिल जाता है, तो शुचि अग्नि के लिए अष्टाकपाल से इष्टि करनी चाहिए ।

दक्षिणाग्निर्यदा द्वाभ्यां संसृजेत तदा किल ।
इष्टिरष्टाकपालेन कार्य्या वै वीतयेऽग्नये ॥२६॥

जब दक्षिणाग्नि, इन दोनों अग्नियों से मिल जाता है, तब भी वीति नामक अग्नि के लिए अष्टाकपाल (आठ पात्रों में बने पुरोडाश हवि) से हवन करना चाहिए ॥२६॥

यद्यग्नयो हि स्पृश्येयुर्निवेशस्था दवाग्निना ।
इष्टिरष्टाकपालेन कार्य्या तु शुचयेऽग्नये ॥२७॥

यदि निवेश [मण्डप] स्थित अग्नि, दवाग्नि से मिल जावे, तो भी शुचि अग्नि के लिए अष्टाकपाल से इष्टि करनी चाहिए ॥२७॥

अग्निं रजस्वला वै स्त्री संस्पृश्येदग्निहोत्रिकम् ।
इष्टिरष्टाकपालेन कार्य्या वसुमतेऽग्नये ॥२८॥

अग्निहोत्र के अग्नि को यदि रजस्वला स्त्री छूले, तो वसुमान् अग्नि के लिए अष्टाकपाल से इष्टि करनी चाहिए ॥२८॥

मृतः श्रूयेत यो जीवः परेयुः पशवो यदा ।
इष्टिरष्टाकपालेन कार्य्या सुरमतेऽग्नये॥२९॥

जो कोई जीव को मरा हुआ सुन ले या इस समय कोई पशु मर जावे, तो सुरमान् अग्नि को अष्टाकपाल से हवन करे ॥२९॥

आर्त्तो न जुहुयादग्निं त्रिरात्रं यस्तु ब्राह्मणः ।
इष्टिरष्टाकपालेन कार्य्या स्यादुत्तराग्नये ॥३०॥

यदि रोगी यजमान, तीन रात तक हवन न कर सके, तो उत्तराग्नि में अष्टाकपाल से यजन करे ॥३०॥

दर्शश्च पौर्णमासश्च यस्य तिष्ठेत् प्रतिष्ठितम् ।
इष्टिरष्टाकपालेन कर्य्या पथिकृतेऽग्नये ॥३१॥

जो दर्श और पूर्णमास्य यज्ञों को नहीं करता है, वह भी पथिकृत अग्नि के लिए अष्टाकपाल द्वारा हवन करे ॥३१॥

सूतिकाग्निर्यदा चाग्निं संस्पशेदग्निहोत्रिकम् ।
इष्टिरष्टाकपालेन कार्य्या चाग्निमतेऽग्नये ॥३२॥

इति श्रीमहाभारत आरण्यपर्वणि मार्कण्डेयसमास्यापर्वणि आङ्गिरसे विंशत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥२२०॥

यदि अग्निहोत्र की अग्नि को सूतक की अग्नि स्पर्श कर ले, तो अग्निमान् अग्नि के लिए अष्टाकपाल से यज्ञ करे ॥३२॥

इति श्रीमहाभारत वनपर्वान्तर्गत मार्कण्डेयसमास्यापर्व में आङ्गिरसोपाख्यान का दो सौ बीसवाँ अध्याय समाप्त हुआ ।

दो सौ इक्कीसवां अध्याय

मार्कण्डेय उवाच—

आपस्य दुहिता भार्य्या सहस्य परमा प्रिया ।
भूपतिर्भुवभर्त्ता च जनयत् पावकं परम् ॥१॥

मार्कण्डेय बोले—हे राजन् ! जल में विदित सह की दुहिता [मुदिता] नाम की परमप्रिय भार्या थी । इस में भूलोक और भुवलोक के स्वामी सह ने अद्भुत नामक अग्नि को उत्पन्न किया ॥१॥

भूतानाञ्चापि सर्वेषां यं प्राहुः पावकं पतिम् ।
आत्मा भुवनभर्त्तेति सान्वयेषु द्विजातिषु ॥२॥

इस पावक को चारों प्रकार के सारे प्राणियों का पति माना गया है । उपदेश की परम्परा वाले द्विजातियों में इसको आत्मा और भुवनभर्ता कहते हैं ॥२॥

महताञ्चैव भूतानां सर्वेषामिह यः पतिः ।
भगवान् स महातेजा नित्यं चरति पावकः ॥३॥

यह पञ्च महाभूतों का भी पति था । यह ऐश्वर्यशील महातेजस्वी, पावक, नित्य देदीप्यमान रहता है ॥३॥

अग्निर्गृहपतिर्नाम नित्यं यज्ञेषु पूज्यते ।
हुतं वहति यो हव्यमस्य लोकस्य पावकः ॥४॥

गृहपति नामक अग्नि, नित्य यज्ञों में पूजा जाता है । इस जगत् के हवन किये हुए हव्य को यह पावक धारण करता है ४

अपां गर्भो महाभागः सहपुत्रो महाद्भुतः ।
भूपतिर्भुवभर्त्ता च महतः पतिरुच्यते ॥५॥

जल के भीतर महाभाग, सह का पुत्र महाद्भुत है। इस महाद्भुत का पिता भू और भुवपति वही सह कहा गया है ॥५॥

दहन्मृतानि भूतानि तस्याग्निर्भरतोऽभवत् ।
अग्निष्टोमे च नियतः क्रतुश्रेष्ठो भरतस्य तु ॥६॥

मरे हुए प्राणियों को जलाने वाला, अग्नि भरत कहाता है। इस भरत अग्नि की क्रिया विशेष अग्निष्टोम में नियत है ॥६॥

स वह्निः प्रथमो नित्यं देवैरन्विष्यते प्रभुः ।
आयान्तं नियतं दृष्ट्वा प्रविवेशार्णवं भयात् ॥७॥

इस समर्थ अग्नि [सह] को प्रथम देवता खोजते हैं। नियत नामक मृतक की अग्नि को देखकर यह अग्नि भय से समुद्र में घुस जाता है ॥७॥

देवास्तत्राधिगच्छन्ति मार्गमाणा यथादिशम् ।
दृष्ट्वा त्वग्निरथर्वाणं ततो वचनमब्रवीत् ॥८॥

अग्नि की खोज में घूमने वाले देवता, समुद्र पर पहुंचे। अग्नि, यहां अङ्गिरा ऋषि को देखकर यह वचन बोला ॥८॥

देवानां वह हव्यं त्वमहं वीर सुदुर्बलः ।
अथ त्वं गच्छ गच्छध्वं प्रियमेतत् कुरुष्व मे ॥९॥

हे वीर ! देवों की हव्य को देवों तक पहुंचा दो । मैं तो बड़ा ही दुर्बल हो रहा हूं । इसके बाद तुम मध्वक्ष [पिंगाक्ष अग्नि] पर जाओ और मेरे प्रिय कार्य का सम्पादन करो ॥९॥

प्रेष्य चाग्निरथर्वाणमन्यं देशं ततोऽगमत् ।
मत्स्यास्तस्य समाचख्युः क्रुद्धस्तानग्निरब्रवीत् ॥१०
भक्ष्या वै विविधैर्भावैर्भविष्यथ शरीरिणाम् ।
अथर्वाणं तथा चापि हव्यवाहोऽब्रवीद्वचः ॥११॥

अग्नि, [अङ्गिरा] अथर्वा को भेज कर आप अन्य प्रदेश को चला गया । मत्स्यों ने इसको बता दिया । इन से क्रुद्ध होकर अग्नि ने कहा ॥१०॥

हे मत्स्यो ! तुम मनुष्यों के अनेक रीति से भक्ष्य बनोगे । अब अग्नि ने अङ्गिरा से यह वचन कहा ॥११॥

अनुनीयमानो हि भृशं देववाक्याद्विचेतनः।
नैच्छद्वोढुं हविः सर्वं शरीरञ्चापि सोऽत्यजत् ॥१२॥

देवों ने भी इसकी बार २ प्रार्थना की, परन्तु इस मूर्ख ने हवि ले जाना स्वीकार नहीं किया और इसने अपना शरीर छोड़ दिया ॥१२॥

स तच्छरीरं सन्त्यज्य प्रविवेश धरान्तदा ।
भूमिं स्पृष्ट्वासृजद्धातून् पृथक् पृथगतीव हि ॥१३॥

सह नामक अग्नि, उस शरीर को छोड़कर पृथिवी में चला गया। इसने भूमि को रचकर पृथक् २ धातु [मनःशिलाआदि] को रचा ॥१३॥

पूयात् स गन्धं तेजश्च अस्थिभ्यो देवदारु च ।
श्लेष्मणः स्फाटिकं तस्य पित्तान्मारकतं तथा ॥१४

इसने अपने पूय [राध] से गन्ध और तेज, अस्थियों से देवदारु, श्लेष्मा [कफ] से स्फटिक मणि और पित्त से मरकत मणि की उत्पत्ति हुई ॥१४॥

यकृत् कृष्णायसं तस्य त्रिभिरेव प्रभुः प्रजाः ।
नखास्तस्याभ्रपटलं शिराजालानि विद्रुमम् ॥१५॥

इसने यकृत् से काले लोह को बनाया । इसके काष्ठ, पाषाण और लोह से प्रजा शक्तिशाली हुई । इसके नख, मेघसमूह और शिराओं का समूह विद्रुम [मूंगा] हुआ ॥१५॥

शरीराद्विविधाश्चान्ये धातवोऽस्याभवन्नृप ।
एवं त्यक्त्वा शरीरञ्च परमे तपसि स्थितः ॥१६॥

हे नृप ! शरीर से भिन्न भी अनेक भांति के धातु हुए । यह इस प्रकार शरीर को छोड़कर अत्यन्त तप में स्थित हो गया ॥१६

भृग्वङ्गिरादिभिर्भूयस्तपसोत्थापितस्तदा ।
भृशं जज्वाल तेजस्वी तपसाप्यायितः शिखी ॥१७॥

भृगु अङ्गिरा आदि ऋषियों ने इसको फिर तप के द्वारा उठाया । यह शिखी (अग्नि) अत्यन्त जलने लगा, क्योंकि यह तेजस्वी, तप से पुष्ट हो रहा है ॥१७॥

दृष्ट्वा ऋषिं भयाच्चापि प्रविवेश महार्णवम् ।
तस्मिन्नष्टे जगद्भीतमथर्वाणमथाश्रितम् ॥१८॥

यह अग्नि अब भी ऋषि को देखकर भय से महाभयकारी समुद्र में घुस गया। इसके नष्ट हो जाने पर जगत् भयभीत हो गया और अङ्गिरा की शरण में पहुंचा ॥१८॥

अर्चयामासुरेवैनमथर्वाणं सुरादयः ।
अथर्वा त्वसृजल्लोकानात्मनालोक्य पावकम् ॥१६॥

देवों ने भी अथर्वा की पूजा की इस अथर्वा ने पावक को देखकर लोकों की रचना की ॥१६॥

मिषतां सर्वभूतानामुन्ममाथ महार्णवम् ।
एवमग्निर्भगवता नष्टः पूर्वमथर्वणा ॥२०॥

इसने सब प्राणियों के देखते २ समुद्र मथ डाला। इस कार भगवान् अङ्गिरा मुनि ने पूर्व में अग्नि को नष्ट कर दिया।

आवृतः सर्वभूतानां हव्यं वहति सर्वदा ।
एवं त्वजनयद्धिष्ण्यान् वेदोक्तान् विविधान् बहून् २१

बुलाया हुआ अग्नि, सब भूतों की सदा हवि को ले जाता है। हे भारत ! इस प्रकार वेदोक्त अनेक वेदियों को रचना की।

विचरन् विविधान् देशान् भ्रममाणस्तु तत्र वै ।
सिन्धुं नदं पञ्चनदं देविकाथ सरस्वती ॥२२॥
गङ्गा च शतकुम्भा च सरयूर्गण्डसाह्वया ।
चर्मण्वती मही चैव मेध्या मेधातिथिस्तदा ॥२३॥
ताम्रावती वेत्रवती नद्यस्तिस्रोऽथ कौशिकी ।
तमसा नर्म्मदा चैव नदी गोदावरी तथा ॥२४॥
वेणोपवेणा भीमा च बड़वा चैव भारत ।

भारती सुप्रयोगा च कावेरी मुर्मुरा तथा ॥२५॥
तुङ्गवेणा कृष्णवेणा कपिला शोण एव च ।
एता नद्यस्तु धिष्ण्यानां मारतो याः प्रकीर्त्तिताः ॥

यह अग्नि अनेक देशों में पहुंचा और वहां चक्कर लगाने लगा। सिन्धु नद, पञ्चनद, देविका, सरस्वती, गङ्गा, शतकुम्भा, सरयू, गण्डसा, चर्मण्वती, मेध्या, मही, मेधातिथि ताम्रावती, वेत्रवती, तीन इकट्ठी नदी, कौशिकी, तमसा, नर्मदा, गोदावरी, वेणोपवेणा, भीम, वड़वा, भारती, सुप्रयोगा, कावेरी, मुर्मुरा, तुङ्गवेणा, कृष्णवेणा, कपिला, शोण आदि नदियां, इन यज्ञ स्थानों की माता कहाती हैं ॥२२-२६॥

अद्भुतस्य प्रिया भार्य्या तस्य पुत्रो विभूरसिः ।
यावन्तः पावकाः प्रोक्ताः सोमास्तावन्त एव तु २७

अद्भुत की प्रिया भार्या में उसका पुत्र विभूरसि उत्पन्न हुआ। जितनी पावक इसके सम्बन्ध में कही गई है, उतने ही सोम भी जान लेने चाहिए ॥२७॥

अत्रेश्चाप्यन्वये जाता ब्रह्मणो मानसा प्रजाः ।
अत्रिः पुत्रान् स्रष्टुकामांस्तानेवात्मन्यधारयत् ॥२८॥

ब्रह्मा की मानसी सृष्टि अत्रिवंश में भी प्रसिद्ध हुई। अत्रि ने भी पुत्र उत्पन्न करने चाहे, परन्तु फिर इसने उन्हीं अग्नि को अपने मन में पुत्र समझा ॥२८॥

तस्य तद्ब्रह्मणः कायान्निर्हरन्ति हुताशनाः ।
एवमेते महात्मानः कीर्त्तितास्तेऽग्नयो मया ॥२९॥

अप्रमेया यथोत्पन्नाः श्रीमन्तस्तिमिरापहाः ।
अद्भुतस्य तु माहात्म्यं यथा वेदेषु कीर्त्तितम् ॥३०॥
तादृशं विद्धि सर्वेषामेको ह्येष हुताशनः ।
एक एवैष भगवान् विज्ञेयः प्रथमोऽङ्गिरा ॥३१॥
बहुधा निःसृतः कायात् ज्योतिष्टोमक्रतुर्य्यथा ।

उस ब्रह्मा की काय से भी अग्नि निकलती हुई मानी है। हे राजन् ! इस प्रकार मैंने तुमको देदीप्यमान यज्ञ की अग्नियोंका वृत्तान्त सुना दिया है। जिस तरह ये विचार में भी नहीं आने वाले, कान्तिमान् अन्धकार नाशक, अग्नि उत्पन्न हुए, यह भी सब सुना दिया। इसके सिवा जिस तरह वेद में अद्भुत के महत्व का व्याख्यान किया है, वैसा ही तुमको समझ लेना चाहिए। ऐसा ही इन सब अग्नियों में हुताशन है। इसी अग्नि के प्रथम पुत्र अङ्गिरा को जानो। ज्योतिष्टोम क्रतु के तुल्य प्रकाशमान अग्नि अनेक भांति से अङ्गिरा से निकले हैं ॥१६-३१॥

इत्येष वंशः सुमहानग्नीनां कीर्त्तितो मया ।
योऽर्च्चितो विविधैर्मन्त्रैर्हव्यं वहति देहिनाम् ॥३२॥

इति श्रीमहाभारत आरण्यपर्वणि मार्कण्डेयसमास्यापर्वणि
आङ्गिरस एकविंशत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥२२१॥

मैंने यह महाविस्तृत अग्नियों का वंश सुना दिया है। यदि इसकी अनेक मन्त्रों से अर्चना की जावेगी, तो यह प्राणियों के हव्य को अभीष्ट स्थान पर ले जा सकेगा ॥३२॥

इति श्रीमहाभारत वनपर्वान्तर्गत मार्कण्डेयसमास्यापर्व में अङ्गिरा के उपाख्यान का दो सौ इक्कीसवां अध्याय समाप्त हुआ।

दो सौ बाईसवां अध्याय

मार्कण्डेय उवाच—

अग्नीनां विविधा वंशः कीर्त्तितास्ते मयानघ ।
शृणु जन्म तु कौरव्य कार्त्तिकेयस्य धीमतः ॥१॥

मार्कण्डेय ने कहा—हे निष्पाप ! धर्मराज, तुम से मैंने अग्नि के अनेक वंश कहे। अब तुम बुद्धिमान कार्तिकेय [स्कन्द] की उत्पत्ति सुनो ॥१॥

अद्भुतस्याद्भुतं पुत्रं प्रवक्ष्याम्यमितौजसः ।
जातं ब्रह्मर्षिभार्य्याभिर्ब्रह्मण्यं कीर्त्तिवर्द्धनम् ॥२॥

अमित--ओजस्वी, अद्भुत अग्नि के ब्रह्मर्षि की भार्या में, ब्रह्मनिष्ठ, कीर्ति का बढ़ाने वाला, एक अद्भुत [स्कन्द] पुत्र उत्पन्न हुआ ॥२॥

देवासुराः पुरा यत्ता विनिघ्नन्तः परस्परम् ।
तत्राजयन् सदा देवान् दानवा घोररूपिणः ॥३॥

पूर्व काल में देव और असुर टकरा गए और आपस में एक दूसरे को मारने लगे। भयङ्कर रूपधारी दानव, सदा देवों को जीत लेते थे ॥३॥

वध्यमानं बलं दृष्ट्वा बहुशस्त्रैः पुरन्दरः ।
स्वसैन्यनायकार्थाय चिन्ता माप भृशं तदा ॥४॥

इन्द्र ने जब अनेक शस्त्रों से अपनी सेनाका विध्वंस देखा, तो अपनी सेना के सेनापति के लिए अत्यन्त चिन्ता करने लगा।

देवसेनां दानवैर्हि भग्नां दृष्ट्वा महाबलः ।
पालयेद् वीर्य्यमाश्रित्य स ज्ञेयः पुरुषो मया ॥५॥

महावली इन्द्रने देवों की सेना को दानवों से पराजित देखकर विचारा, कि मुझे ऐसा पुरुष खोजना चाहिए, जो अपने पराक्रम का आश्रय लेकर इसकी रक्षा कर सके ॥५॥

स शैलं मानसं गत्वा ध्यायन्नर्थमिदं भृशम् ।
शुश्रावार्त्तस्वरं घोरमथ मुक्तं स्त्रिया तदा ॥६॥

यह मानस (मेरु) पर्वत पर गया और इसी बात की अत्यन्त चिन्ता करने लगा । इस समय इसने एक स्त्री (देवसेना रूपी) द्वारा किया हुआ घोर करुणाक्रन्दन सुना ॥६॥

अभिधावतु मां कश्चित् पुरुषस्त्रातु चैव ह ।
पतिश्च मे प्रदिशतु स्वयं वा पतिरस्तु मे ॥७॥

यह इस तरह चिल्ला रही थी, कि कोई पुरुष मेरे पास आवे और मेरी रक्षा करे । वह पुरुष या तो स्वयं मेरा पति बन जावे या अन्य पति खोजकर बतावे ॥ ७ ॥

पुरन्दरस्तु तामाह माभैर्नास्ति भयं तव ।
एवमुक्त्वा ततोऽपश्यत् केशिनं स्थितमग्रतः ॥८॥

इन्द्र ने उससे कहा—हे सुन्दरि ! तू डर मत । अब तुझको डर नहीं रहा है । इसने इतना ही कहा था, कि सामने ही खड़ा हुआ केशी दैत्य देखा ॥ ८ ॥

किरीटिनं गदापाणिं धातुमन्तमिवाचलम् ।
हस्ते गृहीत्वा कन्यां तामथैनं वासवोऽब्रवीत् ॥९॥

इस दैत्य ने मुकुट पहना रखा और गदा हाथ में ले रखी थी। यह गैरिकादि धातुओं से परिपूर्ण पर्वत सा दिखता था। इन्द्र ने कन्या का हाथ पकड़कर इस दैत्य से कहा ॥ ९ ॥

अनार्य्यकर्म्मन् कस्मात्त्वमिमां कन्यां जिहीर्षसि ।
वज्रिणं मां विजानीहि विरमास्याः प्रबाधनात् ॥१०।

हे अनार्य कर्म करने वाले असुर! तू इस कन्या का क्यों अपहरण करता है? मैं वज्र-धारी इन्द्र हूँ, तुम्हें यह भी मालूम होना चाहिए। तुम इस तरह की पीड़ा देने से अपना हाथ खैंच लो ॥ १० ॥

केश्युवाच—

विसृजस्व त्वमेवैनां शक्रैषा प्रार्थिता मया ।
क्षमन्ते जीवतो गन्तुं स्वपुरं पाकशासन ॥११॥

केशी ने कहा—हे इन्द्र! मैं इस कन्या को चाहता हूँ, अब तू इसको छोड़ दे। हे पाकशासन! मैं तुम्हें क्षमा कर दूँगा---जिससे तुम अपने पुर को कुशल के साथ पहुँच जाओगे ॥११॥

एवमुक्त्वा गदां केशी चिक्षेपेन्द्रवधाय वै ।
तामापतन्तींश्चिच्छेद मध्ये वज्रेण वासवः ॥१२॥

इतना कहकर केशी ने इन्द्र के मारने के लिए गदा छोड़ दी। इसको अपने ऊपर आती देखकर इन्द्र ने अपने वज्र से उसके टुकड़े २ कर डाले ॥ १२ ॥

अथास्य शैलशिखरं केशी क्रुद्धो व्यवासृजत्
तदापतन्तं संप्रेक्ष्य शैलशृङ्गं शतक्रतुः ॥१३॥

विभेद राजन् वज्रेण भुवि तन्निपपात ह ।
पतता तु तदा केशी तेन शृङ्गेण ताड़ितः ॥१४॥
हित्वा कन्यां महाभागां प्राद्रवद्भृशपीड़ितः ।

हे राजन्! केशी ने क्रुद्ध होकर इन्द्र के ऊपर पर्वत के शिखर को फैंका। जब शतक्रतु इन्द्र ने पर्वत के शिखर को अपने ऊपर गिरता देखा, तो इसने अपने वज्र से उसके भी टुकड़े कर दिए, जिससे वह पृथ्वी पर गिर पड़ा। गिरते हुए इस पर्वत के शृङ्ग से स्वयं केशी ही दब गया। यह दैत्य, अब पीड़ित होकर और कन्या को छोड़कर भाग निकला ॥ १३--१४ ॥

अपयातेऽसुरे तस्मिंस्तां कन्यां वासवोऽब्रवीत् ।
कासि कस्यासि किञ्चेह कुरुषे त्वं शुभानने ॥१५॥

इति श्रीमहाभारत आरण्यपर्वणि मार्कण्डेयसमास्यापर्वणि
स्कन्दोत्पत्तौ द्वाविंशत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥२२२॥

जब असुर भाग गया, तो इस कन्या से इन्द्र बोला--हे शुभानने! तुम कौन और किस की पुत्री तथा यहाँ क्या करने आई हो? ॥ १५ ॥

इति श्रीमहाभारत वनपर्वान्तगत मार्कण्डेयसमास्यापर्व में स्कन्द
की उत्पत्ति का दो सौ बाईसवाँ अध्याय समाप्त हुआ।

दो सौ तेईसवां अध्याय

कन्योवाच—

अहं प्रजापतेः कन्या देवसेनेति विश्रुता ।
भगिनी मे दैत्यसेना सा पूर्वं केशिना हृता ॥१॥

कन्या बोली—हे इन्द्र ! मैं प्रजापति की प्रसिद्ध देवसेना नामक कन्या हूं । मेरी बहन दैत्य सेना थी, जिसका पूर्वकाल में केशी ने अपहरण कर लिया ॥१॥

सदैवावां भगिन्यौ तु सखीभिः सह मानसम् ।
आगच्छावेह रत्यर्थमनुज्ञाप्य प्रजापतिम् ॥२॥

हम दोनों बहन, मानस [पर्वत] पर सखियों के साथ प्रजापति की आज्ञा लेकर विहार करने आती रहती थीं ।

नित्यश्चावां प्रार्थयते हर्त्तुं केशी महासुरः ।
इच्छत्येनं दैत्यसेना न चाहं पाकशासन ॥३॥

यह महासुर केशी, नित्य हमारे छीनने की चेष्टा करता रहता था । हे पाकशासन ! दैत्य-सेना तो उसे चाहने लगी, परन्तु मुझे वह पसन्द नहीं आया ॥३॥

सा हृतानेन भगवन् मुक्ताहं त्वद्बलेन तु ।
त्वया देवेन्द्र निर्दिष्टं पतिमिच्छामि दुर्जयम् ॥४॥

हे भगवन् ! इसने उसका तो अपहरण कर लिया और मैं तेरे बल के कारण उससे छुटकारा पा गई । हे देवेन्द्र ! अब तुम्हारा सूचित किया हुआ, कोई दुर्जय पति मैं चाहती हूं ॥४॥

इन्द्र उवाच—

मम मातृस्वस्रेया त्वं माता दाक्षायणी मम ।
आख्यातन्त्वहमिच्छामि स्वयमात्मबलं त्वया ॥५॥

इन्द्र ने कहा—तुम मेरी मौसी की बेटी हो। मेरी माता दाक्षायणी [अदिति] है। अब मैं तुमको अपना बल बता देना चाहता हूं ॥५॥

कन्योवाच—

अबलाहं महाबाहो पतिस्तु बलवान्मम ।
वरदानात् पितुर्भावी सुरासुरनमस्कृतः ॥६॥

कन्या ने कहा—हे महाबाहो ! मैं अबला हूं। ब्रह्माजी के वरदान से मेरा पति बलवान् होगा। जिसको सारे सुर असुर झुक जावेंगे ॥६॥

इन्द्र उवाच—

कीदृशन्तु बलं देवि पत्युस्तव भविष्यति ।
एतदिच्छाम्यहं श्रोतुं तव वाक्यमनिन्दिते ॥७॥

इन्द्र ने कहा—हे देवि ! तेरे पति का कैसा बल होगा। हे अनिन्दिते ! मैं यह तेरे ही वाक्यों से सुनना चाहता हूं ॥७॥

कन्योवाच—

देवदानवयक्षाणां किन्नरोरगरक्षसाम् ।
जेता यो दुष्टदैत्यानां महावीर्यो महाबलः ॥८॥
यस्तु सर्वाणि भूतानि त्वया सह विजेष्यति ।
स हि मे भविता भर्त्ता ब्रह्मण्यः कीर्त्तिवर्द्धनः ॥९॥

कन्या ने कहा--वह देव, दानव, यक्ष, किन्नर, उरग, राक्षस और दुष्ट दैत्यों का विजेता होगा। जो महापराक्रमी और महाबली होगा। जो तेरे साथ सारे प्राणियों को जीतेगा, वही ब्राह्मण रक्षक, कीर्तिशाली मेरा पति होगा ॥८-९॥

मार्कण्डेय उवाच---

इन्द्रस्तस्या वचः श्रुत्वा दुःखितोऽचिन्तयद्भृशम् ।
अस्या देव्याः पतिर्नास्ति यादृशं संप्रभाषते ॥१०॥

मार्कण्डेय ने कहा--हे राजन्! इन्द्र इसके वचन सुनकर बड़ा दुःखी हुआ और विचारने लगा। यह देवी जैसा पति बता रही है, ऐसा पति मिलना कठिन है ॥१०॥

अथापश्यत् स उदये भास्करं भास्करद्युतिः ।
सोमञ्चैव महाभागं विशमानं दिवाकरम् ॥११॥

इसके अनन्तर सूर्य के सदृश कान्तिवाले इन्द्र ने उदय पर्वत पर सूर्य को और इस सूर्य में प्रविष्ट होते हुए चन्द्रमा को देखा ॥११॥

अमावस्यां प्रवृत्तायां मुहूर्त्ते रौद्र एव तु ।
देवासुरञ्च संग्रामं सोऽपश्यदुदये गिरौ ॥१२॥

इन्द्र ने अमावस्या के प्रवृत्त होने पर इस रौद्र-मुहूर्त में उदय पर्वत पर देवासुर संग्राम के लक्षण देखे ॥१२॥

लोहितैश्च घनैर्युक्तां पूर्वां सन्ध्यां शतक्रतुः ।
अपश्यल्लोहितोदञ्च भगवान् वरुणालयम् ॥१३॥

भगवान् इन्द्र ने लाल बादलों से युक्त पूर्व दिशा में संध्या देखी और समुद्र में लाल पानी भरा हुआ दृष्टिगोचर होने लगा।

भृगुभिश्चाङ्गिरोभिश्च हुतं मन्त्रैः पृथग्विधैः ।
हव्यं गृहीत्वा वह्निश्च प्रविशन्तं दिवाकरम् ॥१४॥

भृगुवंशी और अङ्गिरावंशी ऋषियों से पृथक् २ मन्त्रों से किया हुआ हवन और हव्य ग्रहण करके सूर्य में प्रवेश करते हुए अग्नि को देखा ॥१४॥

पर्व चैव चतुर्विंशं तदा सूर्य्यमुपस्थितम् ।
तथा धर्म्मगतं रौद्रं सोमं सूर्य्यगतञ्च तम् ॥१५॥
समालोक्यैकतामेवं शशिनो भास्करस्य च ।
समवायन्तु तं रौद्रं दृष्ट्वा शक्रोऽन्वचिन्तयत्॥१६॥

चौबीसों पर्वकाल [अमावस्या और पूर्णिमा] उस समय सूर्य्य के पास एक बार में ही उपस्थित हो गए। इस दशा को प्राप्त हुआ, भयानक प्रतीत होने वाला चन्द्रमा, सूर्य के पास उपस्थित हुआ। इस प्रकार चन्द्र और सूर्य की एकता और इस भयानक संयोग को देखकर इन्द्र विचारने लगा! ॥१५--१६॥

सूर्य्याचन्द्रमसोर्घोरं दृश्यते परिवेषणम् ।
एतस्मिन्नेव रात्र्यन्ते महद्युद्धन्तु शंसति ॥१७॥

यह सूर्य और चन्द्र का मण्डल बड़ा घोर दिखाई दे रहा है। यह तो इस रात के अन्त में बड़े भारी युद्ध की सूचना दे रहा है॥ १७॥

सरित्सिन्धुरपीयन्तू प्रत्यसृग्वाहिनी भृशम् ।
शृगालिन्यग्निवक्त्रा तु प्रत्यादित्यं विराविणी।।१८।।

छोटी-वड़ी नदियाँ, प्रत्येक रक्त के सदृश जल वहा रही हैं। गीदड़ी आग उगलती हुई, सूर्य की ओर मुख करके चिल्ला रही है ।। १८ ।।

एष रौद्रश्च सङ्घातो महान् युक्तश्च तेजसा ।
सोमस्य वह्निसूर्य्याभ्यामद्भुतोऽयं समागमः ।।१९।।

यह वड़ा भयानक सङ्घात इकट्ठा हुआ है, जो महान् और तेज से युक्त है। चन्द्र का अग्नि और सूर्य के साथ समागम होना बड़ा ही अद्भुत कार्य है ।। १९ ।।

जनयेद्यं सुतं सोमः सोऽस्या देव्याः पतिर्भवेत् ।
अग्निश्चैतैर्गुणैर्युक्तः सर्वैरग्निश्च देवता ।।२०।।
एष चेज्जनयेद्गर्भं सोऽस्या देव्याः पतिर्भवेत् ।

यह चन्द्रमा, जिस पुत्र को उत्पन्न करे, वह इस देवी का पति हो सकता है। इन गुणों से युक्त अग्नि है और सव लोग अग्नि को देवता मानते हैं। यदि यह अग्नि, गर्भ को धारण करके पुत्र उत्पन्न कर दे, तो वह इस देवी का पति हो सकता है ।।२०।।

एवं सञ्चिन्त्य भगवान् ब्रह्मलोकं तदा गतः ।।२१।।
गृहीत्वा देवसेनान्तामवदत् स पितामहम् ।
उवाच चास्या देव्यास्त्वं साधु शूरं पतिं दिश ।।२२।।

हे राजन् ! ऐश्वर्यशील इन्द्र, इतना विचार कर इस देवसेना को लेकर ब्रह्मलोक में पहुँचा और ब्रह्माजी से कहने लगा---हे पितामह ! तुम इस देवी के शूरवीर पति का पता बताओ २१-२२

यथैव चिन्तितं कार्य्यं त्वया दानवसूदन ।
तथा स भविता गर्भो बलवानुरुविक्रमः ॥२३॥

हे दानवनाशक ! तुमने जिस तरह सोचा है, यह कार्य उसी तरह होगा । इस तरह ही यह गर्भ बलवान् और महापराक्रमी हो सकता है ॥२३॥

ब्रह्मोवाच—

स भविष्यति सेनानीस्त्वया सह शतक्रतो ।
अस्या देव्याः पतिश्चैव स भविष्यति वीर्य्यवान्॥२४॥

हे शतक्रतो ! इन्द्र ! वही पुत्र, तेरे साथ सेनापति होगा और वही वीर्यवान् इस देवी का पति होगा ॥२४॥

एतच्छ्रुत्वा नमस्तस्मै कृत्वासौ सह कन्यया ।
तत्राभ्यगच्छद्देवेन्द्रो यत्र देवर्षयोऽभवन् ॥२५॥
वशिष्ठप्रमुखा मुख्या विप्रेन्द्राः सुमहाबलाः ।

यह सुनकर इन्द्र ने कन्या के साथ ब्रह्मा को नमस्कार किया और फिर यह वहां पहुंचा, जहां देवर्षि वसिष्ठ आदि मुख्य २ महातपस्वी ब्रह्मर्षि विद्यमान थे ॥२५॥

भागार्थं तपसो धातुं तेषां सोमन्तथाध्वरे ॥२६॥
पिपासवो ययुर्देवाः शतक्रतुपरोगमाः ।

अपने २ तप के अनुसार यज्ञ में सोम का भाग पाने और उसके पीने के लिए इन्द्रादि देव भी वहां आए हुए थे ॥२६॥

इष्टिं कृत्वा यथान्यायं सुसमिद्धे हुताशने ॥२७॥
जुहुवुस्ते महात्मानो हव्यं सर्वदिवौकसाम् ।

इन महात्मा महर्षियों ने प्रदीप्त अग्नि में न्यायानुसार इष्टि करके सारे देवों को हव्य प्रदान करना आरम्भ किया ॥२७॥

समाहूतो हुतवहः सोऽद्भुतः सूर्य्यमण्डलात् ॥२८॥
विनिःसृत्य ययौ वह्निर्वाग्यतो विधिवत् प्रभुः ।
आगम्याहवनीयं वै तैर्द्विजैर्मन्त्रतो हुतम् ॥२९॥

जब अग्नि का आह्वान किया, तो वह अद्भुत अग्नि, सूर्य मण्डल से निकला और यह शक्तिशाली, अग्नि मौन होकर विधिपूर्वक यज्ञ मण्डल में पहुंचा। यह आहवनीय स्थल में आया और द्विजों ने मन्त्रों से इसको आहुति देना आरम्भ किया ॥२८-२९॥

स तत्र विविधं हव्यं प्रतिगृह्य हुताशनः ।
ऋषिभ्यो भरतश्रेष्ठ प्रायच्छत दिवौकसाम् ॥३०॥

हे भरत श्रेष्ठ ! यहां पर यह अग्नि, ऋषियों के हवि को ग्रहण करके देवों को प्रदान करने लगा ॥३०॥

निष्क्रामंश्चाप्यपश्यत् स पत्नीस्तेषां महात्मनाम् ।
स्वेष्वासनेषूपविष्टाः स्वपन्तीश्च यथासुखम् ॥३१॥

यज्ञ मण्डप से बाहर आते हुए, अग्नि ने उन महात्मा ऋषियों की पत्नियों को आसनों पर बैठी हुई तथा अपनी इच्छा के अनुसार लेटी हुई, देखा ॥३१॥

रुक्मवेदिनिभास्तास्तु चन्द्रलेखा इवामलाः ।
हुताशनार्च्चिःप्रतिमाः सर्वास्तारा इवाद्भुताः ॥३२॥

ये ऋषिपत्नी, सुवर्ण की वेदी के समान रंग वाली, निर्मल चन्द्रलेखा के सदृश उज्ज्वल, अग्नि की ज्वाला के समान देदीप्यमान, ताराओं की तरह अद्भुत थीं ॥३२॥

स तत्र तेन मनसा बभूव क्षुभितेन्द्रियः ।
पत्नीर्दृष्ट्वा द्विजेन्द्राणां वह्निः कामवशं ययौ ॥३३॥

अग्नि के मन में विकार उत्पन्न हो गया और इसकी इन्द्रियां क्षुभित हो उठी। ऋषियों की पत्नियों को देखकर अग्नि काम के वश में हो गया ॥३३॥

भूयः स चिन्तयामास न न्याय्यं क्षुभितो ह्यहम् ।
साध्व्यः पत्न्यो द्विजेन्द्राणामकामाः कामयाम्यहम्

इसने फिर सोचा—कि यह तो धर्म नहीं है, जो मैं कामातुर हो गया हूं। ये ऋषियों की पत्नी बड़ी साध्वी हैं। मैं इन काम शून्यों की कामना कर रहा हूं ॥३४॥

नैताः शक्या मया द्रष्टुं स्प्रष्टुं वाप्यनिमित्ततः ।
गार्हपत्यं समाविश्य तस्मात् पश्याम्यभीक्ष्णशः३५

बिना किसी विशेष कारण के मैं इन स्त्रियों को न तो देख सकता हूं और न छू सकता हूं। अब गार्हस्पत्य अग्नि के भवन में चलकर वहां से टकटकी बांध कर इनको देखूँगा ॥३५॥

मार्कण्डेय उवाच—

संस्पृशन्निव सर्वास्ताः शिखाभिः काञ्चनप्रभाः ।
पश्यमानश्च मुमुदे गार्हपत्यं समाश्रितः ॥३६॥

मार्कण्डेय ने कहा----यह अग्नि, गार्हस्पत्य अग्नि के पास पहुंचा। वहां अपनी शिखाओं से सुवर्ण के सदृश्य कान्तिवाली इन ऋषि-पत्नियों को छूकर प्रसन्न होने लगा। यह इनको टकटकी बांध कर देख रहा था ॥३६॥

निरुष्य तत्र सुचिरमेवं वह्निर्वशं गतः ।
मनस्तासु विनिःक्षिप्य कामयानो वराङ्गनाः॥३७॥

इस प्रकार ऋषिपत्नियों के वश में हुआ अग्नि, वहां बहुत काल तक रहा। यह उन सुन्दरियों की अभिलाषा कर रहा था और अपना मन उनको अर्पण कर चुका था ॥३७॥

कामसन्तप्तहृदयो देहत्यागविनिश्चितः ।
अलाभे ब्राह्मणस्त्रीणामग्निर्वनमुपागमत् ॥३८॥

यह काम से सन्तापित हृदय होकर मरने का निश्चय कर बैठा। जब इसको ऋषि पत्नियां प्राप्त नहीं हुई, तो यह अग्नि वन [जल] में प्रविष्ट हो गया ॥३८॥

स्वाहा तं दक्षदुहिता प्रथमं कामयत्तदा ।
सा तस्य छिद्रमन्वैच्छच्चिरात् प्रभृति भाविनी ॥३९॥
अप्रमत्तस्य देवस्य न च पश्यत्यनिन्दिता ।

दक्ष की पुत्री स्वाहा ने सर्व प्रथम अग्नि से मिलने की कामना की। यह सुन्दरी बहुत काल से उससे मिलने का मौका देख रही थी, परन्तु इस दोषशून्य कामिनी को सावधान अग्निदेव से मिलने का कोई मौका नहीं मिलता था ॥३९॥

सा तं ज्ञात्वा यथावत्तु वह्निं वनमुपागतम् ॥४०॥
तत्त्वतः कामसंतप्तं चिन्तयामास भाविनी ।
अहं सप्तर्षिपत्नीनां कृत्वा रूपाणि पावकम् ॥४१॥
कामयिष्यामि कामार्त्ता तासां रूपेण मोहितम् ।
एवं कृते प्रीतिरस्य कामावाप्तिश्च मे भवेत् ॥४२॥

इति श्रीमहाभारत आरण्यपर्वणि मार्कण्डेयसमास्यापर्वणि स्कन्दोत्पत्तौ त्रयोविंशत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः॥२२३॥

जब इसको पता लगा कि अग्नि वन में चला गया है और वह कामातुर है, तो इस भामिनी ने सोचा---मैं सप्तऋषियों की पत्नियों का रूप बनाकर अग्नि के पास जाऊंगी। यह इन ऋषि-पत्नियों के रूप से मोहित है, इससे मैं कामातुर, उससे अपनी इच्छा पूर्ण कर सकूंगी। इस तरह रूप बनाने से उसकी प्रीति मुझ पर होगी और मुझे मेरी अभिलाषा प्राप्त हो जावेगी ॥४०--४२॥

इति श्रीमहाभारत वनपर्वान्तर्गत मार्कण्डेयसमास्यापर्व में स्कन्द की उत्पत्ति का दो सौ तेईसवां अध्याय सम्पूर्ण हुआ।

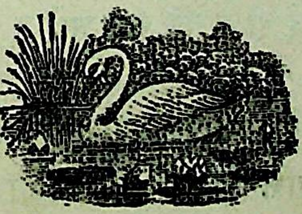

दो सौ चौबीसवां अध्याय

मार्कण्डेय उवाच—

शिवा भार्या त्वङ्गिरसः शीलरूपगुणान्विता ।
तस्याः सा प्रथमं रूपं कृत्वा देवी जनाधिप ॥१॥
जगाम पावकाभ्यासं तश्चोवाच वराङ्गना ।

मार्कण्डेय ने कहा- हे जनाधिप ! अङ्गिरा की भार्या का नाम शिवा था। यह शील, रूप और गुणों में अद्वितीय थी। इस स्वाहा ने प्रथम इसका रूप बनाया। यह सुन्दरी अग्नि के पास पहुंची और कहने लगी ॥१॥

मामग्ने कामसन्तप्तां त्वं कामयितुमर्हसि ॥२॥
करिष्यसि न चेदेवं मृतां मामुपधारय ।
अहमङ्गिरसो भार्य्या शिवा नाम हुताशन ।
शिष्टाभिः प्रहिता प्राप्ता मन्त्रयित्वा विनिश्चयम् ॥३॥

हे अग्नि ! मैं काम से सन्तप्त हूं, मुझ कामातुर के ग्रहण करने की तुम कामना करो। यदि तुम भी ऐसा न करोगे, तो मैं मर जाऊंगी। हे हुताशन ! मैं अङ्गिरा की शिवा नाम भार्या हूं। मैंने उत्तम २ स्त्रियों से सम्मति करके यह निश्चित किया है और उनकी भेजी हुई ही मैं तेरे पास आई हूं ॥२-३॥

अग्निरुवाच—

कथं मां त्वं विजानीषे कामार्त्तमितराः कथम् ।
यास्त्वया कीर्त्तिताः सर्वाःसप्तर्षीणां प्रियाः स्त्रियः॥४

अग्नि ने कहा--जो तूने सप्त-ऋषियों की स्त्रियों का कथन (जिक्र) किया, उन्होंने और तूने यह कैसे जाना, कि मैं कामार्त हूँ ॥४॥

शिवोवाच—

अस्माकं त्वं प्रियो नित्यं बिभीमस्तु वयं तव ।
त्वच्चित्तमिङ्गितैर्ज्ञात्वा प्रेषितास्मि तवान्तिकम् ॥५॥

शिवा बोली--तुम हमारे बड़े प्रिय हो, हम तुमसे बड़ी डरती हैं, चेष्टाओं से तेरे चित्त को जानकर तेरे पास मुझे भेजा है ॥५॥

मैथुनायेह संप्राप्ता कामं प्राप्तुं द्रुतश्चर ।
यातयो मां प्रतीक्षन्ते गमिष्यामि हुताशन ॥६॥

हे अग्ने ! मैं तेरे पास मैथुन को आई हूं, जिससे मेरे काम की सिद्धि होगी । अब तुम मुझ से शीघ्र सम्भोग करो । देवरानी जिठानी आदि मुझे देख लेंगी, इससे मैं शीघ्र जाना चाहती हूं ।

मार्कण्डेय उवाच—

ततोऽग्निरुपयेमे तां शिवां प्रीतां मुदायुतः ।
प्रीत्या देवी समायुक्ता शुक्रं जग्राह पाणिना ॥७॥

मार्कण्डेय ने कहा—हे राजन् ! अब अग्नि ने प्रसन्न होकर आसक्त शिवा से सम्भोग किया । इस देवी ने प्रेम से युक्त होकर अग्नि के वीर्य को हाथ में ले लिया ॥७॥

अचिन्त[illegible]न्ममेदं ये रूपं द्रक्ष्यन्ति कानने ।
ते ब्राह्मणीनामनृतं दोषं वक्ष्यन्ति पावके ॥८॥

५६

तस्मादेतद्रक्षमाणा गरुडी सम्भवाम्यहम् ।
वनान्निर्गमनञ्चैव सुखं मम भविष्यति॥ ९॥

इसने सोचा—जो कोई वन में मेरे इस रूप को देख लेगा--वह ब्राह्मणियां के साथ अग्नि के व्यभिचार का अनुमान कर लेगा। अब मुझे अपने को छुपाने के लिए गरुड़ पक्षी का रूप बना लेना चाहिए। इस तरह वन से निकल जाने का कार्य बड़े सुख से हो जावेगा ॥८--९॥

मार्कण्डेय उवाच—

सुपर्णी सा तदा भूत्वा निर्जगाम महावनात् ।
अपश्यत् पर्वतं श्वेतं शरस्तम्बैः सुसंवृतम् ।
दृष्टिविषैः सप्तशीर्षैर्गुप्तं भोगिभिरद्भुतैः ॥१०॥
रक्षोभिश्च पिशाचैश्च रौद्रैर्भूतगणैस्तथा ।
राक्षसीभिश्च सम्पूर्णमनेकैश्च मृगद्विजैः ॥११॥

मार्कण्डेय ने कहा--हे युधिष्ठिर! यह देवी, गरुड़ पक्षी का रूप धर के उस महावन से निकल गई। इसने श्वेत पर्वत देखा; जिसमें सरकन्नों के झुंड के झुंड खड़े थे। यह पर्वत, दृष्टि में विष धारण करने वाले सात शिर के अद्भुत २ सर्पों से सुरक्षित राक्षस, पिशाच, भयानक भूतगण, राक्षसी और अनेक वनैले जन्तु तथा पक्षियों से भरा खड़ा था ॥१०--११॥

सा तत्र सहसा गत्वा शैलपृष्ठं सुदुर्गमम् ।
प्राक्षिपत् काञ्चने कुण्डे शुक्रं सा त्वरिता शुभा॥१२॥

यह शीघ्रता से उस दुर्गम पर्वत के शिखर पर पहुंची और उस सुन्दरी ने सुवर्ण के कुण्ड में उस वीर्य को जल्दी से डाल दिया ॥१२॥

सप्तानामपि सा देवी सप्तर्षीणां महात्मनाम् ।
पत्नीसरूपतां कृत्वा कामयामास पावकम् ॥१३॥

इस देवी ने इसी तरह क्रम २ से सप्तर्षियों की भार्याओं का रूप बनाया और अग्नि के पास पहुंच कर कामवासना की पूर्ति की ॥१३॥

दिव्यं रूपमरुन्धत्याः कर्त्तुं न शकितं तया ।
तस्यास्तपः प्रभावेण भर्त्तुःशुश्रूषणेन च ॥१४॥

इस देवी से अरुन्धती का दिव्य रूप धारण नहीं किया गया, क्योंकि उसका तप और भर्ता की सेवारूप पातिव्रत्य का बड़ा प्रभाव था ॥१४॥

षट्कृत्वस्तत्तु निःक्षिप्तमग्नेरेतः कुरूत्तम ।
तस्मिन् कुण्डे प्रतिपदि कामिन्या स्वाहया तदा॥१५॥

हे कुरूत्तम ! अग्नि के वीर्य को छः बार इस स्वाहा नामक कामिनी ने प्रतिपदा को उस कुण्ड में डाला ॥१५॥

तत्स्कन्नं तेजसा तत्र संवृतं जनयत् सुतम् ।
ऋषिभिः पूजितं स्कन्नमनयत् स्कन्दतां ततः॥१६॥

उस कुण्ड में स्कन्न [स्खलित] और तेज से व्याप्त, वह वीर्य पुत्ररूप से उत्पन्न किया गया। इस स्खलन की मुनियों ने पूजा की और इसको ले जाकर इसका नाम स्कन्द रखा ॥१६॥

षट्शिरा द्विगुणश्रोत्रो द्वादशाक्षिभुजक्रमः ।
एकग्रीवैकजठरः कुमारः सम्पद्यत ॥१७॥

इसके छः शिर और बारह कान, आंख, भुजाएं थीं तथा ग्रीवा और उदर एक ही था । यह इस रूपका कुमार उत्पन्न हुआ।

द्वितीयायामभिव्यक्तस्तृतीयायां शिशुर्बभौ ।
अङ्गप्रत्यसम्भूतश्चतुर्थ्यामभवद्गुहः ॥१८॥

यह द्वितीया को उत्पन्न हुआ और तृतीया को बालक बन कर खेलने लगा । चतुर्थी के दिन इसके सारे अङ्ग-प्रत्यङ्ग बढ़ गए और यह गुह बन गया ॥१८॥

लोहिताभ्रेण महता संवृतः सहविद्युता ।
लोहिताभ्रे सुमहति भाति सूर्य्य इवोदितः ॥१९॥

यह बिजली सहित लाल बादलों से घिरा हुआ था और उन लाल बादलों में सूर्य के सदृश देदीप्यमान हो रहा था ॥१९॥

गृहीतन्तु धनुस्तेन विपुलं लोमहर्षणम् ।
न्यस्तं यत्त्रिपुरघ्नेन सुरारिविनिकृन्तनम् ॥२०॥

अब इसने विशाल, लोमहर्षण धनुष उठाया, जिसको त्रिपुरारि शिव ने असुरों के मारने को रख छोड़ा था ॥२०॥

तद्गृहीत्वा धनुःश्रेष्ठं ननाद बलवांस्तदा ।
सम्मोहयन्निवेमान् स त्रीन् लोकान् सचराचरान्२१

यह बलवान् इस धनुष को लेकर गर्जना करने लगा । इसकी इस गर्जना से चराचर सृष्टि के साथ तीनों लोक सम्मोहित हो गए ॥२१॥

तस्य तं निनदं श्रुत्वा महामेघौघनिस्वनम् ।
उत्पेततुर्महानागौ चित्रश्चैरावतश्च ह ॥२२॥

इसकी प्रलय के मेघों के सदृश गर्जना को सुन कर चित्र और ऐरावत हाथी वहां आए ॥२२॥

तावापतन्तौ सम्प्रेक्ष्य स बालोऽर्कसमद्युतिः ।
द्वाभ्यां गृहीत्वा पाणिभ्यां शक्तिश्चान्येन पाणिना २३
अपरेणाग्निदायादस्ताम्रचूडं भुजेन सः ।
महाकायमुपश्लिष्टं कुक्कुटं बलिनाम्वरम् ॥२४॥
गृहीत्वा व्यनदद्भीमं चिक्रीड च महाभुजः ।
द्वाभ्यां भुजाभ्यां बलवान् गृहीत्वा शङ्खमुत्तमम् २५
प्राध्मापयत भूतानां त्रासनं बलिनामपि ।
द्वाभ्यां भुजाभ्यामाकाशं बहुशोऽभिजघान ह ॥२६॥

इन दोनों ने दिग्गजों को आते देख कर सूर्य के समान कान्तिमान् बालक ने उनको दोनों हाथों से उठा लिया । इस अग्नि के पुत्र स्कन्द ने अपने दोनों हाथों से दो वस्तु पकड़ रखी थीं। एक हाथ में शक्ति-शस्त्र और दूसरी भुजा से तामचूड़ (मुर्गा) पकड़ रखा था। विशालकाय, बलवान् साफ-सुथरे कुक्कुट को ग्रहण करके यह महाबली भयानक गर्जना और क्रीड़ा करने लगा। इस बलवान् ने अपने दोनों हाथों से उत्तम शंख को जोर से बजाया। जो शंख, बली प्राणियों को भी भय उत्पन्न कर देने वाला था। यह दो भुजाओं से बार २ आकाश को पीटने लगा ॥२३-२६॥

क्रीडन् भाति महासेनस्त्रीन् लोकान् वदनैः पिबन् ।
पर्वताग्रेऽप्रमेयात्मा रश्मिमानुदये यथा ॥२७॥

यह अपने मुख की कान्ति से तीनों लोकों को चकाचौंध कर रहा था । यह उदय काल में पर्वत की चोटी पर चमकने वाला महातेजस्वी सूर्य-सा प्रतीत होता था ॥२७॥

स तस्य पर्वतस्याग्रे निषण्णोऽद्भुतविक्रमः ।
व्यलोकयदमेयात्मा मुखैर्नानाविधैर्दिशः ॥२८॥

यह अद्भुत पराक्रमी, महाशक्तिशाली स्कन्द, इस पर्वत के शिखर पर बैठकर अपने अनेक मुखों से दिशाओं को देखने लगा ॥२८॥

स पश्यन् विविधान् भावांश्चकार निनदं पुनः ।
तस्य तं निनदं श्रुत्वा न्यपतन् बहुधा जनाः ॥२९॥

इसने अनेक आकार देखे, फिर यह गर्जना करने लगा । इसकी इस गर्जना को सुनकर लोग प्रायः नीचे गिर जाते थे ॥२९॥

भीताश्चोद्विग्नमनसस्तमेव शरणं ययुः ।
ये तु तं संश्रिता देवं नानावर्णास्तदा जनाः ॥३०॥
तानथाहुः पारिषदान् ब्राह्मणान् सुमहाबलान् ।

ये मनुष्य, बड़े डरे और व्याकुल हुए । ये सब इसकी ही शरण में पहुंचे । जिन नाना वर्ण के जनों ने इस देव का आश्रय लिया, उन मनुष्य तथा महाबली ब्राह्मणों की पारिषद संज्ञा हो गई ॥३०॥

स तूत्थाय महाबाहुरुपसान्त्व्य च तान् जनान् ॥३१
धनुर्विकृष्य व्यसृजद्बाणान् श्वेते महागिरौ ।
विभेद स शरैः शैलं क्रौञ्चं हिमवतः सुतम् ॥३२॥
तेन हंसाश्च गृध्राश्च मेरुं गच्छन्ति पर्वतम् ।
स विशीर्णोऽपतच्छैलो भृशमार्त्तस्वरान् रुवन् ॥३३॥

यह महाबाहु स्कन्द उठा और इसने उनको बड़ी सान्त्वना (तसल्ली) दी। इसने श्वेत पर्वत पर धनुष खैंचकर बाण छोड़े। इन बाणों से इसने हिमवान् पर्वत के पुत्र क्रौंचपर्वत का विदारण किया। जिस मार्ग से हंस और गीध, मेरु पर्वत को जाते हैं। यह पर्वत छिन्न भिन्न होकर करुणाक्रन्दन करता हुआ गिर पड़ा ॥३१--३३॥

तस्मिन्निपतिते त्वन्ये नेदुः शैला भृशं तदा ।
स तं नादं भृशार्त्तानां श्रुत्वापि बलिनाम्वरः ॥३४॥
न प्राव्यथदमेयात्मा शक्तिमुद्यम्य चानदत् ।
सा तदा विमला शक्तिः क्षिप्ता तेन महात्मना ॥३५

इसके गिर जाने पर अन्य पर्वत, कुछ शब्द करने लगे। इस महाबली ने उन अत्यन्त आर्त पर्वतों के शब्दों की ओर ध्यान न देकर शक्ति को उठाया और बड़ी भारी गर्जना की। इस महात्मा ने इस चमकती हुई शक्ति को उन पर फैंक ही दिया ॥३४--३५॥

बिभेद शिखरं घोरं श्वेतस्य तरसा गिरेः ।
स तेनाभिहतो दीर्णो गिरिः श्वेतोऽचलैः सह ॥३६।

इस शक्ति ने बड़े वेग से श्वेत पर्वत के घोर शिखरको, नष्ट कर दिया। यह श्वेतगिरि अन्य पर्वतों के साथ इस शक्ति आघात से विदीर्ण होकर गिर गया ॥३६॥

उत्पपात महीं त्यक्त्वा भीतः स सुमहात्मनः ।
ततः प्रव्यथिता भूमिर्व्यशीर्यत समन्ततः ॥३७॥

यह इस महात्मा स्कन्द से डरकर आकाश को उड़ गया। इसके बाद भूमि बड़ी व्याकुल हुई और इधर उधर विचरने लगी। यह दुःखी होकर स्कन्द की शरण में पहुंची, जिससे फिर बलवती होकर सुशोभित होने लगी ॥३७॥

आर्त्ता स्कन्दं समासाद्य पुनर्बलवती बभौ ।
पर्वताश्च नमस्कृत्य तमेव पृथिवीं गताः ।
अथैनमभजल्लोकः स्कन्दं शुक्लस्य पञ्चमीम् ॥३८॥

इति श्रीमहाभारत आरण्यपर्वणि मार्कण्डेयसमास्यापर्वणि
स्कन्दोत्पत्तौ चतुर्विंशत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥२२४॥

पर्वत भी नमस्कार करके भूमि पर चले आए। अब लोग इस स्कन्द की शुक्ल पक्ष की पञ्चमी को पूजा करने लगे ॥३८॥

इति श्रीमहाभारत वनपर्वान्तर्गत मार्कण्डेयसमास्यापर्व में स्कन्द की आलङ्कारिक उत्पत्ति का दो सौ चौबीसवाँ अध्याय समाप्त हुआ।

◆

दो सौ पच्चीसवां अध्याय

मार्कण्डेय उवाच—

तस्मिन् जाते महासत्त्वे महासेने महाबले ।
समुत्तस्थुर्महोत्पाता घोररूपाः पृथग्विधाः ॥१॥

मार्कण्डेय बोले—हे राजन् ! इस महाबली, महाशक्तिशाली स्कन्द के उत्पन्न हो जाने पर घोर, पृथक् २ महान् उत्पात होने लगे ॥ १ ॥

स्त्रीपुंसोर्विपरीतश्च तथा द्वन्द्वानि यानि च ।
ग्रहा दीप्ता दिशः खञ्च ररास च मही भृशम् ॥२॥

इस समय स्त्री और पुरुषों में झगड़ा होने लगा तथा अत्यन्त गर्मी और सर्दी आदि द्वन्द्व पड़ने लगे । ग्रह, दिशा और आकाश दीप्त हो गए और पृथिवी पर शब्द सा होने लगा ॥ २ ॥

ऋषयश्च महाघोरान् दृष्ट्वोत्पातान् समन्ततः ।
अकुर्वन् शान्तिमुद्विग्ना लोकानां लोकभावनाः ॥३॥

जब ऋषियों ने चारों ओर ये महाघोर उत्पात देखे, तो ये लोकपूज्य घबराकर लोकों में शान्ति स्थापना करने लगे ॥ ३ ॥

निवसन्ति वने ये तु तस्मिंश्चैत्ररथे जनाः ।
तेऽब्रुवन्नेष नोऽनर्थः पावकेनाहितो महान् ॥४॥
सङ्गम्य षड्भिः पत्नीभिः सप्तर्षीणामिति स्म ह ।

जो मनुष्य, इस चैत्ररथ वन में निवास करते थे, वे कहने लगे—यह हमारा महान् अनर्थ इस अग्नि ने किया है, जो

इसने छः ऋषियों की पत्नियों से संयोग करके यह विपत्ति खड़ी कर दी ॥ ४ ॥

अपरे गरुड़ीमाहुस्त्वयानर्थोऽयमाहृतः ॥५॥
यैर्दृष्टा सा तदा देवी तस्या रूपेण गच्छती ।
न तु तत्स्वाहया कर्म्म कृतं जानाति वै जनः ॥६॥

उस गरुड़ी से अन्य मनुष्य कह रहे थे, कि तू ने यह अनर्थ किया है। यह बात वे लोग कह रहे थे, जिन्होंने उसको इस रूप में उड़ती हुई देखा था। लोग यह नहीं जानते थे, कि यह काम स्वाहा ने किया है॥ ५--६ ॥

सुपर्णी तु वचः श्रुत्वा ममायं तनयस्त्विति ।
उपगम्य शनैः स्कन्दमाहाहं जननी तव ।।७॥

जब गरुड़-रूप-धारिणी (शिवा) स्वाहा ने सुना, कि यह तेरा पुत्र है, तो यह स्कन्द के पास जाकर धीरे धीरे बोली--मैं तेरी माता हूँ ॥ ७ ॥

अथ सप्तर्षयः श्रुत्वा जातं पुत्रं महौजसम् ।
तत्यजुः षट् तदा पत्नीर्विना देवीमरुन्धतीम् ॥८॥

जब सप्तर्षियों ने सुना, कि उनकी स्त्रियों के सम्पर्क से कोई महा-ओजस्वी पुत्र उत्पन्न हुआ है, तो उन्होंने अपनी छः ओं पत्नियों को छोड़ दिया। केवल अरुन्धती का त्याग नहीं किया गया ॥ ८ ॥

षड्भिरेव तदा जातमाहुस्तद्वनवासिनः।
सप्तर्षीनाह च स्वाहा मम पुत्रोऽयमित्युत ॥९॥
अहं जाने नैतदेवमिति राजन् पुनः पुनः।

अब सब वनवासियों ने कहा--कि यह पुत्र, इन छः ऋषि-पत्नियों से उत्पन्न हुआ है। स्वाहा ने सप्तऋषियों से कहा---नहीं, यह तो मेरा ही पुत्र है। हे राजन! इस स्वाहा ने यह बात बार २ कही, कि मैं जानती हूँ, यह इन पत्नियों का पुत्र नहीं है ॥ ९ ॥

विश्वामित्रस्तु कृत्वेष्टिं सप्तर्षीणां महामुनिः ॥१०॥
पावकं कामसन्तप्तमदृष्टः पृष्ठतोऽन्वगात्।
तत्तेन निखिलं सर्वमवबुद्धं यथातथम् ॥११॥

महामुनि विश्वामित्र सप्तर्षियों के इस यज्ञ को समाप्त करके कामातुर अग्नि के पीछे २ छुपा हुआ चल दिया। अब विश्वामित्र ने यह सारा वृत्तान्त ठीक २ जाना ॥ १०--११ ॥

विश्वामित्रस्तु प्रथमं कुमारं शरणङ्गतः।
स्तवं दिव्यं संप्रचक्रे महासेनस्य चापि सः ॥१२॥

सब से प्रथम कुमार (स्कन्द) की शरण में विश्वामित्र आया। इसने स्कन्द की दिव्यस्तुति करना आरम्भ किया ॥१२॥

मङ्गलानि च सर्वाणि कौमाराणि त्रयोदश।
जातकर्मादिकास्तस्य क्रियाश्चक्रे महामुनिः ॥१३॥

महामुनि विश्वामित्र ने कुमार की उत्पत्ति के समय होने वाले मङ्गल और जातकर्म आदि त्रयोदश संस्कार किए ॥१३॥

षड्वक्त्रस्य तु माहात्म्यं कुक्कुटस्य तु साधनम् ।
शक्त्या देव्याः साधनञ्च तथा पारिषदामपि ॥१४

इसने षडानन [स्कन्द] का माहात्म्य, कुक्कुट का साधन तथा शक्ति देवी का और परिषदों के साधनों का भी वर्णन किया ॥१४

विश्वामित्रश्चकारैतत् कर्म्म लोकहिताय वै ।
तस्मादृषिकुमारस्य विश्वामित्रोऽभवत् प्रियः ॥१५॥

विश्वमित्र ने सारे कार्य लोक के हिताय के लिए किए; इसी से ऋषिकुमार को यह विश्वामित्र अधिक प्रिय हो गया ॥१५॥

अन्वजानाच्च स्वाहाया रूपान्यत्वं महामुनिः ।
अब्रवीच्च मुनीन् सर्वान्नापराध्यन्ति वै स्त्रियः ।
श्रुत्वा तु तत्वतस्तस्मात्ते: पत्नीः सर्वतोऽत्यजन् ॥१६॥

महामुनि ने स्वाहा के अन्य स्त्रियों के रूप धारण कर लेने का भी ज्ञान कर लिया। इसने सारे ऋषियों से कहा---कि तुम्हारी स्त्रियों ने कोई अपराध नहीं किया है । इन्होंने विश्वामित्र से यह सब कुछ सुनकर भी अपनी पत्नियों को सब भांति से छोड़ दिया ॥ १६ ॥

मार्कण्डेय उवाच—

स्कन्दं श्रुत्वा तदा देवा वासवं सहिता ब्रुवन् ।
अविषह्य बलं स्कन्दे जहि शक्राशु माचिरम् ।
यदि वा न निहंस्येनं देवेन्द्रोऽयं भविष्यति ॥१७॥
त्रैलोक्यं संन्निगृह्यास्मांस्त्वाञ्च शक्र महाबलः ।

मार्कण्डेय बोले—इस प्रकार स्कन्द की उत्पत्ति सुनकर सारे देवता, एक साथ इन्द्र से कहने लगे--हे इन्द्र ! इस स्कन्द कुमार में असह्य वल है । अब तुम इसको मार डालो---देर न करो। हे शक्र! यदि तुम इसको नहीं मारोगे, तो यह महावली त्रिलोकी को घेरकर तुमको और हमको पकड़ लेगा और स्वयं इन्द्र बन जावेगा ।।१७।।

स तानुवाच व्यथितो बालोऽयं सुमहावलः ।।१८।।
स्रष्टारमपि लोकानां युधि विक्रम्य नाशयेत् ।
न बालमुत्सहे हन्तुमिति शक्रः प्रभाषते ।।१९।।

इन्द्र कुछ दु:खी होकर कहने लगा---हां ? यह बालक सचमुच बड़ा बलवान् है । यह युद्ध में पराक्रम करके लोकों के रचियता ब्रह्मा को भी मार सकता है, परन्तु मैं तो इस बालक को मारना नहीं चाहता हूं ।।१८-१९।।

तेऽब्रुवन्नास्ति ते वीर्य्यं यत एवं प्रभाषसे ।
सर्वास्त्वद्याभिगच्छन्तु स्कन्दं लोकस्य मातरः ।।२०।।

देवो ने कहा---तुम कुछ बली नहीं मालूम होते हो, जिससे ऐसा कह रहे हो । अब तो आज सारी लोक की माताएं स्कन्द के वध के लिए जावें ।।२०।।

कामवीर्य्या घ्नन्तु चैनं तथेत्युक्त्वा च ता ययुः।
तमप्रतिबलं दृष्ट्वा विषण्णवदनास्तु ताः ।।२१।।

ये अपनी कामना के अनुसार पराक्रम करने वाली हैं। ये इसका नाश कर देंगी। वे भी स्वीकार करके वहां पहुंचीं। परन्तु इन्होंने इसको अद्वितीय बलशाली देखा, जिससे ये सारी मुरझा सी गईं ॥२१॥

अशक्योऽयं विचिन्त्यैवं तमेव शरणं ययुः।
ऊचुश्चैनं त्वमस्माकं पुत्रो भव महाबल ॥२२॥
अभिनन्दस्व नः सर्वाः प्रस्तुताः स्नेहविक्लवाः।

इसका मारना असम्भव देख कर ये इसकी ही शरण में पहुंची और उससे बोली----हे महाबली ! तू हमारा पुत्र बन जा। तू हमारा स्वागत कर। हम स्नेह से कातर होकर तेरे पास आई हैं ॥२२॥

तासां तद्वचनं श्रुत्वा पातुकामः स्तनान् प्रभुः॥२३॥
ताः संपूज्य महासेनः कामांश्चासां प्रदाय सः।
अपश्यदग्निमायान्तं पितरं बलिनं बली ॥२४॥

उनके इस वचन को सुनकर भगवान् स्कन्द ने भी स्तन पीना चाहा। इसने इनका बड़ा सत्कार किया और इनकी कामना पूरी की। अब इस महाबली ने, महाबली अपने पिता अग्नि को आते देखा ॥२३-२४॥

स तु संपूजितस्तेन सह मातृगणेन ह।
परिवार्य्य महासेनं रक्षमाणः स्थितः शिवः ॥२५॥

लोक-माताओं ने इस कुमार का बड़ा आदर किया। भगवान शंकर भी महासेन [कुमार] को घेरकर रक्षा करने लगे।

सर्वासां या तु मातृणां नारी क्रोधसमुद्भवा ।
धात्री स्वपुत्रवत् स्कन्दं शूलहस्ताभ्यरक्षत ॥२६॥

इन सब माताओं में जो नारी क्रोध से उत्पन्न हुई है, वह शूल हाथ में लेकर अपने पुत्र की तरह धाय बनकर इसकी रक्षा करने लगी ॥२६॥

लोहितस्योदधेः कन्या क्रूरा लोहितभोजना ।
परिष्वज्य महासेनं पुत्रवत्पर्यरक्षत ॥२७॥

लाल समुद्र की कन्या, लोहित (रक्तवर्ण) का भोजन करने वाली बडी क्रूर थी । यह कुमार का आलिङ्गन करके पुत्र की तरह रक्षा करने लगी ॥२७॥

अग्निर्भूत्वा नैगमेयश्छागवक्त्रो बहुप्रजः ।
रमयामास शैलस्थं बालं क्रीड़नकैरिव ॥२८॥

इति श्रीमहाभारत आरण्यपर्वणि मार्कण्डेयसमास्यापर्वणि स्कन्दोत्पत्तौ पञ्चविंशत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः॥२२५॥

बहुत सन्तान वाला, वेद प्रतिपादित अग्नि, बकरे का मुख बनाकर इस पर्वत पर स्थित इस बालक को खिलौनों से खिलाने लगा ॥ २८ ॥

इति श्रीमहाभारत वनपर्वान्तर्गत मार्कण्डेयसमास्यापर्व में स्कन्द की उत्पत्ति का दोसौ पच्चीसवां अध्याय पूरा हुआ ।

दो सौ छब्बीसवां अध्याय

मार्कण्डेय उवाच—

ग्रहाः सोपग्रहाश्चैव ऋषयो मातरस्तथा ।
हुताशनमुखाश्चैव दृप्ताः पारिषदाङ्गणाः ॥१॥

मार्कण्डेय ने कहा—हे राजन् ! ग्रह सूर्य आदि, उपग्रह राहु आदि, ऋषि, लोक माता, सारे अग्नि आदि पारिषदों के गण आनन्द में उद्धृत हो गए ॥१॥

एते चान्ये च बहवो घोरास्त्रिदिववासिनः ।
परिवार्य्य महासेनं स्थिता मातृगणैः सह ॥२॥

ये तथा अन्य महाबली स्वर्ग के निवासी, मातृगणों के साथ स्कन्द को घेर कर खड़े हो गए ॥२॥

संदिग्धं विजयं दृष्ट्वा विजयेप्सुः सुरेश्वरः ।
आरुह्यैरावतं स्कन्दं प्रययौ दैवतैः सह ॥३॥

विजय में संशय रखने वाला, विजय का अभिलाषी इन्द्र, ऐरावत हाथी पर बैठकर देवताओं के साथ स्कन्द पर चढ़ चला ।

आदाय वज्रं बलवान् सर्वैर्देवगणैर्वृतः ।
बिजिघांसुर्महासेनमिन्द्रस्तूर्णतरं ययौ ॥४॥

यह बलवान् इन्द्र, सेना इकट्ठी करके और सारे देवगणों से युक्त होकर, महासेन (स्कन्द) को मारने के लिए बड़ी शीघ्रता से चल दिया ॥४॥

उग्रं तच्च महानादं देवानीकं महाप्रभम् ।
विचित्रध्वजसन्नाहं नानावाहनकार्मुकम् ॥५॥

देवों की यह सेना, बड़ी उग्र, महाकान्तिमती और अत्यन्त गर्जना से युक्त थी। इसके पास विचित्र २ ध्वजा, कवच और अनेक भांति के वाहन और धनुष थे ॥५॥

प्रवराम्बरसंवीतं श्रियाजुष्टमलङ्कृतम् ।
विजिघांसुस्तमायान्तं कुमारः शक्रमन्वयात् ॥६॥

यह सेना, बड़े २ उत्तम वस्त्रों को धारण किए हुए, कान्ति से युक्त और अलङ्कारों से विभूषित थी। जब कुमार ने मारने की इच्छा वाले इन्द्र को आते हुए देखा, तो यह भी युद्ध के लिए चल दिया ॥६॥

विनदन् पार्थ देवेशो द्रुतं याति महाबलः ।
संहर्षयन् देवसेनां जिघांसु पावकात्मजम् ॥७॥

हे पार्थ ! इन्द्र गर्जना करता हुआ, बड़ा शीघ्र आ रहा था। इसकी इस गर्जना से देवसेना को बड़ा हर्ष हो रहा था। यह पावक के पुत्र, स्कन्द को मारने की बड़ी उत्कट इच्छा कर रहा था ॥७॥

संपूज्यमानस्त्रिदशैस्तथैव परमर्षिभिः ।
समीपमथ सम्प्राप्तः कार्तिकेयस्य वासवः ॥८॥
सिंहनादं ततश्चक्रे देवेशः सहितैः सुरैः ।
गुहोऽपि शब्दं तं श्रुत्वा व्यनदत् सागरो यथा ॥९॥

देवता और ऋषियों से सम्पूजित इन्द्र, स्कन्द के पास पहुँचा। यहाँ पहुँचकर देवों के साथ इन्द्र ने सिंहनाद किया। अब कुमार ने भी इस गर्जना को सुनकर समुद्र के तुल्य गर्जना की ॥ ८-९ ॥

तस्य शब्देन महता समुद्भूतोदधिप्रभम्।
बभ्राम तत्र तत्रैव देवसैन्यमचेतनम् ॥१०॥

इसकी इस गर्जना से उछलते हुए, समुद्र के समान, देवसेना अचेत सी होकर चक्कर लगाने लगी ॥ १० ॥

जिघांसूनुपसम्प्राप्तान् देवान् दृष्ट्वा स पावकिः।
विससर्ज्ज मुखात् क्रुद्धः प्रवृद्धाः पावकार्च्चिषः॥११॥
अदहद्देवसैन्यानि वेपमानानि भूतले।

जब अग्निपुत्र, स्कन्द ने मारने की इच्छा से आये हुए देवों को देखा, तो इसने क्रुद्ध होकर मुख से बड़ी भारी अग्नि की लपटें छोड़ना आरम्भ किया। देवों की सेना भूतल पर गिर पड़ी और काँपती हुई जलने लगी ॥ ११ ॥

ते प्रदीप्तशिरोदेहाः प्रदीप्तायुधवाहनाः ॥१२॥
प्रच्युताः सहसा भान्ति व्यस्तास्तारागणा इव।
दह्यमानाः प्रपन्नास्ते शरणं पावकात्मजम् ॥१३॥
देवा वज्रधरं त्यक्त्वा ततः शान्तिमुपागताः।
त्यक्तो देवैस्ततः स्कन्दे वज्रं शक्रो न्यपातयत् ॥१४॥

इनके देह, शिर, आयुध और वाहन सब जलने लगे। ये इस तरह बिखर गए जैसे आकाश में तारे बिखर जाते हैं।

इस अग्नि से संन्तप्त देवता, कुमार की शरण में पहुँचे। इन्होंने वज्रधारी इन्द्र को छोड़ दिया। अब इनको कुछ शान्ति मिली। देवों के छोड़ देने पर कुपित इन्द्र ने स्कन्द पर वज्र चलाया।

तद्विसृष्टं जघानाशु पार्श्वं स्कन्दस्य दक्षिणम्।
विभेद च महाराज पार्श्वं यस्य महात्मनः ॥१५॥
वज्रप्रहारात् स्कन्दस्य सञ्जातः पुरुषोऽपरः।
युवा काञ्चनसन्नाहः शक्तिधृग् दिव्यकुण्डलः॥१६॥
यद्वज्रविशनाज्जातो विशाखस्तेन सोऽभवत्।

छोड़े हुए वज्र ने स्कन्द के दायें पार्श्व को काट दिया। हे महाराज! ज्यों ही वज्र के प्रहार से महात्मा स्कन्द का पार्श्व फटा, त्यों ही उसमें से एक अन्य पुरुष निकल पड़ा, जो बड़ा युवा था। इसने सोने के कवच, शक्ति और दिव्य कुण्डल धारण कर रखे थे। यह पुरुष, वज्र के काटने के स्थान से उत्पन्न हुआ था, इससे इसका नाम विशाख हुआ ॥ १५--१६ ॥

सञ्जातमपरं दृष्ट्वा कालानलसमद्युतिम् ॥१७॥
भयाद्रिन्द्रस्तु तं स्कन्दं प्राञ्जलिः शरणं गतः!
तस्याभयं ददौ स्कन्दः सहसैन्यस्य सत्तमः।
ततः प्रहृष्टास्त्रिदशा वादित्राण्यभ्यवादयन् ॥१८॥

इति श्रीमहाभारत आरण्यपर्वणि मार्कण्डेयसमास्यापर्वणि स्कन्दशक्रसमागमे षड्विंशत्याधिकद्विशततमोऽध्यायः

जब इन्द्र ने देखा, कि कालाग्नि के समान कान्तिधारी एक अन्य पुरुष उत्पन्न हो गया है, तो यह बड़ा भयभीत हुआ और हाथ जोड़कर स्कन्द की शरण में पहुँचा। इस महाभाग स्कन्द ने सेना सहित इन्द्र को अभयदान दिया। इससे देवता बड़े प्रसन्न हुए और बाजे बजाने लगे ॥ १७--१८ ॥

इति श्रीमहाभारत वनपर्वान्तर्गत मार्कण्डेयसमास्यापर्व में स्कन्द और शक्र के समागम का दोसौ छब्बीसवांअध्याय समाप्त हुआ।

दो सौ सत्ताईसवां अध्याय

मार्कण्डेय उवाच—

स्कन्दपारिषदान् घोरान् शृणुष्वाद्भुतदर्शनान्।
वज्रप्रहारात् स्कन्दस्य जज्ञुस्तत्र कुमारकाः ॥१॥
ये हरन्ति शिशून् जातान् गर्भस्थांश्चैव दारुणाः।
वज्रप्रहारात् कन्याश्च जज्ञिरेऽस्य महाबलाः ॥२॥

मार्कण्डेय ने कहा—हे राजन्! अब तुम स्कन्द के अन्य घोर पारिषदों को सुनो, जो अद्भुत आकार-धारी थे। इन्द्र के वज्र के प्रहार से जो स्कन्द के शरीर से अन्य

दारुण कुमार, उत्पन्न हुए, ये गर्भ गत बच्चों का अपहरण कर ले जाते थे। इसी के वज्र प्रहार से अन्य महाबली कन्या भी उत्पन्न हुईं ॥१-२॥

कुमारास्ते विशाखञ्च पितृत्वे समकल्पयन् ।
स भूत्वा भगवान् संख्ये रक्षंश्छागमुखस्तदा ॥३॥
वृतः कन्यागणैः सर्वैरात्मीयैः सह पुत्रकैः ।
मातृणां प्रेक्षतीनाञ्च भद्रशाखश्च कौशलः ॥४॥
ततः कुमारं पितरं स्कन्दमाहुर्जना भुवि ।

इन कुमारों ने विशाख पुरुष को अपना पिता समझा। यह कुशल, भद्रशाख, ऐश्वर्य-शाली, होकर लोक माताओं के देखते २ युद्ध में बकरे का मुख बनाकर रक्षा करने लगा था। यह अपने सारे पुत्र और कन्याओं से युक्त होकर सुशोभित था। इस समय लोग, कुमार स्कन्द को भी पिता कहने लगे ॥३-४॥

रुद्रमग्निमुखां स्वाहां प्रदेशेषु महाबलम् ॥५॥
यजन्ति पुत्रकामाश्च पुत्रिणश्च सदा जनाः ।
एतास्त्वजनयत् कन्यास्तपो नाम हुताशनः ।
किं करोमीति ताः स्कन्दं संप्राप्ताः समभाषयन् ॥६॥

रुद्र और अग्नि मुख वाली स्वाहा तथा इस महाबली कुमारको प्रत्येक प्रदेश में पुत्र की इच्छा वाले या पुत्र वाले; मनुष्य, पूजते रहते हैं। इन कन्याओं को तप नामक अग्नि ने उत्पन्न किया है। हम प्रत्येक क्या करें, इस बात को कहती हुई ये स्कन्द के पास पहुंची ॥५-६॥

कुमार्य्य ऊचुः —

भवेम सर्वलोकस्य मातरो वयमुत्तमाः ।
प्रसादात्तव पूज्याश्च प्रियमेतत् कुरुष्व नः ।
सोऽब्रवीद्बाढमित्येव भविष्यध्वं पृथग्विधाः ॥७॥
शिवाश्चैवाशिवाश्चैव पुनः पुनरुदारधीः ।
ततः सङ्कल्प्य पुत्रत्वे स्कन्दं मातृगणोऽगमत् ॥८॥

कन्याओं ने कहा—हम सब लोक की उत्तम माताएं हो जावें। तुम्हारे अनुग्रह से हम पूज्य होवें---यह हमारा प्रिय कार्य सम्पादन करो। उनसे उदार स्कन्द ने कहा---अच्छी बात है, तुम पृथक् २ माता बन जाओगी। एक तुम्हारा गण शिव और एक अशिव रूप धारी होगा। ये स्कन्द को पुत्र कल्पना करके चली गईं ॥७-८॥

काकी च हलिमा चैव मालिनी बृंहिका तथा ।
आर्य्या पलाला वैमित्रा सप्तैताः शिशुमातरः ॥९॥

काकी, हलिमा, मालिनी, बृंहिका, आर्या, पलाला, वैमित्रा ये सप्त, शिशुओं की माताओं का एक गण है ॥९॥

एतासां वीर्य्यसम्पन्नः शिशुर्नामातिदारुणः ।
स्कन्दप्रसादजः पुत्रो लोहिताक्षो भयङ्करः ॥१०॥

इनका एक वीर्य सम्पन्न शिशु, अत्यन्त दारुण, स्कन्द की कृपा से उत्पन्न हुआ। जो लाल आंखों वाला बड़ा भयङ्कर है॥१०॥

एष वीराष्टकः प्रोक्तः स्कन्दमातृगणोद्भवः ।
छागवक्त्रेण सहितो नवकः परिकीर्त्यते ॥११॥

सात माता एक लोहिताक्ष यह वीराष्टक कहाता है। इन में जब छागवक्त्र को मिला दिया जावे, तो यह नवाष्टक हो जाता है ॥११॥

षष्ठं छागमयं वक्त्रं स्कन्दस्यैवेति विद्धि तत्।
षट्शिरोऽभ्यन्तरं राजन् नित्यं मातृगणार्चितम् ॥१२

छटा जो अज के मुख का रूप है, यह तो स्कन्द का ही दूसरा रूप समझना चाहिए। हे राजन्! यह छटा अज का मुख, स्कन्द के छः शिरों के बीच में हैं। जिसकी मातृगण भी पूजा करता रहता है ॥१२॥

षण्णान्तु प्रवरं तस्य शीर्षाणामिह शब्दयते।
शक्तिं येनासृजद्दिव्यां भद्रशाख इति स्म ह ॥१३॥

अज का शिर इन छः शिरों में श्रेष्ठ कहाता है। जिसने दिव्य शक्ति देवी और भद्रशाख को उत्पन्न किया है ॥१३॥

इत्येतद्विविधाकारं वृत्तं शुक्लस्य पञ्चमीम्।
तत्र युद्धं महाघोरं वृत्तं षष्ठ्यां जनाधिप ॥१४॥

इति श्रीमहाभारत आरण्यपर्वणि मार्कण्डेयसमास्यापर्वणि स्कन्दोपाख्याने सप्तविंशत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥२२७

हे जनाधिप! इन अनेक रूपों का आविर्भाव शुक्ल पक्ष की पञ्चमी को हुआ और षष्ठी को उपरोक्त महाघोर युद्ध हुआ ॥१४॥

इति श्रीमहाभारत वनपर्वान्तर्गत मार्कण्डेयसमास्यापर्व में स्कन्द के उपाख्यान का दो सौ सत्ताईसवां अध्याय समाप्त हुआ

दो सौ अट्ठाईसवां अध्याय

मार्कण्डेय उवाच—

उपविष्टन्तु तं स्कन्दं हिरण्यकवचस्रजम् ।
हिरण्यचूडमुकुटं हिरण्याक्षं महाप्रभम् ॥१॥
लोहिताम्बरसंवीतं तीक्ष्णदंष्ट्रं मनोरमम् ।
सर्वलक्षणसम्पन्नं त्रैलोक्यस्यापि सुप्रियम् ॥२॥
ततस्तं वरदं शूरं युवानं मृष्टकुण्डलम् ।
अभजत् पद्मरूपा श्रीः स्वयमेव शरीरिणी ॥३॥

मार्कण्डेय बोले—हे राजन्! सुवर्ण के कवच और मालाधारी, मस्तक पर सुवर्ण का मुकुट पहने हुए, सुनहरी आंख वाले, महा कान्तिमान, लाल कपड़े पहने हुए, तीक्ष्ण दाढ़ों वाले, मनोहर, सब लक्षणों से सम्पन्न, त्रिलोकी के प्रिय, वरदायी, शूरवीर, युवा, चमकते कुण्डल धारी, बैठे हुए कुमार की सेवा शरीर धारण करके कमल के समान कोमल लक्ष्मी स्वयं कर रही थी ॥१-३॥

श्रिया जुष्टः पृथुयशाः सुकुमारवरस्तदा ।
निषण्णो दृश्यते भूतैः पौर्णमास्यां यथा शशी ॥४॥

यह अत्यन्त कोमल, कान्ति से युक्त, महाशक्तिशाली बैठा हुआ कुमार, भत गणों को पूर्णमासी का चन्द्रमा सा दिखाई देता था ॥४॥

अपूजयन्महात्मानो ब्राह्मणास्तं महाबलम् ।
इदमाहुस्तदा चैव स्कन्दं तत्र महर्षयः ॥५॥

महात्मा ब्राह्मणों ने इस महाबली स्कन्द की पूजा की। महर्षि लोग, इस समय स्कन्द से यह कहने लगे ॥ ५ ॥

ऋषय ऊचुः —

हिरण्यगर्भ भद्रन्ते लोकानां शङ्करो भव।
त्वया षड्रात्रजातेन सर्वलोका वशीकृताः ॥६॥

हे हिरण्यगर्भ! तुम्हारा कल्याण हो, तुम लोक के कल्याण करने वाले बन जाओ। छः रात में उत्पन्न होने वाले, तुमने सारे लोक वश में कर लिए हैं ॥६॥

अभयश्च पुनर्दत्तं त्वयैवैषां सुरोत्तम।
तस्मादिन्द्रो भवानस्तु त्रैलोक्यस्याभयङ्करः ॥७॥

हे सुरोत्तम! तुमने ही इन देवों को अभयदान दिया है, इससे तुम ही त्रिलोकी के अभय करने वाले इन्द्र हो ॥ ७ ॥

स्कन्द उवाच—

किमिन्द्रः सर्वलोकानां करोतीह तपोधनाः।
कथं देवगणांश्चैव पाति नित्यं सुरेश्वरः ॥८॥

स्कन्द ने कहा—हे तपोधनो! सब लोकों में इन्द्र क्या करता है? यह सुरेश्वर, किस प्रकार सारे देवगणों की नित्य रक्षा करता है ॥ ८ ॥

ऋषय ऊचुः —

इन्द्रो दधाति भूतानां बलं तेजः प्रजाः सुखम्।
तुष्टः प्रयच्छति तथा सर्वान् कामान् सुरेश्वरः ॥९॥

ऋषि बोले—सुरेश्वर इन्द्र, प्रसन्न होकर प्राणियों को बल, तेज, सन्तान, सुख और समस्त कामनाएँ देता रहता है ॥९॥

दुर्वृत्तानां संहरति वृत्तस्थानां प्रयच्छति ।
अनुशास्ति च भूतानि कार्य्येषु बलसूदनः ॥१०॥

यह दुराचारियों का नाश कर देता है और सदाचारियों को उपरोक्त वस्तुएँ देता रहता है । बल-दैत्य-नाशक, इन्द्र ही सब कार्यों में प्राणियों को शिक्षा देता है ॥ १० ॥

असूर्य्ये च भवेत् सूर्य्यस्तथा चन्द्रे च चन्द्रमाः ।
भवत्यग्निश्च वायुश्च पृथिव्यापश्च कारणैः ॥११॥
एतदिन्द्रेण कर्त्तव्यमिन्द्रे हि विपुलं बलम् ।
त्वञ्च वीर बलिश्रेष्ठस्तस्मादिन्द्रो भवस्व नः ॥१२॥

असूर्य में सूर्य, अचन्द्रमा में चन्द्रमा, हो जाता है तथा अग्नि, वायु, भूमि और जल कारणों से बन जाते हैं। यह सब कुछ इन्द्र ही करता है, क्योंकि इन्द्र में बहुत ही विपुल बल है। हे वीर! तू बलवानों में श्रेष्ठ है, इसलिए हमारा इन्द्र बन जा।

शक्र उवाच—

भवस्वेन्द्रो महाबाहो सर्वेषां नः सुखावहः ।
अभिषिच्यस्व चैवाद्य प्राप्तरूपोऽसि सत्तम ॥१३॥

इन्द्र ने कहा—हे महाबाहो! तू इन्द्र होजा, जिससे हम सबको सुख हो जावेगा। हे सत्तम! तुमको यह योग्यता प्राप्त हो चुकी है, इससे तुम आज ही अभिषेक करालो ॥१३॥

शाधि त्वमेव त्रैलोक्यमव्यग्रो विजये रतः ।
अहन्ते किङ्करः शक्र न ममेन्द्रत्वमिप्सितम् ॥१४॥

स्कन्द बोला--हे इन्द्र ! तुम ही विजयी होकर अव्यग्रता से त्रिलोकी का शासन करो। मैं तो तेरा किङ्कर हूं। मुझे इन्द्र-पदवी अभीष्ट नहीं है ॥१४॥

शक्र उवाच—

बलं तवाद्भुतं वीर त्वं देवानामरीन् जहि ।
अवज्ञास्यन्ति मां लोका वीर्य्येण तव विस्मिताः १५
इन्द्रत्वे तु स्थितं वीर बलहीनं पराजितम् ।

इन्द्र ने कहा--हे वीर! तेरा बल अद्भुत है। तू देवों के वैरियों का विध्वंस कर। तेरे पराक्रम से चकित हुए लोग, बलहीन, पराजित, मुझे इन्द्रासन पर बैठा हुआ देखकर मेरा अपमान करेंगे ॥१५॥

आवयोश्च मिथो भेदे प्रयतिष्यन्त्यतन्द्रिताः ॥१६॥
भेदिते च त्वयि विभो लोको द्वैधमुपैष्यति ।
द्विधाभूतेषु लोकेषु निश्चितेष्वावयोस्तथा ॥१७॥
विग्रहः संप्रवर्त्तेत भूतभेदान्महाबल ।
तत्र त्वं मां रणे तात यथाश्रद्धं विजेष्यसि ।
तस्मादिन्द्रो भवानेव भविता मा विचारय ॥१८॥

जो विरोधी सावधान होंगे, वे हम दोनों में विरोध करने की चेष्टा करेंगे। हे विभो! तेरे विरोधी हो जाने पर संसार में

फूट फैली जावेगी। हे महाबल! लोगों के दो भागों में निश्चय रूप से बंट जाने पर प्राणियों की फूट से युद्ध खड़ा होजावेगा। जहां तक मेरा ख्याल है, तुम मुझे जीत लोगे--इससे तुमही इन्द्र बन जाओ, विचार मत करो ॥१५--१८॥

स्कन्द उवाच—

त्वमेव राजा भद्रन्ते त्रैलोक्यस्य ममैव च।
करोमि किञ्च ते शक्र शासनं तद् ब्रवीहि मे ॥१९॥

हे शक्र! तुम ही मेरे और त्रिलोकी के राजा हो। मैं तुम्हारा क्या प्रिय करूं, तुम आज्ञा दो ॥१९॥

इन्द्र उवाच—

अहमिन्द्रो भविष्यामि तव वाक्यान्महाबल।
यदि सत्यमिदं वाक्यं निश्चयाद्भाषितं त्वया ॥२०॥

इन्द्र बोला--हे महाबल! यदि तुमने आज्ञा देदी, तो मैं इन्द्र बना रहूंगा। यदि तुमने यह वाक्य सत्य और निश्चय रूप से कहा है--तो मुझे इस में कोई वक्तव्य (उज्र) नहीं है ॥ २० ॥

यदि वा शासनं स्कन्द कर्त्तुमिच्छसि मे शृणु।
अभिषिच्यस्व देवानां सैनापत्ये महाबल ॥२१॥

हे महाबली स्कन्द! यदि तुम शासन करना चाहते हो, तो मेरी सुनो, कि तुम देवों के सेनापति पद को स्वीकार करलो ॥२१॥

स्कन्द उवाच—

दानवानां विनाशाय देवानामर्थसिद्धये।
गोब्राह्मणहितार्थाय सैनापत्येऽभिषिञ्च माम् ॥२२॥

स्कन्द ने कहा--दानवों के विनाश और देवों के प्रयोजनों की सिद्धि के लिए तथा गो ब्राह्मणों के हित करने को मुझे देवों की सेना का सेनापति बना सकते हो ॥२२॥

मार्कण्डेय उवाच—

सोऽभिषिक्तो मघवता सर्वैर्देवगणैः सह ।
अतीव शुशुभे तत्र पूज्यमानो महर्षिभिः ।
तत् तत् काञ्चनं छत्रं ध्रियमानं व्यरोचत ॥२३॥

मार्कण्डेय बोले----हे राजन् ! इन्द्र ने इसको देवों की सेना के अधिपति पद पर सारे देवों के साथ नियुक्त किया। महर्षियों से सत्कार पाकर यह अत्यन्त सुशोभित हुआ। उस स्थान पर यह सुवर्ण का छत्र लगा कर प्रभाव के साथ स्थित था ॥२३॥

यथैव सुसमिद्धस्य पावकस्यात्ममण्डलम् ।
विश्वकर्म्मकृता चास्य दिव्या माला हिरण्मयी २४

जिस प्रकार प्रदीप्त अग्नि का अपना मण्डल होता है, उसी तरह विश्वकर्मा से बनाई हुई, दिव्य सुवर्ण की माला स्कन्द के गले में सुशोभित हो रही थी ॥२४॥

आवद्धा त्रिपुरघ्नेन स्वयमेव यशस्विना ।
आयस्य मनुजव्याघ्र सहदेव्या परन्तप ॥२५॥
अर्चयामास सुप्रीतो भगवान् गोवृषध्वजः ।
रुद्रमग्निं द्विजाः प्राहुरुद्रसूनुस्ततस्तु सः ॥२६॥

हे मनुजश्रेष्ठ ! इस माला को स्वयं यशस्वी त्रिपुरारि शंकरने उसके गले में पहनाई। भगवान् शंकर ने अपनी देवी उमा के साथ माला पहना कर बड़ी प्रीति से इसकी पूजा की। अग्नि को रुद्र और स्कन्द को द्विजों ने रुद्रपुत्र कहा है ॥२५-२६॥

[illegible] रुद्रेण शुक्रमुत्सृष्टं तच्छ्वेतः पर्वतोऽभवत् ।
पावकस्येन्द्रियं श्वेते कृत्तिकाभिः कृतं नगे ॥२७॥

इस समय रुद्र नामक अग्नि ने अपना शुक्र छोड़ा, जो श्वेत पर्वत हो गया। इस पर्वत पर कृत्तिकाओं ने अग्नि के इन्द्रिय की स्थापना की ॥२७॥

पूज्यमानस्तु रुद्रेण दृष्ट्वा सर्वे दिवौकसः ।
रुद्रसूनुं ततः प्राहुर्गुहं गुणवताम्वरम् ॥२८॥

सारे देवों ने रुद्रसे पूजित इस कुमार को देख कर इस गुणवान् कुमार को रुद्र का पुत्र कहा है ॥२८॥

अनुप्रविश्य रुद्रेण वन्हिं जातो ह्ययं शिशुः।
तत्र जातस्ततः स्कन्दो रुद्रसूनुस्ततोऽभवत् ॥२९॥

रुद्र ने अग्नि में घुस कर इस पुत्र को उत्पन्न किया। इस प्रकार यह रुद्र से उत्पन्न हुआ। इससे इसको रुद्र-सूनु (पुत्र) कहा है ॥२९॥

रुद्रस्य वन्हेः स्वाहायाः षण्णां स्त्रीणाञ्च भारत ।
जातः स्कन्दः सुरश्रेष्ठो रुद्रसूनुस्ततोभवत्॥३०॥
अजरे वाससी रक्ते वसानः पावकात्मजः ।
भाति दीप्तवपुः श्रीमान् रक्ताभ्राभ्यामिवांशुमात्३१

हे भारत! रुद्र संज्ञक अग्नि,स्वाहा और छः स्त्रियोंके मेल,से यह उत्पन्न हुआ- इसके इस सुरश्रेष्ठ स्कन्दको रुद्र-सूनु कहा गया है। इस अग्निपुत्र स्कन्द ने कभी जीर्ण नहीं होनेवाले दो लाल

वस्त्र पहन रखे हैं। यह दीप्तिमान्, ऐश्वर्यशील स्कन्द, इन वस्त्रों से ऐसा सुशोभित होता है, जैसे रक्त मेघों से सूर्य सुशोभित होता है ॥३१॥

कुक्कुटश्चाग्निना दत्तस्तस्य केतुरलङ्कृतः ।
रथे समुत्थितो भाति कालाग्निरिव लोहितः ॥३२॥

अग्नि ने स्कन्द को कुक्कुट [मुर्गा] और कुक्कुट की बड़ी सुन्दर ध्वजा दी है। यह लाल ध्वजा, रथमें फड़कती हुई कालाग्नि के समान प्रतीत होती है ॥३२॥

या चेष्टा सर्वभूतानां प्रभा शान्तिर्बलं तथा।
अग्रतस्तस्य सा शक्तिर्देवानां जयवर्द्धनी ॥३३॥

जितनी सारे प्राणियों में चेष्टा, प्रभा, शान्ति और बल है, वह सब इस स्कन्द के सम्मुख, शक्तिरूप होकर देवों का जय करने वाली है ॥३३॥

विवेश कवचश्चास्य शरीरे सहजन्तथा।
युध्यमानस्य देवस्य प्रादुर्भवति तत् सदा ॥३४॥

यह बल, इनके शरीर और कवच में प्रच्छन्न रहता है। जब यह देव, युद्ध में प्रवृत्त होता है, तब यह बल, अपने आप प्रकट हो जाता है ॥३४॥

शक्तिर्धर्मो बलं तेजः कान्तत्वं सत्यमुन्नतिः ।
ब्रह्मण्यत्वमसम्मोहो भक्तानां परिरक्षणम् ॥३५॥

इनकी शक्ति, धर्म, बल, तेज, सौन्दर्य, सत्य, उन्नति, ब्राह्मणों की रक्षा और मोहाभाव भक्तों की रक्षा के लिए ही हैं ॥३५॥

निकृन्तनश्च शत्रूणां लोकानाञ्चाभिरक्षणम् ।
स्कन्देन सह जातानि सर्वाण्येव जनाधिप ॥३६॥

हे जनाधिप ! शत्रुओं का विनाश और लोकों की रक्षा आदि सारे कार्य, स्कन्द की उत्पत्ति के साथ ही उत्पन्न हुए हैं ॥३६॥

एवं देवगणैः सर्वैः सोऽभिषिक्तः स्वलङ्कृतः ।
बभौ प्रतीतः सुमनाः परिपूर्णेन्दुमण्डलः ॥३७॥

इस प्रकार देवों ने स्कन्द को विभूषित करके सेनापति पद पर अभिषिक्त किया, जिससे यह प्रसन्न चित्त हुए पूर्ण चन्द्रमा के सदृश कान्तिमान् प्रतीत होने लगे ॥३७॥

इष्टैः स्वाध्यायघोषश्च देवतूर्य्यरवैरपि ।
देवगन्धर्वगीतैश्च सर्वैरप्सरसाङ्गणैः ॥३८॥
एतैश्चान्यैश्च बहुभिस्तुष्टैर्हृष्टैः स्वलङ्कृतैः ।
सुसंवृतः पिशाचानां गणैर्देवगणैस्तथा ॥३९॥
क्रीड़न् भाति तदा देवैरभिषिक्तश्च पावकिः ।

प्रिय लगने वाले वेद के स्वाध्याय के घोष, देवों के तूर्य बाजे के शब्द, देव गन्धर्वों के गीत, सारे अप्सराओं के गण, इन और बहुत से हृष्ट पुष्ट अलंकृत अन्य पिशाचों और देवों के गण से घिरा हुआ, देवों द्वारा सेनापति पद पर अभिषिक्त, अग्निपुत्र स्कन्द, क्रीड़ा करता हुआ सुशोभित हो रहा था ॥३८-३९॥

अभिषिक्तं महासेनमपश्यन्त दिवौकसः ॥४०॥
विनिकृत्य तमः सूर्य्यं यथेहाभ्युदितं तथा ।

सेनापति पर नियुक्त किये हुए स्कन्द को देवों ने इस भांति देखा जैसे अन्धकार को चीर कर सूर्य का उदय हुआ हो ॥४०॥

अथैनमभ्ययुः सर्वा देवसेनाः सहस्रशः ॥४१॥
अस्माकं त्वं पतिरिति ब्रुवाणाः सर्वतो दिशः ।

अब सहस्रोंकी संख्या में देवसेना इसके पीछे चलने लगी, ये सब ओर यही कह रही थी, कि आप हमारे दिव्य सेनापति हैं ॥४१॥

ताः समासाद्य भगवान् सर्वभूतगणैर्वृतः ॥४२॥
अर्चितस्तु स्तुतश्चैव सान्त्वयामास ता अपि ।

सब भूतों से व्याप्त, भगवान् स्कन्द ने सेना को प्राप्त करके उसको सान्त्वना दी। सेना ने भी स्कन्द की बड़ी पूजा और स्तुति की ॥४२॥

शतक्रतुश्चाभिषिच्य स्कन्दं सेनापतिं तदा ॥४३॥
सस्मार तां देवसेनां या सा तेन विमोक्षिता ।

इन्द्र ने सेनापति पद पर स्कन्द को नियुक्त करके उसी देवसेना का स्मरण किया, जिसको पूर्व में छोड़ दिया था॥४३॥

अयं तस्याः पतिर्नूनं विहितो ब्रह्मणा स्वयम् ॥४४॥
इति चिन्त्यानयामास देवसेनां स्वलङ्कृताम् ।

देवसेना के ये सेनापति, स्वयं ब्रह्मा ने बना दिये हैं, यह विचार के सजी हुई देवसेना को इन्द्र ले आए ॥४४॥

स्कन्दं चोवाच बलभिदियं कन्या सुरोत्तम ॥४५॥
अजाते त्वयि निर्दिष्टा तव पत्नी स्वयम्भुवा ।

तस्मात् त्वमस्या विधिवत् पाणिं मन्त्रपुरस्कृतम्॥४६
गृहाण दक्षिणं देव्याः पाणिना पद्मवर्चसा ।

इन्द्र ने स्कन्द से कहा--हे सुरोत्तम ! इस कन्या को ब्रह्माजी ने आपकी पत्नी तभी नियत कर दी थी, जब आप उत्पन्न भी नहीं हुए थे; इसलिए अब तुम, इसका दायां हाथ विधिपूर्वक मंत्रों के साथ कमल के समान कोमल अपने हाथसे ग्रहण करो

एवमुक्तः स जग्राह तस्याः पाणिं यथाविधि ॥४७॥
बृहस्पतिर्मन्त्रविद्धि जजाप च जुहाव च ।
एवं स्कन्दस्य महिषीं देवसेनां विदुर्जनाः ॥४८॥

इंद्र के इतना कहने पर स्कन्द ने इस देवसेना का विधिपूर्वक पाणिग्रहण कर लिया। मंत्रों के ज्ञाता बृहस्पति ने जप और हवन किया। इस तरह देवसेना को लोग स्कंद की पत्नी मानते हैं ॥४६॥

षष्ठीं यां ब्राह्मणाः प्राहुर्लक्ष्मीमासां सुखप्रदाम् ।
सिनीवलीं कुहूञ्चैव सद्वृत्तिमपराजिताम् ॥४६॥

इसको ही ब्राह्मण सब के सुख देने वाली लक्ष्मी, षष्ठीं देवी सिनीवाली, कुहू, सद्वृत्ति, अपराजिता नाम से पुकारते हैं।

यदा स्कन्दः पतिर्लब्धः शाश्वतो देवसेनया ।
तदा तमाश्रयल्लक्ष्मीः स्वयं देवी शरीरिणी ॥५०॥

जब से देवसेना ने अजर-अमर स्कंद को अपना पति माना, तभी से लक्ष्मी ने शरीर धारण करके इसका आश्रय ले लिया ॥४८॥

श्रीजुष्टः पञ्चमीं स्कन्दस्तस्माच्छ्रीपञ्चमी स्मृता ।
षष्ठ्यां कृतार्थोऽभूद्यस्मात्तस्मात् षष्ठी महातिथिः ५१

इति श्रीमहाभारत आरण्यपर्वणि मार्कण्डेयसमास्यापर्वणि स्कन्दोपाख्याने अष्टाविंशत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥२२८

यह स्कन्द, पञ्चमी को श्री से युक्त हुआ, इससे इसकी पञ्चमी श्रीपञ्चमी कहलाई और षष्ठी के दिन यह सर्वाङ्गपूर्ण हुआ, इससे षष्ठी महातिथि मानी गई है ॥५१॥

इति श्रीमहाभारत वनपर्वान्तर्गत मार्कण्डेय समास्यापर्व में
स्कन्दोपाख्यान का दो सौ अट्ठाईसवाँ
अध्याय सम्पूर्ण हुआ ।

दो सौ उनतीसवां अध्याय

मार्कण्डेय उवाच—

श्रिया जुष्टं महासेनं देवसेनापतिं कृतम् ।
सप्तर्षिपत्न्यः षड्देव्यस्तत्सकाशमथागमन् ॥१॥

मार्कण्डेय बोले---हे राजन ! श्री से युक्त स्कन्द को जब देवसेना का पति कर दिया, तो सप्तर्षियों में से छः ऋषिपत्नी इसके पास आई ॥१॥

ऋषिभिः संपरित्यक्ता धर्म्मयुक्ता महाव्रताः ।
द्रुतमागम्य चोचुस्ता देवसेनापतिं प्रभुम् ॥२॥

ये महाव्रतशील ऋषि-पत्नी धर्म से युक्त थी, परन्तु तो भी ऋषियों ने इनका परित्याग कर दिया । ये देवसेना के पति, शक्तिशाली स्कंन्द के पास आकर कहने लगी ॥२॥

वयं पुत्र परित्यक्ता भर्तृभिर्देवसम्मितैः।
अकारणाद्रुषा तैस्तु पुण्यस्थानात् परिच्युताः ॥३॥

हे पुत्र ! हमको देवों के समान अपने पतियों ने बिना कारण क्रोध में आकर छोड़ दिया है, जिससे हम पुण्य स्थान से गिर गई हैं ॥३॥

अस्माभिः किल जातस्त्वमिति केनाप्युदाहृतम् ।
तत् सत्यमेतत् संश्रुत्य तस्मान्नस्त्रातुमर्हसि ॥४॥

किसी ने यह कह दिया, कि तू हम से उत्पन्न हुआ है। उन्होंने इसको सत्य मान कर हम को छोड़ दिया । अब तुमको हमारी रक्षा करनी चाहिये ॥४॥

अक्षयश्च भवेत् स्वर्गस्त्वत्प्रसादाद्धि नः प्रभो ।
त्वां पुत्रश्चाप्यभीप्सामः कृत्वैतदनृणो भव ॥५॥

हे प्रभो ! तुम्हारी कृपा से ही हमको अक्षय स्वर्ग का वास प्राप्त हो सकता है । हम तुमको पुत्र की तरह चाहती हैं, इससे ऐसा करके ऋण मुक्त हो जाओ ॥५॥

स्कन्द उवाच—

मातरो हि भवत्यो मे सुतो वोऽहमनिन्दिताः ।
यद्वापीच्छत तत्सर्वं संभविष्यति वस्तथा ॥६॥

स्कन्द ने कहा---हे निन्दा के अयोग्य ! ऋषिपत्नियों ! तुम मेरी माता और मैं तुम्हारा पुत्र ही हूं। अब जो तुम चाह रही हो, वह सब कुछ हो जावेगा ॥६॥

मार्कण्डेय उवाच—

विवक्षन्तं ततः शक्रं किङ्कार्य्यमिति सोऽब्रवीत् ।
उक्तः स्कन्देन ब्रूहीति सोऽब्रवीद्वासवस्ततः ॥७॥

मार्कण्डेय ने कहा---हे राजन् ! इसी समय इन्द्र, कुछ-बोलना चाहता था। उसने पूछा--क्या कार्य है। स्कन्द ने कहा-कहो---क्या कहते हो। तब इन्द्र कहने लगा ॥७॥

अभिजित् स्पर्द्धमाना तु रोहिण्याः कन्यसी स्वसा ।
इच्छन्ती ज्येष्ठतां देवी तपस्तप्तं वनङ्गता ॥८॥

रोहिणी (नक्षत्र) की छोटी बहन अभिजित् (नक्षत्र) रोहिणी से स्पर्धा करके बड़ी बनने के लिए वन में तप करने को चली गई ॥८॥

तत्र मूढोऽस्मि भद्रन्ते नक्षत्रं गगनाच्च्युतम् ।
कालन्त्विमं परं स्कन्द ब्रह्मणा सह चिन्तय ॥९॥

मैं नक्षत्र गणना के विषय में मुग्ध सा हो रहा हूं, क्योंकि एक नक्षत्र आकाश से गिर गया है। हे स्कन्द ! अब तुम इस काल के विषय में ब्रह्मा के साथ विचार करो ॥९॥

धनिष्ठादिस्तथाकालो ब्रह्मणा परिकल्पितः ।
रोहिणी ह्यभवत् पूर्वमेवं संख्या समाभवत् ॥१०॥

ब्रह्मा ने आजकल सत्युग के आरम्भ का नक्षत्र धनिष्ठा कल्पित कर दिया है, जब इसके आद्य क्षण में चन्द्र, सूर्य और बृहस्पति का योग होता है, तभी सत्युग का आरम्भ माना गया है। पूर्व काल में रोहिणी था। अभिजित् के पतन से एक अहोरात्र पूर्व ही भगण के भोगके कारण, कृतयुग का नक्षत्र धनिष्ठा हो गया। इस तरह यह संख्या (कला आदि)-पूर्ण हो जाती है।।१०।।

एवमुक्ते तु शक्रेण त्रिदिवं कृत्तिका गताः ।
नक्षत्रं सप्तशीर्षाभं भाति तद्वह्निदैवतम् ।।११।।

इन्द्र के इतना कहने पर द्युलोक में कृत्तिका चली गई। सप्तशीर्ष (सातशिर) का आकार धारण करके, अग्नि देवता वाला यह नक्षत्र, चमक रहा है। इस कृत्तिका से न्यून नक्षत्रों की संख्या की पूर्ति हो गई है ।।११।।

विनता चाब्रवीत् स्कन्दं मम त्वं पिण्डदः सुतः ।
इच्छामि नित्यमेवाहं त्वया पुत्र सहासितुम् ।।१२

विनता ने स्कन्द से कहा- हे पुत्र! तू मेरा पिण्ड (अन्न) देने वाला पुत्र है, इसलिए मैं नित्य ही तेरे साथ रहना चाहती हूं।१

स्कन्द उवाच—

एवमस्तु नमस्तेऽस्तु पुत्रस्नेहात् प्रशाधि माम् ।
स्नुषया पूज्यमाना वै देवि वत्स्यसि नित्यदा । १३।।

स्कन्द ने कहा- जैसी तुम्हारी इच्छा है, वैसा ही किया जावेगा। तुमको प्रणाम है। अब तुम पुत्र के स्नेह से मुझे कुछ आज्ञा करो। हे देवि! तुम अपनी पुत्रवधू से सत्कार पाकर नित्य यहां सुख से निवास कर सकती हो ।।१३।।

मार्कण्डेय उवाच—

अथ मातृगणः सर्वः स्कन्दं वचनमब्रवीत्।
वयं सर्वस्य लोकस्य मातरः कविभिः स्तुताः।
इच्छामो मातरस्तुभ्यं भवितुं पूजयस्व नः॥१४॥

मार्कण्डेय बोले-हे राजन्! सारा मातृगण, स्कंन्द से कहने लगा, कवि लोगों ने हम को सारे लोकों की माता माना है। अब हम तुम्हारी माता होनी चाहते हैं। तुम हमारा सत्कार करो॥१४॥

स्कन्द उवाच—

मातरो हि भवत्यो मे भवतीनामहं सुतः।
उच्यतां यन्मया कार्य्यं भवतीनामथेप्सितम्॥१५॥

स्कन्द ने कहा-तुम मेरी भी माता हो और मैं तुम्हारा पुत्र हूं। अब तुम अपना अभीष्ट कार्य बताओ, जिसको मैं सम्पादन कर सकता हूं॥१५॥

मातर ऊचुः —

यास्तु ता मातरः पूर्वं लोकस्यास्य प्रकल्पिताः।
अस्माकन्तु भवेत् स्थानं तासाञ्चैव न तद्भवेत्॥१६

माता बोली-जो इस लोक की पूर्व काल में ब्राह्मी आदि माता कल्पित की गई है, उनके स्थान में हम माता मानी जावे। अब उनका स्थान हम ग्रहण कर लें वह स्थान उनका न रह सके॥१६

भवेम पूज्या लोकस्य न ताः पूज्याः सुरर्षभ।
प्रजास्माकं हृतास्ताभिस्त्वत्कृते ताः प्रयच्छ नः॥१७

हे सुरर्षभ! अब हम लोक की पूज्य हो जावें, वे पूज्य न रहें। उन्होंने तुम्हारे कारण से हमारे पतियों को कुपित करके हमारी सन्तान छीन ली है। तुम हमारे अपने पतियों द्वारा सन्तान उत्पन्न कराओ ॥१७॥

स्कन्द उवाच—

हृताः प्रजा न ताः शक्या भवतीभिर्निषेवितुम् ।
अन्यां वः कां प्रयच्छामि प्रजां यां मनसेच्छथ ॥१८

स्कन्द ने कहा- जो सन्तान की हानि हो चुकी, वह तो तुमसे प्राप्त की नहीं जा सकती है। अब तुम मन से जिस सन्तान की इच्छा करती हो, वह बताओ, ॥१७॥

मातर ऊचुः—

इच्छाम तासां मातृणां प्रजा भोक्तुं प्रयच्छ नः ।
त्वया सह पृथग्भूता ये च तासामथेश्वराः ॥१९॥

माताएँ बोलीं-हम उनही ब्राह्मणी आदि मातृकाओं की सन्तान को प्राप्त करना चाहती हैं। तुम हमको प्रदान करो। उस सन्तान के पिता आदि तेरे साथ उनसे पृथक् हो चुके हैं ॥१९॥

स्कन्द उवाच—

प्रजा वो दद्मि कष्टन्तु भवतीभिरुदाहृतम् ।
परिरक्षत भद्रं वः प्रजाः साधु नमस्कृताः ॥२०॥

स्कन्द बोले—मैं तुमको उनकी प्रजा (सन्तान) प्रदान करूं-यह बात तुमने कही है, जो कष्टदायी है। अच्छी तरह प्रणाम करने वाली इस सन्तान की तुमको रक्षा करनी होगी ॥२०॥

मातर ऊचुः

परिरक्षाम भद्रन्ते प्रजाः स्कन्द यथेच्छसि ।
त्वया नो रोचते स्कन्द सहवासश्चिरं प्रभो ॥२१॥

मातृका कहने लगी--हे प्रभो! स्कन्द! जिस तरह तुम चाहते हो, हम सन्तान की रक्षा करेंगी, क्योंकि हम तुम्हारे साथ चिरकाल तक सहवास चाहती हैं ॥२१॥

स्कन्द उवाच—

यावत् षोडशवर्षाणि भवन्ति तरुणाः प्रजाः ।
प्रबाधत मनुष्याणां तावद्रूपैः पृथग्विधैः ॥२२॥

स्कन्द बोले--जब तक मनुष्यों की सन्तान सोलह वर्ष की होकर तरुण न हो जावे, तब तक तुम भिन्न २ रूपों से उनको बाधा पहुंचा सकते हो ॥२२॥

अहञ्च वः प्रदास्यामि रौद्रमात्मानमव्ययम् ।
परमं तेन सहिताः सुखं वत्स्यथ पूजिताः ॥२३॥

मैं तुमको अपना क्षीण नहीं होने वाला रौद्र रूप देता हूं। इस रूप के साथ तुम अत्यन्त पूजित होकर सुख से रह सकोगी।

मार्कण्डेय उवाच---

ततः शरीरात् स्कन्दस्य पुरुषः पावकप्रभः ।
भोक्तुं प्रजाः स मर्त्यानां निष्पपात महाप्रभुः ।
अपतत् सहसा भूमौ विसंज्ञोऽथ क्षुधार्दितः ॥ २४ ॥

मार्कण्डेय बोले--इसके अनन्तर स्कन्द के शरीर से अग्नि के समान, महाशक्तिशाली पुरुष, मनुष्यों की प्रजा के खा जाने के लिए निकला। यह भूखा अचेत होकर भूमि पर गिर पड़ा ॥२४॥

स्कन्देन सोऽभ्यनुज्ञातो रौद्ररूपोऽभवद् ग्रहः ।
स्कन्दापस्मारमित्याहुर्ग्रहन्तं द्विजसत्तमाः ॥२५॥

जब स्कन्द ने इसको आज्ञा दे दी, तो यह भयङ्कर रूप धारी ग्रह बन गया। ब्राह्मण, इस ग्रह को स्कन्दापस्मार ग्रह कहते हैं।

विनता तु महारौद्रा कथ्यते शकुनिग्रहः ।
पूतनां राक्षसीं प्राहुस्तं विद्यात् पूतनाग्रहम् ॥२६॥

महारौद्र विनता को शकुनिग्रह कहते हैं। पूतना को राक्षसी माना है, जिसको पूतनाग्रह कहा जाता है ॥२६॥

कष्टा दारुणरूपेण घोररूपा निशाचरी ।
पिशाची दारुणाकारा कथ्यते शीतपूतना ॥२७॥

अपने दारुण रूप से घोर रूप वाली, राक्षसी, भयानक आकार धारी, कष्टकारी पिशाची को शीतपूतना कहते हैं ॥२७॥

गर्भान् मानुषीणान्तु हरते घोरदर्शना ।
अदितिं रेवतीं प्राहुर्ग्रहस्तस्यास्तु रैवतः ॥२८॥

यह भयानक रूपवाली राक्षसी, स्त्रियों के गर्भ के बालकों को हर ले जाती है। अदिति को रेवती कहते हैं, और इसका ग्रह रैवत है ॥२८॥

सोऽपि बालान् महाघोरो बाधते वै महाग्रहः ।
दैत्यानां या दितिर्माता तामाहुर्मुखमुण्डिकाम् ॥२९॥
अत्यर्थं शिशुमांसेन संप्रहृष्टा दुरासदा ।

यह महाग्रह भी बच्चों को बड़ी बाधा पहुंचाता है। दैत्यों की जो दिति नामक माता है, उसको मुखमुण्डिका कहते हैं। यह दुष्टिनी भी बच्चों के मांस से बड़ी सन्तुष्ट होती है ॥२६॥

कुमाराश्च कुमार्य्यश्च ये प्रोक्ताः स्कन्दसम्भवा ॥३०॥
तेऽपि गर्भभुजः सर्वे कौरव्य सुमहाग्रहाः ।

हे कुरुनन्दन ! जो कुमार और कुमारी स्कन्द से उत्पन्न हुए हैं, ये सब महाग्रह हैं और गर्भ के बालकों को खा जाते हैं॥३०॥

तासामेव तु पत्नीनां पतयस्ते प्रकीर्त्तिताः ॥३१॥
अज्ञायमाना गृह्णन्ति बालकान् रौद्रकर्म्मिणः ।

इन पत्नियों के जो पति कहे गये हैं, वे भयानक कर्म करने वाले अज्ञात रूप से ही बच्चों को उठा ले जाते हैं ॥३१॥

गवां माता तु या प्राज्ञैः कथ्यते सुरभिर्नृप ॥३२॥
शकुनिस्तामथारुह्य सह भुङ्क्ते शिशून् भुवि ।

हे नृप ! गौओं की जो माता है, उसको विद्वानों ने सुरभि कहा है। शकुनिग्रह, इस पर चढ़कर भूमि पर बच्चों का भक्षण कर जाता है ॥३२॥

सरमा नाम या माता शुनां देवी जनाधिप ॥३३॥
सापि गर्भान् समादत्ते मानुषीणां सदैव हि ।

हे जनाधिप ! श्वानों की माता सरमा भी स्त्रियों के गर्भ को ग्रहण कर लेती है ॥३३॥

पादपानाञ्च या माता करञ्जनिलया हि सा ॥३४॥
वरदा सा हि सौम्या च नित्यं भूतानुकम्पिनी ।
करञ्जे तां नमस्यन्ति तस्मात् पुत्रार्थिनो नराः ॥३५॥

जो करञ्जनिलया नामक वृक्षों की माता है, यह बड़ी सौम्य और वर देने तथा प्राणियों पर कृपा करने वाली है। पुत्र के चाहने वाले लोग करञ्ज के वृक्ष में इसको नमस्कार करते हैं।

इमे त्वष्टादशान्ये वै ग्रहा मांसमधुप्रियाः ।
द्विपञ्चरात्रं तिष्ठन्ति सततं सूतिकागृहे ॥३६॥

इनके सिवा अन्य भी अठारह मांस और मधु (शराब) के प्रेमी ग्रह हैं। ये सूतिकाग्रह में दश रात तक रहते हैं ॥३६॥

कद्रूः सूक्ष्मवपुर्भूत्वा गर्भिणीं प्रविशत्यथ ।
भुङ्क्ते सा तत्र तं गर्भं सा तु नागं प्रसूयते ॥३७॥

कद्रू भी सूक्ष्म रूप बनाकर गर्भिणी स्त्रियों के उदर में घुस जाती है। यह यहां गर्भ को खा जाती है और स्त्री, सर्प को उत्पन्न करती है ॥३७॥

गन्धर्वाणान्तु या माता सा गर्भं गृह्य गच्छति ।
ततो विलीनगर्भा सा मानुषी भुवि दृश्यते ॥३८॥

जो गन्धर्वों की माता है, यह भी गर्भ को लेकर उड़ जाती है। इससे भूमि पर स्त्री गर्भ से खाली दिखाई देने लगती है ॥३८॥

या जनित्री त्वप्सरसां गर्भमास्ते प्रगृह्य सा ।
उपनष्टं ततो गर्भं कथयन्ति मनीषिणः ॥३९॥

जो अप्सराओं की माता हैं, यह भी गर्भ को ले जाती हैं। मनीषी इस गर्भ को उपनष्ट गर्भ कहने लगते हैं ॥३९॥

लोहितस्योदधेः कन्या धात्री स्कन्दस्य सा स्मृता ।
लोहितायनिरित्येवं कदम्बे सा हि पूज्यते ॥४०॥

लोहित समुद्र की कन्या स्कन्द की धाय कहाती हैं। इसका नाम लोहितायनि है। कदम्ब के वृक्ष में इसकी पूजा होती हैं।

पुरुषेषु यथा रुद्रस्तथार्य्या प्रमदास्वपि ।
आर्य्या माता कुमारस्य पृथक्कामार्थमिज्यते ॥४१॥

पुरुषों में जैसे रुद्र ऐसे ही आर्या नामक मातृका स्त्रियों में हैं। कुमार की आर्या संज्ञक माता, कामना की सिद्धि के लिए पृथक् पूजी जाती है ॥४१॥

एवमेते कुमाराणां मया प्रोक्ता महाग्रहाः ।
यावत् षोडशवर्षाणि शिशूनां ह्यशिवास्ततः ॥४२॥

मैंने ये कुमारों को कष्टदायी महाग्रहों का वर्णन कर दिया है। ये सोलह वर्ष तक के बच्चों को कष्ट पहुंचाने की चेष्टा करते रहते हैं ॥४२॥

ये च मातृगणाः प्रोक्ताः पुरुषाश्चैव ये ग्रहाः ।
सर्वे स्कन्दग्रहा नाम ज्ञेया नित्यं शरीरिभिः ॥४३॥

जो मातृगण तथा पुरुष-रूप ग्रह हैं, वे सब स्कन्द-ग्रह कहाते हैं---ऐसा प्रत्येक मनुष्य को जान लेना चाहिए ॥४३॥

तेषां प्रशमनं कार्य्यं स्नानं धूपमथाञ्जनम् ।
बलिकर्मोपहाराश्च स्कन्दस्येज्या विशेषतः ॥४४॥

इनकी शान्ति के लिए स्नान, धूप, अञ्जन, बलिकर्म तथा अनेक भेंटों से स्कन्द की विशेष पूजा करनी उचित है ॥४४॥

एवमभ्यर्च्चिताः सर्वे प्रयच्छन्ति शुभं नृणाम् ।
आयुर्वीर्य्यञ्च राजेन्द्र सम्यक् पूजानमस्कृताः ॥४५॥

हे राजेन्द्र, इस प्रकार पूजे हुए सारे ग्रह, मनुष्यों को कल्याणकारी हो जाते हैं। इनकी अच्छी तरह पूजा प्रणाम आदि कर देने पर आयु और पराक्रम की वृद्धि होती है ॥४५॥

ऊर्द्ध्वन्तु षोडशाद्वर्षाद्ये भवन्ति ग्रहा नृणाम् ।
तानहं संप्रवक्ष्यामि नमस्कृत्य महेश्वरम् ॥४६॥

सोलह वर्ष के उपरान्त मनुष्यों पर जिन ग्रहों का आक्रमण होता है, मैं महेश्वर को नमस्कार करके उनका वर्णन करता हूं ४३

यः पश्यति नरो देवान् जाग्रद्वा शयितोऽपि वा ।
उन्माद्यति स तु क्षिप्रं तन्तु देवग्रहं विदुः ॥४७॥

जब मनुष्य जागता या सोता हुआ, देवों को देखता है और पागलों की तरह बकने लगता है, तब यह मनुष्य देवग्रह अर्थात् देव संज्ञक ग्रहों से पीड़ित हुआ जानना चाहिए ॥४७॥

आसीनश्च शयानश्च यः पश्यति नरः पितृन् ।
उन्माद्यति स तु क्षिप्रं स ज्ञेयस्तु पितृग्रहः ॥४८॥

जब मनुष्य बैठा हुआ या सोता हुआ, पितरां को देखता है और उन्माद युक्त हो जाता है, तो उसको पितृ-ग्रह अर्थात पितृ संज्ञक ग्रहों से पीड़ित जानना उचित है ॥४८॥

अवमन्यति यः सिद्धान् क्रुद्धश्चापि शपन्ति यम् ।
उन्माद्यति स तु क्षिप्रं ज्ञेयः सिद्धग्रहस्तु सः ॥४९॥

जो सिद्ध पुरुषों का अपमान करता है और क्रुद्ध होकर शाप (दुर्वचन) देता है और उन्मादित हो जाता है, उसको सिद्ध ग्रह से जकड़ा हुआ समझना चाहिए ॥४९॥

उपाघ्राति च यो गन्धान् रसांश्चापि पृथग्विधान् ।
उन्माद्यति स तु क्षिप्रं स ज्ञेयो राक्षसग्रहः ॥५०॥

जो गन्धों को सूंघता है और पृथक् २ भांति के रसों का आस्वाद लेता है और इस तरह पागल हो जाता है, उसको राक्षस ग्रह से पीड़ित मानना चाहिए ॥५०॥

गन्धर्वाश्चापि यं दिव्याः संविशन्ति नरं भुवि ।
उन्माद्यति स तु क्षिप्रं ग्रहो गान्धर्व एव सः ॥५१॥

हे राजेन्द्र ! जब भूमि पर जिस मनुष्य के शरीर में दिव्य गन्धर्व घुस जाते हैं, तब वह पागलों की सी बातें करने लगता है । यह गान्धर्व नामक ग्रह की चेष्टा समझनी चाहिए ॥५१॥

अधिरोहन्ति यं नित्यं पिशाचाः पुरुषं प्रति ।
उन्माद्यति स तु क्षिप्रं ग्रहः पैशाच एव सः ॥५२॥

जिस पुरुष के शरीर में नित्य पिशाच आते हों और वह पागलों के से व्यवहार करे, तो उसके पैशाच ग्रह समझना चाहिए

आविशन्ति च यं यक्षाः पुरुषं कालपर्य्यये ।
उन्माद्यति स तु क्षिप्रं ज्ञेयो यक्षग्रहस्तु सः ॥५३॥

काल के बदलने के समय (संध्याकालमें) जिस पुरुष के यक्ष आते हों और वह बोखला जाता हो, तो उसको यक्ष- ग्रह से पीड़ित मानना चाहिए ॥५३॥

यस्य दोषैः प्रकुपितं चित्तं मुह्यति देहिनः ।
उन्माद्यति स तु क्षिप्रं साधनं तस्य शास्त्रतः ॥५४॥

जिस मनुष्य का वातादि दोषों से चित्त मोहित हो रहा है, वह पागल की सी बातें बनाता है, तो उसके इस रोग के दूर करने का साधन वैद्यक शास्त्र ही है ॥५४॥

वैक्लव्याच्च भयाच्चैव घोराणाञ्चापि दर्शनात् ।
उन्माद्यति स तु क्षिप्रं सान्त्वन्तस्य तु साधनम् ॥५५

जो घबराहट, भय और घोर जन्तुओं के दर्शन से पागल हो जाता है, उसका प्रतिकार केवल शान्ति धारण कराना है ।

कश्चित् क्रीड़ितुकामो वै भोक्तुकामस्तथापरः ।
अभिकामस्तथैवान्य इत्येष त्रिविधो ग्रहः ॥५६॥

कोई ग्रह तो खेलने कोई खाने और कोई अन्य काम की तृप्ति चाहता है । इस भांति तीन तरह के ग्रह होते हैं ॥५६॥

यावत् सप्ततिवर्षाणि भवन्त्येते ग्रहा नृणाम् ।
अतः परं देहिनान्तु ग्रहतुल्यो भवेत् ज्वरः ॥५७॥

जब तक मनुष्य सत्तर वर्ष का होता है, तब तक ये ग्रह आक्रमण करते हैं । इसके बाद तो मनुष्यों को ग्रहों के तुल्य, जराजन्य ज्वर ही हो जाता है ॥५७॥

अप्रकीर्णेन्द्रियं दान्तं शुचिं नित्यमतन्द्रितम् ।
आस्तिकं श्रद्धानञ्च वर्जयन्ति सदा ग्रहाः ॥५८॥

इन्द्रियों के वश में नहीं होने वाले, उदार, शान्त, पवित्र, नित्य अप्रमादी, आस्तिक, श्रद्धालु पुरुषों पर ग्रहों का आक्रमण नहीं हो पाता है ॥५८॥

इत्येष ते ग्रहोद्देशो मनुषाणां प्रकीर्त्तितः ।
न स्पृशन्ति ग्रहा भक्तान् नरान् देवं महेश्वरम् ॥५९॥

इति श्रीमहाभारत आरण्यपर्वणि मार्कण्डेयसमस्यापर्वणि
मनुष्यग्रहकथने एकोनत्रिंशत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः

मैंने यह मनुष्यों के ऊपर आक्रमण करने वाले ग्रहों का नाम से वर्णन कर दिया है। ये ग्रह, महेश्वर देव, और भक्त मनुष्यों को नहीं छू सकते है ॥५९॥

इति श्रीमहाभारत वनपर्वान्तर्गत मनुष्यग्रह
कथन का दो सौ उनतीसवां अध्याय समाप्त हुआ

दो सौ तीसवां अध्याय

मार्कण्डेय उवाच—

यदा स्कन्देन मातृणामेवमेतत् प्रियं कृतम् ।
तथैनमब्रवीत् स्वाहा मम पुत्रस्त्वमौरसः ॥१॥

मार्कण्डेय बोले—हे भारत! जब स्कन्द ने इस प्रकार मातृकाओं का प्रिय कार्य पूरा कर दिया, तो स्वाहा आकर इससे कहने लगी—हे स्कन्द! तू मेरा और सपुत्र है ॥१॥

इच्छाम्यहं त्वया दत्तां प्रीतिं परमदुर्ल्लभाम् ।
तामब्रवीत्ततः स्कन्दः प्रीतिमिच्छसि कीदृशीम् । २॥

अब मैं भी तेरी प्रदान की हुई परम दुर्लभ प्रीति को चाहती हू । स्कन्द ने स्वाहा से कहा—तुम कैसी प्रीति चाहती हो ॥२॥

स्वाहोवाच—

दक्षस्याहं प्रिया कन्या स्वाहा नाम महाभुज ।
बाल्यात् प्रभृति नित्यञ्च जातकामा हुताशने ॥३॥

स्वाहा बोली--हे महाभुज ! मैं दक्ष की प्रिय कन्या हूं और मेरा नाम स्वाहा है। मैं बचपन से ही नित्य अग्नि पर आसक्त हूं ॥३॥

न स मां कामिनीं पुत्र सम्यग्जानाति पावकः ।
इच्छामि शाश्वतं वासं वस्तुं पुत्र सहाग्निना ॥४॥

हे पुत्र ! यह स्त्री मेरी अभिलाषा करती है, इस बात को अग्नि नहीं जानता है। हे पुत्र ! अब मैं तो अग्नि के साथ निरन्तर रहना चाहती हूं ॥४॥

स्कन्द उवाच—

हव्यं कव्यञ्च यत्किञ्चिद् द्विजानां मन्त्रसंस्कृतम् ।
होष्यन्त्यग्नौ सदा देवि स्वाहेत्युक्त्वा समुद्धृतम् ॥५॥

स्कन्द बोले--हे देवी ! मंत्रों से संस्कृत, जितने देव और पितरों के निमित्त हविदान हैं, उसको अच्छी तरह उठाकर स्वाहा शब्द के उच्चारण के साथ ऋषि लोग अग्नि में छोड़ा करेंगे ॥५॥

अद्य प्रभृति दास्यन्ति सुवृत्ताः सत्पथे स्थिताः ।
एवमग्निस्त्वया सार्द्धं सदा वत्स्यति शोभने ॥६॥

हे देवि ! आज से आगे सन्मार्ग में स्थित, सदाचारी महात्मा, इसी प्रकार हवन करेंगे । हे शोभने ! इस तरह अग्नि सदा तेरे साथ निवास करेगा ॥६॥

मार्कण्डेय उवाच—

एवमुक्ता ततः स्वाहा तुष्टा स्कन्देन पूजिता ।
पावकेन समायुक्ता भर्त्रा स्कन्दमपूजयत् ॥७॥

मार्कण्डेय ने कहा--इस प्रकार कही हुई और स्कन्द से आदर पाई हुई स्वाहा बड़ी सन्तुष्ट हुई । यह अपने भर्ता अग्नि से युक्त हो गई, जिससे इसने स्कन्द की बड़ी पूजा की ॥७॥

ततो ब्रह्मा महासेनं प्रजापतिरथाब्रवीत् ।
अभिगच्छ महादेवं पितरं त्रिपुरार्दनम् ॥८॥

प्रजापति ब्रह्मा ने स्कन्द से कहा—अब तुम त्रिपुर--नाशक अपने पिता महादेव के पास जाओ ॥८॥

रुद्रेणाग्निं समाविश्य स्वाहामाविश्य चोमया ।
हितार्थं सर्वलोकानां जातस्त्वमपराजितः ॥९॥

रुद्र ने अग्नि में और स्वाहा ने उमा में प्रविष्ट होकर सब लोकों के हित के लिए किसी से पराजित नहीं होने वाले, आपकी उत्पत्ति की है ॥९॥

उमायोन्याञ्च रुद्रेण शुक्रं सिक्तं महात्मना ।
अस्मिन् गिरौ निपतितंमिञ्जिकामिञ्जिकं यतः ॥१०

महात्मा रुद्र ने उमा के गर्भ में अपना वीर्य डाला। वह वीर्य इस पर्वत पर गिरा, जिससे मिञ्जिका, मिञ्जक नामक जोड़ा उत्पन्न हुआ ॥१०॥

सम्भूतं लोहितोदे तु शुक्रशेषमवापतत् ।
सूर्य्यरश्मिषु चाप्यन्यच्चैवापतद् भुवि ॥११॥
आसक्तमन्यद्वृक्षेषु तदेवं पञ्चधापतत् ।
तत्र ते विविधाकारा गणा ज्ञेया मनीषिभिः ॥१२॥
तव पारिषदा घोरा य एते पिशिताशिनः ।

इकट्ठा हुआ शेष वीर्य, लाल समुद्र में गिरा, कुछ सूर्य की किरणों में और कुछ भूमि पर गिरा तथा कुछ वृक्षों पर जा लगा इस प्रकार इसके पाँच भाग हो गये । इससे अनेक प्रकार के गण उत्पन्न हुए--ऐसा मनीषी लोग जानते हैं । ये मांस-भोजी स्कन्द के घोर पारिषद कहलाए ॥११--१२॥

एवमस्त्विति चाप्युक्त्वा महासेनो महेश्वरम् ।
अपूजयदमेयात्मा पितरं पितृवत्सलः ॥१३॥

मैं ऐसा ही करूंगा—ब्रह्माजी से यह कहकर स्कन्द महेश्वर के पास पहुंचा और इस महात्मा पिता भक्त स्कन्द ने महेश्वर की बड़ी पूजा की ॥१३॥

अर्कपुष्पैस्तु ते पञ्च गणाः पूज्या धनार्थिभिः ।
व्याधिप्रशमनार्थञ्च तेषां पूजां समाचरेत् ।
मिञ्जिकामिञ्जिकञ्चैव मिथुनं रुद्रसम्भवम् ॥१४॥
नमस्कार्य्यं सदैवेह बालानां हितमिच्छता ।

मार्कण्डेय बोले- हे राजन् ! धन चाहने वालों को इन पांच गणों की आक के पुष्पों से पूजा करनी चाहिए । व्याधि के नाश के लिए भी इन गणों की पूजा की जाती है । मिञ्जिका और

मिञ्जिक नामक रुद्र से उत्पन्न जोड़े को भी बालकों का हित चाहने वाले पुरुषों को नमस्कार करनी चाहिए ॥१४॥

स्त्रियो मानुषमांसादा वृद्धिका नाम नामतः ॥१५॥
वृक्षेषु जातास्ता देव्यो नमस्कार्य्याः प्रजार्थिभिः ।

मनुष्य के मांस का भक्षण करने वाली वृद्धिका नाम की देवी, वृक्षों में उत्पन्न हुई है। सन्तान के अभिलाषी जनों को इस देवी को नमस्कार करनी उचित है ॥१५॥

एवमेते पिशाचानामसङ्ख्येया गणाः स्मृताः ॥१६॥
घण्टायाः सपताकायाः शृणु मे सम्भवं नृप ।

इस प्रकार पिशाचों के अनेक गण हैं। हे नृप! अब तुम ध्वजा के साथ स्कन्द की घंटा की उत्पत्ति सुनो ॥१६॥

ऐरावतस्य घण्टे द्वे वैजयन्त्याविति श्रुते ॥१७॥
गुहस्य ते स्वयं दत्ते शक्रेणानाय्य धीमता ।
एका तत्र विशाखस्य घण्टा स्कन्दस्य चापरा ॥१८॥

इन्द्र के ऐरावत हाथी के वैजयन्त्य नामक दो घण्टा सुने जाते हैं। बुद्धिमान् इन्द्र ने स्वयं लाकर वे घण्टे स्कन्द को दे दिए। इनमें एक घण्टा स्कन्द के पास और दूसरा स्कन्द के द्वितीय रूप विशाख के पास रहा ॥१८॥

पताका कार्त्तिकेयस्य विशाखस्य च लोहिता ।
यानि क्रीडनकान्यस्य देवैर्दत्तानि वै तदा ॥१९॥
तैरेव रमते देवो महासेनो महाबलः ।

स्कन्द और विशाख इन दोनों की पताका भी लाल रंग की है। देवों ने इनको जो खिलौने दिए, उन्हीं खिलौने से महाबली बालक स्कन्द खेला करता था ॥१९॥

स संवृतः पिशाचानां गणैर्देवगणैस्तथा ॥२०॥
शुशुभे काञ्चने शैले दीप्यमानः श्रिया वृतः ।

यह स्कन्द, पिशाच तथा देवों के गणों से व्याप्त होकर इस काञ्चन पर्वत पर बड़ी भारी शोभा से चमकने लगा ॥२०॥

तेन वीरेण शुशुभे स शैलः शुभकाननः ॥२१॥
आदित्येनेवांशुमता मन्दरश्चारुकन्दरः ।

इस वीर से सुन्दर वन वाला वह पर्वत खिल उठा, जैसे किरण-धारी सूर्य से उत्तम कन्दराओं वाला मन्दर पर्वत, सुशोभित होता है ॥२१॥

सन्तानकवनैः फुल्लैः करवीरवनैरपि ॥२२॥
पारिजातवनैश्चैव जपाशोकवनैस्तथा ॥
कदम्बतरुषण्डैश्च दिव्यैर्मृगगणैरपि ॥२३॥
दिव्यैः पक्षिगणैश्चैव शुशुभे श्वेतपर्वतः ।

सन्तानक, करवीर (कनेर) पारिजात, जपा (ढाक) अशोक, कदम्ब आदि खिले हुए वृक्षों के वन, उत्तम २ मृग और पक्षियों से यह श्वेत पर्वत, अत्यन्त सुशोभित हो रहा था ॥२२-२३॥

तत्र देवगणाः सर्वे सर्वे देवर्षयस्तथा ॥२४॥
मेघतूर्य्यरवाश्चैव क्षुब्धोदधिसमस्वनाः ।

वहां पर सारे देवता, सारे देवर्षि, उछलते हुए समुद्र के शब्द के समान मेघ की गर्जना के सदृश, शब्द करने वाले, तूर्य नामक बाजे को बजा रहे थे ॥२४॥

तत्र दिव्याश्च गन्धर्वा नृत्यन्तेऽप्सरसस्तथा ॥२५॥
हृष्टानां तत्र भूतानां श्रूयते निनदो महान्।

यहां दिव्य गन्धर्व और नाचती हुई अप्सरा तथा प्रसन्न चित्त अन्य भूतों का बड़ा ही कोलाहल हो रहा है ॥२५॥

एवं सेन्द्रं जगत्सर्वं श्वेतपर्वतसंस्थितम् ।
प्रहृष्टं प्रेक्षते स्कन्दं न च ग्लायति दर्शनात् ॥२६॥

इस प्रकार इस श्वेत पर्वत पर इन्द्र के सहित सारा जगत्, बड़ी प्रसन्नता से स्कन्द के दर्शन करता है और दर्शनों से सन्तुष्ट नहीं होता है ॥२६॥

मार्कण्डेय उवाच—

यदाभिषिक्तो भगवान् सैनापत्येन पावकिः ।
तदा संप्रस्थितः श्रीमान् हृष्टो भद्रवटं हरः ।
रथेनादित्यवर्णेन पार्वत्या सहितः प्रभुः ॥२७॥

मार्कण्डेय ने कहा-हे राजन् ! जब सेनापति पद पर स्कन्द का अभिषेक हो चुका- तो श्रीमान् भगवान् शंकर, सूर्य के सदृश चमकते हुए रथ में अपनी देवी पार्वती के साथ बड़ी प्रसन्नता से भद्रवट की ओर चल दिए ॥२७॥

सहस्रं तस्य सिंहानां तस्मिन् युक्तं रथोत्तमे ।
उत्पपात दिवं शुभ्रं कालेनाभिप्रचोदितम् ॥२८॥
ते पिबन्त इवाकाशं त्रासयन्तश्चराचरान् ।
सिंहा नभस्यगच्छन्त नदन्तश्चारुकेशराः ॥२९॥

इस उत्तम रथ में सैकड़ों श्वेत सिंह जुड़े हुए, काल से प्रेरित होकर रथ शुभ्र आकाश की ओर उड़ चला। ये सिंह, आकाश का पान सा कर रहे थे। इन्होंने चराचर सृष्टि में बड़ा भय खड़ा कर दिया। ये सिंह आकाश में चले जा रहे थे और इनके सुन्दर केसरे (ग्रीवा के बाल) हिल रहे थे ॥२६॥

तस्मिन्रथे पशुपतिः स्थितो भात्युमया सह ।
विद्युता सहितः सूर्य्यः सेन्द्रचापे घने यथा ॥३०॥

इस रथ में उमा के साथ बैठे हुए पशुपति शंकर, इन्द्र धनुष सहित मेघों में बिजली के सहित, सूर्य के सदृश प्रतीत होते थे ॥३०॥

अग्रतस्तस्य भगवान् धनेशो गुह्यकैः सह ।
आस्थाय रुचिरं याति पुष्पकं नरवाहनः ॥३१॥

गुह्यकों सहित नरवाहन, कुवेर, सुन्दर पुष्पक विमान में बैठ कर इनके आगे चल रहा था ॥३१॥

ऐरावतं समास्थाय शक्रश्चापि सुरैः सह ।
पृष्ठतोऽनुययौ यान्तं वरदं वृषभध्वजम् ॥३२॥

देवों के साथ इन्द्र भी ऐरावत हाथी पर बैठ कर वरदायी शंकर के पीछे २ चल रहा था ॥३२॥

जृम्भकैर्यक्षरक्षोभिः स्रग्विभिः समलंकृतः ।
यात्यमोघो महायक्षो दक्षिणं पक्षमास्थितः ॥३३॥

जृम्भक आदि ग्रह तथा माला पहने हुए, यक्ष राक्षसों के साथ अलंकृत होकर अमोघ महायक्ष, भगवान् शंकर के दांई ओर चल रहा था ॥३३॥

तस्य दक्षिणतो देवा बहवश्चित्रयोधिनः ।
गच्छन्ति वसुभिः सार्द्धं रुद्रैश्च सह सङ्गताः ॥३४॥

बड़ा अद्‌भुत युद्ध करने वाले बहुत से देवता, वसु और अनेक रुद्रों के साथ दांई ओर से ही चले जा रहे थे ॥३४॥

यमश्च मृत्युना सार्द्धं सर्वतः परिवारितः ।
घोरैर्व्याधिशतैर्याति घोररूपवपुस्तथा ॥३५॥

घोर रूपधारी यमराज भी अपनी घोर अनेक व्याधियों से युक्त होकर तथा मृत्यु को साथ लेकर भगवान् शंकर के साथ चल रहा था ॥३५॥

यमस्य पृष्ठतश्चैव घोरस्त्रिशिखरः शितः ।
विजयो नाम रुद्रस्य याति शूलः स्वलंकृतः ॥३६॥

यमराज के पीछे २ बड़ा भयङ्कर तीक्ष्ण, सिन्दूर आदि से विभूषित, रुद्र का विजय नामक त्रिशूल, भी चल रहा था ॥३६॥

तमुग्रपाशो वरुणो भगवान् सलिलेश्वरः ।
परिवार्य्य शनैर्याति यादोभिर्विविधैर्वृतः ॥३७॥

अनेक भांति के जल जन्तुओं से व्याप्त होकर उग्र पाश रखने वाला, जलपति भगवान् वरुण भी भगवान् शंकर को घेर कर चल रहा था ॥३७॥

पृष्ठतो विजयस्यापि याति रुद्रस्य पट्टिशः ।
गदामुसलशक्त्याद्यैर्वृतः प्रहरणोत्तमैः ॥३८॥

इस विजय त्रिशूल के पीछे रुद्र का पट्टिश शस्त्र भी रूप धारण करके गदा, मुसल, शक्ति आदि उत्तम २ शस्त्रों के साथ चल रहा था ॥३८॥

पट्टिशन्त्वन्वगाद्राजन् छत्रं रौद्रं महाप्रभम् ।
कमण्डलुश्चाप्यनु तं महर्षिगणसेवितः ॥३९॥

हे राजन्! पट्टिश के पीछे महा-कान्तिमान् रुद्र का छत्र चल रहा था। इसके पीछे महर्षिगण से सेवित कमण्डलु, यात्रा कर रहा था ॥३९॥

तस्य दक्षिणतो भाति दण्डो गच्छन् श्रिया वृतः ।
भृग्वङ्गिरोभिः सहितो दैवतैश्चानुपूजितः ॥४०॥

इनके दांयी ओर शोभा से युक्त दण्ड भी चल रहा था। यह भृगु, अङ्गिरा आदि ऋषि तथा देवों से समन्वित था ॥४०॥

एषान्तु पृष्ठतो रुद्रो विमले स्यन्दने स्थितः ।
याति संहर्षयन् सर्वांस्तेजसा त्रिदिवौकसः ॥४१॥

इन के पीछे निर्मल रथ में बैठा हुआ रुद्र चल रहा था। यह सारे देवों को अपने तेज से प्रहर्षित कर रहा था ॥४१॥

ऋषयश्चापि देवाश्च गन्धर्वा भुजगास्तथा ।
नद्यो ह्रदा समुद्राश्च तथैवाप्सरसाङ्गणाः ॥४२॥
नक्षत्राणि ग्रहाश्चैव देवानां शिशवश्च ये ।
स्त्रियश्च विविधाकारा यान्ति रुद्रस्य पृष्ठतः ॥४३॥

ऋषि, देव, गन्धर्व, भुजग, नदी, सरोवर, समुद्र, अप्सराओं के गण, नक्षत्र, ग्रह देवों के स्त्री और बच्चे अनेक भांति का रूप धारण करके रुद्र के पीछे २ चल रहे थे ॥४२-४३॥

सृजन्त्यः पुष्पवर्षाणि चारुरूपा वराङ्गनाः ।
पर्जन्यश्चाप्यनुययौ नमस्कृत्य पिनाकिनम् ॥४४॥

सुन्दर २ स्त्रियां पुष्पों की वर्षा कर रही थीं। भगवान् शंकर को प्रणाम करके मेघ भी साथ चल रहा था ॥४४॥

छत्रञ्च पाण्डुरं सोमस्तस्य मूर्द्ध्न्यधारयत् ।
चामरे चापि वायुश्च गृहीत्वाग्निश्च धिष्टितौ ॥४५॥

चन्द्रमा ने श्वेत छत्र, शंकर के मस्तक पर लगाया और दो चवरों को वायु और अग्नि लेकर खड़े हो गये ॥४५॥

शक्रश्च पृष्ठतस्तस्य याति राजन् श्रिया वृतः ।
सह राजर्षिभिः सर्वैः स्तुवानो वृषकेतनम् ॥४६॥

हे राजन्! बड़ी भारी शोभा से युक्त इन्द्र, भगवान् के पीछे २ चल रहा था। यह सारे राजर्षि के साथ श्रीशंकर की स्तुति करते जा रहे थे ॥४६॥

गौरी विद्याथ गान्धारी केशिनी मित्रसाह्वया ।
सावित्र्या सह सर्वास्ताः पार्वत्या यान्ति पृष्ठतः ॥४७

गौरी, विद्या; गान्धारी, केशिनी, मित्रसा आदि देवियां सावित्री को साथ लेकर पार्वती के पीछे २ चल रही थी ॥४७॥

तत्र विद्यागणाः सर्वे ये केचित् कविभिः कृताः ।
तस्य कुर्वन्ति वचनं सेन्द्रा देवाश्चमूमुखे ॥४८॥

कवियों ने उस समय जो श्लोकों का समूह रचा, उनका पाठ और व्याख्या सेना के आगे २ इन्द्र सहित सम्पूर्ण देवता करते जा रहे थे ॥४८॥

गृहीत्वा तु पताकां वै यात्यग्रे राक्षसो ग्रहः ।
व्यापूतस्तु श्मशाने यो नित्यं रुद्रस्य वै सखा ॥४६

पताका को पकड़ कर आगे २ राक्षस ग्रह चल रहा था, जो श्मशान में रहने में बड़ा आनन्द मानता है और रुद्र का बड़ा प्रिय सखा है ॥४६॥

पिङ्गलो नाम यक्षेन्द्रो लोकस्यानन्ददायकः ।
एभिश्च सहितो देवस्तत्र याति यथासुखम् ॥५०॥

पिङ्गल नामक यक्षेन्द्र, लोक का बड़ा आनन्द करने वाला है, इनके साथ श्रीशंकर अपने सुख-पूर्वक यात्रा कर रहे हैं ॥५०

अग्रतः पृष्ठतश्चैव न हि तस्य गतिर्ध्रुवाः ।
रुद्रं सत्कर्म्मभिर्म्मर्त्याः पूजयन्तीह दैवतम् ॥५१॥

इसका आगे पीछे चलने का निश्चित क्रम नहीं था। यह कभी आगे और कभी पीछे चलने लगता था। मनुष्य बड़ी उत्तम उत्तम पूजाओं से रुद्र देवता की पूजा करते जा रहे थे ॥५१॥

शिवमित्येव यं प्राहुरीशं रुद्रं पिनाकिनम् ।
भावैस्तु विविधाकारैः पूजयन्ति महेश्वरम् ॥५२॥

इन ही महेश्वर देव को अनेक भावों से लोग पूजते हैं। कोई इनको शिव, ईश, रुद्र और पिनाकी आदि पृथक् २ नामों से पूजते हैं ॥५२॥

देवसेनापतिस्त्वेवं देवसेनाभिरावृतः ।
अनुगच्छति देवेशं ब्रह्मण्यः कृत्तिकासुतः ॥५३॥

ब्राह्मणों का रक्षक, देवसेना का पति, कृत्तिका का पुत्र स्कन्द भी देवसेना से आवृत होकर भगवान् शंकर के पीछे रहे थे ॥५३॥

अथाब्रवीन्महासेनं महादेवो बृहद्वचः ।
सप्तमं मारुतस्कन्धं रक्ष नित्यमतन्द्रितः ॥५४॥

अब महादेव ने स्कन्द से यह महान् वचन कहा, कि तुम बड़ी सावधानी से सातवें मारुत-स्कन्ध (स्थान विशेष) की रक्षा करो ॥५४॥

स्कन्द उवाच—

सप्तमं मारुतस्कन्धं पालयिष्याम्यहं प्रभो ।
यदन्यदपि मे कार्य्यं देव तद्वद मा चिरम् ॥५५॥

स्कन्द ने कहा--हे प्रभो ! मैं सातवें मारुत-स्कन्ध की रक्षा करता रहूंगा। हे देव ! इसके अतिरिक्त अन्य भी मेरे योग्य कोई कार्य हो तो आप बताइये, देर न कीजिए ॥ ५५ ॥

रुद्र उवाच—

कार्य्येष्वहं त्वया पुत्र संद्रष्टव्यः सदैव हि ।
दर्शनान्मम भक्त्या च श्रेयः परमवाप्स्यसि ॥५६॥

रुद्र ने कहा--हे पुत्र ! जब २ कोई कार्य पड़ेगा, तुमको बुला लिया जावेगा। तुम मेरे दर्शन और भक्ति से बड़ा कल्याण पावोगे ॥५६॥

मार्कण्डेय उवाच—

इत्युक्त्वा विससर्जैनं परिष्वज्य महेश्वरः ।
विसर्ज्जिते ततः स्कन्दे बभूवौत्पातिकं महत् ॥५७॥

मार्कण्डेय ने कहा--महेश्वर ने स्कन्द का आलिङ्गन करके उसको लौटा दिया। स्कन्द के लौटा देने के अनन्तर बड़ा उत्पात होने लगा ॥५७॥

सहसैव महाराज देवान् सर्वान् प्रमोहयत ।
जज्वाल खं सनक्षत्रं प्रमूढं भुवनं भृशम् ॥५८॥

हे महाराज ! सारे देवों को मोहित करता हुआ, नक्षत्रों सहित आकाश अचानक जल उठा। जिनसे सम्पूर्ण जगत्, अत्यन्त अचेत सा हो गया ॥५८॥

चचाल व्यनदच्चोर्वी तमोभूतं जगद्बभौ ।
ततस्तद्दारुणं दृष्ट्वा क्षुभितः शङ्करस्तदा ॥५९॥
उमा चैव महाभागा देवाश्च समहर्षयः ।

शब्द करके पृथिवी हिलने लगी, सारा जगत् अन्धकार मय हो गया। इस प्रकार दारुण घटना देखकर भगवान् शंकर, सौभाग्यवती पार्वती और महर्षियों के सहित देवता, व्याकुल हो गए ॥५९॥

ततस्तेषु प्रमूढेषु पर्वताम्बुदसन्निभम् ॥६०॥
नानाप्रहरणं घोरमदृश्यत महद्बलम् ।
तद्वै घोरमसंख्येयं गर्जच्च विविधा गिरः ॥६१॥

इनके मोहित हो जाने पर पर्वत और महामेघों के सदृश अनेक शस्त्र-धारी, महाभयङ्कर. घोर, अगणित सेना दिखाई दी यह अनेक भांति के शब्दों से गर्जना कर रही थी ॥६०-६१॥

अभ्यद्रवद्रणे देवान् भगवन्तञ्च शङ्करम् ।
तैर्विसृष्टान्यनीकेषु बाणजालान्यनेकशः ॥६२॥

पर्वताश्च शतघ्नश्च प्रासासिपरिघागदाः ।
निपतद्भिश्च तैर्घोरैर्देवानीकं महायुधैः ॥६३॥
क्षणेन व्यद्रवत् सर्वं विमुखञ्चाप्यदृश्यत ।

इस सेना ने रण में भगवान् शंकर और देवों पर आक्रमण किया। उन्होंने सेना में अनेक बाणों का समूह छोड़ा और पर्वत, शतघ्नी [तोप] प्रास, तलवार, परिघ, गदा आदि शस्त्रों से प्रहार किया। इन महाशस्त्रों के घोर आक्रमण से देवों की सेना, क्षण भर में भाग निकली और पीठ फेर कर भागती दिखाई दी ॥६२-६३॥

निकृत्तयोधनागाश्वं कृत्तायुधमहारथम् ॥६४॥
दानवैरर्दितं सैन्यं देवानां विमुखं बभौ ।

देवसेना के योधा, हाथी और अश्व काट डाले गए। बड़े २ शस्त्र और रथ कट गए। दानवों से दबाई हुई देव-सेना, उल्टी भाग चली ॥६४॥

असुरैर्वध्यमानन्तत् पावकैरिव काननम् ॥६५॥
अपतद्दग्धभूयिष्ठं महाद्रुमवनं यथा ।

असुरों से मारी हुई देव-सेना, भूमि में इस तरह नष्ट होगई-- जैसे आग से प्रायः दग्ध हुआ, बड़े २ वृक्षों वाला वन हो जाता है.

ते विभिन्नशिरोदेहाः प्राद्रवन्तो दिवौकसः ॥६६॥
न नाथमधिगच्छन्ति वध्यमाना महारणे ।

देवों के शिर और देह-क्षत विक्षत हो गए और वे भाग निकले। इस महा रण में मारे हुए, देवों को कोई रक्षक नहीं मिलता था ॥६६॥

अथ तद्विद्रुतं सैन्यं दृष्ट्वा देवः पुरन्दरः ॥६७॥
आश्वासयन्नुवाचेदं वलभिद्दानवार्दितम्।

बल दैत्य नाशक इन्द्रदेव इस प्रकार भागती हुई सेना को देखकर दानवों से व्याकुल सेना को आश्वासन देता हुआ यह वचन बोला ॥६७॥

भयं त्यजत भद्रं वः शूराः शस्त्राणि गृह्णत ॥६८॥
कुरुध्वं विक्रमे बुद्धिं मा वः काचिद्व्यथा भवेत्।

हे शूरवीरो! भय को छोड़ो और शस्त्रों को ग्रहण करो। अब तुम पराक्रम में अपना मन लगाओ, तुम को इस समय कोई कष्ट नहीं मानना चाहिये, तुम्हारा इस समय कल्याण होगा ॥६८॥

जयतैनान् सुदुर्वृत्तान् दानवान् घोरदर्शनान् ॥६९॥
अभिद्रवत भद्रं वो मया सह महासुरान्।

इन दुराचारी, भयङ्कर, दानवों को जीत लो। हे देवो! तुम सब मेरे साथ होकर इन महासुरों को भगा दो ॥६९॥

शक्रस्य वचनं श्रुत्वा समाश्वस्ता दिवौकसः ॥७०॥
दानवान् प्रत्ययुद्धन्त शक्रं कृत्वा व्यपाश्रयम्।

इन्द्र के वचन सुनकर सारे देवों को कुछ आश्वासन मिला और वे इन्द्र को सहायक बनाकर दानवों से युद्ध करने लगे ॥६०॥

ततस्ते त्रिदशाः सर्वे मरुतश्च महाबलाः ॥७१॥
प्रत्युद्ययुर्महाभागाः साध्याश्च वसुभिः सह ।
तैर्विसृष्टान्यनीकेषु क्रुद्धैः शस्त्राणि संयुगे ॥७२॥
शराश्च दैत्यकायेषु पिबन्ति रुधिरं बहु ।

इसके अनन्तर महाबली त्रिदश, मरुत्, वसुओं सहित साध्य, संज्ञक देवता, युद्ध के लिए लौट पड़े। इन कुपित हुए देवों ने युद्ध में इस सेना पर शस्त्र छोड़ना आरम्भ किया। इनके बाण, दैत्यों की देहों से बहुत सा रुधिर पी रहे थे ॥७१-७२॥

तेषां देहं विनिर्भिद्य शरास्ते निशितास्तदा ॥६३॥
निष्पतन्तो ह्यदृश्यन्त नगेभ्य इव पन्नगाः ।

ये तीक्ष्ण बाण, उन दैत्यों की देहों को चीरकर इस तरह बाहर निकलते हुए दिखाई देते थे---जैसे पर्वतों से सर्प निकल कर भाग रहे हों ॥७३॥

तानि दैत्यशरीराणि निर्भिन्नानि स्म सायकैः ॥७४॥
अपतन् भूतले राजन् छिन्नाभ्राणीव सर्वशः ।

हे राजन्! बाणों से दैत्यों के शरीर छिन्न भिन्न हो गए। ये भूमि में छिन्न हुए महामेघों की तरह लेट गए ॥७४॥

ततस्तद्दानवं सैन्यं सर्वैर्देवगणैर्युधि ॥६५॥
त्रासितं विविधैर्बाणैः कृतञ्चैव पराङ्मुखम् ।

सारे देवों के गणों ने युद्ध में इस दानव सेना को अनेक भांति के बाणों से क्लेशित करके उलटा भगा दिया ॥७५॥

अथोत्क्रुष्टं तदा हृष्टैः सर्वैर्देवैरुदायुधैः ॥७६॥
संहतानि च तूर्य्याणि प्रवाद्यन्त ह्यनेकशः ।

अब सारे देवों ने शस्त्र उठाकर बड़ी प्रसन्नता से गर्जना की और इकट्ठे ही अनेक भांति के तूर्य आदि बाजे बजाने लगे ।७६

एवमन्योऽन्यसंसक्तं युद्धमासीत् सुदारुणम् ॥७७॥
देवानां दानवानाञ्च मांसशोणितकर्दमम् ।

इस प्रकार एक दूसरे का महाघोर युद्ध हुआ और दैत्यों तथा दानवों के रक्त की कीचड़ हो गई ॥७७॥

अनयोर्देवलोकस्य सहसैवाभ्यदृश्यत ॥७८॥
तथाहि दानवा घोरा विनिघ्नन्ति दिवौकसः ।

देवलोक में अचानक अन्याय दिखाई देने लगा और महाघोर राक्षस देवों को मारने लगे ॥७८॥

ततस्तूर्य्यप्रणादाश्च भेरीणाञ्च महास्वनाः ॥७९॥
बभूवुर्दानवेन्द्राणां सिंहनादाश्च दारुणाः ।

इस समय तूर्य और भेरी वाद्य का महान् शब्द तथा दानवों का दारुण सिंहनाद होने लगा ॥७९॥

अथ दैत्यबलाद् घोरान्निष्पपात महाबलः ॥८०॥
दानवो महिषो नाम प्रगृह्य विपुलं गिरिम् ।

अब दैत्यों की भयानक सेना से एक महाबली महिष नामक दानव, बड़ा भारी पर्वत लेकर देवों पर टूट पड़ा ॥८०॥

ते तं घनैरिवादित्यं दृष्ट्वा संपरिवारितम् ॥८१॥
तमुद्यतगिरिं राजन् व्यद्रवन्त दिवौकसः ।
अथाभिद्रुत्य महिषो देवांश्चिक्षेप तं गिरिम् ॥८२॥

हे राजन्! मेघों में छुपे हुए सूर्य के सदृश, पर्वत उठाये हुए, इस महिष राक्षस को देखकर देवता भागने लगे। इस महिष दैत्य ने दौड़कर उस पर्वत को देवों पर डाल दिया ॥८१–८२॥

पतता तेन गिरिणा देवसैन्यस्य पार्थिव ।
भीमरूपेण निहतमयुतं प्रापतद्भुवि ॥८३॥

हे राजन्! उस भयानक आकारधारी, गिरते हुए, पर्वत ने देवसेना के दश सहस्र योधा मार दिए, जो भूमि पर गिर गए।८३

अथ तैर्दानवैः सार्द्धं महिषस्त्रासयन् सुरान् ।
अभ्यद्रवद्रणे तूर्णं सिंहः क्षुद्रमृगानिव ॥८४॥

उन महादैत्यों के साथ महिषासुर ने देवों को महादुःखी कर लिया। यह रण में क्षुद्र मृगों पर सिंह की भांति देवों पर झपटने लगा ॥८४॥

तमापतन्तं महिषं दृष्ट्वा सेन्द्रा दिवौकसः ।
न्यद्रवन्त रणे भीता विकीर्णायुधकेतनाः ॥८५॥

इस प्रकार जब इस महिषासुर को भयानक रीति से आक्रमण करते हुए इन्द्र सहित देवों ने देखा, तो भयभीत होकर रण से भाग गये और उनके शस्त्र तथा ध्वजा कहीं के कहीं बिखर बिखरा गये ॥८५॥

ततः स महिषः क्रुद्धस्तूर्णं रुद्ररथं ययौ ।
अभिद्रुत्य च जग्राह रुद्रस्य रथकूबरम् ॥८६॥

यह महिषासुर, कुपित होकर शीघ्रता से रुद्र के रथ पर ही झपटा और लपक कर इसने रुद्र के रथ के धुर प्रदेश को पकड़ लिया ॥८६॥

यदा रुद्ररथं क्रुद्धो महिषः सहसा गतः ।
रेसतूरोदसी गाढं मुमुहुश्च महर्षयः ॥८७॥

जब क्रुद्ध होकर महिषासुर ने रुद्र के रथ पर एक दम आक्रमण किया, तो आकाश और भूमि, महाकोलाहल करने लगे और महर्षि मोहित हो गए ॥८७॥

अनदंश्च महाकाया दैत्या जलधरोपमाः ।
आसीच्च निश्चितं तेषां जितमस्माभिरित्युत ॥८८॥

मेघो के समान विशाल कायधारी, दैत्य गर्जना करने लगे। इस समय इनको निश्चित हो गया, कि हमारी ही जीत होगी।

तथाभूते तु भगवानहनन्महिषं रणे ।
सस्मार च तदा स्कन्दं मृत्युन्तस्य दुरात्मनः ॥८९॥

इस दशा में भगवान् शंकर ने रण में महिषासुर पर प्रहार किया और इस दुरात्मा की मृत्यु करने वाले स्कन्द को याद किया।

महिषोऽपि रथं दृष्ट्वा रौद्रो रुद्रस्य चानदत् ।
देवान् सन्त्रासयंश्चापि दैत्यांश्चापि प्रहर्षयन् ॥९०॥

महाभयङ्कर महिषासुर भी रुद्र के रथ को देखकर गर्जने लगा। इसकी इस गर्जना से देवों को भय और दैत्यों को हर्ष होने लगा ॥६०॥

ततस्तस्मिन् भये घोरे देवानां समुपस्थिते।
आजगाम महासेनः क्रोधात् सूर्य्य इव ज्वलन् ॥६१॥

जब इस समय देवों को महाघोर भय खड़ा हुआ, तो क्रोध से सूर्य की तरह जलता हुआ स्कन्द वहां आ पहुंचा ॥६१॥

लोहिताम्बरसंवीतो लोहितस्रग्विभूषणः।
लोहिताश्वो महाबाहुर्हिरण्यकवचः प्रभुः ॥६२॥
रथमादित्यसङ्काशमास्थितः कनकप्रभम्।
तं दृष्ट्वा दैत्यसेना सा व्यद्रवत् सहसा रणे ॥६३॥

इसने लाल वस्त्र पहन रखे थे और लाल ही माला और आभूषण धारण कर रखे थे। इसका लाल अश्व, और सुनहरी कवच था। यह महाबली, शक्तिशाली, स्कन्द आदित्य के समान चमकते हुए सुनहरी रथ में बैठा था। इसको देखते ही दैत्य-सेना रण से भाग निकली ॥६२-६३॥

स चापि तां प्रज्वलितां महिषस्य विदारिणीम्।
मुमोच शक्तिं राजेन्द्र महासेनो महाबलः ॥६४॥

हे राजेन्द्र ! इस महाबली महासेन (स्कन्द) ने चमकती हुई, महिषासुर की नाशक, शक्ति को उस पर छोड़ा ॥६४॥

सा मुक्ताभ्यहरत्तस्य महिषस्य शिरो महत् ।
पपात भिन्ने शिरसि महिषस्त्यक्तजीवितः ॥६५॥

इसके छोड़ते ही इसने फौरन महिषासुर का विशाल शिर काट डाला। शिर के कट जाने पर महिषासुर जीवन छोड़कर भूमि में गिर गया ॥६५॥

पतता शिरसा तेन द्वारं षोडशयोजनम् ।
पर्वताभेन पिहितं तदगम्यं ततोऽभवत् ॥६६॥
उत्तराः कुरवस्तेन गच्छन्त्यद्य यथासुखम् ।

भूमि पर गिरते हुए, इस विशाल शिर ने सोलह योजन विस्तृत उत्तर कुरु देश के द्वार को रोक लिया। यह शिर, पर्वत के ढंग से बीच में गिरा, जिससे यह प्रदेश दुर्गम हो गया। उत्तर कुरु देश के निवासी तो आज भी इसी द्वार से सुख से निकल जाते हैं ॥६६॥

क्षिप्ता क्षिप्ता तु सा शक्तिर्हत्वा शत्रून् सहस्रशः ॥६७
स्कन्दहस्तमनुप्राप्ता दृश्यते देवदानवैः ।

देव और दानवों ने देखा, कि बार २ फैंकी हुई यह शक्ति, सहस्रों शत्रुओं को मार कर स्कन्द के हाथ में ही आ जाती थी।

प्रायः शरैर्विनिहता महासेनेन धीमता ॥६८॥
शेषा दैत्यगणा घोरा भीतास्त्रस्ता दुरासदैः ।
स्कन्दपारिषदैर्हत्वा भक्षिताश्च सहस्रशः ॥६९॥

बुद्धिमान् स्कन्द ने बाण छोड़कर प्रायः दैत्यसेना का संहार कर दिया। शेष रहे भयानक, भयभीत, दुःखी दैत्यों को महाकठोर स्कन्द के पारिषदों ने मार २ कर सहस्त्रों की संख्या में भक्षण कर डाला ॥९८-९९॥

दानवान् भक्षयन्तस्ते प्रपिबन्तश्च शोणितम् ।
क्षणान्निर्दानवं सर्वमकार्षुभृंशहर्षिताः ॥१००॥

ये पारिषद्, दानवों को खा जाते और उनका रक्त पी जाते थे। इन्होंने अत्यन्त उत्साहित होकर क्षण भर में दानवों से रहित सारे स्थानों को कर दिया ॥१००॥

तमांसीव यथा सूर्य्यो वृक्षानग्निर्घनान् खगः ।
तथास्कन्दोऽजयच्छत्रून् स्वेन वीर्य्येण कीर्त्तिमान्१०१

अनेक भांति के अन्धकार को सूर्य, वृक्षों को अग्नि, मेघों को वायु, जैसे जीत लेता है, वैसे ही कीर्तिशाली, स्कन्द ने अपने पराक्रम से सारे शत्रुओं को जीत लिया ॥१०१॥

संपूज्यमानस्त्रिदशैरभिवाद्य महेश्वरम् ।
शुशुभे कृत्तिकापुत्रः प्रकीर्णांशुरिवांशुमान् ॥१०२॥

देवों से पूजित होकर स्कन्द ने महेश्वर को प्रणाम किया। इस समय कृत्तिकापुत्र स्कन्द, फैली हुई किरणों वाले सूर्य के सदृश सुशोभित हो रहा था ॥१०२॥

शत्रुओं को नष्ट करके जब स्कन्द महेश्वर के पास जा रहा था, तब आलिङ्गन करके इन्द्र ने स्कन्द से कहा- ॥१०३॥

ब्रह्मदत्तवरः स्कन्द त्वयायं महिषो हतः ।
देवास्तृणसमा यस्य बभूवुर्जयताम्वर ॥१०४॥

हे विजयिन् ! महासेन! ब्रह्माजी से वर पाये हुए, इस महिषासुर को तुमने मार गिराया। हे कुमार! अन्य देवता तो इसको तृण के समान प्रतीत होते थे ॥१०४॥

सोऽयं त्वया महाबाहो शमितो देवकण्टकः ।
शतं महिषतुल्यानां दानवानां महारणे ॥१०५॥
निहतं देवशत्रूणां यैर्वयं पूर्वतापिताः ।

हे महाबाहो! तुमने इस महाभयंकर, देवों के शत्रु का नाश कर दिया। महिषासुर के तुल्य, अन्य सैकड़ों देवों के शत्रु, दानव भी महा रण में तुमने मार गिराए, जिन्होंने हमको पूर्व में बड़ा दुःख पहुंचा रखा था ॥१०५॥

तावकैर्भक्षिताश्चान्ये दानवाः शतसंघशः ॥१०६॥
अजेयस्त्वं रणेऽरीणामुमापतिरिव प्रभुः ।

सैकड़ों की संख्या में दानव, तुम्हारे पारिषदों ने भक्षण कर डाले। तुम रण में शत्रुओं से शक्तिशाली उमापति शंकर की भाँति अजेय हो ॥१०६॥

एतत्ते प्रथमं देव ख्यातं कर्म्म भविष्यति ॥१०७॥
त्रिषु लोकेषु कीर्त्तिश्च तवाक्षय्या भविष्यति ।
वशगाश्च भविष्यन्ति सुरास्तव महाभुज ॥१०८॥

हे देव ! यह तुम्हारा सबसे प्रथम प्रसिद्ध काम होगा और इससे तुम्हारी तीनों लोकों में कीर्ति प्रसिद्ध हो जावेगी । हे महाभुज ! इस कर्म से सारे देवता भी तुम्हारे वश में हो जावेंगे ।।

महासेनमेवमुक्त्वा विनिवृत्तः स दैवतैः ।
अनुज्ञातो भगवता त्र्यम्बकेण शचीपतिः ।।१०९।।

स्कन्द से इतना कहकर शचीपति इन्द्र, भगवान् शंकर से अनुज्ञा (इजाजत) लेकर देवताओं के साथ लौट गया ।।१०९।।

गतो भद्रवटं रुद्रो निवृत्ताश्च दिवौकसः ।
उक्ताश्च देवा रुद्रेण स्कन्दं पश्यत मामिव ।।११०।।

रुद्र भी भद्रवट को चला गया और देवता भी अपने २ स्थानों को लौटे । रुद्र ने देवों से कहा—तुमने देखा ? यह स्कन्द, मेरे समान शक्ति रखता है ।।११०।।

स हत्वा दानवगणान् पूज्यमानो महर्षिभिः ।
एकाह्नैवाजयत् सर्वं त्रैलोक्यं वह्निनन्दनः ।।१११।।

इस अग्निनन्दन स्कन्द ने सारे दानवों को मार गिराया, जिससे महर्षियों ने इसकी बड़ी पूजा की है । इसने एक ही दिन में सारी त्रिलोकी को जीत लिया ।।१११।।

स्कन्दस्य य इदं विप्रः पठेज्जन्म समाहितः ।
स पुष्टिमिह संप्राप्य स्कन्दसालोक्यतामियात् ।।११२

नष्टशत्रुर्यदा स्कन्दः प्रयातस्तु महेश्वरम् ।
तदाब्रवीन्महासेनं परिष्वज्य पुरन्दरः ॥१०३॥

इति श्रीमहाभारत आरण्यपर्वणि मार्कण्डेयसमास्यापर्वणि स्कन्दयुद्धे त्रिंशदधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥२३०॥

जो ब्राह्मण स्कन्द के इस जन्म की कथा सावधानी से पढ़ता है। वह इसलोक में ऐश्वर्य पाकर अन्त में स्कन्द के लोक को प्राप्त करता है ॥११२॥

इति श्रीमहाभारत वनपर्वान्तर्गत मार्कण्डेयसमास्यापर्व न स्कन्द के युद्ध का दो सौ तीसवां अध्याय समाप्त हुआ

दो सा इकतीसवां अध्याय

युधिष्ठिर उवाच—

भगवन् श्रोतुमिच्छामि नामान्यस्य महात्मनः ।
त्रिषु लोकेषु यान्यस्य विख्यातानि द्विजोत्तम ॥१॥

युधिष्ठिर बोले-हे भगवन् ! द्विजोत्तम ! मैं महात्मा स्कन्द के नामों को सुनना चाहता हूं, जो तीनों लोकों में विख्यात हैं ।१।

वैशम्पायन उवाच—

इत्युक्तः पाण्डवेयेन महात्मा ऋषिसन्निधौ ।
उवाच भगवांस्तत्र मार्कण्डेयो महातपाः ॥२॥

वैशम्पायन बोले--हे राजन् ! ऋषि के समीप में राजा युधिष्ठिर के इतना कहने पर महात्मा, महातपस्वी, भगवान् , मार्कण्डेय मुनि, इस प्रकार कहने लगे ॥२॥

मार्कण्डेय उवाच—

आग्नेयश्चैव स्कन्दश्च दीप्तकीर्त्तिरनामयः ।
मयूरकेतुर्धर्मात्मा भूतेशो महिषार्दनः ॥३॥
कामजित् कामदः कान्तः सत्यवाग्भुवनेश्वरः ।
शिशुः शीघ्रः शुचिश्चण्डी दीप्तवर्णः शुभाननः ॥४॥

अमोघस्त्वनघो रौद्रः प्रियश्चन्द्राननस्तथा ।
दीप्तशक्तिः प्रशान्तात्मा भद्रकृत् कूटमोहनः ॥५॥
षष्ठीप्रियश्च धर्मात्मा पवित्रो मातृवत्सलः ।
कन्याभर्त्ता विभक्तश्च स्वाहेयो रेवतीसुतः ॥६॥
प्रभुर्नेता विशाखश्च नैगमेयः सुदुश्चरः ।
सुव्रतो ललितश्चैव बालक्रीड़नकप्रियः ॥७॥
खचारी ब्रह्मचारी च शूरः शरवनोद्भवः ।
विश्वामित्रप्रियश्चैव देवसेनाप्रियस्तथा ॥८॥
वासुदेवप्रियश्चैव प्रियः प्रियकृदेव तु ।
नामान्येतानि दिव्यानि कार्त्तिकेयस्य यः पठेत् ।
स्वर्गं कीर्त्तिं धनञ्चैव स लभेन्नात्र संशयः ॥९॥

आग्नेय, स्कन्द, दीप्तकीर्तिं, अनामय, मयूरकेतु, धर्मात्मा, भूतेश, महिषार्दन, कामजित्, कामद, कान्त, सत्यवाक्, भुवनेश्वर, शिशु, शीघ्र, शुचि, चण्डी, दीप्तवर्ण, शुभानन, अमोघ, अनघ, रौद्र, प्रिय, चन्द्रानन, दीप्तशक्ति, प्रशान्तात्मा, भद्रकृत, कूटमोहन, षष्ठीप्रिय, धर्मज्ञ, पवित्र, मातृवत्सल, कन्याभर्ता, विभक्त, स्वाहेय, रेवती सुत, प्रभु, नेता, विशाख, नैगमेय, सुदुश्चर, सुव्रत, ललित, बालकीड़नकप्रिय, खचारी, ब्रह्मचारी, शूर, शरवनोद्भव, विश्वामित्र, प्रिय, देवसेनाप्रिय, वासुदेवप्रिय,,

प्रिय, प्रियकृत् ये दिव्य कार्तिकेय (स्कन्द) के नाम है। इनका जो पाठ करता है, वह स्वर्ग, कीर्ति और धन पाता है, इसमें संदेह नहीं है ॥३-६॥

मार्कण्डेय उवाच—

स्तोष्यामि देवैर्ऋषिभिश्च जुष्टं भक्त्या गुहं नामभिरप्रमेयम्
षड़ाननं शक्तिधरं सुवीरं निबोध चैतानि कुरुप्रवीर ॥१०॥

मार्कण्डेय ने कहा- हे कुरु प्रवीर ! मैं देव और ऋषियों से सेवित अगणित नामों वाले तथा ध्यान में नहीं आने वाले, शक्तिधर, षडानन, सुवीर, ग्रह, (स्कंद) की स्तुति करता हूं। तुम इसको अच्छी तरह समझ लो ॥१०॥

ब्रह्मण्यो वै ब्रह्मजो ब्रह्मविच्च ब्रह्मेशयो ब्रह्मवतां वरिष्ठः
ब्रह्मप्रियो ब्राह्मणसव्रती त्वं ब्रह्मज्ञो वै ब्राह्मणानाञ्च नेता॥

हे स्कन्द ! तुम ब्राह्मणों के रक्षक, वेदोक्त संस्कारों से युक्त, वेद के ज्ञाता, कर्म और ब्रह्म में निष्ठा रखने वाले, ब्रह्म-ज्ञानियों में श्रेष्ठ, ब्राह्मणों के प्रिय, ब्राह्मणों के समान व्रतशील, ब्रह्मज्ञानी-और ब्राह्मणों के नेता हो ॥११॥

स्वाहा स्वधा त्वं परमं पवित्रं मन्त्रस्तुतस्त्वं प्रथितः षडर्चि
सम्वत्सरस्त्वं ऋतवश्च षड्वै मासार्द्धमासावयनं दिशश्च

हे कुमार ! तुम ही स्वाहा और तुम ही स्वधा हो। तुम ही परम पवित्र, मन्त्रों से स्तुति करने योग्य, प्रसिद्ध, छः अर्चि

(जिह्वा) के धारक हो। तुम ही सम्वत्सर छः ऋतु, मास, पक्ष, अयन, और दिशा हो ॥१२॥

त्वं पुष्कराक्षस्त्वरविन्दवक्त्रः सहस्रवक्त्रोऽसि सहस्रबाहुः।
त्वं लोकपालः परमं हविश्च त्वं भावनः सर्वसुरासुराणाम्॥

हे धर्मात्मन्! तुम कमल से नेत्र और मुख वाले तथा सहस्र मुख और बाहुओं के धारी हो। तुम ही लोकपाल, परम हविरूप, और सारे सुर तथा असुरों के पूज्य हो ॥१३॥

त्वमेव सेनाधिपतिः प्रचण्डः प्रभुर्विभुश्चाप्यथ शत्रुजेता।
सहस्रभूस्त्वं धरणी त्वमेव सहस्रतुष्टिश्च सहस्रभुक् च ॥१४

हे कार्तिकेय! तुम ही प्रभावशाली सेनापति प्रभु, विभु और शत्रु विजयी हो। तुम सहस्रों प्रकार से होने वाले, धरणी रूप, सहस्रों विधि से संतुष्ट होने वाले और सहस्रों प्रकार से भक्षण करने वाले हो ॥१४॥

सहस्रशीर्षस्त्वमनन्तरूपः सहस्रपात् त्वं गुरुशक्तिधारी।
गङ्गासुतस्त्वं स्वमतेन देव स्वाहामहीकृत्तिकानान्तथैव १५

हे शक्तिधर! तुम ही सहस्त्रों शिर धारण करके अनन्त रूप हो रहे हो। तुम ही सहस्रों पादों के और भारी शक्ति के धारी हो। हे देव! तुम अपनी इच्छा से गङ्गा; स्वाहा, मही और कृतिका के पुत्र हो ॥१५॥

त्वं क्रीड़से षण्मुख कुक्कुटेन यथेष्टनानाविधकामरूपी।
दक्षोऽसि सोमो मरुतः सदैव धर्मोऽसि वायुरचलेन्द्र इन्द्रः॥

हे षडानन ! तुम कुक्कुट से खेलते हो और अपनी इच्छा के अनुसार रूप धारण कर लेते हो। तुम दक्ष, सोम, मरुत, धर्म, वायु, पर्वतराज और इन्द्र हो ॥१६॥

सनातनानामपि शाश्वतस्त्वं प्रभुः प्रभूणामपि चोग्रधन्वा ।
ऋतस्य कर्त्ता दितिजान्तकस्त्वं जेता रिपूणां प्रवरः सुराणाम्॥

हे गुह ! तुम सनातनों के भी सनातन और प्रभुओं के भी प्रभु हो। तुम उग्र धनुष के धारण करने वाले, सत्य के प्रचारक, दैत्यों के नाशक, शत्रु विजयी और देवों में श्रेष्ठ हो ॥१७॥

सूक्ष्मं तपस्तत् परमं त्वमेव परावरज्ञोऽसि परावरस्त्वम् ।
धर्म्मस्य कामस्य परस्य चैव त्वत्तेजसा कृत्स्नमिदं महात्मन्॥
व्याप्तं जगत् सर्वसुरप्रवीर शक्त्या मया संस्तुत लोकनाथ।
नमोऽस्तु ते द्वादशनेत्रबाहो अतः परं वेद्मि गतिं न तेऽहम्॥

हे महात्मन् ! जो सूक्ष्म परम तप है, वह तुम ही हो। तुम ही परावर (ब्रह्म) के जानने वाले हो। तुम ही धर्म और काम के पारङ्गत हो तथा तुम्हारे ही तेज से यह सारा जगत् व्याप्त है। हे सर्व-सुरप्रवीर ! लोकनाथ ! मैंने अपनी शक्ति के अनुसार आपकी स्तुति की है। हे द्वादश नेत्र और बाहुधारिन् ! आपको नमस्कार हो ! मैं इससे आगे तुम्हारी गति को नहीं जानता हूं।

स्कन्दस्य य इदं विप्रः पठेज्जन्म समाहितः ।
श्रावयेद् ब्राह्मणेभ्यो यः शृणुयाद्वा द्विजेरितम् ॥२०॥

धनमायुर्यशो दीप्तं पुत्रान् शत्रुजयन्तथा ।
स पुष्टितुष्टी संप्राप्य स्कन्दसालोक्यमाप्नुयात् ॥२१

इति श्रीमहाभारत आरण्यपर्वणि मार्कण्डेयसमास्यापर्वणि कार्त्तिकेयस्तवे एकत्रिंशदधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥२३१॥

समाप्तश्च मार्कण्डेयसमास्यापर्व ।

जो मनुष्य, स्कन्द के इस जन्मोत्सव को सावधानी से पढ़ता है, या ब्राह्मणों को सुनाता तथा ब्राह्मणों से सुनता है। वह धन, आयु, दीप्त यश, पुत्र, शत्रु विजय, पुष्टि और तुष्टि पाकर स्कन्द के लोक को प्राप्त कर लेता है ॥२०-२१॥

इति श्रीमहाभारत वनपर्वान्तर्गत मार्कण्डेयसमास्यापर्व में कार्तिकेय की स्तुति का दो सौ इकतीसवां अध्याय पूरा हुआ । और यहीं पर मार्कण्डेयसमास्यापर्व भी समाप्त हो गया ।

पाचवां भाग समाप्त